

सिंघी जैन ग्रन्थ माला

*****[प्रन्यांक ४३]*****

पूर्वाचार्यविरचित प्रसन्न्याकरणाख्य

जयपायड निमित्तशास्त्र

(प्रथमावृत्ति - संस्कृतव्याख्योपेत मूल प्राकृत ग्रन्थ)



SINGHI JAIN SERIES

*****[NUMBER 43]*****

JAYAPĀYADA NIMITTASĀSTRA

(A WORK OF THE SCIENCE OF PROGNOSTICS MAKING PROPHECIES
ON THE BASIS OF THE LETTERS OF SPEECH)

क ल क चा मि पा सी
 साधुचरित-श्रेष्ठिर्वर्य श्रीमद् बालचन्द्रजी सिंघी पुण्यस्थितिनिमित्त
 प्रतिष्ठापित एवं प्रकाशित

सिंघी जैन ग्रन्थ माला

[वैज भाष्यमिक, दार्शनिक, साहित्यिक, वैदिक, वैदिक कथात्मक-इत्यादि विविधविषयगुणित
 प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, प्राचीनगूरु, राजस्थानी भादि भाषाभाषामिदं सर्वज्ञान पुस्तक
 वाक्य तथा ह्येते संश्लेषणसमक साहित्य प्रकाशितो सर्वज्ञान केन्द्र प्रकाशक]

प्रतिष्ठाता

श्रीमद् बालचन्द्रजी सिंघीसत्युक्त

स्व. दानशील साहित्यरसिक सस्कृतिप्रिय

श्रीमद् बहादुर सिंहजी सिंघी



प्रथम सम्पादक तथा संचालक

आचार्य जिन विजय मुनि
 अधिष्ठाता, सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ

भारतीय बायोकेमिस्ट

राजस्थान ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जोधपुर (राजस्थान)

मिथिल मॉनएरि बायोकेमिस्ट

भारतीय विद्या भवन, बम्बई

भारतीय वैद्य कर्मान ओरिएण्टल होस्पिटल, कर्नाटी; भाष्यकार ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जोधपुर
 (राजस्थान); पुस्तक साहित्यसभया बहुराजाभाद (गुजरात); सिनेमाराज्य वैदिक
 चोच प्रसिद्ध, होसियारपुर (पंजाब)

संरक्षक

श्री राजेन्द्र सिंह सिंघी तथा श्री नरेन्द्र सिंह सिंघी

प्रथमसम्पादक-

अधिष्ठाता, सिंघी जैन शास्त्र शिक्षा पीठ

भारतीय विद्या भवन, बम्बई

प्रकाशक-कलकत्ता इ. द. वै. भारतीय बायोकेमिस्ट, भारतीय विद्या भवन, बीपानी रोड, बम्बई, नं. ५
 मुद्रक-कलकत्ता वैदिक विद्यापीठ प्रकाशन संस्थान १९-२० बालचन्द्र इन्स्टीट्यूट, बम्बई, नं. २

पूर्वाचार्य विरचित प्रसन्नव्याकरणाख्य

जयपायड निमित्तशास्त्र

(प्रथमावृत्ति—सस्कृतव्याख्योपेत मूल प्राकृत ग्रन्थ)

वेसलमेरुदुर्गस्य प्राचीनजैनग्रन्थभाषागारोपलम्ब

शाब्दपत्रीयपुस्तकानुसार

संपादनकर्ता

आचार्य, जिन विजय मुनि

अधिष्ठाता, सिंघी जैनशास्त्र शिक्षापीठ

बॉम्बेरी बँकर - बर्मन ओरिपण्डल स्तेसाईदी, बर्मनी, भाण्डरकर ओरिपण्डल रिसर्च इन्स्टीट्यूट

पूजा, (पकिज); गुजरात साहित्यसमाज, बहमदुवाड (गुजरात); विवेकानन्द वैदिक

ग्रोव प्रसिद्धाव, होलिबापुर (पंजाब)

बॉम्बेरी डायरेक्टर

राजस्थान ओरिपण्डल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जोषपुर (राजस्थान)

निवृत्त ऑनररि डायरेक्टर—भारतीय विद्याभवन, बम्बई



प्रकाशनकर्ता

अधिष्ठाता, सिंघी जैनशास्त्र शिक्षापीठ

भारतीय विद्या भवन, बम्बई

विद्यमान २ १४]

प्रथमावृत्ति—५ प्रतिया

[सिद्धाव १९५६]

ग्रन्थांक ४६]

वर्षाविधर प्रकृत

[मूल्य रूप ४५६०]

SINGHI JAIN SERIES

Works in the Series already out

ॐ अद्यावधि सुद्रितग्रन्थनामावलि ॐ

- १ वैद्यराचार्यरचित प्रकल्पविद्यासहि
मूल संस्कृत ग्रन्थ.
- २ इरातमग्रकल्पसंग्रहं चतुर्भिः पेटिश्यातप्यपरिपूर्णं
जनेन लिख्य संस्कृत.
- ३ राजसेखरार्यरचित प्रकल्पकोष.
- ४ विजयप्रभुसरित्कृत सिद्धिचन्द्रिकास्य
- ५ मेकलिकमोपाख्यानकृत विद्यासंग्रहनाहाकाव्य
- ६ यद्येनिकमोपाख्यानकृत वैषयकमापा.
- ७ हेमकप्रार्थार्यकृत प्रमासमीमांसा.
- ८ महाकश्यपेनकृत अक्षरकल्पसङ्घर्षी.
- ९ प्रकल्पविद्यासहि - द्वितीय माणीपाठ
- १० प्रमासङ्घर्षरचित प्रमासङ्घर्षरित.
- ११ सिद्धिकन्दोपाख्यानरचित आनुकन्यासिचरित.
- १२ यद्येनिकमोपाख्यानरचित शालकिमुद्रकल्प.
- १३ इन्दिराचार्यकृत इन्द्रकव्यकोष
- १४ वैशम्पत्यवसतिसेनकृत, प्रथम भाग.
- १५ हरिव्यस्यरचित कर्णोपपाद (प्राकृत)
- १६ इन्दिराकृत निवृत्तसमुच्चय (प्राकृत)
- १७ मेकलिकमोपाख्यानकृत सिद्धिकव्यमहाकाव्य
- १८ ऋषि जस्युक्त उद्दामाकृत हर्षदेशरत्न. (अपूर्ण)

- १९ अर्जुनरहित सत्यकव्यपरि सुधाविलोक्य.
- २० व्यासार्थार्यकृत व्यासकथनपर्यायिक-रूपित
- २१ ऋषि वादिकरचित वचनसिरीचरित. (अप)
- २२ महेश्वररहित बाल्यवचनीकथा (प्रा)
- २३ श्रीनारायणस्वामीकृत महाबाहुसंहिता.
- २४ जिनेश्वररहित कव्यकोषप्रकरण (प्रा)
- २५ उत्कलप्रभुसंहिता वामाशुभकमहाकाव्य
- २६ अश्विनिसंहिता वसिष्ठसहायक. (प्रा)
- २७ कोण्डविरचित द्विजिनवर्ष कथा (प्रा०)
- २८ निन्दरत्नाकरकृत (प्रा)
- २९ कर्मसुन्दिररचित परमचरित नाम १ (अप)
- ३० " " " " "
- ३१ सिद्धिकन्दकृत कल्पप्रकाशकव्यक
- ३२ वाम्नीरवरचित इष्ट अष्टिपारिजातकव्य.
- ३३ सिद्धिमिथ सितकृत कुमारपादकव्यसंग्रह
- ३४ जिनपारमोपाख्यानरचित सरलपरम इन्द्रसुचरित.
- ३५ जस्येठवरचित कुम्भकव्यकथा कव्य (प्रा)
- ३६ पुण्यपञ्चमिरचित बंधुचरित. (प्रा)
- ३७ पूर्वाचार्यरचित अथवाकर-मिमिषताक (प्रा)
- ३८ मोक्षसुन्दिररचित छात्रात्मजरी. (संस्कृत कथा)

Shri Bahadur Singh Singhi Memoirs

Dr G H Bühler's Life of Hemachandrāchārya.

Translated from German by Dr Manilal Patel, Ph. D

- १ क. वा. श्रीबहादुरसिंहजी सिन्धी स्मृतिग्रन्थ [भारतीयविद्या भाग १] एन १९५५.
- २ Late Babu Shri Bahadur Singhji Singhi Memorial volume. BHARATIYA VIDYA [Volume V] A. D 1945
- ३ Literary Circle of Mahānāṭya Vastupāla and its Contribution to Sanskrit Literature By Dr Bbogilal J Sandesara, M. A., Ph. D (S.J.S.33.)
- 4-5 Studies in Indian Literary History Two Volumes. By Prof. P K. Gode M. A. (S J S. No. 37-38.)

Works in the Press.

ॐ संप्रति मुद्र्यमाणग्रन्थनामावलि ॐ

- १ सिद्धिकण्ठीवरपुत्रसिंहकृत
- २ वैशम्पत्यवसतिसेनकृत भाग २
- ३ सिद्धिसिंहकृत सिद्धि महाकवि सिद्धि सिद्धि
कावि जनेन विकसितकृत समुच्चय.
- ४ श्रीसिद्धिसुती कावि वल्लभकव्यसिंहकृत.
- ५ पुण्यवन्दिरचित मेकलिकमोपाख्यानसंग्रह.
- ६ अथर्वपरिचित इमीयाकाव्य
- ७ अर्जुनरहित कर्मसुन्दरीकथा. (प्रा)
- ८ श्रीसिंहकृत अर्थांतर सहीक. (अपूर्ण)

- ९ पुण्यवन्दार्यकृत विषयसूच. (वीरकव्य)
- १० अथर्वकव्यकृत-अर्जुनकथकव्यसहीक.
- ११ राजवन्दार्यरचित-सिद्धिकव्यकथासिद्धिकव्यसंग्रह.
- १२ उत्कलप्रभुचरितकृत वरकथनकथाकाव्यकोषरूपित.
- १३ अणुजरीकृत सुकण्ठीकथकव्य-सहीक
- १४ हेमकप्रार्थार्यकृत हर्षदेशरत्न
- १५ लक्ष्मणरचित वचनचरित. भा २
- १६ अणु वैश्वरचित प्रकल्पवि (प्रा)

सिंधी जैन ग्रन्थ माला]

[अययापयह निमित्तशास्त्र

<p>युक्तं किंवापुत्रो देवोपान्तं इकं मन्त्रावलि नित्यं यथादि मन्त्रावलि किंवासंस्कारि यद न्नुपान्तं इति मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि</p>	<p>मिनि निमित्तं देवोपान्तं इकं मन्त्रावलि नित्यं यथादि मन्त्रावलि किंवासंस्कारि यद न्नुपान्तं इति मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि</p>
<p>सिद्धात्मकं यथादि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि</p>	<p>सुक्तं इति मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि मन्त्रावलि</p>

जेसकमेरुमें प्रात प्रतिके भाप पत्र

सिंधी जैन ग्रन्थ माला]

[जयपालर निमित्तनाम]

<p>स्वर्गलोकस्य साक्षात्प्राप्त्यर्थं यथावत्कर्मण्युद्योगः स्यात् निमित्तनामस्यैव जयपालर निमित्तनामस्यैव जयपालर निमित्तनामस्यैव जयपालर निमित्तनामस्यैव जयपालर</p>	<p>अविद्येयान्तरात्परमार्थे नैकज्ञानं सुखसाक्षात्प्राप्त्यर्थं निमित्तनामस्यैव जयपालर निमित्तनामस्यैव जयपालर निमित्तनामस्यैव जयपालर निमित्तनामस्यैव जयपालर</p>
<p>यथावत्कर्मण्युद्योगः स्यात् निमित्तनामस्यैव जयपालर निमित्तनामस्यैव जयपालर निमित्तनामस्यैव जयपालर</p>	<p>अविद्येयान्तरात्परमार्थे नैकज्ञानं सुखसाक्षात्प्राप्त्यर्थं निमित्तनामस्यैव जयपालर निमित्तनामस्यैव जयपालर निमित्तनामस्यैव जयपालर</p>

वेदस्मरतेमै प्राप्तं शास्त्रपरीक्ष्य प्रतिज्ञे भवितुम पठ

किञ्चित् प्रास्ताविक

•

प्रेस्तुत द्वय पापयहाँ नामक निमित्त शास्त्रकी ताडपत्रपर लिखी हुई प्राचीन प्रति हमको जेसमेरके एक बाल मण्डारमें प्राप्त हुई थी। इससे पूर्व, हमारे दृष्टिगोचर यह ग्रन्थ नहीं हुआ था, इसलिये हमने उन्ही प्रतिक्रिया करवा ली, और फिर इसका विषयावलोकन करनेसे हमें यह एक महत्त्वकी रचना ज्ञात हुई, कि इसको इस सिंघी ज न ग्रन्थमाहा द्वारा प्रकाशित करनेका हमने संकल्प किया।

जेसमेरमें प्राप्त यह ताडपत्रीय पुस्तिका, जैसा कि इसके अन्तमें लिखा हुआ है—विक्रम संवत् १३३६ में लिखी गई थी अर्थात् धामसे कोई ६८० वष पूर्वकी लिखी हुई है। इस पुस्तिकाके कुछ किताब २२७ ताडपत्र हैं। अक्षर सुवार्थ्य हैं, पर कहीं कहीं स्याही विस जानेसे अक्षर अक्षयसे हो गये हैं। लिपिकर्ता विषय और मापासे अनभिज्ञ होनेके कारण प्रसिद्ध पाठ बहुत ही अशुद्ध और भ्रष्टरूप-रथा लिखा गया है।

ग्रन्थको प्रेसमें छपानेके लिये देना निश्चित हुआ तब इसका कोई दूसरा प्रसन्नतर कहीं से मिल सके तो पाठशोधकमें विशेष सहायक हो सके इस विचारसे, पूना, पाटण, अहमदाबाद, बबोदा आदिके प्रसिद्ध जैन मण्डारोंमें इसकी खोज की गई, पर उसमें सफलता नहीं मिली। पीछेसे भावनगरके मण्डारमें एक कणज पर लिखी प्रति प्राप्त हुई, पर, यह जेसमेरवाली प्रतिसे भी अधिक भ्रष्ट पाठवाली निकली; अतः संशोधकमें उसका कोई खास उपयोग नहीं हुआ। तब हमने केवल उक्त भ्रष्ट पाठवाली प्रतिके उपरसे ही यथासंभव पाठ संशोधन आदि करके प्रस्तुत आशुचित्तके, इस स्वरूप में प्रकट कर देनेका प्रयत्न किया है।

ग्रन्थके अवलोकन मात्रसे ही विशेषतः विद्वानको ज्ञात हो जायगा कि इसका पाठशोधन करनेमें हमको कितना श्रम उठाना पडा है। पुस्तिककी प्रायः प्रत्येक पंक्ति भ्रष्ट पाठवाली प्रतीत हो रही है। ग मध्यम मूलप्रति लेखककी अज्ञानताके कारण ऐसा पाठभ्रष्ट हुआ है जवना किसी अनन्वश ऐसा अशुद्ध पाठ लिखा गया है। ग्रन्थगत विषय बहुत ही गोपनीय माना जाता रहा है। कोई विरल ही व्यक्ति इसका अध्ययन-मनन कर सके—ऐसी रहस्यमयी भावना, इस विषयका ज्ञान प्राप्त करनेके विषयमें प्राचीन कालसे चली आ रही है अतः इसकी दुर्लभता और अप्रसिद्धि स्वाभाविक है।

ग्रन्थका विषय निमित्तशास्त्रान्तर्गत प्रश्नविधा विषयक है। अतः इस रचनाका अन्य नाम प्रश्न व्याकरण ऐसा दिया गया है। प्रश्नचूडामणी, प्रश्नप्रकाश आदि नामके इस विषयके कई प्राचीन ग्रन्थोंका उल्लेख अन्याय्य ग्रन्थोंमें मिलते हैं। इसी आशुचित्तके अन्तमें ज्ञानदीपक नामक एक संक्षिप्त चूडामणिसार शास्त्र भी मुद्रित किया गया है जो इसी विषयकी एक संक्षिप्त रचना है। यह रचना भी हमें जेसमेरके एक मण्डारमें पुस्तकालय पत्रोंमें मिली है।

•

† जेसमेरमें जो पुस्तिका प्राप्त हुई उसकी दृष्टिकरन अणगाहूड ऐसा नाम दिया हुआ था इसलिये हमने ग्रन्थके शुरुमें मुख्य शिरोच्छेद इसी नामसे अंकित कर दिया; पर पीछेसे ज्ञातसे हमने पर 'जयपाहूड' नहीं पढ़े 'जयपायड' ऐसा नाम अनुचित मान्य दिया। अतः हमने शुरुआत पर इसी नामका उपयोग करना उचित समझा है। मूल ग्रन्थी टीपटी पापामें इसी शब्दका प्रयोग किया गया है।

हमारे पूज्य मनीषियोंने अज्ञात तत्त्वों और भावोंको जाननेके लिये एवं कई प्रकारकी गूढ़ विद्या-
लोक्य ज्ञान प्राप्त करनेके लिये, माना प्रकारके चिन्तन, मनन और निरिष्णासन किये हैं। इनके फलस्वरूप
जो ज्ञातम्य उन्हें प्राप्त हुए उनको वे संश्लेषमें एवं सूत्ररूपमें प्रवित्त करके ग्रन्थ या प्रकरणके रूपमें निबद्ध
करते रहे जिससे मापी समस्तोंको उसका ज्ञान प्राप्त होता रहे। प्रस्तुत ग्रन्थ एक ऐसे ही अज्ञात तत्त्व
और भावोंका ज्ञान प्राप्त करने करनेका विशेष रहस्यमय शास्त्र है। यह शास्त्र जिस मनीषी या निरुत्सुक
बन्धी तरह अवगत हो, वह इसके आधारसे, किसी भी प्रकारकी काम-अकाम, सुम-असुम, सुख-दुःख
एवं जीवन-मरण आदि की बातोंके विषयमें बहुत शिक्षित और तत्त्वपूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकता है और
प्रयत्नकर्ता को बचा सकता है।

प्राचीन शास्त्री किञ्चि, जो हमारी भारतीय विधियोंकी माता या मूल प्रकृति मानी जाती है, उसकी
वर्णमात्रा या अव्ययमात्रकमें मुख्य रूपसे ४५ व्यंजन हैं। इनमें

अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ ं अः

ये १२ व्यंजन हैं, और—

क	ख	ग	घ	ङ	—	क	वर्ग
च	छ	ज	झ	ञ	—	च	वर्ग
ट	ठ	ड	ढ	ण	—	ट	वर्ग
त	थ	द	ध	न	—	त	वर्ग
प	फ	ब	भ	म	—	प	वर्ग
य	र	ळ	व		—	य	वर्ग
श	ष	स	ह		—	श	वर्ग

इस प्रकार ७ वर्गोंमें विभक्त ३३ व्यंजन हैं। १२ सवोंका १ वर्ग है जिसकी संज्ञा 'अ' है।
बाकियोंके ३३ व्यंजनोंकी 'क. ख. ग. घ. ङ. च. छ. ज. झ. ञ. ट. ठ. ड. ढ. ण.' इस प्रकार क्रमशः ७ संज्ञायें हैं।

इस प्रकार संपूर्ण वर्णमात्रा ८ वर्गोंमें विभक्त की गई है। प्रस्तुत शास्त्रमें इन वर्गगत व्यंजनोंके अनेक
प्रकारके मेद—उपमेद बजाये गये हैं। ये व्यंजन अनेकानेक गुण और धर्मोंके वाचक और सूचक हैं।
प्रत्येक व्यंजन विशिष्ट प्रकारके समास और स्वरूप का सूचक है और फिर वह जब किसी दूसरे
व्यंजनके संयोगमें आता है तब, वह उस संयोगके कारण और भी अनेक प्रकारका समास और स्वरूप
स्तननेवाला बन जाता है। व्यंजनोंके समास और स्वरूपका निर्धारण करनेके लिये अभिधूमित, आदिमित,
दम्भ आदि संज्ञायें बताई गई हैं। इन व्यंजनोंमें कुछ व्यंजन औरसंज्ञक हैं, कुछ धातुसंज्ञक हैं और कुछ
मूलसंज्ञक हैं। इस प्रकार कई तरहसे व्यंजनोंके समास, गुण और धर्मोंका प्रतिपादन इस शास्त्रमें किया
गया है। यह एक बहुत निरुत्सुक और अज्ञात रहस्यमय शास्त्र है इसमें कोई शंका नहीं है।

प्राचीन जैन ग्रन्थोंमें इस रहस्यमय अधिशापात्मक शास्त्रीय नियमका उल्लेख बहुत जगह मिलता
है। इसमें ज्ञान होगा है कि प्राचीन जैनके जैन आचार्य इस नियमका बहुत ही विशिष्ट ज्ञान रखते
थे। इस नियमका निरूपण करनेवाले छोटे-मोटे अनेक ग्रन्थ एवं प्रकरण जैनाचार्यों द्वारा बनाए गये
प्रतीत होते हैं जो प्रायः अब निरुत्सुक ही हो रहे हैं।

इस विषयके दाताओं और शास्त्रकारोंका अभिमत है कि जिन श्रद्धात और गूढ तत्त्वोंका परिचय, सर्वप्रथम केवलज्ञानी अपने व्याप्यात्मिक अन्तराहान द्वारा अनुभूत कर सकता है वैसा ही परिचय, इस शास्त्रका विशिष्ट ज्ञाता, इस शास्त्र द्वारा अनुभूत कर सकता है और इस लिये इस विषयके शास्त्रको 'अईसूबा-मि,' 'किबली 'सूबा-मि,' 'किबली परिचय' आदि नामोंसे भी व्यवहृत किया गया है।

- इस विषय पर प्रकाश बाबनेवाली बहुत कुछ साहित्यिक सामग्री हमारे पास संग्रहित हो गई है, पर उसका विस्तृत रूपसे आलेखन करनेका यद्यपि अवकाश हमें प्राप्त नहीं हो पाया है। अतः अभी तो हमने इस ग्रन्थको, इस प्रकार, केवल मूल रूपमें ही प्रकट कर देनेका पक्ष किया है, जिससे इस विषयके जिज्ञासुओंको इस शास्त्रका कुछ आभास प्राप्त हो सके।

इसकी पुनरावृत्ति, विशिष्ट रूपसे करनेका हमारा मनोरथ है, जिसके साथ इस प्रकारकी कुछ अन्य रचनाएँ भी संकलित की जायेंगी और इस विषय पर प्रकाश बाबनेवाली अनेक सम्पूर्ण भातों भी आलेखित की जायेंगी।

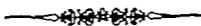
७
 ७
 विक्रमचण्डी संवत् १ १४
 (११ अक्टूबर, १९५८)
 अनेकान्तविहार, अमृतदागर }

- सु नि जि न वि ज य

अथपायड निमित्तशास्त्रगत विषयानुक्रम

क्रम	विषय	पृ	क्रम	विषय	पृ
१	सामासिक शिक्षाप्रकरण	१-७	२२	वर्गगणिका	५०-५१
२	संज्ञ-विकृत प्रकरण	८	२३	नक्षत्रगणिका	५१-५२
३	उत्तराधर प्रकरण	८-१२	२४	व्यंजन विभाग	५२-५७
४	अभिधात प्रकरण	१२-१६	२५	स्वर्गसंयोगकरण	५७-५८
५	बीजसमास प्रकरण	१६-१८	२६	परवर्गसंयोगकरण	५८
६	मनुष्य प्रकरण	१८-२०	२७	सिंहावलीकरण	५८-५९
७	पक्षि प्रकरण	२०-२१	२८	चतुर्भेद गणविसुक्ति	५९-६३
८	चतुष्पद प्रकरण	२१-२२	२९	गुणाक्षर प्रकरण	६३-६५
९	बीजचिन्ता	२२	३०	उत्तराधरविभाग प्रकरण	६५
१०	घातुप्रकृति	२२-२५	३१	स्वर्ग्य प्रकरण	६५-६७
११	घातुयोनि	२५-२७	३२	व्यंजन-स्वर प्रकरण	६७-६८
१२	मूलमेद	२७-२९	३३	स्वभावप्रकृति	६८-६९
१३	मूलयोनि	२९	३४	उत्तराधरसंपत्करण	६९-७३
१४	शुद्धिविभाग प्रकरण	३०-३१	३५	वर्गाक्षरसंयोगोत्पादन	७४-८०
१५	वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्श प्रकरण	३१-३३	३६	सर्वतोमूत्र	८०-८१
१६	त्रिपदादि प्रथम दिक् प्रकरण	३३-३४	३७	संज्ञ-विकृत प्रकरण	८१-८२
१७	नटिकाचक्र	३४-३८	३८	अग संबंधी अक्षविभाग प्रकरण	८२-८४
१८	चिन्तामेद प्रकरण	३८-३९	३९	स्वरक्षेत्रमयन	८४
१९	लेखगणिकाधिकार संख्याप्रमाण	३९-४४	४०	तिथिनक्षत्रचक्र	८४-८५
२०	काल प्रकरण	४४-४६	४१	व्याधि-मृत्युविषयक प्रश्न	८५-८६
२१	सामगणिका प्रकरण	४६-५०	४२	ज्ञानदीपक बृहामणिसारशास्त्र	८७-९६

प्रश्नव्याकरणख्यं जयपाहुडनाम निमित्तशास्त्रम् ।



॥ ॐ नमः सर्वज्ञाय ॥

*

करकमलकलितमौक्तिकफलमिव कालत्रयस्य विज्ञानम् ।

यो वेत्ति लीलयैव हि, त सर्वज्ञ जिन मनत ॥ १ ॥

प्रश्नकृत्(ता?) प्रश्नाख्यस्य जयपाहुडस्य निमित्तशास्त्राख्यारम्भे अष्टोपदुरितप्रश्नपार्थं नामि
प्रेतार्थप्रसिद्धार्थमिष्टवेषतामस्कार(रः)कथंभ्यः । तदर्थमाह -

सिद्धमरुच्यमणिदियमङ्घ्रि(क)यमणवन(ज)मधुचुं वीरं ।

पामिठ्ठण सयलतिहुयणमत्ययचूढामणी(णि) मिरसा ॥ १ ॥

वीरं शिरसा प्रणम्येति । किञ्चिशिष्टमन्त्रमुच्यते - सिद्धं । तत्र ह्युमाहमकर्मविमुक्तः ॥
[प १ पा १] सिद्धः । नास्य रूप विद्यत इत्यरूपः । रूपं सु(ष्ट)क-कृष्णापात्मकम् । ओज्रादी-
नीम्बियाणि क्षुद्राद्यर्थविषये न प्रवर्तन्ते(न्ते) इत्यनीम्बियम् । न कृ(त्रि)यस इत्यकृतका, इत्यरूपेण
नित्यत्वात् । नावद्यमनवद्यः । अवद्यं पापम्, अपाप अवर्ण्य इत्यर्थः । न स्वमावात् प्रणम्येति
इत्युच्य(अच्यु)तः । अष्टोपकर्मविदारणाद् वीरः । वीरो वेषताविशेषः । तं शिरसा प्रणम्येति
सम्बन्धोऽयम् । अथवा यं न(?) एव सिद्धः अत एवासावर्तनी अनिम्बिय अकृतक अनवद्य ॥
अच्युतः वीर इति बभूव(व) स एव सकृद्वृ(त्रि)मुबनमस्तकचूढामणिः] लोकात् [प १ पा १]
निवासित्वात् । अतस्त वेषताविशेष महावीराख्यं सि(शि)रसा प्रणम्य प्रश्नव्याकरणं शास्त्र
व्याख्यामीति वाक्यशेषोपाह्वयमिति । आराधुपकारित्वात् ॥ १ ॥

सुयधेवय पणमिमो, जस्त पसाएण गहियव(ध)रियस्त ।

सुचस्त अत्यपरिमियसपा(मा?)दरो वीरए काठ ॥ २ ॥

सुत साक्ष(शास्त्र) ज्ञानमित्यनभोन्तरम् । तदेतत् सुत वेषता सुतवेषता । तां सुतवेषतां प्रणत-
(सा)मि । पसाः प्रसादेव । प्रसाद इत्यमुमहोऽमिमुकपरितोप इत्यु[च्य]ति । गृहीतस्य इ(ए)वस्य
व वस्य सूत्रस्यार्थः । सूत्रार्थः प्रात्याक्षरः सन्मते कर्तुमिति ॥ २ ॥

महमाहा[प १ पा १]पुप्पाय, सुवणठभतरपवत(वच)वाधार ।

अहसयपुण्ण णाण, पण्ह जयपायठ धोच्छ ॥ ३ ॥

मति(तिः) बुद्धि(द्धिः) प्रकृति पर्यायाः । बुद्धिप्रभाशोत्पत्तिमूलमित्यर्थः । कलसा बुद्धे(देः)
प्रभाषः । मष्ट-मुष्टिपिन्ता-ज्जामाक्षान-सुत-दुःख-जीवित-सरणामिष्यस्यकलम् । किञ्च सुवनाम्य
न्तरप्रवृत्त्यापारम् । व्यापारकवृत्तवर्षोपलम्भनम् । अतिस(क्ष)यपूर्णं ज्ञानम् । परन्वसा(क्षा)-

स्वातुपञ्चम्यं सोऽसि(स)यः । अतिर्यं(स्य)शाम निमित्तशास्त्रास्तु(दु)पञ्चम्यत इत्यसि(स)यः ।
अतीतानाग[त]वर्तमाननिमित्ताघनेकप्रकारं नष्ट-मुष्टिभित्वाविक्रम्यापसि(स)यपूर्णं प्रसङ्गान
जगत् १ २ १ १ प्रकटने हेतुमूत अगतप्रकटनं व्याख्यामीति ॥ ३ ॥

अ क च ट त प य श पुषे, वग्गे लक्त्वेज्ज पण्हमावीए ।

उत्तरघरा य तेसिं, जाणे अगक्त्वरसराण ॥ ४ ॥

इह शास्त्रे त्रिधा वर्गक्रमः पञ्च(कः) । अष्टवर्गी क्रम(मः) पञ्चवर्गी क्रमश्चेति । कृत पठत् ।
तथा शास्त्रे अथवाहारवर्णनात् । तत्राथमत्राष्टवर्गक्रमः - 'अ क च ट त प य श' इत्येतेऽष्टौ प्रथमा वर्णा
वर्गाणां सूचका इति । प्रथमा(मा)शामाही प्रथमा(म)माएकार्यां या मात्रिकेत्यनेकार्थोपसङ्गह
स्वात् । अगाजां अक्षराणां अरुणां च उत्तरत्वमघरत्वं च पश्यमाणं अवगच्छ ॥ ४ ॥

जेत्तियमित्ते सक्को, [५ २ १ १] घेषु पण्हक्त्वरं परमुहाओ ।

ते सवे ठाषेठ, तेसिं पठमक्त्वरपाहुदि ॥ ५ ॥

वाच्यमाशान् प्रमाशरान् परमुहातु(दु) महीतु सक्तः नैमित्तिकः । ते सर्वे स्थापयितव्याः
प्रथमाशरान् प्रवृत्ति वेपामशरानाम् ॥ ५ ॥

सजुत्तमसजुत्त, अणमिहय अमिहय च जाणिसा ।

आलिं गियाभिधूमिय, वङ्गाणि य लक्त्तए तेसिं ॥ ६ ॥

वेपो वाक्याशरानां पूर्वस्थापितानां संयुक्तमसंयुक्तं इति । तत्र संबोगोऽनेकपाऽभिधासति ।
स्वकाय-स्ववर्ग-परवर्ग इति । स्वमावस्वो वर्णोऽसंयुक्तः । तत्राभिधातो बह्वचमाणकत्वादि-
विधः [५ ४ १] । आलिङ्गित-अभिधूमित-वृग्मज्जणः । अनमिहयः अभिधातः(ठ)रद्विप-
मे(दि)ति ॥ ६ ॥

मीचो(सुं) पठमालाध, णेमिची अप्पणो य पठिपण्ह ।

सेसेमु जीवमादीपरिचित्त वागरे मइमं ॥ ७ ॥

पृच्छकस्य उत्तमाप्यादिक प्रथमाकार्यं मुक्त्वा प्रथ(म)शास्त्रवित् प्रतिप्रथमा(मा)वालीवां
(धं) च मुक्त्वा अभ्यघ्नात् प्रथ(म) शरीत्वा वाच-मूर्त्त-स्त्रीणां प्रथमवाक्यमेव प्रशुषी जीव-मूच-
घारव[र]राणा(जा) प्रवायां घेऽधिकसंख्यासौजी(र्जी)वपातुमूचबोनि निर्देदपम् ॥ ७ ॥

पठमो य सत्तमसरो, क च ट त प य शा य पठमओ वग्गो ।

धिदि-अष्टमसरसहिया, ख छ ठ था १ ४ १ र पा धितीओ य ॥ ८ ॥

पंच-वर्गक्रम इदानीं कथ्यते - अकारः प्रथमः अरः । एकारः सप्तमः अरः । 'क च ट त प
य श' सक्षिणो प्रथमो वर्गः । आकारो द्वितीयः अरः । एकारोऽष्टमः अरः । 'ख छ ठ थ ढ र प'
समेवो द्वितीयो वर्गः ॥ ८ ॥

तइओ णवमेण सम, गजढ व थ ल सा य तइयओ धग्गो ।

चठ-असमसरेण सम, घ झ ढ ध भ व हा य चउत्यो उ ॥ ९ ॥

इकारस्तृतीयः । उ(ओ)कार(रो) नवमः । 'गजडदधलस' सखीवौ हृदीयो बर्गः ।
ईकारःतुर्व्ययः । औकार(रो) दशमः । 'मसडधमपडा(इ)' समेतौ चतुर्थो वर्गः ॥ ९ ॥

अणुणासिया य [१ ५, पा १] पच वि, पचम-छट्टा सरा य घोषघा ।
दो चरिमसरा य तद्वा, पण्डक्खरमूलवत्युस्त ॥ १० ॥

'कषणनमाः' पञ्च अमुनासिकाः । 'उ ऊ' पञ्चमपद्यौ । 'अं अः' द्वौ चरिमस(स)रौ ।
मभवः । एते पंच बर्गाः प्रमाक्षरमूलवस्तुनि ॥ १० ॥ बर्गरचना समाप्ता ॥

इहानी जीव प्राहु-मूलाक्षरानां विभागोपदेशानामाह-

आइह्या तिण्णि सरा, सचम णवमो य धारसे जीव ।

पचम-छट्ट-सरस्त[य], घाठ सेसेसु तिसि(सु) मूल ॥ ११ ॥

आधाः सराक्षय 'अ आ इ' । सप्तम 'ध'कारः । नवम 'ओ'कारः । 'अः' द्वावक्षमः । एते पद ॥
सराः जीवसराः वि[१ ५, पा २]श्रियाः । 'उ'कार[ः] पचमः । 'ऊ'कारः पद्यौ । 'अं' एकादशमः ।
त्रय एते प्राहुसराः । चतुर्थ 'ई'कारः । दशम 'औ'कारः । 'ये'कारोऽष्टमः । एते त्रयोमूलसराः ॥ ११ ॥

कच ट चठके जीय, अट्टम-मठमतिमे यकारे य ।

तप[य?] चठके घाठ, घ से य मूल तु सेसेसु ॥ १२ ॥

'कखगघ, चछजझ, टठडढ' इत्येते पूर्वनिर्दिष्टाः[ः] प्रथमवर्गस्य । अष्टमः स(स)का ॥
[१ ६, पा १]रः, अस्मान्तो इकारः, यकारः । जीवाक्षरा एते । 'व य इ ध, प फ ष म'
इत्येतेऽष्टौ । वकारः सकाराभ्येते प्रात्वक्षराः । कषणनमा[ः] तथा रक्षरः, छकारः, पचमः
इत्येते मूलाक्षरा(या) ॥ १२ ॥

जीवाक्षरानामुपसंप्रहार्ये सरानां गाथामाह-

जीवक्खरेद्धीसा, तेरह घाठक्खरा मुण्येयघा ।

एयारस मूलगया, पणयाला हौंति सबे वि ॥ १३ ॥ [१ ६, पा २]

पूर्वनिर्दिष्टाः सराः पद 'अ आ इ ए अ, क ख ग घ, च छ ज झ, ट ठ ड ढ, य स हा'
एते जीवाक्षराः एकविंशतिः २१ । पूर्वोक्ता प्राहुसराक्षयः 'उ ऊ अं' इत्येते चान्ये 'व य इ ध प फ ष म
व श' एते प्रात्वक्षरस्योपसं १३ । 'ई'ये औ, कषणनमा, रक्षरा एते मूलाक्षराः एकादश
११ । जीव-प्राहु-मूलसमेदाः पंचवत्वारिंश(स)वक्षरानि भवन्ति ॥ १३ ॥ [१ ७ पा १]

पठमस(स्स)रसंजुत्ता, सबे लहुअक्खरा य अणमिहया ।

इच्छति जीवधिता मि(म)त्तासु विवज्जिया जाव ॥ १४ ॥

वत्सर्गधिक्षानां जीवाक्षरानामपवाहः । अकारः प्रथमसराः येषामक्षरानामन्तर्मूला, ते
जीवाक्षराः प्रथमसंजुत्ताः । अथवा अकारेण युक्तः 'क च ट य स ग ज डा' एते(ते)ऽष्टौ
अक्षराः अनमिहया मात्रारवि[१ ७ पा २]ताम् जीवधितां कथयन्ति । अणुत्ता अपि प्राहु-

(घ) मूळबिम्बाभ्यां गाभामा[न]न्तमूर्तास्ये वेत्युच्यन्ते । 'त इ प व छ' इत्येते पप धत्त्वक्षराः अम निहताः छपयो मात्रारक्षिताश्च जीवपातुबिम्बां कथयन्ति । छकार एक एव मूळक्षरो छपुः । जनमिहयो मात्रारिचरितः स स्त्रीबमूळबिम्बां कथयति ॥ १४ ॥

मत्तासु जो विअप्पो, जो वि य आलिं गिओ वि अभिघाओ ।

त सच्च वण्णेह, अहम्म आणुपुधीए ॥ १५ ॥

मात्रासु यो विकल्प इति वक्ष्यमाणोपन्यासार्थगाथा । विकल्पप्रहेन मात्रामेव कथ्यते । स प[वं] विषममात्रा लघोमात्रा इति । [१ ८ पा १] आलिं गिवागुं (त्रि)भूमितद्वग्वच्छप्योपपा-
या[त्] ए (त्रि)या । तद्वैतत् सप्रपंचं यथाक्रमानुपूर्वां कथयिष्यामः ॥ १५ ॥

पढमो तहओ य सरो, सत्तम णवमो य तिरियमायाओ ।

मूळसर उट्ट(डु)मत्ता, पच्चम-उट्टा अहोमत्ता ॥ १६ ॥

अकारः प्रथमः स्वरः, इकारः द्वितीयस्वरः, एकारः सप्तमस्वरः, ओकारो नवमस्वरः—एते चत्वारः स्वरास्त्रिंशद्मात्राः । एतेषु मूळयोनी अम्भायां विषमतायां वत्सां (इषां) शास्त्रायां वा संबन्धि मुष्टिगृहीतं किमपि कथयन्ति । नष्टप्रभेऽप्यन्वयीभूतिवैर्यमागक्षितद्रव्यमेव एव स्वराः कथयन्ति । ईकारोऽष्टमः, ऐकारोऽष्टमः, औकारो दशमः । [१ ८ पा १] एते त्रयः स्वरा इन्ः-
मात्राः । मूळयोनी अम्भायां दृश्यस्त्रोऽङ्गभागसंबन्धि किमपि मुष्टिगृहीतं कथयन्ति । नष्टप्रभे इन्ः-
भागक्षितद्रव्यमेते त्रयः स्वराः कथयन्ति । पंचमः अकारः, षष्ठः औकारः, एतो द्वौ स्वरो लघोमात्रौ मूळयोनी अम्भायां दृश्यस्त्रोऽङ्गभागसंबन्धि किमपि मुष्टिगृहीत(तं) कथयत(तः) । नष्टप्रभेऽप्यङ्गभागव्यवक्षिणा(त)मेवाशेष स्वरो कथयतः ॥ १६ ॥ [१ ९ पा १]

जीवाइसट्टाण, णियमा व[रि]संति उट्ट(डु)मत्ताओ ।

व(वि)शरीय अहोमत्ता, णायत्ता जीव घाऊण ॥ १७ ॥

इन्ःमात्रा वि(पेऽ)निहताश्चक्षयः स्वराः । ते जीवाक्षराणां पंचदशानामुपरिगता जीवमूळ-
संस्थानं दर्शयन्ति । काष्ठं मूळमुच्यते । तस्मिन्नुत्कीर्णभागिणस्वाम्यतमजीवमूळसंस्थानमुच्यते
इति । लघोमात्रो (जी) द्वौ स्वराभुक्तो (जो) तौ यथा जीवाक्षरसंयुक्तौ दृश्य(द्वे)ते तथा जीवपा-
तुं दर्शयतः । [१ ९ पा १] को जीवपातुरित्यत्रोच्यते—सुवर्णकल्पतां (वात्रा)ऽरक्षां (स्व)पाया
मा निषेवं विषेषु पातुपु (पू)त्कीर्णो जीवाकृतिसंस्थानः सकृत्प्रामिणो जीवपातुरित्युच्यते ॥ १७ ॥

मूळस्वरा उ सवे, घाठ वसंति जे अहोमत्ता ।

वसंति तिरियमत्ता, परपक्खगया उभयपक्ख ॥ १८ ॥

मूळक्षराः 'अ व ज न म र छ पा' आद्यायेते एका व(अ)पोमात्रा(त्राः) स्वरावयमेवा यथा
दृश्यन्ते तथा धातुद्रव्यं दृश्यन्ति । तिर्यग्मात्रामि[१ ९ पा १] इत्याद्यत्वाये जीवस्वराः, ते
मूळक्षराणामुपरिगता जीवमूळं दर्शयन्ति । जीवमूळस्य आकारः पूर्वोच्यते । परपक्षराणा-
मुपरिगतायेते यथा जीवस्वरावत्वाये दृश्यन्ते तथा जीवपातुं दर्शयन्ति । जीवपातुसंस्थानं
चोच्यते ॥ १८ ॥

सविसर्ग-विन्दुसहिया, जीवाइ णिदि[दि]सति सट्टाण ।

अहमत्तलक्खण पुण, सत्तोसि सकायगुरुयाण ॥ १९ ॥

सविसर्ग-विन्दुसहिया[ः] - विसर्गो द्वावसः (सः) खरः, विन्दुरेकावसः (सः) । [प १, प १] एतौ द्वौ जीवाहरसहितौ जीवयोनि कुरुतः । पदा च द्वावेवौ खरौ मूलाहरसहितौ दृश्येते, तथा मूळयोनि कुर(ब)तः । प्रथमहरसहितौ धातुयोनि कुर(क)तः । अथोमात्रछम्पमहाणेन पंच भष्यन्ते । तद्यथा - सक्कायगुरु[ः], स्वर्गसंयोगः, परवर्गसंयोगः, अर्द्धकान्तं, भ्यहरसंयोगोऽपि । एत एवैव सक्कायगुरोर्लक्षणमुच्यते - द्वौ ककारौ संयुक्तौ, द्वौ गकारौ, द्वौ डकारौ, एवं सर्ववर्गेषु भ्याख्या । सक्कायगुरवो जीवयोनी छम्पायां प्रयुः सक्कायचिन्तां कथयन्ति । धातुयोनी छम्पायां [प ११ पा १] आत्मार्थे धातुचिन्तां कथयन्ति । मूळयोनी छम्पायां आत्मार्थे मूळचिन्तां कथयन्ति । स्वर्गसंयोगस्य छम्पणमुच्यते - सकारस्वोपरिगतः ककारः, पकारः ॥ ११ ॥ स्वोपरिगतो गकारः, एव वर्गं द्वौ द्वौ स्वर्गसंयोगौ मभवतः । जीवयोनी छम्पायां प्रयुः भ्यवन्तुचिन्तां कथयति (मि) । एतौ धातुयोनी छम्पायां स्वव्युक्तं धातुचिन्तां कथयन्ति । मूळयोनी छम्पायां स्वव्युक्ते मूळचिन्तां कथयन्ति । परवर्गसंयोगस्य छम्पणमुच्यते - गकारस्य उपरिगतः चकार(र), गकारस्य उपरिगतो जकारः, पकारस्वोपरिगतो(त) सकारः, इत्येव भावोऽप्येऽपि परवर्गसंयोगा जीवयोनी छम्पायां [प ११ पा १] प्रयुः पर[प]चिन्तां वृष्टं ॥ ११ ॥ चि(मि) । धातुयोनी छम्पायां परपक्कते धातुचिन्तां कथयन्ति । अर्द्धकान्तस्य छम्पणमुच्यते - उपरिगुणोपा(उपसर्गोऽपि)हराणां तुल्यसंख्याया सो अर्द्धकान्तमित्युच्यते । निवर्तनं पथा - 'क्व-क्व-म' इत्येवमावयः । चिन्तायां जीवयोनी छम्पे क्षी-युरुपचिन्तां वृष्टयन्ति । [प ११ पा १] धातुयोनी छम्पे क्षीसंभवेन धातुत्रयं छम्पत इत्यादेश्यम् । मूळयोनी छम्पे क्षीसंभवेन मूळत्रयं छम्पत इत्यादेश्यम् । भ्यहरसंयोगस्य छम्पणमुच्यते - त्रिमिक्तिभिरहरैर्योगः सक्कायहरयोगः । पथा - 'क्वि-क्वि-न्वि-क्वि-न्वि-व्य(?)' एवमावयोऽप्येऽपि जीवयोनी छम्पायां वृष्टं(मयुः) [प ११ पा १] अपमचिन्तां कथयति (मि) । मूळयोनी छम्पायां अपमार्थे मूळचिन्तां कथयन्ति । धातुयोनी छम्पायां अपमार्थे धातुचिन्तां कथयति (मि) ॥ १९ ॥

अभिहयगुरुअक्खरया, रेफ थकार उ ज(ऊ?)कारसंजुत्ता ।

सत्ते य अहोमत्ता, णायहा अप्पहाणा य ॥ २० ॥

रेफ व(वी)कार वकार ककार' एतेपा[प ११ पा १] मन्वतनेनाभोगतेन जीवधातुमूलाहराणां अभ्यवनी(मो)ऽहरः संयुक्तमु(क्व क)च्यते । सेरेबाभोगतैः अभिहय उच्यते । सेरेबाभोगतैरप्रधानमुच्यते । जीवयोनी छम्पायां यस्य क्वचिद्विहरस्य तले महा रेफो द्रस्य(इय)ते, तथा प्रष्टा यस्मार्थे पृच्छति तस्मात् का[प ११ पा १] मि स(श)कप्रहार आदेश्यः । जीवयोनी छम्पायां यस्य क्वचिद् अहरस्य तले पदा वकारो द्रस्य(इय)ते, तथा प्रष्टा यस्मार्थे पृच्छति तस्य क्षीनिमित्तं ॥ ११ ॥ यद्यममादेश्यम् । जीवयोनी छम्पायां क्वचिद्विहरस्य तले वकारो द्रस्य(इय)ते, तथा प्रष्टा यस्मार्थे पृच्छति तस्य मूळमादेश्यम् । जीवयोनी छम्पायां यस्य क्वचिद् अहरस्य तले ककारो द्रस्य(इय)ते तथा प्रष्टा यस्य क्वते पृच्छति तस्य [प ११ पा १] दीर्घकान्तं चम्पनमादेश्यम् । एते चार्था एवपि गाथायां नोक्तास्तत्पद्येते द(इ)द्वय्याः ॥ २० ॥

जाणे नवगगमस्व(गुरु)ए, जोणी जा जस्त अप्पणात्तणिय ।

परवगगमस्वरठाए, जो उच्चरिं तस्त सा जोणी ॥ २१ ॥

जानीहि छवर्गाहरोणाहरो गुरुम(री)त्र यया-‘कल ग्’ आम्मां धीधो वच्छम्मा ।
‘त् त्’ आम्मां पाहुव(री)च्छम्माः । ‘ह ह्’ म्मा(१) एवमाभिमिर्मुक्खम् । परवर्गेणापि दोऽहरो
गुरुप्यं उपरिस्मित्ता(१) १५ पा १)स सा धोनिः । निर्वर्त्तन-‘ग् व्’ छ(१) इमेवभाववो
यथासंख्येन जीवपाहुमुत्थानि ॥ २१ ॥

आइह्छा च्चारि धि, जीवा पयढी ह्वति ठाणाह ।

पचमल्लुवा धाओ, मूलपयढी य दो च्चरिमा ॥ २२ ॥

धाया जीवस्वर[ः] चत्वारः । ‘अ इ ए उ’कारो वर्णागत एवानो(तो) न गृहीतः । पदे
जीवाह्वराणामुपरिगता मि(मिः) १५ पा १)सं(स)यं जीवमेव दर्शयन्ति । पठा(ठे) एव
जीवस्वरः जीवमहत्वा भावह्वराणामुपरिगता जीवभातुं कुर्वन्ति । मूलाह्वराणामुपरिगता जीव
मूलं दर्शयन्ति । जीवमूल-जीवभावोर्लक्षण प्रागुक्तमिति । पंचम उकार(रः), पठ उकार, पठौ
द्वौ पाहुस्वरो भावह्वराणामभोगवौ पाहुमेव दर्शयतः । [१५ पा २] ‘अ’ प्राहुस्वरश्चरिमा
केवलो पाहुमेव क्वयति । ‘अः’ चरिमो जीवस्वरु केवलो जीवमेव क्वयति । पूर्वोक्तानां
जीव(पर)ह्वराणामुपरिगतो चरिमसंज्ञानुसारे जीवमेव क्वयति । तत्रत्यस्यैवमको मन्ति । भाव
ह्वराणामुपरिगतोऽनुसारे धातुमेव क्वयति । मूलाह्वरोपरिगतोऽनुसारे मूलं क्वयति । ‘अः’
चरिमसंज्ञो विसर्गः[ः] जीवाह्वराणामन्वतमस्मात्प्रभिव(तो)जीवमुपदर्शयति । भावह्वराणामो धातुं
क्वयति । मूलाह्वराणामन्वतमस्मात्प्रभो विसर्गः [मूल]मेव दर्शयति । चरिमसंज्ञत्वं
ए(वि)ध्वपि घट्ट(१) १५ पा १)सं(सं) मन्तीति । सामान्ययोनि(निः) समाप्ता ॥ २२ ॥

धी(धि)ह्वाह्वरविभागार्थं प्रथोन्नत्वाच्च तदुपन्यासः-
उर-कठ-जीहमूला तालवा तह य उद्धतालवा ।

दता उट्टा अणुणासिया य सुच्चखा(मुद्धक्ख)रा च्चैय ॥ २३ ॥

नव स्थानानि वणानां तथोत्पत्तेः । उर(उरस्वा), कण्ठ्याः, जिह्वामूलीयाः, तालव्याः,
कूटताळव्याः, वन्त्याः, ओडपाः, अमुनासिकाः, मूर्धन्याभ्येति नवस्थानान्यह्वराणीति

गावार्थः ॥ २३ ॥

सविसग्गो य अकारो, उकारो (उठरो) हकारो य जो ह्वइ हस्तो ।

हस्तस(स्त)रा य कठा, जीहामूला क ख ग घा य ॥ २४ ॥

सर्व(वि)सगाः, अकारः, इकारश्च, हारेणो उ(र)स्यौ दाठम्बी । हस्तस्वरः [१५ पा १] अ इ ए उ चारवायेऽप्येते कण्ठ्याः । ‘क र ग प’ इत्येते चत्वार(रो) जिह्वामूलीयाः ॥ २४ ॥

सत्तट्टआ(मा)ण पढमा, तालवा च्छजझा य च्चारि ।

ट ट ठ ढ धीओ य सरो, ह्यति खलु मुद्धतालवा ॥ २५ ॥

पंचमपगम्य सप्तमो वकार(रः), यद्वा सप्तमवगम्य प्रथमो वकारः, अष्टमवर्गस्य प्रथमः

स(श्)कारः । 'ब छ ज झ' इत्येते चत्वारस्तालव्याः । 'ट ठ ड ढ' इत्येते [५ १० पा १] चत्वारः, द्वितीयस्वर आकारः, पञ्च एते मूर्द्धन्तालव्याः ॥ २५ ॥

त थ द ध सा पु(प)ण दत्ता, प फ व भ घातुस्सरा वकारोच्चा(ट्टा) ।

धर्गचरिमाणुणासी, मुद्धण्णा सेसया सवे ॥ २६ ॥

'त थ द ध सा' इत्येते पञ्च वन्त्याः[ः] । 'प फ व भ' इत्येते चत्वारः(रः), घातुस्सरो व ५ प्रो पञ्चमपद्यो व ऊ, 'व' कारश्च, सप्तैते षोडशाः । धर्गचरिमग्रहणेन पञ्चमातुनासिका 'ऊ भ ष न माः' गृह्यन्ते । [५ १० पा २] भयवा धर्गमहणेनातुनासिकाः, खराणां च मध्ये चरिमोऽतुनासि[को] म्बुद्ध, 'भ' इत्येते च पञ्चतुनासिका । घोषाः-खराः के ते ? ईरेणो' त्रयः । घोषास्त्र(त्रा)धराः 'र छ पा' इत्येते त्रयः । एकत्र पञ्च मूर्द्धन्त्याः । सि(दि)क्षाप्रकरण समाप्तम् ॥ २६ ॥

अत्रावसरमाता अक्षरलक्षिः, [तां] नामप्रकरणेऽभिधाम्यति । इह सि(त्तु) प्राप्तिमात्रं मुख्यते । तदर्थं गार्ह १० पा १] यामाह-

ठाण ठाण एक्केक्य तु आलिगिघा(था)इ हायति ।

उरसादी ठाणाण, ताल्ळे उवरिमो ठाइ ॥ २७ ॥

स्थान स्थानमेकैकमाळिगिताभिधूमितवर्गघास्यत्तम् । उरसा निहतास्तालव्ये[न] इत्येवं ५ क्तम अभिहव इति । अभिहवमहणेनाळिगिताभिधूमितवर्गघा वच्यन्ते । उरसो(उरसो)ऽन मिह्वो असंयुक्त उरस्य एव उमते [५ १० पा २] अक्षरम् । उरस्य आळिगितकण्ठस्थान उमते । उरसोऽभिधूमितो जिह्वामूलीय उमते । उरसो वर्गघास्य उमते । कण्ठ्योऽनभिहवासंयुक्तः कण्ठ्य एव उमते । कण्ठ्य आळिम्य(गि)तो जिह्वामूलीय उमते । कण्ठ्योऽभिधूमितवर्गघास्य उमते । कण्ठ्यो वर्गघो मूर्द्धन्तालव्यं उमते । जिह्वामूलीयोऽनभिहवासंयुक्तो जिह्वामूलीय उमते । स ५ एवाळिगितस्तालव्यं [५ ११ पा १] उमते । स एवाभिधूमित उद्धतालव्य उमते । स एवा(वी)- १ वर्गघो वन्त्य उमते । तालव्यो अनभिहवासंयुक्तस्तालव्यं उमते । स एव वर्गघो वन्त्य उमते । तालव्यो(व्य) आळिगितः ऊद्धतालव्य उमते । स एवाभिधूमितो वन्त्य उमते । स एव वर्गघो(ग्य) व(भौ)ष्य उमते । मूर्द्धन्तालव्योऽनभिहवासंयुक्तः स्वस्थान उमते । स एवाळिगितो वन्त्य उमते । स एवाभिधूमित व(भौ)ष्य उमते । स एवा(वी)वर्गघो अनुनासिक उमते । ५ वन्त्यो अनभिहवासंयुक्तः(वतः) स्वस्थान उमते । स एवाळि[५ ११ पा २] गित षोष्य उमते । स एवाभिधूमितो अनुनासिक उमते । स एव वर्गघो मूर्द्धन्त्य उमते । षोष्यो अ(ऽ)नभि हवासंयुक्तः स्वस्थान उमते । स एवाळिगितोऽनुनासिक उमते । षोष्योऽभिधूमितो मूर्द्धन्त्य उमते । वर्ग उरस्य उमते । अनुनासिको अनभिहवासंयुक्तः स्वस्थान उमते । आळिगितो मूर्द्धन्त्य उमते । [५ ११ पा १] अभिधूमित उरस्य उमते । वर्गः कण्ठ्यं उमते । मूर्द्धन्त्यो ५ अनभिहवासंयुक्तः स्वस्थान उमते । आळिगित उरस्य उमते । अभिधूमितः कण्ठ्यं उमते । स एव वर्गघो जिह्वामूलीय उमते ॥ २७ ॥

॥ एव स(सा)मासि(सि)क शिक्षाप्रकरण समाप्तम् ॥

पठमो तद्भ्रमो य सरो, सत्तम णवमो य सकडा हस्ता ।

वियडा अंतरदी[१ १ पा १]हा वि चठत्यो पचमो चैव ॥ २८ ॥

अकार इकार-एकार जोकारः, अकारोऽमी संकटसंज्ञाय हस्ताय । प्रमाहरणां मध्ये वदा संकटस्वरपादुस्य भवति तथा प्रष्टा पक्षार्थे मोक्षं पृच्छति आत्मनो(मः) परस्व वा बद्धस्य तथा मोक्षो [मः] भवतीत्यादेश्यम् । नष्टमपि न समते । दुर्गमज्ञानिक न प्राप्नोतीत्यादेश्यम् । एतद् व्यतिरिक्तमन्यद् वदा [१ १ पा १] पृच्छति तदे(दे)न संकटसंज्ञानां स्वरणां बाहुस्ये सर्वे मेव सम्यक् इत्यादेश्यम् । विकटा अन्तरदीर्घाः । के इत्यत्रोप्यते - द्वितीय आकारः, अक्षरं ईकारः, पंचम-वकारः, प्रथो विकटसंज्ञा अन्तरदीर्घाय । प्रमाहरणां मध्ये वदा विकटसंज्ञानां स्वरणां बाहुस्य भवति तथा प्रष्टा पक्ष कस्यचित् परस्वात्मनो वा बद्धस्य मोक्षं [१ १ पा १] पृच्छति तथा मोक्षो भवतीत्यादेश्यम् । नष्टमपि समते । दुर्गमिभगाम सिध्यति, इत्यादेश्यम् । एतद् व्यतिरिक्तं परम्यनु(तु) छामादिक पृच्छति तत्र भवतीत्यादेश्यम् ॥ २८ ॥

सकडा(ड)विअडा सेसा, सहा[व]दीहा य तिणिण णि[य]मेण ।

उट्टट्टमा य वेणिण विसमस्सरो चैय णायवो ॥ २९ ॥

संकट-विकटाः शेषाः स्वभाषदीपाय । पठ ऊकारः, मेकारोऽष्टमाः, जोकारो इष्टमाः, इत्येते प्रथः । शेषमहपाद् बिन्दु-विराजतीषी । प्रमाहरणां मध्ये संकट-विकटसंज्ञानां बाहुस्य भवति तथा प्रष्टा वदात्मनो वदि वा परस्वार्थे बद्धस्य मोक्षं [१ १ पा १] पृच्छति तथा भेदेन मुष्यत इति वक्तव्यम् । नष्टमपि द्विपिद्वयं भेदेनैव सम्यक्ते । दुर्गमगोऽपि भेदेनैव भवतीत्यादेश्यम् । परम्यदेतद् व्यतिरिक्तं तुममममं वा पृच्छति तत्रमध्यम भवतीत्यादेश्यम् ॥ २९ ॥

पठमा(म)त)इया य वियडा, धीय चठत्या य सकडा वग्गा ।

सेसा क(सं)कड वियडी(डा), अ ड ई वडस्त भेवतिय ॥ ३० ॥

प्रथमाः - 'क च ट त प य सा(सा), [द्वितीयाः] ग ज ङ च छ सा' एते विकटसंज्ञौ । प्राग्वत् षडम् । द्वितीयाः - 'ग उ ठ थ क र पाः' अक्षरं(पाः) - 'प ह ड व भ ङ ङ' एते संकटसंज्ञाः । पूर्ववत् षडम् । शेषमहपाद् [१] 'ड व ण म मा' एते विसमसमायाः । वडं विप्रतड ब्रह्ममुपपत्ते ॥ ३० ॥ [१ १ पा १]

॥ एव सकट विपटप्रकरणं समाप्तम् ॥

धग्गे गणणादेसे, म(द)ग्गेषु य उत्तराहरो होइ ।

धग्ग(ग्ग)त्ता य नियमा, अ च त य वग्गंत(ग्गुत्त)ता चठरो ॥ ३१ ॥

वत्तापरं अनुर्विधं - वगोत्तरं गमनोत्तरं आदेशोत्तरं ब्रह्मोत्तरं चति । अथ च संबन्धः आर - ११११ देवेषु वत्तर अहता य तेति आने वग्गवत्तरमाराधे । तर्धं प्राग् वगोत्तरं चने - [१ १ पा १] 'अ च त य' एते वत्तराः वग्गाः । वत्ता प्रपाना इत्यर्थः । वत्तावत्ते(म्ये) कटपदा संज्ञाधावाराः अपरा भवपानायेति ॥ ३१ ॥

एतदेवाह -

सेसा ह्वति अहरा, वग्गा चत्तारि कटपसा जाण ।

एक्केळ्ळमि चउक्के, पुणो वि ह्णमो कमो णेओ ॥ ३२ ॥

अ[ष्टव]र्गक्रम एव, चत्वारो वर्गा अपराः । के ते ? 'कटपसा(सा)' शेषमहणाद्
भण्यते ॥ ३२ ॥

गायपद्मार्देस्मान्[प २१ प २] गायया विमापा क्रियते -

एक्केळ्ळनि(मि) चउक्के, पुणो पि(वि) ह्णमो कमो उ विण्णेओ ।

दो उचरा उ तेसिं, दो धिअ अहराधरा विदिए ॥ ३३ ॥

निरूपितं उत्तरचतुष्क अपरचतुष्क वेति । तत्र चतुष्कद्वये भूष[ः] प्रधानप्रधानद्वयं
नार्यं क्रमोऽयं विहातव्यः । उत्तरचतुष्के द्वौ पदा - अथ वर्गौ प्रागुत्पन्नत्वाद् । द्वौ च इति
द्वितीयचतुष्कमाह । तत्रास्तौ द्वौ वर्गौ 'प स' अपराधराविति मन्थव्यौ । अथवा द्वितीयवर्गौ द्वौ
द्रा[व]पराविति । द्वौ अपरौ 'कट' संज्ञौ । द्वौ अपराधरौ 'प स (श)' संज्ञौ । एवं वा नेयम् ॥ ३३ ॥

अनु(मु)मेवार्थं विशेषयन्माह -

दो चेव उ [प २४ प १] उत्तरोत्तर, तेसिं दो उत्तराधर(रा) पढमे ।

अधरुचरा य द्दोणिण य द्दोणिण य अहराहरा विदिए ॥ ३४ ॥

तत्र उत्तरचतुष्के पूर्वोत्पन्नत्वात् प्रधानत्वाच्च 'अथ' एवौ उत्तरोत्तरौ । आध्यामनन्तरप
ठि[व]त्वात् 'यथ' एवौ अपराधरौ एव प्रथमचतुष्के । द्वितीये तु 'कट' इत्येवौ अपरोत्तरौ । अपर
चतुष्कत्वाद् अपरौ प्रागुत्पन्नत्वात् उत्तरौ । द्वौ अपराधरौ । 'प स[श]' संज्ञौ अपरचतुष्क(त्वा)द् अपरौ ।
'कट' वर्गयोः पद्माहुत्पन्नत्वाद् अपराधराविति । एव अष्टवर्गक्रमेण वर्गोत्तरमुच्यते ॥ ३४ ॥
पंचवर्गवित् (व्यमेवत् ?-) ।

पढमन्तइया उ धग्गा, पण्हत्स य उत्तरक्खरा ह्येति ।

धितिय-चउत्था अहरा, अ[हरा]हर हो[प २४ पा २] प्रति अणुणासी ॥ ३५ ॥

प्रथमवर्ग[ः] - 'क कटवपयस(स)' इति । एतौ - 'ग अ इ ए अ ङ स' । एतौ वर्गौ
उत्तरोत्तरौ, उत्तराधिकार्यः । द्वितीय[ः] - 'अ छ ठ व फ र प' चतुर्थः - 'प स इ व अ ङ स' ;
इत्येवौ वर्गौ अपरसंज्ञौ । 'क व ज न न' इत्येव(प) वर्गः अपराधरसंज्ञः । एवं वर्गोत्तरम् ॥ ३५ ॥
साम्प्रत गणनोत्तरम्, त्वर्थं [गाथा] -

गणणाए छा [प २५ प १] इच्छी, सवत्तरा छत्तराधरा इयरे ।

विसमा वि उत्तरा धजणेसु अहरा समा भणिया ॥ ३६ ॥

गणना-अनुक्रमो भण्यते । तत्र स्वराणामाधाः षड् चत्वारः, पूर्वोत्पन्नत्वात् । 'अ आ इ ई उ
ऋ' । पद्माहुत्पन्नत्वात् अपरा 'ए ऐ ओ औ ङ ञ' । पद्माऽयथा गणनोत्तर(रं) स्वराणाम् 'अ इ ए अ
ओ ङ' इयोर्द्वयोः प्रागुत्पन्नत्वात् [प २५ पा १] मत्वादेते चत्वारः । पद्माहुत्पन्नत्वात् 'आ ई ऊ ऐ औ
अः' इत्येत अपराः । यत् इदमाह -

"विसमा वि चत्तरा बंधणेषु अहए समा भणिया ।"

इहापि गणनमेवाहीकृतोऽप्यम् । विपमा[१]—प्रथम-शुचीय-यन्त्रम-वर्गीया वर्णाः । द्वितीय-
चतुर्थाः समा इति । विपमवर्गीया उत्तराः, समवर्गीया अक्षरा इति । एवं गणनोत्तरम् ॥३९॥

हस्ता अयारसहिया, सरुत्तरादेसओऽधरा इयरे ।

क च ट त प य सा शुगओ य अकारो उत्तरो पठमो ॥ ३७ ॥

१ आदेशोत्तरमेतत्—इत्याः क्षरा अक्षरसहिता इति । 'अकार इकार उकार एकार ओकार
अं'इत्येते उत्तरत्वेन[१५ २९, ३०] विद्यः । एतेषां यद्यपि मध्ये उकारो अमपानो दाहात्मकः,
तथाप्युत्तर एव द्रष्टव्यः । उकारो यद्यप्युत्तरं पृथ्वि स उत्तर एव । यद्यपरं इति स अक्षरो
व्यपः उत्तरो भवति । शेषाः पृथ्वि अपराः पूर्वोक्ता अपि भेदोत्तरेण पुनरादिताः । आ ई ऊ दे ओ ञा,
अ क च ट त प य शेष्यन्तर्भूतोऽप्यकार उत्तर(रो) द्रष्टव्यः पृथगात् ॥ ३७ ॥

११ क ग च ज ट ड त द प य ल, अष्टमवर्गस्त पठम तद्भौ य ।

एते [य] उत्तरा वजणेषु सेसा अ(ऽ)धरादेसे ॥ ३८ ॥

'क ग च ज ट ड त द प य ल स सा' एते प्रथम-शुचीयवर्गाक्षराः । प्रथमवर्गाक्षरमः स(स)-
कारः । तस्मात् शुचीयः [१५ २९ च ३] 'स'कारः । एते सर्वे उत्तरत्वेनादिताः । शेषा अक्षरा इति ।
'ग य ल स ज ट ड त द प य ल स सा' इत्येते द्वितीय-चतुर्थवर्गाक्षराः अपरा आदिताः ॥ ३८ ॥

१२ उत्तरसरसजुत्ता, वर्गो लहु अक्खर(रु)त्तरादेसे ।

अहरसरेसु य अहरा, ह्वति ये उत्तरा लहुया ॥ ३९ ॥

संयोग प्रति उत्तरसरसंयुक्ता[१] । के ते उत्तरक्षराः ? उच्यन्ते—'अ इ ए ओ अं'
[१५ २७ च १] एते । प्रथम-शुचीय-वर्गप्रतिबद्धा ये अक्षरास्ते उपमा । के ते ? उच्यन्ते—'क ग
च ज ट ड त द प य ल स सा' इत्येते । अनन्तरोऽप्य उत्तरस(स)संयुक्त उत्तरा एवादिता
१३ (इय)न्ते । एत एव 'क ग च ज ट ड त द प य ल स सा' उत्तरापरसरेः 'आ ई ऊ दे ओ ञा'
इत्येते(तेः) संयुक्त अपरा इत्यादि(इय)न्ते । एवमादेशोत्तरम् ॥ ३९ ॥

वधेषु जे पहा[१५ २७ च २]णा, पुत्रप(पुष्प)णा य उत्तरा सहे ।

अधरा य अप्यहाणा, पक्षुप(पक्षुप्प)णा य जे वधा ॥ ४० ॥

इत्याक्षरेषु ये प्रथमतयाः पूर्वोत्पन्नाः प्रथम-शुचीयवर्गाक्षरास्ते उत्तराः प्रथमा दाहन्त्याः ।
१४ अपरात्प प्रमादुत्पन्नाः । के ते ? द्वितीय-चतुर्थवर्गाक्षराः । अमपाना दाहन्त्या अपराश्चेति ॥४०॥

णा(णे)मिच्छिण्ण जे [१५ २८ च १] या, उत्तरमुद्धीए अत्तणो गहिया ।

से तस्त उत्तराणि उ, सेसा अहरीकया अहरा ॥ ४१ ॥

अत्तारो ये विकस्या उत्तरापरप्रकरणे उक्ताः साहित्यस्य, वा क(का)राचित्कं विधानपुरी
ह्य विकस्यान्तरस्य चोपदेशार्थं आदिवर्तस्कारस्य निमित्तज्ञानवतो प्रागिति पुद्गुत्पादा । उत्तरेषु
१५ अपरसु[१५ २८ च १]दिः, अपरेषु उत्तरसुदिषा यत्रोत्पन्ना फलतोऽपि तादृगा(णे)वासी । यथा—
प्राज्ञगुरुनिवाससुत्यो गोत्रवयोगुणादिपूर्वोत्तरसमाहितेषु तद्वद् विधानसुदिषदिति ॥ ४१ ॥

॥ एव चतुर्थिधम(स)त्तरापरं समात् ॥

‘अथवा इत्तं अङ्गविद् उत्तरापरं होइ’ सूत्रबन्ध(न)मेवत् । अथवाऽऽप्रकारमेतदुत्तरापरं
मन्वीति बन्धनस्यार्थ ।

अक्षरसरसंजोए, बलाबलविसेसओ अणति(हि)घाए ।

तचो य उत्तरोत्तर, अहराअ(ऽ)हर अद्भुम जाणे ॥ ४२ ॥

सांप्रथ गाभार्यमु(र्थं ङ)च्यते—स्वरोत्तरं प्रथम, अक्षरोत्तरं द्वितीयं, संयोगोत्तरं, पठाब
ओत्तरं, विभागेत्तरं, अनमि[प १९ पा १]इतोत्तरं, [उत्तरं,] उत्तरोत्तरं चेति । एवमपरमपि
अष्टप्रकारमेव सप्रतिपक्षत्वाद् वस्तुप्र(नः)स्वरापरं, अक्षरापरं, संयोगापरं, [पठाबकापरं,
विभागापरं] अनमिहवापरं, अपरं, अपरापरं चेति ॥ ४२ ॥

हस्तस(स्स)रुत्तर अक्षररुत्तर उत्तराख(रक्ख)रा सधे ।

हस्तस(स्स)रसंजुत्ता, सजोएणुत्तरा लहुया ॥ ४३ ॥

अत्र स्वरोत्तरमुच्यते गाभाया अवयवेनाद्येन । इत्तस्वरोत्तरम् । के इत्याः स्वराः । ‘अ
इएओ’ इत्येते चत्वारः । अक्षररुत्तरं उत्तररुत्तरा सधे । कवे (के) च ते । प्रथम-द्वितीय-
तृतीया गृह्यन्ते । सांप्रथ संयोगोत्तरमुच्यते—इत्तस्वरसंयुक्त्य ङा(ङ)पन्नो वर्णाः ‘क ग च छ ट
ड द प ब य ङ झ सा’ इत्येते । यथा—[प १९ पा १] ‘क कि के को, ग गि गे गो, च चि चे चो,
ज जि जे जो’ इत्यादि संयोगोत्तरम् ॥ ४३ ॥

इदानीं विभागेत्तरं ऋमुमुहोच्यते, संयोगस्य प्रकाम्बत्वात्—

गरुयक्त्तरा य सधे, उत्तरसरसंजुआ विभाएण ।

सो ठवइ उत्तरो खल्लु, हौति अ से तिणिण या(आ)देसा ॥ ४४ ॥

शुर्वा(र्ष)क्षरा उच्च द्वितीय-चतुर्थवर्गीयाः । ते उत्तरस्वरसंयुक्ताः । यथा—‘अ लि ले लो
प धि धे पो’ । इत्यादिविभागेनोत्तराः । विभागो बन्धनं अंस(अ) इत्यनर्थास्वरम् । यावता
इत्तस्वरसंयोगः । एतावता अंस(अ)नोत्तरत्वं भजन्तो मुष्पठमापद्य एव । तस्मात् स्वर
आदेशप्रथमित्यां प १ पा १ मितं भवति । उपुस्वराः, इत्याः, उत्तराश्चेति । शेपा हु(दी)र्षाः,
शु(र)र्षाः, अपराश्चेति । एवं विभागेत्तरम् ॥ ४४ ॥

जो उत्तरेण अहरो, अमिहणतो ठ(य) उत्तरो होइ ।

अहरेण उत्तरो वा, बलाबल उत्तरं एय ॥ ४५ ॥

य उत्तरेणापरः अमिहृतः । उत्तरस्यावलीपत्तत्वात् । यथा—‘अ क’ । अत्र लकारः आशि-
गितः, कला(का)रक्षासिगितत्वात् । एक संख्या इत्यति । इत्ती(ति)वैकसंख्या(व्य)अ, लका
र(रा) के(क)कारो भवति । प्रतिपन्नओत्तरभावं लकारो(राः), अक्षरत्वात् । [व]भा अक्षरेणामि
हम्यमान उत्तरोत्तरो भवति । यथा—‘ग घ’ । अत्र लकारोऽभिधूमिकः । गकारस्य संख्या-
इ[प १ पा १]मपनयति(ति) । इ(त्रि)संख्यात्वा[इ] गकारस्य । इतिहे च संख्याइये
अक्षरत्वात् । गकारः ककारत्वमापन्न इति । एवमन्यत्रापि बलाबलिनोत्तरं परमम् ॥ ४५ ॥

साङ्गप्रथमनभिभावोत्तरमुच्यते—

पठमस(स्त)रसंजुचा, अणमिहया जे तु ते अणमिहया ।

उत्तरमधरं वेति य, सजोण्णेष्व दो चरिमा ॥ ४६ ॥

प्रथमस्यरसंजुचः । कः प्रथमस्यरः ? अकारः । तेन अकारेण संजुचाः । के ते ?

४ छप्पस्यरः अणमिहया भण्यन्त । 'क ग ख घ ङ च ट ठ ड ढ प ष य छ झ ञा' इत्येते अणमिहया(व)संज्ञाः । छेपवर्गास्त्वमिहत्संज्ञा इति प्रतिपक्षत्वात्(क)म्मन्ते । एतन्नमिहतोत्तरं उक्तं [११ प १] रेण चरिमेण चिन्तुना मुत्तोऽस्सर उत्तरत्वं प्रव्रति । अचरेण चिसर्जनीयेन मुत्तोऽस्सरः अचरत्वं प्रव्रतीत्यर्थः । एवं पत्तो भेदत्वात्(अ)म् । उत्तरं चत्ताः । उत्तरोत्तरमोच्यः । उत्तरप्रतिपक्षेणाप्य [अ] मुत्ताः । उत्तरोत्तरप्रतिपक्षेणाप्यपत्तयः प्रोच्यः । इत्थेवं अष्टप्रश्नसुत्त ४१ परम्याक्यामम् ॥ ४६ ॥

एव सरुत्तरादिस्तु, थलाचल सहओ पलोपुठ ।

चिन्तादीए भावे, जीवाइ व(वि?)णिहिसे महम ॥ ४७ ॥

इत्थत्तो इत्थत्तरं(?) चत्ताचल सर्वतो विद्योक्थ चिन्ता-नष्ट-मुत्ति-जीव-पाण्डु-मूळबोनि वा विद्योक्थ पद्माधिकमेतास्सरे(र)णामादिद्येम्मत्तिमात् ॥ ४७ ॥

४ जीव जाणसु दोसुत्तरेसु [११ प १] अहरेसु दोसु भण चाओ(उं) । अहदत्तरेसु मूल, उत्तरमधरे तथा घाठ ॥ ४८ ॥

जीवं जानीहि । प्रमाद्यत्तणामादी पत्तिरे उत्तराद्यत्तये जीवं, प्रमाद्यत्तणां चाओ पत्तिरे अचराद्यत्तये चाटु, प्रमाद्यत्तणां चाओ पत्तिरे अचरे द्वितीये चोत्तरेऽनन्तरं पत्तिरे मूळमव गच्छ । [११ प १] प्रमाद्यत्तणां [मा] नो पदा उत्तरो दृश्यते ततोऽनन्तरं आ(वा)चरा ।

४ तदाऽपि पाण्डुमेवागच्छ ॥ ४८ ॥

॥ इत्थेष उत्तराधरं प्रकरण समाप्तम् ॥

दुविहो खलु अमिघाओ, सहगमो चेष अक्खरा(र)गमो य ।

सदगमो तिधिगण्णो, मदो मज्झो य तिहो य ॥ ४९ ॥

द्विविधोऽमिघातः क्षप्पगतोऽस्सरगतश्च । तत्र हा [११ प १] च्छगतो अणस्यरत्त्वयो

४ अक्षप्रश्नरः पठइ-सं(सं)क-मेरी-कुम्पपत्त मुत्तर-आत्तामिघावादिक्कण्यः । स ए(वि)विक्कण्यः (क)सो मच्चमो महात्थे(वा)त्थेति । अमघः(सः) आळिगितामिपूमित्तवग्गच्छणा । अक्ख- [र] गत्तममिघात्तमुपरिच्छत्त्वं ब्रह्मसि ॥ ४९ ॥

एक्केहो पुण दुविहो, होइ पसत्थो य अप्पसत्थो य ।

[अ] पसत्थो मदावी, कुम्पइ आळिगियादीणि ॥ ५० ॥

४ स अणो द्विविधः—पद्मत्ता(चोऽ)प्रसत्ताश्च । बीणा-वेजु-सं(सं)क-मेरी-यत्तादिगता प्रसत्ताः । कुम्पपत्त [म] भाण्डादिमङ्ग-उत्तमादिक्कण्यव्याप्रसत्ताः । यः अणोऽस्य आळिक्कितः प्रस-

सो वाऽप्रसक्तो वेति । मध्यमो यः शब्दो [५ ११ पा १]ऽभिधूमितसंज्ञः प्रसक्तः, अप्रसक्तो वा । एव प्रसक्तः, अप्रसक्तो वा यः शब्दस्त्रीप्रः स वृषसंज्ञः । प्रसक्तो यः शब्दोऽस्यः सोऽस्य फळ ददाति, स्त्रिरं च करोति । प्रसक्तो यः शब्दो मध्यमः स मध्यमफळं ददाति, मध्यमं स्त्रैर्यं करोति । प्रसक्तो यः शब्दस्त्रीप्रः स महत् फळं करोति, स्त्रैर्यं च तस्यात्यकाळमिति । अप्रसक्तः यः शब्दोऽस्यः सोऽस्यमान्य करोति, स्त्रैर्यं च तस्य मान्य करोति । अप्रसक्तो यः शब्दो मध्यमः स महामान्यं करोति, अवस्थान च त[५ ११, पा १]स्य मान्यस्यास्यकाळमित्येवपि ह्युभाह्वमस्य-मध्यम-महत्त्वेन ब्र[ह्म]म्यम् । एवं शब्दाभिधातः ॥ ५० ॥

अक्षराभिधातार्यः —

धिचउत्थ-पचमार्गं, वग्गाण अक्खरा अमिहणति ।

एक्कुत्तरिया य सरा, अणमिहया सेसया वग्गा ॥ ५१ ॥

द्वितीय-चतुर्थ-मध्यमवर्गैः प्रथम-द्वितीयौ वर्गावमिहन्ते[५ १४ पा १]ति । एकाक्षरिवा-स(अ) खरा[ः] के मध्यन्ते । इत्यत्रोच्यते — यद्यप्येकाक्षरिवा बहवः, तथापि 'बा ई क' अक्षर एते त्रय एकाक्षरिवा[ः] प्रथम-द्वितीयौ वर्गा[व]मिप्रम्वि । प्रथम-द्वितीयवर्गा इत्यक्षराम् चत्वार एते परस्परं मामिप्रम्वि ॥ ५१ ॥

अणमिहया अनि(व्यामि)हया वा, पिच्छिज्जता उ आभिघा[५ १४ पा १]तीहि ।

आलिगियाभिधूमितवड(डुं) व लहति ते नाम ॥ ५२ ॥

अनमिहता वर्गो सज्ज अमिहताम् एते अनमिहता वा के ते प्रमाक्षरा[ः] ? तेषां प्रमा-क्षराणां आविधानं किमपि धातोऽस्ति नास्ति च इति चिन्त्यम् । यदा प्रमाक्षराणां परस्परमि-पाठ उच्यते तदा प्रथमाक्षरद्वितीयाक्षरसि(स्य)तीयाक्षरममिहन्ति । द्वितीयाक्षरं चतुर्थाक्षरं च अमिहन्ति । एव चतुर्थाक्षरं पञ्चमाक्षरं, पञ्चमं षष्ठं, षष्ठं सप्तमं, सप्तमो(ः)ऽमिहन्त्यभिधाते सखि । यो यस्मान्तरं स तमिति । अभिधातस्त्रिधाभि[धूमि]वपुगपञ्चम्यमुपति[५ १५, पा १]द्याह् विक्षरेण व्याख्यास्यति । यदा प्रमाक्षराः सर्वे परस्परममिहताः, तदा अप्रधाना निफ(अ)अस(अ) मवन्तीति ॥ ५२ ॥

माहू दावत् खराभिधाता उच्यन्ते —

अणवि(मि)र्ह्य[य] अमिहया वा, अंतरदीहस(स्स)रेहि सजुत्ता ।

अभिधूम(मि)यति लहुया, दहति गरुया वि ते चेव ॥ ५३ ॥

अनमिहता अमिहता वा ये प्रमाक्षराः । अथवा प्रथम-द्वितीयौ वर्गावमिहत्संज्ञौ । दोषास्त्वमिहत्संज्ञाः । एते अन्तरदीपा(अ)खरमुत्तराः । के ते अन्तरदीपखराः ? आकारः, ईकारः, ऊकारोपेति एते त्रयः । एतेरन्तरदीपखरैः संयुज्य अभिधूमन्ते [५ १५, पा १] अमतो वाम(म)न्तरमवसितैः । के ते अणखराः ? 'क ग ख ज ट ठ ड ढ प य व ल स र सा' इत्येते चतुरस्र । आकारेण ईकारेण ऊकारेण च संयुज्य अप्रतो वाऽन्तरमवसितैश्चान्ते गुर्वा(र्)-

धराः । के ते गुर्वा(र्षी)धराः ? 'अ छ ठ य फ र पा' इत्येते सप्त । आकारेण ईकारेण इकारेण च [प १६ पा १] संयुक्ता अमतो वाऽनन्तरमवसितैर्विद्यते(न्ते) परेण । गुर्वा(र्षी)धराः के ते ? 'अ झ ङ घ म ब हा' इत्येते सप्त ॥ ५३ ॥

आर्लिगियन्ति ह्रस्वस(स्त)रा हु वीह्रस्तरा रि(इ)ह्र व्हति ।

पण्डवस्तरा उ सधे, संजुष्ठा आणुपुष्ठीए ॥ ५४ ॥

आर्लिगयन्ते ह्रस्वसराः । के ते ह्रस्वसराः 'अ इ ए ष' ते चत्वारः । के ते आर्लिगयन्ते(न्ते) 'अ छ ठ य [प १६ पा २] फ र पा, म झ ङ घ म ब हा' इत्येते द्वितीय-चतुर्वर्गा-धराः सप्त । 'अ झ ङ घ म ब हा' अतुर्वर्गाधरा वदन्ते चतुर्भिः स्वरैः । के ते चत्वारः 'ओ औ ङ ञ' । एवं संयुक्ताः आणुपूर्वा आर्लिगयन्ते, अमिपुम्यन्ते, वदन्ते च ॥ ५४ ॥

अमुनेवार्ध गाथास्वरेण प्रतिपादयन्नाह -

अंतरदीहा अमिधूमियति आर्लिग(गि)म्यसि जे ह्रस्ता ।

टिट्ट(दिङ्)वो षरिमसरा, अ(स)ह्रावदीहाणुणासीया ॥ ५५ ॥

अन्तरदीर्घे(र्षी) चत्वार 'आ ई ऊ' एतेऽमिधूमितसंज्ञाः[ः] । ह्रस्ता चत्वार 'अ इ ए ष' एते आर्लिगितसंज्ञाः । [ये औ] द्वौ स्वरौ षरिमसंज्ञौ वा अ(आ)मिधौ तौ वदतः । [प १० पा १]

अमावर्दीर्घाः 'ऊ ऐ औ' अनुनासिका 'अ य ज म मा' इत्येते ॥ ५५ ॥

कराल(कि)वा निरूप्याम्यगाथा(व)वा फलमुच्यते -

आर्लिगिया य आर्लिगियंति अमिधूमिया य धूमंति ।

वृद्धा(द्वा) य वदति सरा, तेसि जुर्धं च वरिय(मो)च ॥ ५६ ॥

आर्लिगितसंज्ञाः, के ते 'अ इ ए ओ' एतैश्चतुर्भिः स्वरैः ये आर्लिगयन्ते । द्वितीय-चतुर्वर्-

वर्गाधराः चत्वार एव । अमिधूमितसंज्ञाश्च 'आ ई ऊ' एतैरमिधूमयन्ते । प्रथम-द्वितीयवर्गाधर-
स्तेऽनुच्यते । एवं शकसंज्ञा 'उ ङ ञ ञ' एते प्रथम-द्वितीयवर्गा वदन्ति । पचदप्युक्तम् । 'ओ औ
ङ ञ' एते चत्वारस्तैः स्वरैः संयुक्तसराः [प १० पा २] प्रथम-द्वितीय-चतुर्वर्गाधरा वदन्ति ।
इत्येवमुक्तमि पुनश्चकम् । 'ये औ' एतौ द्वौ स्वरौ प्रथम-द्वितीय-पञ्चमवर्गा वदन्ति । इत्येवपु-
नश्चकम् । एतैर्विहमात्मकैः संयुक्तोऽन्तरा वदन्ति पूर्वास्वरं वानन्तरमिति संयोगभावे सति ॥ ५६ ॥

एवं करालिपाठ चत्वारः । इदानीं वर्गाभिपाठः -

धीओ य पठम-तद्दया, पठम-तद्दया य आयवो(जे य हु) चउत्थ ।

आर्लिगियंति वग्मा, चउत्थ पुण पचम वग्मा ॥ ५७ ॥ [प १६ पा १]

द्वितीयो वर्गः प्रथमवर्ग एतौ च आर्लिगयति । तथा प्रथमवर्गस्तृतीयवर्गाश्च द्वितीयवर्ग-

मार्लिगयति(ति) । तथा प्रथमवर्गस्तृतीयवर्गाश्चतुर्वर्गामार्लिगयति । तदुक्तम् - प्रथम-द्वितीयौ दोन्वि-
द्वितीयश्चतुर्वर्ग [इ]ति । चतुर्वर्गः पञ्चममार्लिगयति । अत्र प्रथमवर्गः प्रथम्यात्मकः । द्वितीयो
वाद्या(व्या)त्मकः । तृतीय वदकात्मकः । चतुर्वर्ग आकाशा(शा)त्मकः । पञ्चमो अग्न्यात्मकः ।
इत्येवं पञ्चमहा[प १६ पा २]मूलात्मकं अग्निसि[ति] ॥ ५७ ॥

अभिधूमेद् चतस्रो, आद्मवर्गो उ तिणि नियमेण ।

पञ्चम-चतस्रवर्गो, दोणि य अभिधूमये द्वितिओ ॥ ५८ ॥

अभिधूमयति चतुर्थो वर्गः प्रथमवर्ग(गं) द(द्वि)तीयवर्गं दृयसीवर्गं च । द्वितीयवर्गोऽनु-
वर्गं पञ्चमवर्गोऽने(र्त्त) चेति ॥ ५८ ॥

आद्महा चत्वारि वि, द्भ्रति पचमेण वर्गोण ।

पचमओ पुण द्भ्रह, पदम-तद्भ्रजेसु दोसु पि ॥ ५९ ॥

प्रथम-द्वितीय-[द्वितीय]-चतुर्थवर्गा द्भ्रन्ते पञ्चमवर्गेण अन्ध्यात्मकत्वात् । पञ्चमवर्गस्तु
दृष्टते विनास(इ)ते प्रथम-द्वितीयो(धैः) दृषिभ्यो(भ्यु)दृक्त्वात्कैः ॥ ५९ ॥

जे जे समाभिलावा, अण्णोप २९ पा १)ण ते उ ण अभिहणवे(ते)ति ।

जह क ग च ज मावीया, दो दो लहुआ सुआ अण्णा ॥ ६० ॥

जे जे(ये)के समानसी(सी)आ छपयन्न मायेते(ी) छपयः अन्धोन्धाना(भा)भिप्रप्ति ।
के ते समानसी(सी)आः, ते लक्ष्यन्ते-‘क ग च ज ट ड त द् प ब य ल स (स) सा’ इत्येते । प्रथम-
वर्ग(स्व)दीपवर्ग(स) चतुस्रो । अनयोरासन्नौ(सौ) द्वितीय-चतुर्थवर्गौ शुरुस्रो भवतः । पर-
त्परभिधातौ चेति ॥ ६० ॥

अभिहणमाणे दिट्ठो(ट्टी), जोणीसंठाणवण्णमाईणि ।

अभिहणमाणस्त ऊ (ी) भवे, ण जो उ अभिहण्णए तस्त ॥ ६१ ॥

अभिहण्यमाने दृष्टे । जोऽभिहण्यन्ते(स्येते) । जो(यो)मि(प २९ पा १)द्वितीयस्युक्तमपि पुनरु-
च्यते-पूर्व(र्त्त)पूर्वांशोऽभिमेणात्क(स)रेण यादसेन यादस इति । पूर्वोक्तं जोऽभिहन्ति तस्मात्पि-
द्व(द्वन्द्वुः) योनि-स्नान-वर्षप्रमाणादीनि बलभ्यानीति । कस्मात्कारणात्स्युच्यन्ते-येन सर्वोऽभि-
हन्ति बलीयानीति (बलवान् इति) ॥ ६१ ॥

परवर्गोण उ वर्गो, जो जेण अभिहण्णए उ तो तस्त ।

अभिध(धा)य जाणेज्जा, राजादिसंघ(घ)वणा(ण्णा)ण ॥ ६२ ॥

परवर्गोण वर्गो यो वेनाभिहण्यत इति । परवर्गस्य इत्यक्षरस्य संज्ञा । परसु प्र(द्व)पञ्च-
(द्व)व सा(सा)त् । पराक्षरेण(ी) दोक्षरोऽभिहण्यन्ते(ते) तस्मादिहन्त्वं प ४ पा १)मानस्य
परवर्गो(वो) बलभ्यः । अभिहर्तु(स्यु)र्भयो बलभ्यः । एवं ब्राह्मणादिवर्णानां राजस्यस्य वा पुत्रे
विवाहे वा अथ(यः)परवर्गो वाच्य इति । आदिह(हि)ते मागाहानिः । अभिधूमिध-अभिधावे
दे हामिः शयो वा । इमे शिधे(इधे)पतञ्जयो दस्युर्वा ॥ ६२ ॥

आलिं गियमि जीव, मूल अभिधूमियमि पण्हमि ।

वहु(हु)मि मणसु घाट, एसो उद्ध जहा षोण्ह ॥ ६३ ॥

प्रवासाभिहण्यन्ते ये शब्दाः [१] परहृद्वयपतनादिगतास्ते पूर्वोक्ता [प ४ पा २] आलिं-
गामिधूमिवदपञ्चमजाः । वज्रसिद्धिदे शब्दे [जीव] आदेशपः । अभिधूमिधे शब्दे] मूलमाहै-
रपम् । इधे शब्दे पाठराशेः(इधः) । तस्मात् पूर्वो(कर्त्तुः) ‘यधे’ति बल्यमाणकं प्रथम् ॥ ६३ ॥

आलिंगियमि कलहो, मंद अमिधूमियमि पण्डमि ।

दङ्गमि मणसु मरण, एत्तो उरु जहा वोच्छ ॥ ६४ ॥

अग्नि(म)मि प्रक्षत्ताप्रसक्तमन्त्रत एवामक्षररूपो ध्वमिरधिहत्वा(सो)पविष्टम् ॥ ६४ ॥

॥ अग्निघातप्रकरण समाप्तम् ॥

वग्गाण जइ पदमा, गिरंतर वा तिण्णि पण्हमाइए ।

सो मुण्णं जाणेज्जा, [ण]वि किंवि वि चितिय तये(त्थ) ॥ ६५ ॥

वर्गाणां वनि [५ ४१ प १] प्रथमा इति प्रथमप्रहणेन क्त(स्य)राणां प्रथमः अक्षर, 'व' वर्गस्य च प्रथमः ककार, 'व' वर्गस्य च प्रथमच(स्य)कारः । एते त्रयो यथा निरन्तरं प्रभासौ दृश्यन्ते तथा स(स्य)स्य जानीयात् । न किञ्चिदपि चिन्वित धरेति । तथा मण्डुकिवाचाम् ॥ ६५ ॥

अभिहययिंदुविसग्गे, चिंता मुट्ठी य मुन्निया होइ ।

वग्गेक्यहुल्यण्णो, तत्थ ण कज्ज मुणेयक्का(ध) ॥ ६६ ॥

अ(य)त्र प्रमादत आरम्भादेव विष्णुमिसर्गापमिहवाः । तत्र किंथायां मुट्ठी च (स्य)स्यम् । तथा एकवर्गाया नैरतरेण बहवो वर्णाक्तत्रापि न कार्यं स(स्य)स्यमित्यर्थः ॥ ६६ ॥

मीसेसु [५ ४१ प १] अत्यि चिंता, आचाराधेयमिस्सय[ति]दुविहा ।

धम्मघम्मगासा आहारा तिण्णि विन्नेया ॥ ६७ ॥

प्रमादराणां मध्ये 'अ क वा' क्त्वाऽम्भर्गे[ण] सञ्चिता दृश्य(स्य)न्ते तथाऽपि चिन्ता । सा च द्विविधा आचारविषया, आधेयविषया वा । अथ [५ ४१ प १] विषयाऽपि संयथा दृ(त्रि)विधा भवतीति । आचारा [अ]क्षरानि, आपि(वे)या मात्रा । अक्षर-मात्राभेदेन द्विविधा चिन्ता । पाठ्य-योगो क्तवाचाम् । पाठ्य(कि)विधो धान्वाः, अथाम्वाः, आक्षरमिति — एवं केचिद् व्याख्या-
भवन्ति । तदेतदुपरिगात्रया स[५ ४१ प १] इति दृश्यते । तस्मात्स्यया व्याख्यायते—आचारस्य (कि)विधः—धर्माधर्माकाशाक्षरो [ऽ]मूर्धाः । तत्र धर्माधर्मौ लोकाभ्यापिनौ । आक्षरस्य लोकाभ्ये-
भ्यापी । तत्र गतिक्षमो धर्माक्षिको गतिमता जीवानां पुंगु(पुंगु)जानां च गत्युपगमे वर्तते ।
क्षिप्रक्षमः(स्य) अक्षरमाक्षिकः क्षिप्रमता क्षिप्रिहेतुः । अथवा(गा)दृश्यवमाकाश, अ-
गतिनामगा[इ]तिहेतुः । एते त्रयोऽपि अमूर्धा जीव-मूढ-वाचानां आचार, आधेया जीववाद्युक्ता
इति [५ ४१ प १] ॥ ६७ ॥

परंत(एव) एवाह—

जीव घाठ मूल, आधेय तत्थ पढमओ जीवो ।

न(अ)इदीसइ सो वुविहो, जीवाधयवो य जीवो वा ॥ ६८ ॥

जीव[ः], प्रथम[ः] वाद्युपधारणं द्वितीय[ः], मूलुपधार्यस्यतीवः । एवं दृ(त्रि)मिः

पदाभ्येभ्या(स्वी)र्त्त अगति । त्रिविधेय बोधिर्यवति । तत्र तावत् प्रथमो जीवपदार्थः । स च द्विविधो दृश्यो जीवो [जी]वाधयवमेति ॥ ६८ ॥

जीवे दिष्टे जीव, जीवावयव च तत्थ नायव ।

पुणरवि उत्तरसहिष्, पण्हे जीव ह्वे नियमा ॥ ६९ ॥

जीवाहारेष्वनमिहतेषु [५ ४३ पा २] जीव इत्यादिदशम् । तेष्वेवामिहतेषु जीवावयवो
वक्तव्यः । पुनरप्युत्तरस्वरैरक्षरैर्वा बहुले प्रभे जीवेनैव सिंसं(निस्संक्र)वं भवितव्यम् ॥ ६९ ॥

अहरसहिष् उ पयो(ण्हे), जीव वावयव नु(१) तु मुणिज्जासु ।

जीवे लद्धमि पुणो, दुवय-अपवाहि(इ)पमेवा [य] ॥ ७० ॥

अपरदुतो (अपरसहिते?) प्रभे जीवावयव(व) ज्ञानीहि । जीवयोनी लम्भायां द्विपद-
चतुष्पदापदपादसंकुञ्ज मेवा वक्ष्यमाणाश्चिन्त्याः ॥ ७० ॥

लोमाणि तथा रुहिर, मेदो मस द्वि-मज्ज-सुक्काइ ।

जीवावयवा [य] पदे, जीवा सिद्धा असिद्धा य ॥ ७१ ॥

रोमामि स्वग् रुधिरं मांसं मेदोऽस्ति[५ ४४ पा १]मन्नाद्युक्तान्य(ण्व)ष्टावेति जीवाव-
यवाः । जीवाः सिद्धा असिद्धाश्च द्विविधा मथ्यन्ते ॥ ७१ ॥

सिद्धा एगवियप्पा, [अ]सिद्ध संसारिणो चठवियप्पा ।

दुपया चठप्पयावि य, अपया पयसकुला चैव ॥ ७२ ॥

एव सिद्धा एकमेवाः संसारविलिप्तुंक्षः । असिद्धाः संसारिणः । ते चतु [विक्रम्याः] ।
चतुष्टये मेवाभा(मा)इ-वैवगतिः, मनुष्यगतिः, तिर्यग्गतिः, नारकगतिश्चेति । द्विपद-चतुष्पद
अपराः[५४]संकुञ्जाश्चेत्यमरचक्रमेमेवा (अन्तेत्यपरचतुर्मेवाः) ॥ ७२ ॥

दुपया माणुस्स(स)वेवा, पक्की तह नारया मुणेयवा ।

मणुया हु चठवियप्पा, गायवा पण्हइचेहि ॥ ७३ ॥

द्विपदा मानुष(पाः) देवाः [५ ४४ पा २] पक्षिणो नारकाश्चेति वक्तव्याः । मनुजाश्चतु
र्भेदाः ॥ ७३ ॥

तेषामम्यगायया चतुष्टये मेवा[५] वक्ष्यति-

पढमो ह थमणाण, धीओ वग्गो य ह्वइ वेसाण ।

तइओ [य] खत्तियाण, सेसा दो ह्योति सुहाण ॥ ७४ ॥

प्रथमो वर्गः 'कच्चटवपयसा (सा)' इति प्राज्ञणाः(नो) शेषाः(पः) । द्वितीयो वर्गः ॥
'ए छठव फरपा' इति भवति वेस्सा(वेदया)नाम् । तृतीयवर्गो(र्गः) 'गज्जडवडसा' इतिपा-
नाम् । चतुर्थो वर्गः 'यसठवमज्जइ' [५ ४५ पा १] इत्यानाम् । 'कच्चणममा' पञ्चमो
वर्गः] श(सं)करजातीनाम् ॥ ७४ ॥

दुविहा एते नेया, इत्थी पुरिसा पुणो वि ते यिय(तिवि)हा ।

घाला तदणा घेरा, उच्चम-मज्जा-धमा तिविहा ॥ ७५ ॥

ये एते चतुर्विधा प्राज्ञाणांश्च उच्यते । तेऽप्येव पूर्वोक्तवर्गेषु प्रथमो वगस्तृतीयवर्गो(र्ग)श्च
 पुनराम् श्रेयः । द्वितीय-चतुर्वर्गो श्रीसंज्ञी । पञ्चमो वर्गो नपुंसकसंज्ञः । तत्र पुनस्तु(कि)विधो
 वाच-वक्ष्य-स्वविर इति । योषि(प ४५ पा ३)ति त्रिविधा वाङ्मा तरुणी स्वविरा चेति । नपुंसक
 मिति(मपि) त्रिविधमेव वाङ्मा तरुणं स्वविरं चेति । श्री-मुं-[नपु]सकान्येतानि प्रत्येक त्रिविधाम्युत्तम
 मध्यमापमत्वेन ब्रह्मम्यानि । विवेकमेवां ब्रह्म(इय)माजउभयगणावया इत्यपिप्यति ॥ ७५ ॥

तद् चेय कम्मब्भा(भू)भा, अकम्मभूमा य अंतरदी(ही)या ।

एदे कमेण सधे, सणामणिदे(हे)सर(ओ) जाण ॥ ७६ ॥

तथा चैक(हे) कर्मभूमयः । ईयाः प्रथमवर्गोहराः, अन्तरदीपस्वरैर्युच्यते । कर्मभूमयो मनुष्या
 भवन्ति । अन्तरदीर्षस्वराश्च 'आ ई ऊ' । [प ४६ पा १] एतेऽवम[वा] उच्यते अपि स्फुटाः पुनरु-
 च्यते । तृतीयवर्गोहराः अन्तरदीर्षस्वरैर्युच्यते अकर्मभूमयो भवन्ति ईयाः । एषां कर्मभूमिजानां
 ॥ अकर्मभूमिजानां घोषि[ः] स्वभाष[ः] चेष्टा च वर्णाकृतिः प्रमाणमिति ब्रह्मम्यानि । अन्तरदी(ही)पानां
 पदपचास(ह)तां एकोरुक्प्रतीनां प्रपद्यो नेपथा(ऽनेकथा?) । तेषां च स्वतामलिरेक्षा[त्]परिज्ञान
 कर्त्तव्या(भ्य)मिति ॥ ७६ ॥

॥ जीवसमा[स]प्रकरण समाप्तम् ॥

धातुस्तरा सहस्ता, कणादिवग्गाणुरासिया दुपप् ।

धीओ वसमो य सरो, चठप्पप् स्वाइवग्गो य ॥ ७७ ॥

प्रथमप्रथ-प ४६ पा ३] तृतीय-पञ्चमवर्गोहरामिप(प्याभि)के प्रथम-तृतीय-पञ्चमवर्गोणा-
 मेवाहरा एकस्मिन् उकारेण पाहुस्वरेण ब्रह्मेन युक्तो(च्यः) तेषामेवान्यतमस्याप्रतो वाऽन्यवरम
 बलितेन द्विपदजीवन्तिता विज्ञेया । प्रमे द्वितीयवर्गोहरावहुके द्वितीय आकारो इत्यम
 ओकारो(र)उद्योरन्ववरेण द्वितीयवर्गोहरेषु युक्तेषु ब्रह्म्यां वा चतुष्पदन्तिता विज्ञातव्या ॥७७॥

अपयाण घझ दा खलु, पयाकुल्लयाण(ल्लाण च) घ भ व हा चठरो ।

चठरहुमधारसमा, [प ४७ पा १] सरा य द्धिण्हमि सामण्णा ॥ ७८ ॥

ए ह ह बहुले प्रमे ईश्वरे देकारे अकारेण च सचिचर्गेण एभित्तु(कि)भिः स्वरैर्युक्तेषु ।
 एषां चान्यवमाहराभानन्तरापञ्चमवर्गोहरावामन्ववतोऽप्रतोऽनन्तरमबलिते अपवा श्रेयाः ।
 प म व ह्य अस्वाराः, एतेरेव स्वरैरिमिर्मुच्यते पूर्वोक्ता(उ)न्यायेन पादसंज्ञकाः प्राप्तिनो श्रेया
 इति ॥ ७८ ॥

जइ पठम-तइय-पञ्चम-वग्गे पण्हकस्तराइ धीसति ।

तो दुपय-जीवर्धिता, चठप्पयाणं पि [धि]चठत्ये ॥ ७९ ॥

अर्था[प ४७ पा १] [इ]ति परिपाठ्या उक्तमपि किञ्चिद्विज्ञेयमपि ह्यन्योच्यते-प्रथमवर्गो
 तृतीयवर्गो पञ्चमवर्गो च सम्बन्धिनो यदा प्रमाहरा बाहुस्वरेण इत्यन्त तथा द्विपदजीव-
 ॥ विन्ता ज्ञातव्या । द्विचतुर्वर्गगाहराणां बाहुस्वरे चतुष्पदा श्रेया[ः] ॥ ७९ ॥

भवणवद्-त्राणवतर-जोइस-त्रेमाणिया तहा देवा ।

तेसि दस अहु पच य, व(या)रस णव पच य वियप्पा ॥ ८० ॥

इस प्रकार भवनवासिनः, वयमा - असुर-नाग-विद्युत्-सुवर्णा-ऽग्नि-वात-स्तनितो-वधि-द्वीप-विक्रमायाः । अष्ट प्रकार भ्यन्तर - किंनर-किंपुरुष-[५ ४८ प १]महोरगा(ग)-गान्धर्व-पद्म-रुद्रस-मूढ-पिशाचाः । पञ्च भेदा व्योसिष्का - सूर्य चन्द्रमसो-ग्रह-नाक्षत्र प्रकीर्णतारकाश्च । वैमानिका अनेकप्रकाराः - सौधर्मज्ञान-सनत्कुमार-माहेन्द्र-अश्लोक-सान्वक-महाशुक्र-सहस्रार-आणव-प्राणव-आरण-अध्मुताया द्वादशकस्योपपत्तकाः । अपरे नवभेदेषकाः - अधोमध्यमोपरि विभागस्थाः । तथाऽनुचरविमानवासिनः पञ्चप्रकाराः - विषय-वैरुपन्त-जयन्ता-परजिताः सर्वार्थ सिद्धसंज्ञाः । एते स्वभावनिर्देशतो विज्ञातव्याः ॥ ८० ॥

मिद्धाण आदिवग्गो, देवाण होंति तिष्णि वग्गाओ(उ) ।

दो चेव मानुपा(णुसा)ण, [५ ४८ प १] सेसा तिरियास(ण) वग्गा हु ॥८१॥

छोकामे व्यवस्थिताः सिद्धा अष्टोपविगुच्छाम अकारवहुले प्रभे । [क ष ट षहुले प्रभे ?] वैमानिका इवा श्रेयाः । त प षहुले प्रभे मनुष्या ज्ञातव्याः । य ष षहुले प्रभे उत्कृष्टासि(स्ति)र्य-गत्वो श्रेयाः ॥ ८१ ॥

दुपयक्खरेसु दिट्ठे, सवे दुपयक्खरा मणुस्ताण ।

जे पुण चउप्पयाण, ते नियमा होंति देवाण ॥ ८२ ॥

द्विपदाक्षरा । के ते ? प्रथम-द्वितीय-पञ्चमवगाक्षराः । एतद्बहुले प्रभे मनुष्या द्रष्टव्याः । अक्षरमूलिकान्तरद्वीपकाश्च । चतुर्थ[५ ४९ प १]वर्त्ता(र्त्ता ?)याश्चातुष्पदाक्षराः, ते(ते ?) उत्तररत्नमुर्ध्वमनपतिभ्यन्तरा श्रेया इति ॥ ८२ ॥

अपदाण जो गमओ, सो चेव य होंति नारयाण पि ।

यहुपायाण तहओ, सर(सा)वयवो होइ पक्खीण ॥ ८३ ॥

अपदाक्षरा पञ्च पूर्वोक्ताः । द्विपद-योनी छम्भायां धनयद्वा नामद्वयसोप(?)स्वामि व्यवहको भवति । तथा पञ्चमे(द्विणो?) सशवा मपन्ति ॥ ८३ ॥

मणुअक्खरेसु मणुजा, इत्थीए सेसएसु नायवा ।

हस्स[स्स]रा य णिद्धा, सेसा ल(लु)क्खा सरा सवे ॥ ८४ ॥

मनुष्याक्षराः प्रागुक्ताः । विज्ञेयोप[५ ४९ प २]दर्शनार्थं पुनरुपन्यासः । प्रभे मनु जाक्षरबहुले मनुजा श्रेयाः । के ये मनुजाक्षरा ? । प्रथम-द्वितीयवर्गप्रतिपदाः । द्वितीयवगाक्षर बहुले प्रभ की ज्ञातव्या । त्रयस्त्रयाः, के ते ? अ इ ए एते पञ्च(?)स्त्रियाः । एतद्बहुले प्रभे पुण्या [जा]श्रेयाः । श्रेयाः शीर्षाः सप्त स्वराः । एतद्बहुले प्रभे स्त्रिया(यो) वक्तव्याः ॥ ८४ ॥

स्वरूप(ध ?) मादिणो य वग्गा, पच य अणुणासिया भवे लुक्खा ।

णिद्धा कगादिवग्गा, तत्थ य कञ्च तु सयणगया(?)य ॥ ८५ ॥

द्वितीय-चतुर्थ-पञ्चम-वर्ग एते त्रयो वर्गं रुक्मा(रुक्माः) । प्रथम-द्वितीयवर्गौ[स्त्रिगौ] ।
स्त्रिगवर्गौश्वरवहुले प्रभे स्त-जनसम्बन्धे कृते काय इष्टव्यम् । रुक्माश्वरवहुले प्रभे पर-जनसम्बन्धे
कृतं कार्यं इष्टव्यम् ॥ ८५ ॥ एतदेवाह—

परजणकय [प ५ पा १] च कञ्च, मुणेह सब लुक्स्वप्स(क्स्वरेसु) पि(१) ।

मिस्से पमयासहिय, कञ्च तह [पुत्त]मठकय ॥ ८६ ॥

रुक्माश्वरवहुले प्रभे पर जनकृतं कार्यम् । स्त्रिगवरुक्माश्वरवहुले[स्त्रि] प्रभे प्रसदासंयोगार्थे मार्वा-
पुत्रकार्यं च ज्ञातव्यम् ॥ ८६ ॥

पठमक्स्वरेसु धाला, मज्जेसु य जोषणमि घट्टता ।

अतिगएसु म थेरा, जीवा पण्हेसु णायवा ॥ ८७ ॥

प्रथमवर्गौश्वरवहुले प्रभे बाष्ठा[ः], पुमां(मात्र) स्त्री नपुंसक च भवति । द्वितीयवर्गौश्वरे
प्वधिकृतेषु दृष्टेषु एतान्येव स्त्री-पु-नपुंसकानि सयौवनाम्बन्धैस्मा(श्या)नि । पञ्चमवर्गौश्वर(रे)प्व-
धिकृतेषु दृष्टेषु व(ठ)-श्यानि इष्टव्यानि । द्वितीय चतुर्थवर्गौश्वराधिके दृष्टे एतान्येव मध्यमवयान्या-
देश्यानि ॥ ८७ ॥

सामा कण्हस्तामा, गोरी णीला य रत्तसामाचेव(मा य ?) ।

एव पच्च [प ५ पा १] वि वग्गा, कमसो पण्हमि य विमत्ता ॥ ८८ ॥

प्रथमवर्गः स्मा(श्या)मः । द्वितीयो वर्गः कृष्णश्यामः । तृतीयो वर्गो गौरा । चतुर्थो
वर्ग(गौ) नीलः । पञ्चमो रत्तश्यामः । एवं पञ्चाप्येते वर्गाः कमस(सः) प्रविमत्ताः । प[ठि]र्वा
मध्ये येषां [वर्णानां] बाहुस्व भवति तैः वर्णैः(र्णै)निर्देशय(सः) कार्यः ॥ ८८ ॥

जारिसय(थं) परपक्ख, संजुत्ता तारिसा तहिं सामा ।

हीणा समाऽहिया या, सेसा परपक्खसजुत्ता ॥ ८९ ॥

पाटसः परपक्षः । कोऽसौ परपक्ष ? इत्यभिहन्ता मध्य[ठि] । तस्माभिहन्तुः पाटसा
रुक्मा(श्वरवा)मात्[प ५१ पा १]यो वर्णो वेऽभिहता[ः] साटश्या(श्या)प्ये हेवाः । हीना(माः)
समा [अ]धिक्य(का) वा ते वर्णोत्(कि)विधाः । तत्र हीना आस्त्रिहिताः, समा अभिभूतिवाः,
अशिका वग्गाः । परपक्षप्रयोगे च पूर्वोक्तिवत् आस्त्रिहिता [अ]भिभूतिवा इत्याः ॥ ८९ ॥

॥ मनुष्यप्रकरणं सप्तपञ्च समाप्तम् ॥

पक्खी विट्ठे सत्तमसरे य वग्गे य पठमए जलया ।

वत्तमसरे य क्ववग्गे, थलया पक्खी(क्खी) हु णायवा ॥ ९० ॥

सप्तमस्यः प्रकारः । प्रथमवर्गो अकार(रः), तस्मादधि(स्मादधिक्ये ?)के प्रभे बीवयोगी
प्रप्रवे(अन्धे) अर्ध[प ५१ पा १]मः पक्खी हेवाः । वत्तमकर औकारः क्ववर्गप्रयोगे ककारः
क्ववत्त इत्येते । औकारे ककारोपरिगतो-ऽप्रयोगोऽनन्तरमवस्थिते बीवयोगी अन्धयां अन्ध्याः
पक्खी हेवाः ॥ ९० ॥

नवमसरे वगगमि, तद्दुँ पक्खिणो तद्दा जलया ।

थलया वारस अट्टम, सरे चउत्थे टवगगमि ॥ ११ ॥

नवमस्वर ङ(ओ)कारस्तृतीयवगवकारस्योपरिगद्योऽप्रतो वाऽनन्तरमवस्थितं जलजाः पक्षिणो ज्ञेयाः । द्वादशमस्वरः अकारः सविसर्गः, अष्टमस्वरः ऐकारश्चतुर्थवगः टकारः । टकारेण च स्वराजाः पक्षिणो ज्ञेयाः पूर्वोक्तम्यायेनेति ॥ ११ ॥

अणुणा[१] ५१ ण २[सिप्पु] पंचसु, तीसु य घाउस्सरेसु णायथा ।

पक्खीओ कुक्किआ खलु, वायसगिद्धा य चढया य ॥ १२ ॥

अक्षणनम बहुले प्रथमे एषामन्यतमे बहुस्वरराजस्योऽन्यतमयुक्ते जीवयोर्नो ऋषे पक्षिणो ग(र्हि)आ[१] मा(वा)सादयद्वटका श्रुभा वामसाञ्च ज्ञेयाः । घातुस्वराः के[१] उऊ ऋं इत्येते त्रयः ॥ १२ ॥

॥ सप्रपञ्च पक्षिमकरण सन्नासम् ॥

सं(सिं)भी कच्चाइवगगे, गजा[इ]वगगे चउप्पया ख(खु)रिणो ।

दुस्स[र]सरा हु सधे, सिंगीखुरीण तु सामण्णा ॥ १३ ॥

ककारस्य चकारस्योपरिमतो(गते)म चतुर्णां ऋस्वरराजामन्यतमेन तयोरेव ककार चकार योऽप्रतोवाऽवस्थितेन, मा [१] ५१ ण १] नरा[१] धृंगिणश्चतुष्पदा ज्ञेयाः । के ते ऋस्वरराः ? अ इ ए ऋ । अक्षरस्वरेण ऐकारेण औकारेण च युक्तस्य ककारस्य च व(व)कारस्य वा तपो(यो)-ऽर्थाद् स्थितयोः पकारौकारयो वारण्याः धृंगिणो ज्ञेयाः । गकारस्य अकारस्योपरिगतो ऋस्वररा-पामन्यतमेग(न) तयोरेव गकार-अकारयोरस(म)तो वाऽवस्थिते स्फुरिणव(ख)दुष्पदा ज्ञेयाः । गकारे अकारे वा अक्षरस्वरसंयुक्ते स्फुरिणश्चतुष्पदा ज्ञेयाः । गाथयाऽयुक्तमप्येत[इ] म्यास्मात् ॥ १३ ॥

धितिर(ओ) वसमो य सरो, खछादिवगगमि चेष वतीओ ।

अणुणासिप्पु पंचसु, णहिणो घातुस्सरेसु च ॥ १४ ॥

द्वितीय [१] ५१ ण १] आकारः, ऊ(ओ)कारो वसमः, अकार-उ(छ)कारस्योपरि गतस्य तपोरेव ख-स्योरप्रतो वा व्यवस्थिते आकारे औकारे वा वृत्तितो ज्ञेयाः । अक्षणनमे सु(प्र) पञ्चसु घातुस्वरयुक्तेषु अक्षणनमा मां वाऽप्रतोऽनन्तरमवस्थितेषु नक्षिणो(मो) ज्ञेयाः । घातुस्वराः अऊ ऋं ॥ १४ ॥

घ झ डे सु होइ वाढी, वती तद्द वस(ध न) व हे सु णायथा ।

चउतरद्वमवारसमसा(स्त)रो य दोण्ह पि सामन्ना ॥ १५ ॥

घ झ वा मासुपरिगते इ(ई)कारे [१] ५१ ण १] ज(ये)कारे सविसर्गं च(अ)कारे घ झ वा मा मप्रस्थितेषु वा ईकारस्थित्यु वृद्धि(द्धि)भ्याः सूकरादयो इष्टभ्याः । घ न च हा मासुपरिगते(ते)स्यैरेव सभि(म)स्यैरप्रतो वा व्यवस्थितैरेवित्तो इष्टभ्याः । के त्रयः स्वराः ? ई ऐ एः ॥ १५ ॥

दिष्टे चउप्पयमि य, पण्हे जय वीसण उवरि मत्ता ।

तो सिंगिणो ह भणिया, सुरिणो अह मत्तया हौंति ॥ ९६ ॥

गोर्विकारः क्षीरहृत्प्रादिकः जीवावयव एव गाथया अनुत्थोऽपि द्रष्टव्याः । [५ ५४ अ १]

सुंगियु सिष्टेषु अराक्षयामिभ्यस्तुको न(ठ)दिकारो ज्ञेयः । चउप्पयवोनो छप्पे पवोपरिमात्रावाहुस्सं
दइयते यदा सुंगियो ज्ञेयाः । वसिभेष चउप्पयवोनो छप्पे यदा अबोमात्रावाहुस्स दइयते
यदा सुरिणो ज्ञेयाः । वसिभेष चउप्पयवोनो छप्पे उकारवाहुस्सं सुरिणो ज्ञेयाः । ऊ(धौ)कारा-
कारवोस्तुस्सवो(ह)परिगतस्स साअ(सर्पा)मोनिः । ऊ(धौ)कारवो(सो)परिस्सितस्स नसिणो(नो)
ज्ञेयाः । [५ ५५ अ १] उत्रोत्तरेणाधरेण दृष्टेनोत्तम मस्तिन सुरिण वा सस्येत् । अधरेणाधरं
(पथम ?)मस्तिनं सुरिणं वा सस्येत्[त्] ॥ ९६ ॥

॥ चउप्पयवप्रकरण समाप्तम् ॥

सिंगिससा(मा ?) किप्प्यावी, हत्ति(वन्ति)समा राइला(नायरा?) मुण्येयवा ।

सेसा तिण्णि वि घग्गा, घण्णतरियाण सप्पाण ॥ ९७ ॥

येषु सुंगियोऽभिहवात्सेष्वेवाहृत्प्यपौरा द्रष्टव्याः । उत्तरक्षरैर्नांगराः, अधरक्षरैरारण्याः ।

येषु वस्तिनोऽभिहवात्सेष्वेव त्रियष्ट(?) द्रष्टव्याः । शेषा वोवकारेणा(?) [५ ५५ अ १] पवि(अव?)-
सिद्धातां न व हा मां वाहुस्स्ये वणांस्वरिको(का) चित्रकाद्यः सर्पां द्रष्टव्याः । सम्भारं
अपवेषु च छप्पेषु, पवंविद्धिष्ठो वाच्य इति ॥ ९७ ॥

॥ जीवथिन्ता समाप्ता ॥

अथ तत्थ घाठचिंता, सा दुविहा होइ आणुपुवीए ।

घम्मा[ऽ]घम्मा [य] तहा, घम्म(म्मा) लोह अलोह च ॥ ९८ ॥

पाठयित्वा द्विविधा मन्त्रानुपूर्व्यां पाम्बा [अधाम्बा] च । उत्र धाम्बा छोहस्यधा,
अधाम्बा मुत्तमवात्सविसस्यधा ॥ ९८ ॥

कधणरयय तम, तउ सीसं आर कंस लोहं च ।

लोह अहुवियप्प, प्प(प)भाण तह अप(प्प)हाण च ॥ ९९ ॥

काञ्चनं, रत्नतानां (रत्न), [५ ५९ अ १] ताम्रं, अयु, सीसक=वर्गं, आर=ह(न)क
पीरिक्क इत्तं छोहं वा, कंसं कृष्णकोदाहि(हमि)ज्जइमेवम् । उत्तरा[क्षर]वहुले मभ छोहमुत्तमं
सुवर्णादि हेयम् । अह(प)राधरवहुले मभे छोहमभमं अयु-सीसक-कृष्णकोदाहि ॥ ९९ ॥

इट्टा य मट्टिया सक्करा य घम्मा इमे य लोहा य ।

रयणा य पत्थरा पुठवि मट्टिया चेष णो घम्मा ॥ १०० ॥

इयका स्वरुपरं, [मृत्तिका], स(स)र्कराद्य धाम्नाः । त्रीप्येताम्यपि । ङोहामि(मि) ।
रमासि(नि) पापाणाः[ः], वृषीवि(षी), मृत्तिका चापाम्या धातव्यत्वारः ॥ १०० ॥

रयणा य इदनीला, मरगय तह वेरुलीयजाजी(ती)या ।

अयकत-सूरकता, [५ ५९ पा १] चदकता य नायका ॥ १०१ ॥

इन्द्रनील-महानील-मरक-वेङ्कयाः, अयस्कन्ताः, सूर्यकान्ताः, अन्द्रकान्ता च(अ) रजः
विशेषा ज्ञेयाः ॥ १०१ ॥

मोत्तिय-पवालमार्ह, भवति एवंविहा [तहा] अन्ने ।

ते रसा(सा)रा गिस्सार(रा), य ह्येति पुण संखमादीया ॥ १०२ ॥

मौक्तिक-प्रधाकाः । एवंविहा[ः] तथाऽप्ये सङ्गावर्तिनो (विश्रुतावयो) विमलकारवय[ः]
ते सारा वसार(रा)म् । तत्रोत्तराक्षरबहुले प्रमे धातुयोनी ऋभ्ये ससारा मुक्ता-प्रधाकावयो ॥
ज्ञेयाः । अक्षराक्षरबहुले प्रमे सिःसारा विमल-संख(सङ्ख)-मु(ह्य)क्ति-कपरकप्रसृतयः ॥ १०२ ॥

सीय-शुहाय [स]मुदा(दा), णवी तडागा [५ ५० पा १] तहेव पम्मघ(स्सव)णा ।

एकेक त दुविह, धिरं चल चेय नायक ॥ १०३ ॥

सीतमळा(सीतमळा)नि समुद्रा नदी तटाकानि प्रम(स)रणमेकैकम् । तेषां द्विविध-
स्तिरं चर्च वेति । तत्र स्तिरमभमसोवा(पं) चोत्तराक्षरैः प्रथम्यम् । पश्चाद्वहति ह्युप्यति च तद्वत्-
मक्षराक्षरैर्द्विभ्यम् । नामाक्षरत्वाये(पे)न वस्तु विचार-स्थान समिधेसा(वेष्टा)वि ज्ञेयम् ॥ १०३ ॥

उपहंगारा तह मौमुणा(मुमुसुरा) य अण्णा य एवमार्हया ।

उक्ता विज्जा(ज्जु) अव(स)णी णिग्घाउ(ओ) सूरकताउ ॥ १०४ ॥

उण्णा[ः]गाराभ्य मुमु(सुं)रमहणेन इकुरुमुप्यते । एतौ च धाम्यधातुसंज्ञौ वाक्या-
क्षरैर्ज्ञातव्य ५० पा १]भ्यौ । एतका विपुलसति(निः) निर्घातः सूर्यकान्त प्रज्ञेते अयाम्यधातु
सम्भवाः । वाक्याक्षरो(र)नामतो ज्ञेयाः ॥ १०४ ॥

एसा(गा) पत्यरजी(जाई), से(सा) सवियप्पा पघाण अप्प(प)हाणा ।

सा परिकमि(म्मि)[य अ]परा, णाअघ(व) ज जाहिं कमह ॥ १०५ ॥

पापापञ्चासिसाम्यादेका पापापञ्चासिः । सा द्विमेवा भवति । प्रथाना अमथानाभ
(च) । तत्र उत्तराक्षर(रैः) परिकर्म(र्मि)ता पापाणभतिद्र(जातिर्द्र)द्वय्या । अमथानाभ (च)
अक्षराक्षरैः अपरिकर्म(र्मि)तपापाणभतिद्र(र्द्र)द्वय्या । [५ ५८ पा १] अमथाना च । एषायोग च
सु(सु)पद्यः कार्यैः सनाममि । परिकर्मिता [टं]कपटिता । देशतत्र विद्यातस्या अर्थत्वाद्या मारवा[ः]
ज्ञेयाः । श्लोणमुक्ताः, के १ धत्रागत्य धानपात्राव(प्य)वतिष्ठते(म्ते) ते देशा श्लोणयुक्तसंज्ञाकराः
(संज्ञाका) । सेटकाः, के १ उच्यतेष्वक्षरबहुले भूमागे यो निवसते अनपद्ः स सेटकसंज्ञः । पृथिव्या
पते भेषा भवन्ति । व्याख्यासि मृत्तिकाभेदमिति बक्ष्यमाणोपन्यासः ॥ १०५ ॥

हरियालमम्भपडल, [५ ५८ पा २] मणसि(रिसि)ला पारय च बोधव ।

तह व(चु)ण्णपारदो वि य, मद्दु(ट्टि)यमेदा मुणेयवा ॥ १०६ ॥

हरिताम्भ, अम्भपड(ट)म्भ, मनःसि(रि)ला, पारय(र), पूर्णपारय(र) । मृत्तिकामेवाः पडल । तत्र पूर्णपारय(र) इति द्वितीयपार[र]त्रासि पूर्णकारे इत्यम्भम् ॥ १०६ ॥

पण्हक्त्तरेहि एते, णायवा जे जहा समुदि(दि)म्हा ।

अघरोत्तरक(क)मेण व, सणामनिदो(हि)सतो यावि ॥ १०७ ॥

प्रभाकरैरेतेर्वचोष्वा मेवा विद्वेयाः । यथा(या) एषां प्रधान्य(नताऽ)प्रधानता पत्तरापर क्रमेण श्रेया । यापत्त्वनामनिर्देश इति ॥ १०७ ॥

ख छ ठ थ फा घ झ[डा] वि य, दिद्वे घाठभि होइ घम्माओ ।

अट्टक्खरा हु एते, सेसमघम्मख(क्ख)रा सवे ॥ १०८ ॥

ख छ ठ थ फा(फ) म झ डा नामेपा[महा]नां बाहुत्येन धातुयोनौ छम्पार्थं धातु(त्रि)स-
म्भ(म्भो) भाम्भः । श्रेयाश्च [५ ५९, पा १] 'रप घ भ व हा' इत्येते पद् गृह्यन्ते । मा(ता)म्भेव
धातुयोमौ छम्पार्था एषां पष्णां बाहुत्येन धातुरभाम्भ आदेश्य इति ॥ १०८ ॥

पढमेकारवररस(नरसवार)समसरे य कणय तु क ख ग घेसु च ।

पचट्टमयसरेसु, पढमेऽणुणासिए भ तठ ॥ १०९ ॥

पड(प्रय)मस्तर अकार, एकारमस्तर अकारः सातुस्वार, अकारः सविसर्ग(गो) इव
स(अ)स्तरः । एतद्बहुते प्रभे धातुयोनौ छम्भे कनक शेषम् । क ख ग घ(धा) नामम्यतमस्त्रोपरि
गतो(ठि)नेतेषामन्यतमेन स्वरेण कनकमेव शेषम् । क ख ग घा नामम्यतमाक्षरेण ऐकारेण युक्ते
धातुयोनौ छम्पार्था त्रयु शेषम् ॥ १०९ ॥

च छ ज झ य र ल ध एसु य, रयय धीयस(स्स)रसत्तमेसु च ।

अणुणासिए य वितीए, छेद्वे य सरे [५ ५९ पा १] ह्यड सीसं ॥ ११० ॥

च छ ज झ [प]र छ रे पु च प्रभे बहुदुद्वे(हे ि)प्येपामेवाम्यतमाक्षरे द्वितीयस्वरेण सप्तम
स्वरेण च युक्ते धातुयोमौ छम्पार्था रत्तवं शेषम् । च छ ज झ [प]र छ रे पु च, [प]रामम्यतमाक्षर-
(र)बहुते प्रभे अनुनासिके च द्वितीये धातुयोनौ छम्पार्था अ(क)कारेण च युक्ते शीघ्रकं
॥ ११० ॥ ११० ॥

ट ठ ड ढ ई कारसि(म्भि) य, तय कसं पुण त थ द ध(धि)सुं च ।

पफ घ भ णवमे य सरे, चउत्थ अणुणासिए आर ॥ १११ ॥

ट ठ ड ढ(डा)नामम्यतमाक्षरबहुते प्रभे चतुर्थस्वरेण युक्त धातुयोमौ छम्पार्था ताव(अ)-
माक्षरेणम् । तथा इमो(ऽ) तथ द धा नो पञ्चानो बहुते प्रभ, तथ द धा नो बाऽम्यतमाक्षरे
॥ [५ ६ पा २] ग चतुर्थस्वरेण युक्त कलमाक्षरेणम् । च(प) क ख म इत्यां पञ्चानामम्यतमाक्षर
बहुते प्रभे तेषामेवाम्यतमाक्षरेण नवमस्वरेण अ(ओ)कारेण युक्ते धातुराक्षरेण आरं ब्रह्म षीरिका
बहुते वा ॥ १११ ॥

हत्(व)इ मकारे लोह, वसमसरे अट्टममि वग्गमि ।

एते उ घम्मभेया, अघम्मभेया इमे वोञ्छा(ञ्छ) ॥ ११२ ॥

मकारेपट्टले प्रभे शकारोऽष्टस(मा)भर(रः) वट्टहुले च, औकारः वसमः खरः, तेन हु पुके मकारे शकारे वा पा

* न पवालं हेममातिण्णो(मोत्तिय) ।

कतमाण(स मणि च)काय सीसट्टाण चाय(च?) नीसास(र) ॥ ११३ ॥

अधम्मपातुयोनी छप्पायां रत्तताक्षरा पे उक्कात्तेपु द्देषु मौत्तिकं द्रष्टव्यम् । सुवर्णाक्षरा पे च्छत्तेपु द्ददि(द्देषु?) खराच्च येऽमिद्धिता वेस(व्)धम्मपातुयोनी छप्पायां प्रवालक वच्छव्यम् । कसाक्षरा येऽमिद्धिता खरयुत्तो(त्ता) आ(अ)धम्मपातुयोनी छप्पायां तेषु मणयो निसा(स्ता)य हातव्याः । कायमादिक्का वेस(व्)भरेपु सीसक द्रष्टव्यम् । तेष्वेव अधम्मपातुयोनी छप्पायां * निःसा[धम]मणयो वि[म]लकादयो विहातव्याः ॥ ११३ ॥ [१ ११ पा १]

॥ घातुप्रकृतिः समाप्ता ॥

धम्ममि दिट्टपुत्ते, [धट्टियम]धट्टिय च तत्तय णायत्त ।

दुविह च होइ त पुण, णाणय अण्णाणय चेव ॥ ११४ ॥

धम्मपातो द्देषे वट्ट पट्टिसमपट्टिव वेत्ति । पथ पट्टिव व[ट्ट] द्विविधम्—केयूररूपक-^{११} त्रमादि, पत्तक(पथ) [नाणकम्] । अनाणकम्—कुंडलनूपुररसनाकेयूररूपकविक्रम ॥ ११४ ॥

दिट्टमि णाणयमि [१ १२ पा १] य, सम्मिस्सं होइ [तह य] उम्मिस्सं ।

इतर पि होइ दुविह, आहरण भायणवि[य]प्प ॥ ११५ ॥

अक्षररूपधम्मपातये (अधम्मचित्ते?) मूपुरादौ नाणके । वट्ट(प) नाणकं द्विविधम्—मिथममिम वेत्ति । तत्र मिमं सुवर्णरत्नवतामैस्त्रितै(त्रिद्विभिरित्?)रेषां द्वयेन वा यत् क्रियते तम्मिमम् । * परमुवर्णेनेनेन रत्ततेन वा क्रियते नाणक वट्टमिमम् । सुवर्णा[१ १२ पा १]दिद्विविधं मांइह-^{१२} (हो)वमाभरणं वेत्ति ॥ ११५ ॥

आभरणमि य दिट्ठे, त दुविह देवमाणुसाभरण ।

हिट्ठमि(ट्टिम)उवरिमकाए, एक्केह त पुणो दुविह ॥ ११६ ॥

अक्ष[र]मभेनाभरणं यद् दृष्टं वट्ट द्वि[वि]धमाभरणं देवाभरणीसानुपादरणावाता (दिवा-^{१३} भरणं मानुषाभरणं वा ।) वत् पुनर्द्विविधम्—एकेकम्—अपराकाय(यि)कं अपरिकायिकं अस्ति । वट्टपरिदृष्टे(द्वि)रोपव[ट्ट] कथयिष्यामः ॥ ११६ ॥

पच्चय-मपुयय(मपचुय) धा, एक्केह त पुणो दुहा होइ ।

पच्चोविण वि दिट्ठे, मोत्तिय-माणिक्क-उम्मिस्सं ॥ ११७ ॥

* अत्र दूषणं तस्य मूलं संस्काररूपस्य स्मितकमलनूपुरस्य वावावाहीछटा विवक्ष्यमाणस्यैवैतद्वत्त्वत्त्वात् इत्यर्थः शब्दो विवक्ष्यते ।

१) अत्रैव मोत्तियं अयमिदमुक्तिमन्त्रं इति बहुविधप्रयोगो दृश्यते ।

हरियालमभ्रपडल, [५ ५८ पा २] मणसि(स्ति)खा पारय च बोधव ।

तद्दृष्ट्वाण्णपारदो वि य, मद्दृष्ट्वाण्णमेवा मुण्येयवा ॥ १०६ ॥

हरितालम्, अभ्रपड(ट)म्, मनसि(स्ति)खा, पारय(यं), पूर्णपारत(यं) । मृत्पिण्डमेवाः पडल । तत्र पूर्णपारत(यं) इति द्वितीयपार[द]ज्ञाति पूर्णकारं द्रव्यम् ॥ १०६ ॥

पण्डुक्खरेहि एते, णायवा जे जहा समुवि(दि)हा ।

अधरोत्तरक(छ)मेण व, सणामनिहो(हे)सतो यावि ॥ १०७ ॥

प्रभाकरैरेतेव्योक्त मेवा विज्ञेयाः । पवा(पा) एषां प्रभान्य(नताऽ)प्रधानता उत्तराधर क्रमेण ज्ञेया । पापस्त्रनामनिर्देश इति ॥ १०७ ॥

ख छठ य फा घ झ[ठा] वि य, दिहे घाठमि होइ घम्माओ ।

अद्रुक्खरा हु एते, सेसमभम्मख(ख)रा सवे ॥ १०८ ॥

ख छठ य फा(क) घ झ हा नाम्नेपा[महा]नां बाहुस्येन बाहुयोनी सम्प्रायां पातु(हे)ह-
व्य(व्यो) धाम्याः । ज्ञेयाश्च [५ ५९ पा १] '५५ घ भ ब हा' इत्येते पद् गृह्यन्ते । ना(ता)स्येन
पातुयोनी सम्प्रायां एषां पण्णां बाहुस्येन बाहुरधाम्य आवेश्य इति ॥ १०८ ॥

पठमेकारवररस(रसवार)समसरे य कणय तु क ख ग घे सु च ।

पचद्रुमयसरेसु, पठमेऽणुणासिए य तठ ॥ १०९ ॥

पठ(भव)मखर अकारः, एकादशखरः अकारः सानुम्भारा, अकारः सवितर्गा(गी) इव
स(स)खरः । एतद्बहुले प्रभे पातुयोनी सम्प्रे कनकं ज्ञेयम् । क ख ग घ(पा) नामन्यतमस्त्रोपरि
गतो(ठे)नैतेषामभ्यवसरेण खरेण कनकमेव ज्ञेयम् । क ख ग घा नामन्यतमाक्षरेण ऐकारेण पुके
पातुयोनी सम्प्रायां त्रयु ज्ञेयम् ॥ १०९ ॥

ख छ ज झ य र ल व ए सु य, रयय धीयस(स्त)रसत्तमेसु च ।

अणुणासिए य वितीए, छट्टे य सरे [५ ५९ पा १] ह्वइ सीसं ॥ ११० ॥

ख छ ज झ [य] र छ वे पु च प्रभे बहुबुधे(के १)त्प्रेषामेवाम्पतमाक्षरे द्वितीयक्षरेण सप्तम-
क्षरेण च पुके पातुयोनी सम्प्रायां रजतं ज्ञेयम् । ख छ ज झ [य] र छ वे पु च, [ए]षामभ्यवसरेण
(१)बहुले प्रभे अमुनासिके च द्वितीये पातुयोनी सम्प्रायां अ(ङ्)कारेण च पुके क्षीरकं
॥ ११० ॥

ट ठ ड ढ ई कारस्मि(म्भि) य, तय कसं पुण त य द घ(धि)सु च ।

प फ घ भ णवमे य सरे, चउत्थ अणुणासिए आर ॥ १११ ॥

ट ठ ड ढ(डा)नामन्यतमाक्षरेबहुले प्रभे चतुर्थक्षरेण पुके पातुयोनी सम्प्रायां ताद(म)-
मादेश्वप । तथा इमो(१) त य द घा नां पञ्चानां बहुले प्रभे, त य द घा नां साऽन्यतमाक्षरे
॥ [५ ६ पा १] य चतुर्थक्षरेण पुके कसमादेश्वप । अ(य) क ख भ इत्यां पञ्चानामन्यतमाक्षर-
बहुले प्रभे तेषामेवाम्पतमाक्षरेण मषमक्षरेण अ(लो)कारेण पुके पातुरादेश्व आरं ब्रह्म रीरिका
पदकोटं वा ॥ १११ ॥

घाउस्तराणुणासी, छिद्वा णिद्धि(च्छि)इ सेसया वण्णा ।

छिद्देसु जाण छिद्दे, णि(मि?)स्सेसु य खुम्मिय दी(व)इ ॥ १२४ ॥

घातुस्तरौ द्वौ वकारो(र ऊ)कारो, ऋ ष ण न माः पञ्चामुनासिकाः, छिद्रा[ः] । प्रथम[प १५ पा २] षर्गः वृषीयवर्गाभ्याम्(भ्या?) यागाधेया(धरुधवा?) वक्का(र्णा?) मि(छि?)श्रा ये च ब्रह्मव्या[ः] । द्वितीय चतुर्थवर्गौ निछिद्रो(श्रौ) श्रष्टव्यौ । छिद्राधरुधवह्रुले प्रभे छिद्रे(श्रौ) घातुगदेइयः । घना-धरुधवह्रुले घन(मा), छिद्राछिद्रेषु मिभेषु छद्रेषु खुमिर्व घातु ब्रह्ममावेइयम् ॥ १२४ ॥

॥ घातुयोनिः समाप्त(ता) ॥

रखा(क्खा) ग(गु)च्छा गुम्मा, लया य वल्ली य पवया चेव ।

तणा[प १९ पा १] जलय-हरित-ओसहि-जलरुह-कुहणा मवे मूले ॥१२५॥

वृक्ष-ग(गु)च्छ-छटा-गुस्म-वस्ती(ल्ली)-पर्वक-वृज-वठप-हरितौ-पधि-जलरुह-कुहणा इति ॥ मूळमेवा द्वावस(स) ॥ १२५ ॥

एगट्टिय वहुवीया, रुक्खाण चेव होंति दो भेवा ।

सेसा वि ग(गु)च्छमादी, वण्णाण कमेण णायथा ॥ १२६ ॥

वनेकाशि-वहुवीयाश्च द्विविधा वृक्षा मवन्ति । दोषा अपि [प १९ पा २] ग(गु)च्छाया षर्गाकारप्रमाणादिभिरनुक्रमेण द्वावभ्या[ः] ॥ १२६ ॥

तय-मूल-कद-साहा-पल्लव फल-कुस(सु)ममेव णिज्जासो ।

रस-लीर-पसाहाओ, [य] मूलजाईअ(सु) भेयाई(?) ॥ १२७ ॥

रसग-मूल-कद(व)-शाखा-पल्लव-फल-कुसुम-बीज-रस-भेदाश्च मूल-जातिषु विज्ञेयाः । को गुणभेदः ? । सुरभिः[ः] [प १० पा १] सुरभिश्चेति । को वा रसनेवा (भेदः ?) मधुर-खयण कटुक-रूपायविषयः ॥ १२७ ॥

ग(गु)च्छा वहुप्ययारा, कप्पास-करीर-गुप्फग(गु)च्छा य ।

गुम्मादिया य जाती-कुञ्जय-कणवीर-वल्ली य ॥ १२८ ॥

ग(गु)च्छा वहुप्रकारः । के से? कप्पा(र्णा)स-करीर-गुप्फग(गु)च्छाय(श्च) । के पुष्प ग(गु)च्छा भण्यन्ते ? । ये पुष्प केवलं प्रप[प १० पा २] छिच्छि न व(व) फल वण्यन्ते । तत्र गुस्म(स्मा) जाति(सी) कुञ्जका कणवीरं मत्तिका चेति ॥ १२८ ॥

चपय-असोय-चूया, कुदलयाओ व होंति विविहामो ।

तवोल-लवलि-पिप्पलि-मिरिया वि य होंति क(व)ल्लीओ ॥ १२९ ॥

चपकसो(शो)कृत्वा उतासंशकाः । कुद्वय उतासंशः । तांशो(वाम्)श्च-पिप्पलि-मरी चाया वस्याः(इय) ॥ १२९ ॥

दूर्वा(दुवा)कुससृणवध्वपय(?)ध्वसालिकगुगोधूमादीया ।

जलसंभवा य हरिया, गधेणुयादि मुणेयथा ॥ १३० ॥

वृषो-कुस(स)-दृण-वमकय(?)-यव-सा(सा)ति-क्यु-गोपूमायाः वृणसंज्ञा[ः] । अणसंमवा
अपि वृषा एव । हरिवसंज्ञाश्च गंधेनुकाया वृत्तिकाः ॥ १३० ॥

वलयया साहा विडवा, वलकदलसरलघम्मणा(मा)दीया ।

तिलमुग्गमापचणा[प १८ पा १] या[इय ओ]सहिओ मुणेयवा ॥ १३१ ॥

वाजा(बज)या साहा म(प)चदड कंरुड-सरुड-धम्ममाया तिलमुग्गमापचणकाया ओप
चयः ॥ १३१ ॥

पठम(मु)प्ललकुमुवाई, मे(से)त्रालकमे(से)रुया य जलपमुणा ।

मो(नाणा?)विहा य अण्णा, सिंघा[ड]गरलि(वड्ढि)यादीया ॥१३२॥

पद्योत्पलकुमुमसेवासकसेरुकाः नमो(नाना?)विधाअन्त्ये शृंगाटकवड्ढयाया अण्णव

॥ संज्ञकाः ॥ १३२ ॥

हो(हो)ति कुहणा अवीया, वसुघोर(वाए?) संमवा य जे अण्णे ।

तत्थ कुहणा च(व) इयरे, भूमीरसकदली उण्ण ॥ १३३ ॥

अवीयाः प्रावृत्(द)काअ आसण्णे वसुहा वलो(लि) पनाम्भ[र]रसं मुंभंति वरसं(सं)

मवाअत्रका[ः] इवणा[ः] अपरेअपि वराहवयो ये वरसण्णे अर(इह?)संज्ञा[ः] कवत्त्यमेति ॥१३३॥

इज्जण-वेणुय-वेता-सरकच्चसयगपद्मगे हे(णे)या । [प १८ पा २]

धारसविभास(धा य) मूला, कहिया जिणसासणमि सया ॥ १३४ ॥

इज्जणवेणुयवेत्यसरकच्चिसंगाअ नळसात्ति(?) मण्यन्ते । एते पवर्ग(वर्ग?)संज्ञाः । पर्वणि

पर्वण्युकेभ्योऽन्ते(गे)भ्य वत्त्यत इति पर्वगाभा मण्यन्ते । द्वारस(दल)विधात्ति(मि) मूळवि(मि)

कथितानि जिनसा(सा)मे ॥ १३४ ॥

मूला कदा य सया, साह य(प)घाला य सह य पत्तफलं ।

पुण्फाणि य [धीया]णि य, जाणिज्जा ज जहिं कम्मइ ॥ १३५ ॥

मूळ-कंर-स्व[रु]-शाला-मवाअ-मत्र-कड-पुण्य-वीजा[मि] [प १९ पा १] संज्ञानीहि ।

वपया वप(डु)[प]विधाव(ड)स्वति ॥ १३५ ॥

अक्खलाऽमकरा य पुणो, भ[क्खला] तिच्चादिया य पव[र]मा(सा) ।

गामारण्णा जल-यत्तय पहाणा अप्पहाणा य ॥ १३६ ॥

मस्या ल(ज)महा(स्या) विविधाये । तत्र महा(स्या)धिक(क)कटुककपायाम्भनतुराः

पद्मरसाः । माम्वा आरण्याश्च । पुनद्धि(हिं)विधा अण्णयाः स्वअण्णाश्च । मवाना [अप्रधाना]-

मेति ॥ १३६ ॥

पण्हक्खवरेहि एते, णायया अे जहा समुदि(हि)ट्टा ।

अघट्ठरक(क)मेण व, सणामणिदे(दे)सओ आवि ॥१३७॥ [प १९ पा २]

ये वया अण्णाले तथा उचरवचर(र)वड्ढे मने अचुरमात्रा[ः] किण्वलववध(?) सुगंधिमा

सुरभीविपुला इहम्वाः । अघराअरवड्ढे मनेअपि एषं पूर्वोच अस्पमात्रा इहवा(स्व्या)दुर्गायाः

मीरसाः इत्याद्य भवन्ति । तैरेव प्रमाहुरैः] वाव[व]ज्ञेया वाव[व] नामसि(नि) दृष्ट इति
[५ ७ पा १] ॥ १३७ ॥

॥ मूलमेवाः समाप्ताः ॥

संजुचे फलमेदे, खाघण्णे रिक्त्व(क्खर?)मि णिप्यु(फ)ला भणिया ।

उवरिद्धे उवरिद्धा, अघरा [अ]घरेसु नायवा ॥ १३८ ॥

संयुक्तक्षरबहुले प्रभे सफला वृक्षा शातभ्याः । के चे संयुक्तक्षराः ? क्व च्छ इत्य
फ्प्र ग्य क्ख इत्यम् स्व इत्येते । [५ ७ पा १] च्छइत्यक्षरैश्च (ईम्)धुर्मिरिक्षरैः(रैः) सफल्य
वृक्षाः । उवरिद्धे उवरिद्धाक्षरैरुत्तराक्षरैरित्यर्थः । तैरक्षराणामुपरिगतेह(हं)ठेव(वृ)वादीनामुपरि
गतो फळं इत्यादेश्यः(इयम्) । अघराक्षरैः उत्तराक्षराणामुपरिगते दृष्टे वृक्षासि(शी)नामभ्योभागे
फळं वक्तव्यम् ॥ १३८ ॥

पठमे नवमे य सरे, क-च्चाविवगमि चेव रुक्खाओ ।

धितिय-न्समे य सरे, लताओ ख छठ क्खरेसु च ॥ १३९ ॥

ककार चकारबहुले प्रभे [५ ७ पा १] ककारस्य चकारस्योपरिगते अकारे ङ(ओ?)कारे
वा अन्त्यतरस्यामतो वाऽनन्तरमवस्थिते वृक्षा ज्ञेयाः । ख छठ बहुले प्रभे ख छठ नामेकस्मिन्
द्वितीयेन आकारेण दृष्टमेत औकारेण वा युक्तेऽमतोवाऽनन्तरमवस्थितानामन्त्यतरस्य छताः]]
प्रत्येतभ्याः ॥ १३९ ॥

थ फ र स एसु वल्ली, तण च घातुस्सराणुणासीया ।

चउरठमघारसमे, सरंमि ग(गु)च्छा य घ झ ठे सु ॥ १४० ॥

थ फ र स(पी) [५ ७ पा १] बहुले प्रभे वल्ली । च्छणन माक्षरबहुले प्रभे तेषामेवाभ्यन्तरे
घातुस्सराभ्यन्तरेण युक्ते तेषामेवाभ्यन्तरेण (स्वा)मतो वाऽनन्तरमवस्थिते घातुस्सरे वर्णं ज्ञेयम् ।
घातुस्सराः च्छणं । प झ ठ बहुले प्रभे प झ ठा नामेकस्मिन्मत्तुर्थं(र्थं)नाष्टमेन द्वापसे(से)न
वा स्सरेण युक्ते प झ ठा नामेकस्यामतो वाऽनन्तरमवस्थितेन ग(गु)च्छा ज्ञेयाः ॥ १४० ॥

गुस्मा य घ म घ हे सु, ग ज डे वलया हु णवम-त्तइएसु ।

सच्चमसरे तह ओ[सहीओ]भणिया व घ [ल] से सु ॥ १४१ ॥

घ स(म) व ह बहुले प्रभे गुस्मा भवति(न्ति) । ग ज ड [५ ७ पा १] बहुले प्रभे ग ज ड
नामेकस्मिन्मत्तुर्थेण औकारेण द्वितीयेन चकारेण वा युक्तेन ग ज डानां त्रयाणामेकस्यामतो
वाऽनन्तरमवस्थितेन वलया ज्ञेयाः । वलयाभ्यन्तरे च वाळ-अम्(म्)र-यूगच्छ-वृक्षादय इत्यन्ते ।
व ल ड बहुले प्रभे तेषामेवाभ्यन्तरेण सप्त[म]स्सरेण एकारेण युक्ते पठेतामेवाभ्यन्तरेण(म)-
स्यामतो वाऽनन्तरमवस्थितेन सप्त[म]स्सरेण औपधयाः प्रत्येतभ्याः ॥ १४१ ॥

॥ पथ मूलपोनिः समाप्ता ॥

जीवन्खरेसु मूल, जीव मूलखरेपु(सु) सु(प्र)ष्टेसु ।

मुट्टीए नायस, घातु [५ ७२ प २] घातख(ख)रेसु च ॥ १४२ ॥

अतया गाषया षोनिप्राप्तमा(प्रभनेी)बमुच्यते । इशानी प्रत्येकमागखरमुकेषु जीवाक्षरा-
वेऽभिहृता[ऽ] तेषु संख्याधिकेषु मूळं ज्ञेयम् । [मूळा]क्षरा वेऽभिहृताखेष्वपि संख्याधिकेषु मुट्टी
जीवो ज्ञेयः । घातखरा वेऽभिहृताखेष्वधिकसंख्येषु पु(सु)ष्टौ पातु ज्ञेयम् ॥ १४२ ॥

जीवन्खरेसु मूल, उत्तरसरसजुपसु मुट्टीए ।

अष[र]सहिप[सु] घात, जीवं च समावदीहेसु ॥ १४३ ॥

मुट्टाः खरसहिता[ऽ] । के ते उत्तरखराः ? 'अ इ ए' एते खराः । स एव जीवा-
क्षरा(रैः) युक्त मुट्टौ मूळं कुर्वन्ति । एते खरा जीवाक्षरा अपरखरसंयुक्ता मुट्टौ पातु
कुर्वन्ति । कोसौर(को वी अ)परखरो(रैः) ? 'आ वा' इत्येवौ द्वौ । माम्यौ एका(ष्टे)वे । स
एव जीवाक्षराः समाव-दीर्घखरैर्युक्ता मुट्टौ जीवं कुर्वन्ति । के ते समावदीर्घाः खराः ?
'ई ए (ऐ) औ' इत्येते खराः ॥ १४३ ॥ [५ ७२ प १]

अहरस्तरसंजुत्ता, मूले घातख(ख)रा उ मुट्टीए ।

उत्तरसरसंजुत्ते, घात घातख(ख)रेसु च ॥ १४४ ॥

पातु(ख)क्षरा अपरखरसंयुक्ता मुट्टौ मूळं कुर्वन्ति । अपरखराः 'आ ई [ऐ] औ'
इत्येते खराः । घातखरा उत्तरखरैर्युक्ता मुट्टौ पातु कुर्वन्ति । के ते खराः ? 'अ इ
ए ओ' एते खराः ।

"अपरखरसंजुत्ता मूळं वाच्यन्ता उ मुट्टीए । सेसा उ अपर खरं खरं पातुखरे वाच" ॥

पाताखरं वा । मात्रा उक्त एव 'अ इ ए' ॥ १४४ ॥

इशानी मूळाक्षरेषु मासिमु(रु)च्यते । [५ ७३ प २]

अहरस(स्त)रसंयु(जु)त्ते, घात मूलखखरेसु मुट्टीए ।

उत्तरसहिप मूल, जीव सहावदीहेसु ॥ १४५ ॥

अपरखरो । के(को)ओ ? 'आ वा' इत्येवौ द्वौ पातु ज्ञेया भवति । खरा

'अ इ ए ओ' पातुमूळाक्षरसहे(षि)षु मूळं ज्ञेयम् । मूळाक्षरा मुट्टौ जीवं कुर्वन्ति । के ? समाव-
दीर्घाः 'ई ऐ औ' इत्येते त्रयः ॥ १४५ ॥

हिट्टमि म(अ)धोमत्ते, [५-७४ प १] घात मूलखखरा उ मुट्टी(मुट्टी)ए ।

सेसासु(उ) सधमनी(त्ता), करक्षि(न्ति) मूलखखरे जीव ॥ १४६ ॥

मूळाक्षरा अधोमात्रासियुक्ताः । का अधोमात्राः ? समावदीर्घखरयुक्ताः मुट्टौ जीवं
कुर्वन्ति इति क्त्वान् । घोषाः सर्वमात्राः । काश्च ताः सर्वमात्रा उक्त एव 'ऐ औ (ऌ) एतादिस
माम्ये(शा ए) एका(ष्टे)वे । "सेसवियप्ता क्वा पुं" इति वचनकमेतत् । पातु- [५ ७४ प १]
जीव-मूळानाम्भ्यतमेऽस्मिन् दृष्टे इत्यन्तां सिद्धतां वा इत्यन्तां नामाद्यक्षराप्य(ण्य)संज्ञे(क्ये)या

मिपावमुद्रया(?) द्रव्यरूपसद्भासान् ज्ञात्वा श्रेये प्रपन्नधातु-धाम्नाम्यविकल्पाविकः जीवोव(बल)-
द्वयचयो वा द्विपदान्यवमस्य मूळ दृष्टगुच्छगुस्मलताविकं एव सप्रपन्न विज्ञाय मुद्ये तथाऽऽ-
वेसः कार्य इति ॥ १४६ ॥

॥ मुष्टिविभागप्रकरण समाप्तम् ॥

दो दीह वट्टदीहा, घट्टो तसो य वट्टदीहा वि ।

[अत्र अक्षरौ द्व बहो कीदो वि तसो य एतत्तो द्वितीयवत्सो प्रथमाश्रे हरयते ।]

चतुरस्तो वि य घट्टो, [५ ५५ पा १] होइ तह यायणादि(ता वि?) णिणा ॥ १४७ ॥

अकार इकारश्च द्वौ वृत्त(ी)शीर्षौ । आकारश्च ईकारश्च द्वौ [वृत्त(ी)शीर्षौ] । उकारो वृत्तः ।
औ(ऋ)कारश्च सः (रक्यसः) । एकारश्च ओकारश्च पुनर्द्वौ वृत्तशीर्षौ । ऐकार औकारश्च शीर्षौ ।
अकार अः सविसर्गः शीर्षश्चतुरस्यै(औ) । मतावरेण मनुपदेवा (चतुरसापेव) । एतेषां मध्ये ॥
पञ्च बाहुस्यं तेन उज्जानीयम् । पूर्वनिर्विष्टा शीर्षा विज्ञेय(याः) ॥ १४७ ॥

दीह(हा) वट्टा तसा, चतुरसा आप(यी)या य संठाणे ।

क-खमादिणो य वग्गा, मीसामीसेसु [५ ५५ पा २] नायथा ॥ १४८ ॥

क च ट थ प य शाः सप्त शीर्षाः । ख छ ठ थ फ र पाः सप्त वृत्ताः । ग ख ङ ब् ब् ब् सः
सप्त व्यमा(भ्यसाः) । प झ ञ [५] म व हाः सप्त चतुरसाः । अ म ण न माः पञ्च शीर्षश्चतुरसाः ॥
प्रमाधरणां मध्ये पञ्चाधरबाहुस्यं भवति तेन वट्ट[व] स्तु निर्वेद्यः(इयम्) । वृत्तशीर्षाधरस्तु पति
बाहुस्येन इत्यस्ये तथा वृत्तशीर्षवस्तु निर्वेद्यः(इयम्) । पञ्चमन्येऽपि मिथ्या ज्ञेयाः ॥ १४८ ॥

पढम-तइया य छि [५ ५६ पा १] हा, सीया य वणोसिणा अ पि(वि) चउत्था ।

पचमओ पुण वग्गो, होतिवोसु (उण्होळिहो?) या(य वा?) मीसो ॥ १४९ ॥

प्रथमवर्गत्वृतीयवर्गश्च, एते द्वौ छिद्रौ क-गाभिकौ सी(शी)वी च । द्वितीय चतुर्थौ ॥
क-पाभिकौ घनौ षण्णौ च । पञ्चमो वर्गो षण्णो घनछिद्रः । प्रभे एतेषां देन बाहुस्यं तेन
निर्वेद्यः[] कार्यः ॥ १४९ ॥

दो सेया घूमलओ, रत्तो चित्तो य किण्हवण्णो य ।

ये उ(ए ओ) य पुणो सेओ, दो नीला पीयला [५ ५६ पा २] चरिमा ॥ १५० ॥

अकार इकारश्च द्वौ एते श्रेतौ । आकारो वृत्तः । ईकारो ओवृत्तः । उकारश्चिद्वृत्तः ।
ऊकारः कृष्णः । एकार औकारश्च द्वौ श्रेतौ । ऐकारो नीलः । औकारो(रः) पीत(ी)नीलः । एवं
अं अः पीतौ । प्रभे एतेषां मध्ये यथा(ए) धरबाहुस्यं भवति तेन वर्णनिर्वेद्यः[] कार्यः ॥ १५० ॥

सेवा किन्हा रत्ता, नीला तथ पीयला य धण्णेण ।

कस्वमादीओ वग्गा, मीसा मीसेसु णायथा ॥ १५१ ॥

काभिवर्गः श्रेतः । काभिवर्गः कृष्णः । गाभिवर्गो रक्तः । पाभिवर्गो नीलः । अ म
ण न माः पीतकाः । एतेषां पञ्चाधर बाहु[५ ५६ पा १] न्य प्रभे [वत्स वर्ण] निर्वेद्यः कार्यः ॥ १५१ ॥

सुरमी मदी सुरमि(मी), मदी सुग(दुग्गी)धिया तद्वा दौष्णि ।

सुरमी मदी सुरमी, [मदी] दुग्गधियो सुरमी ॥ १५२ ॥

अकारः सुरमिः । आकारः ईपसुरमिः । इकारः सुरमिः । ईकारः ईपसुरमिः । इत्तु
हो दुर्गधी । एकारः सुरमिः । ऐकारोऽप्यसुरमिः । ओकारः सुरमिः । औकारोऽप्यसुरमिः ।
५ अं दुर्गधिः । [अः सुरमिः] । प्रभाभरणां मध्ये सुगंधिस्वरबाहुन्धं भवति तदा सुगंधक-
कुमुदादिषु श्रेयम् । दुर्गधारणे(धीप्ते)श्चमेघ ॥ १५० ॥

सुरमी क-गादिवग्गो, गगा(ग-जा)दिवग्गो य तद् य नायघो ।

सेसा [५ ७७ पा २] तिष्णि वि वग्गा, दुग्गधिय(धं)जणा हौंति ॥ १५३ ॥

क-गादि[ग-जादि]र्गो हौं सुरमी । श्लेषगर्भत्रयं ए-पादि दुर्गधि । प्रमे एतेषां बाहुन्धे
५ पूर्वं[ब]र्गं सुगंधादयो शेषाः ॥ १५३ ॥

एतस्मिन्नेवार्थे संवाङ्कारिणो(ष्वा) अन्यम-यत्नं गाथा लिखन्ते । तत्रथा-

- दो बागा(हा) दो बीदा, [दो संता दो व हौंति चउ]स्ता । दोष्णि व हौंति विष्णोया, दो वद् करति वाचन्वा ॥
'अ इ'वद्वा 'अ ई' बीदा 'उ ए' ते(तं)वा 'क मे' चउस्ता ।
'उ(वो)मौ'शिकोवा । अं वा' वृत्ति(वद्वा) वाचन्वा ॥ २ ॥ [५ ७८ पा १]
५ वद्दे वाच सुवचनं बीदेसु कर्पयं विवाचामि । संसिन् होइ सुवचं(तंवा) चउस्ता संसचं जाल ॥ ३ ॥
शिकोवा(वोमे)क्षि व विचवा(क) लोइ, उवचं सीसचं व विचैदि । [वाएते 'मितेदि वाचन्' इति शब्द] ।
पदे(पदे)सु होइ इ(इ)पवं बीदेसु चउप्यवं व वाचन्वं ॥
संसिन् होइ सुवचं चउ(उ)प्यवं होइ चउस्ता ॥
शिको(वो)मेदि व चंमं संसि वाचुचिं व चैदि ।
५ वद्देसु होइ गुम्मा, बीदेसु कवा सुवचन्वा ॥
संसिन् होइ छटी, चउस्ता कक(क)ठं [५ ७८ पा २] मयिचं । [उवाउरुं:] ।
शिकोमेदि व कुण्ठचं कर्पयुं (पदं कर्दं) व होइ चैदि ॥ [एवैः] ।
चं वं जलमद् परो वरं वणं तद् जलचरमिहचं । संसं वाचुं वामं, विचकमिहचं चोच्चार ॥
अमपेसु मिहचं मपामक्षिपसु कस(अ)रे जाल । विदुसक्षिपसु वारं विसामक्षिपसु वाहे(क्षि)रे जाल ॥
५ कपस[र]पठते कपत तद् वंजने सपेईमि । कपतरसंठुते, कपच(उ)रे जाल सचममिदि ॥
पचन्नामिहचं अचमववेदे पचं वचं । अमपेसु अ माये मपामक्षिपसु जाल ववरेसु ॥
विदु सक्षिपसु मर्दं [५ ७९ पा १] विसामक्षिपसु पञ्जनामो वि(?) ॥
दो अंवा दो छम्मा दो ओका दो वक्षिवा । दो छम्मा दो विचवचुं दो कवा सुवचन्वा ॥
चोरचन्दाए मरिवा चरैजाल तद् येव जलचमरिवादि(?) ।
५ मरजन्वा ये अइ, मरिवा वाचन्वा चोरचन्दाए(?) ॥ कवचमन्वाक वाचन्दाए ॥

पठमो णवमो य सरो, क-गादिवग्गो य सीय ल[हु]ओ [य] ।

कस(कस)ठ लुक्खा य घसा(ख-धा?), विदियवसम वा[रस]सरो या ॥ १५४ ॥

प्रथमस्यारः अकारः । ज(म)वम औकारः । (क-गा)विचर्गाः-क च उ त प य झाः, ग क ख च
व छ सा ज(अ) । सी(सी)वा छपचम । ए उ छ अ क र पा, प स च ध म क हा म । द्वितीयस्यार
५ आकारः । दशम औकारः । द्वापसो अकारः सविचर्गाः । एते कर्कसा(सा) क्खात् । एवा-
सुच्यतां प्रमे एवम[५ ७९ पा २]रवाहुचं तदीचं सी(सी)वादिर्कं वाच्यम् ॥ १५४ ॥

तद्भ्रौ [य] सत्तस(म)सरो, कमा(गा)दिवग्गो य मि(नि)द्वनिद्धाओ ।
 लुधक्खा उण्हा गरुया, खघा सरा य चउरट्टमा दि(वो)ण्णि ॥ १५५ ॥

पृथीयः खर इकारः, सप्तम एकारः, ख(क)गादिवर्गो च द्वौ । एतेषां बाहुल्ये सिग्घ-
 द्वयमादेशयम् । ल[पा]विधर्गः, चतुर्थस्वर इक्षरः, अष्टम ऐकारः । एते रूप्याः उण्णा [गुरुकाः] ।
 एतदक्षरस्वरबाहुल्येन वद्भवति ॥ १५५ ॥

घातुत्तरा य दोण्णि त्रि, पचम(यी) अणुणासिया मठअ सीदा ।

धामिस्ता पुण सधे, मिस्तामिस्ता मुणेयहा ॥ १५६ ॥

घातुत्तरे 'ठअ', पञ्चानुनासिकाः, सुवचः सी(क्षी)वसाअ । सि[ग्घ]रूप्याशर्यैः] ।
 माक्षिण्यो न(ना)रूप्यो(अ) आदेश्यः । मृदु-कर्मसा(शा)क्षरेन(यी) मृदु-कर्मसो(क्ष) आदेश्यः ।
 [प < पा १] उण्ण-सी(क्षी)वाक्षर्यैः] न उण्णो न सी(क्षी)व आदेश्यः । ययोच्छाक्षरबाहु
 ल्येनैतद् भवति ॥ १५६ ॥

तिष्ठो कन्हुय कसाओ, अंघो(वो) महुरो य आणुपुषीए ।

को(का)दीण वग्गाण, सरपरिमाण(णो) मुणेयधो ॥ १५७ ॥

कक्षिण्यो तिष्ठः । गाक्षिण्यो(गा) कद्गुकः । काक्षिण्योः कपायः । माक्षिरण्यः । कक्षि-
 ष्वर्गो महुरः । अनयोरातुपूर्यां ययोच्छवर्गोऽक्षरबाहुल्ये स(स्वर)परिमाणो(माणो) वाच्यः ।
 एवं वर्गोणां स्वराणां संख्यानं च ॥ १५७ ॥

॥ वर्ण-रस-वाच-स्पर्शाप्रकरण समाप्तम् ॥

यितिय चउत्थो य सरो, पढमो अणुणासिओ चपज(क ख ग)घाय ।

एते व(अ)ग्गेईए, अकगा पुष्वा तिण्णि ॥ १५८ ॥

'व(क) क ज(ग) प ड(क)' इत्येषां पंचानां अभ्यन्तमपाहुल्ये अ(आ)कारेण इ(ई)कारेण च
 वा युक्ते एते [प < प २] यामपतो बाह्वन्तरमवस्थिते आकारेण इ(ई)कारेण वा अन्तेषां(प्यां)
 तिष्ठितद् वस्तु विज्ञेयम् । अकगाक्षरपाहुल्ये अकारेण इकारेण वा युक्ते]पत्रे पूर्वस्यां विसि(रि)
 तद् वस्तु विज्ञेयम् १५८ ॥

ट छ ड(ष छ ज)अ तद्भ्रौ य सरो, यितिक्षो अणुणासिओ य जम्माए ।

अट्टमसरो प(य) टठ डड, ह्यति गं(ण)करो य गिरईए ॥ १५९ ॥

ट छ ड(ष छ ज) आभ्यासोऽक्षरः, पृथीयस्वरः इकारः, द्वितीयानुनासिकश्च अ(अ)
 कारः । एतैः पूर्वोच्च्यावन धाम्यायो विसि तद् वस्तु विज्ञेयम् । अट्टमस्वर एकारः,
 व(ड) ट ड वा आभ्यासोऽक्षरः, [प < प १] एकारश्च(अ) । एमिनेद(नेक)स्यां विसि(रि) इत्यं
 खे(रि)पं पूर्वोच्च्यापेनेति ॥ १५९ ॥

अधरेण सचमसरो, चउत्थ अणुणासिओ अ प व(त थ द)घाय ।

धसमसरो सप(म)कारो, अघरुत्तरतो फ म मा(प प य मा) य ॥ १६० ॥

य व व पा य (त व व ध न) बहुले प्रभे एतेषामेवान्यतमस्वामयो औ(प)कारेण जुटे
 एषामेवान्यतमस्वामयो वाऽनन्तरमवस्थितेन एकारेण पञ्चिमायां त्रिसि(शि) इत्यं शेषम् ।
 य व व (य व व म म) बहुले प्रभे एतेषामेवान्यतमस्वामयो वाऽनन्तरमवस्थिते[न] औकारेण
 वायव्यां श्रेया(यम्) ॥ १६० ॥

घातुस्ता १ ६१ वा १ रा य स व ह(हा), गायद्या तह य उत्तरद(वि)साए ।

चरिमो णवम्मे(मौ)य सरो, ईसाणीए सर पा(यर ला)य ॥ १६१ ॥

घातुस्तौ द्वौ उरु, स व हा म प्रयोऽक्षरा, एभिः पूर्वोक्त्यायेन उत्तरस्तां त्रिसि
 इत्यं शेषम् । चरिमौ द्वौ अक्षः । नवमस्वर ओकारः । सरपा (यर ला) म प्रयोऽक्षराः ।
 एभिः पूर्वोक्त्यायेन पेशान्यां त्रिसि इत्यं शेषम् । एष नष्टस्य इत्यं शेषम् ॥ १६१ ॥

॥ द्विपवादे(दि)द्रन्यस्य दिसि(शि) १ ६१ वा १ अकरण समाप्तम् ॥

उत्तरसरेसु गामे, जाणे अहरेसु याहिरओ [य] ।

उत्तरसरसंजुत्ते, गेहे अहरक्खरेसु च ॥ १६२ ॥

उत्तराक्षरेपूत्तरस्वरयुक्तेषु यत्किञ्चिद् वृ(म)द्या म(शु)च्छति प्राप्ते चरिसि शेषम् । एषां
 वाट्टस्ये । उत्तराक्षराम् पूर्वोक्ता एव । अपरस्वरसंजुक्तेषु च उत्तराक्षरेषु दृष्टेषु यत्किञ्चिद् वृच्छति
 ॥ व(ह)द्वारादिति यच्छस्यम् । एतेषां बाहुल्येन । उत्तरस्वरयुक्तेष्वपराक्षर [१ ६१ वा १] रियु
 यत्किञ्चिद् वृच्छति कश्चि[त्] इहे शेष पूर्वोक्त्या(म्या)येन । उत्तरस्वरात् पूर्वोक्तः ॥ १६२ ॥

उत्तरसरसंजुत्ते, अहरे त चेव हौइ सयणपरे ।

परवगहए वग्गे, असयणवग्गे ह्वइ वधं ॥ १६३ ॥

उत्तरस्वरसंजुक्ते अपराक्षरे गानीहि स्वजनपदे इत्यम् । परवगहरे वगे इत्यं परपदे
 ॥ मवधीत्वादेइत्यम् । आधिगितानिभूमितवग्गाभ्येते प्रयोऽभिप्रतिष्ठ । यथेते वगा [१ ६१, १]
 अभिप्रतिष्ठ तथा पूर्वोक्तानो(नो)च्छमिति ॥ १६३ ॥

जाणे सवारय(वाम)मारुए, अप(प्य)णगेहमि ठवियय(ठायिय) वध ।

परवग्गाभिहण्ण, सयणग(गि)हे हौ(हो)ति त वध ॥ १६४ ॥

तत्र स्वरापगुणवर्गो [१ ६१ वा १] उरु शो मवति । अक्षरगप्यच्छद्वद्वद्वद्वद्व
 ॥ इति । एतद्बहुले प्रभे एतद्वरे इत्यम् । परवर्गागुणमिन(र)मिहतेः स्वत्रमपदे इत्यम् ॥ १६४ ॥

पटमे चरमे [य] सरे, दिट्ठे यरथू य हा(हो)ति पुणेण ।

पितियसरे य ययग्गे, अग्गेहेण ह्यइ यरथू ॥ १६५ ॥

एतद्वरे चरपदेऽन्त्ये वा मवत् । एता(ः) प्रथमतो अकाराः, अ[ः]कारो द्वारसमप्र[त्]-
 तिगताः । आभ्यां केवकाभ्यां प्रभे यत्किञ्चिद् वृच्छति वरु वृत्ताभ्यन्तरे पूर्वज शेषम् । द्वितीयक्षरे
 ॥ आकारे अक्षराक्षरान्तरागोऽप्यथा वाऽनन्तरमवस्थिते यत्किञ्चिद् वृच्छति कश्चिच्च वृत्ता-
 भ्यन्तरे पूर्वा [१ ६१ वा १] अभिप्रतिष्ठान्तेन इत्यम् ॥ १६५ ॥

तद्दृष्ट्वा णवमे य सरे, तद्दृष्ट्वा षष्ठे ह्ववद् जम्माए ।

ईकारेकारंमि य, चउत्त्यवग्गे य निरईए ॥ १६६ ॥

दृतीयवर्गमकार(रः), सस्योपरिगतेन दृतीयस्वरेण इकारेण णवमस[रेण] धोकारेण वा षकारेण वाऽऽमतोऽनन्तरमवस्थितेन द्वयोरन्वतरेण दृष्टेन यत्किञ्चित् पृच्छति तद्दृष्ट्वाभ्यन्तरे दक्षिणत्वां विसि(क्षि) ज्ञेयम् । अक्षर्यवर्गमकारस्योपरिगते[न] ईकारेण ए(ऐ)कारेण वा टकार-
स्यामतो वाऽनन्तरमवस्थितेन क्षरद्वयस्याभ्यन्तरेण दृष्टेन यत्किञ्चित् पृच्छति तद्दृष्ट्वाभ्यन्तरे
नेरदृष्ट्वा(नेरईत्वा) विसि(क्षि)[प ८४ पा २] ज्ञेयम् ॥ १६६ ॥

एकार सत्तस(म)सरे, पचमवग्गे य वारुणीए उ ।

छट्टे वसमसरे [वा], वायव्याए उ णायव ॥ १६७ ॥

एकादश स्वरः अं, सप्तम एकारः, ताभ्यां तकारयुक्तस्यामतो वाऽनन्तरमवस्थितेन ॥
षमयतः शिवाभ्यां वा वारुण्यां द्रव्यं ज्ञेयम् । तथा पष्ठे बर्गे एकारे दक्षमस्वरेण युक्तेऽमतो
वाऽनन्तरमवस्थिते वायव्यां [प ८५, पा १] विसि द्रव्यं ज्ञेयम् ॥ १६७ ॥

पचमरसे(सरे) य षग्गे, सत्तमए ह्ववति सत्तमदिसाए ।

अट्टमवग्गे छट्ट[ट्टे], सरे य ईसाणिए जाण ॥ १६८ ॥

सप्तमवर्गस्या(स्य) यकारस्यायोगते षकारे यकारस्योपरिगते वाऽनन्तरमवस्थिते यत्किञ्चित् ॥
पृच्छति तद् दृष्ट्वाभ्यन्तरे सौम्यां(सौम्यायां) विसि द्रव्यं ज्ञेयम् । अष्टमवर्ग[स्य] षकारस्यापो
गौ(ते) पष्ठस्वर ङकार(रे)[प ८५, पा २] षकारस्यानन्तरमवस्थिते पृच्छत्वा तद्दृष्ट्वाभ्यन्तरे
पेक्षान्यां विसि(सि) द्रव्यं ज्ञेयम् ॥ १६८ ॥

अट्टसरा आइत्ता, अट्ट य वग्गा य आणुपुष्पीए ।

इदाणीण दिसाण, फमसो षग्गेसु पविमत्ता ॥ १६९ ॥

वज्रवै(वै)व गायाऽनन्तरप्रपञ्चेन ॥ १६९ ॥

सधे सट्टाणाओ, सप(प्य)दिहता ह्ववति चउत्त्याओ ।

उत्तर अह(हो) सवण्णा, हसति पुहावर षग्ग ॥ १७० ॥

प्रभायां पूर्व(र्ष)विग(ग)धरसन्निभैः पश्चिमदिगधरैस्तुल्यैर्द्वयोरपि विशोन्म(र्म)ध्ये द्रव्य
मावेदयम् । यदि पूर्वदिगा(ग)धरां [प ८९ पा १] रणां वादृश्यं तदा पूर्वस्या(स्यां) विसि(सि) । ॥
पश्चिमदिगा(ग)धराणां वादृश्यं तदा पश्चिमाविहसमीपे द्रव्यमावेदयम् । दक्षिणदिगा(ग)धरे
रुत्तरदिगा(ग)धरसन्निभैस्तुल्यैर्द्वयोरपि विशोरनयोम(र्म)ध्ये द्रव्यं ज्ञेयम् । दक्षिणदिग-
धराणां वादृश्ये दक्षिणविहसमीपे द्रव्यमवस्थितिः । पूर्वदिगधरेरप्रयादिगधरेः सन्निभैम(र्म)ध्ये
द्वयोरपि दिगिब(वि)शोरप्रयाद्ये द्रव्यं तिष्ठतीति वक्तव्यम् । पूर्वदिगधराणां वादृश्ये पूर्वस्यां
विसि(सि) समीपे [प ८९ पा २] ति द्रव्यं तिष्ठतीति जावेदयम् । आग्नेयाधरवादृश्ये आग्नेयायां विसि
धमीपे द्रव्यं तिष्ठतीति विसि(सि) । दक्षिणदिगा(ग)धरेरप्रयादिगा(ग)धरसन्निभैस्तुल्यैर्दक्षिणत्वां

निसि(दि) इवम् । आग्नेयायां च मध्ये इव्यमादेशयम् । यदा इचोरनबोदि(र्वि)ग्विदिशोव(र्वं)-
 वधराधिक्ये षटं तदा तस्य(स्याः) समीपे इव्यमादेशयम् । वृद्धिजिगिष्यरेनेरु(र्वैर्क)मधरमिभे-
 स्तुस्वयोद्(र्वै)योरनयोदि(र्वि)ग्विदिशोरन्वरासे इव्यमवतिष्ठत इत्या[५ ८० पा १]इवम् ।
 इयोरनयोर्विन्विदिशोर्यस्य पदधराधिक्या[६] षडमधिक(र्कं) तस्याः समीपे इव्य ज्ञेयम् ।
 १ पश्चिमदिगधरनेरु(र्वैर्क)मधरमिभेस्तुस्वैरु(र्वै)योरनयोदि(र्वि)ग्विदिशोर्मध्ये इव्यं षडम्यम् । यदा
 इचोरनयोर्विग्विदिशोर्यस्या [अ]धराधिक्याद् षडमधिकं तदा तस्य[स्याः] समीपे इव्यं ज्ञेयम् ।
 पश्चिमदिगधरमि(र्वि)भेस्तुस्वे(स्वै)रनयोर्विग्विदिशोर्मध्ये इव्यमादेशयम् । यदा इचोरन्वनयोदि
 (र्वि)ग्विदिशो(सो)र्यस्या दिशो विदिशो वाऽऽ[५ ८० पा २]राधिक्याद् षडमधिकं तदा तस्याः
 समीपे इव्यमादेशयम् । उत्तरदिगधरैवा(र्वै)यम्यादिगधरमिभेस्तुस्वैरनयोर्विग्विदिशोर्मध्ये जव
 ११ तिष्ठते इव्यमित्यादेशयम् । यदा इचोरनयोदि(र्वि)ग्विदिशो(सो) वाधराधिक्याद् [५-८८ पा १]
 षडमधिकं तदा तस्याः समीपे इव्यं तिष्ठतीत्यादेशयम् । उत्तरदिगधरैदीसा(टीसा)म्याधरमिभे
 समोरनयोर्विग्विदिशोर्मध्ये इव्यमवतिष्ठतीत्यादेशयम् । यदा इचोरन्वनयोदि(र्वि)ग्विदिशो(सो)-
 [र्यस्य दिशो विदिशो]वाऽधराधिक्याद् षड[५ ८८ पा २]मधिकं तदा तस्य(स्याः) समीपे
 इव्यमादेशयम् । पूर्वदिगधरैदीसा(सा)म्याधरमिभेस्तुस्वैरनयोर्विग्विदिशोर्मध्ये इव्यमवतिष्ठत इव्य-
 १२ देशयम् । यदा इचोरन्वनयोदि(र्वि)ग्विदिशोयस्या दिशो विदिशो वाऽधराधिक्याद् षडमधिकं
 तदा तस्या निष्ठते इव्यं षडम्यम् । [५ ८९ पा १]पूर्वदिगधरैरु(र्वै)धियाधरमिभेस्तुस्वैरनयो-
 र्विग्विदिशोर्मध्ये इव्यमादेशयम् । यदा इचोरन्वनयोर्विदिशोयस्या धराधिक्याद् षडमधिकं तदा
 तस्या निष्ठते इव्यमादेशयम् । प्रभाधरायां मध्ये षडमिग्विदिशो(विदिग)धरावाडुस्वैनेवो
 नि(र्वै)त्यादेशय(सा) संख्यः ॥ १७० ॥ [५ ८९ पा २]

यितिय चउत्ये वगो, सर्भि(र्वि)तर-धाहिर भवे गोह ।

अधरसरेपु(सु) य प(ष)हिया, अधरस(स्स)रसतु(जु)सेसु च ॥ १७१ ॥

द्वितीयवर्गः - 'ल छ ट ब फ र पाः', बाधा [प्ले] । एतद्बहुते प्रभे बहिरु(र्वै)र्षु[६] इव्यं
 ज्ञेयम् । चतुर्थवर्गी(र्गः) - 'प झ ङ ष भ य हा' इमेते अन्वन्तराः । एतद्बहुते प्रभे पूहाम्यन्तरे
 इव्यं ज्ञेयमिति । द्वितीय-चतुर्थवर्गीधराधरु(र्वै)पूहाद् बहिरु(र्वै)रान्वन्तरे इव्यं ज्ञेयम् । अधर
 १३ धरसंयुक्तेश्चि(त्वि)त्ययेवार्थः ॥ १७१ ॥

सगिहम्मि य जं दध, सं पश्चा[५ ९ पा १]न्वस भवे परोक्ष वा ।

दिदृ(द्वे)मि परोक्ष(क्खं)मि ओ(उ), उदृ(द्वे)महो तिरियमागे वा ॥१७२ ॥

अधरे षं (बह)इव्यं स्थापितं मष्टं च तद् मल्लं च परोक्ष वेति अमल्लमितिर्वा १
 ललावशुर्धराधरु(र्वै) प्रभ स्तयं त्वया स्थापितमिति मष्टा बाध्यम् । स्ववर्गसंयोगाधरैदद्यो(र्वै)ः
 १४ पवावावा(पित्रा ध्रात्रा)पितृभ्येनेजेवमादिभिः स्थापित इव्यमिति बाध्यम् । अर्द्धकान्त(का)धरै-
 र्(र्वै)ः प्रिया स्थापितमितिबाध्यम् । यवा(व)मादिमिर्षत्र स्थापितं इव्यं तस्ये[५ ९ पा २]
 षडमिः श्रियते । इव्यंमागऽधोना(मा)भौ तिरियमागे वा इव्यस्तावन्वितस्य उपरितमवा गावता
 निर्तय(र्वं) बधय(स्व)ति ॥ १७२ ॥

मूलस(स्स)रेसु उट्टु(इ), अही [य] घातुस्सरेय(सु) सवेसु ।

सेसेसु तिरि[य]भागे, गेहे वत्य(व) तु[ही] परोक्ख ॥ १७३ ॥

मूलसराः 'ईयेओ' एतेषु दृष्टेषु प्रथमे ऊर्ध्वमागे द्रव्यं विघ्नतीत्यादेश्यम् । धान्यपातु-
स्सरो ह्यौ 'बळ' आभ्यां दृष्टाभ्यां अघोभागे द्रव्यं विघ्नतीत्यादेश्यम् । श्लेषेषु-'अ आ इ ए ओ'
एषां पञ्चानां अन्यतमाधिक्ये तिर्यग्भागे द्रव्यमवविघ्नत इत्यादेश्यम् । स्वगृहे संशय द्रव्यं नष्टं ।
उदेभिः स्वरैः ११ पा १]का(ही)वत्यमिति ॥ १७३ ॥

जल देवय अग्गिख(घ)र, दिट्ठे वत्थुमि ति[त्ति] नि(ति)ट्ठाण ।

लक्खेज्ज जीव घाउ, मूलाण य तिनि(भि) घाणइ(ठाणा)इ ॥ १७४ ॥

कचटवप यसा(सा)[नाम]न्यतमाधिके प्रथमे अट्टगृहे द्रव्यमावेश्यम् । लच्छठय
करपाजां चतुर्ध्वर्गसंज्ञकानां धान्यतमाधिके प्रथमे गोक्षाजायां द्रव्यमिति श्लेषम् । गसळ
यचसा नामन्यतमाधिके प्रथमे श्लेषगृहे द्रव्यमावेश्यम् । कचपनमाधिके प्रथमे अग्निगृहे
द्रव्यमवविघ्नत इत्यादेश्यम् । मिभेषु यत्संशयिनोऽक्षरा बहवः[ः] तस्मिन् द्रव्यमिति श्लेषम् ।
जीवयोनी छम्पयां जीवो नट्ठमि(ए इ)त्यादेश्यः । मूलयोनी छम्पे मूलम्, घातुयोनी छम्पे
घातुम् ११ पा १]द्रव्यम(अं न)ष्टमित्यादेश्यम् । एव त्रिलो(त्रो)व स्नानेष्विति तद्विधास्वगृह
काण्डम् ॥ १७४ ॥

छिहे तत्थरिपं(रत्थतरिय?), परवक्कु(त्थु)मणतर घणे दिट्ठे ।

जो श्विय वत्थु निवेसे, गमओ सो चेव रत्थासु ॥ १७५ ॥

क-गादीनां प्रथम-चतुर्थवर्गेष्वानां छिद्रसंज्ञकानां अन्यतमाक्षराधिके प्रथमे रथ्यास्तरिं
द्रव्यमावेश्यम् । ल-भादीनां वर्गाक्षराणां घनसंज्ञा ११ पा १]कानां अन्यतमाधिकानां प्रथमे
स्वगृहस्थानन्तरं वत्थरगृहं [तस्मिन्]द्रव्यमित्यादेश्यम् । एषं [व]त्थुनिवेशविधित्तः । पूर्वाऽऽ-
भेयी वृक्षिणे(पा) नै(के)अपरा वायव्योत्तरेक्षानी वेत्ति [विक्] । वैरक्षारैर्यु(रु)हाम्यन्तरे पठासु
विद्यु द्रव्यमभिहृत्य वैरेवाक्षरैस्तेनैव प्रकारेण रथ्यास्त्वपि द्रव्यम् ॥ १७५ ॥

इस्सेसु सम ठाण, सहावदीहे ११ पा १]सु उण्णय जाणे ।

पथम छट्ठे य सरे, दोसु वि णि(णि)ण्ण मुणेयइ ॥ १७६ ॥

इक्षानां 'अ इ ए ओ' एतेषामन्यतमाधिके प्रथमे समस्थाने द्रव्यं विघ्नतीत्यादेश्यम् । स्वभाव-
धीर्भाणां [इये]ओ' एतेषामन्यतमाधिके प्रथमे अष्टमे मूमागे द्रव्यमवविघ्नत इति वाच्यम् ।
पञ्चमसर्ग[वकाट], पञ्चसर अकाट, अनयोर्द्वयोर्नि(मि)श्रोतवमूमागे द्रव्यं विघ्नतीत्या-
देश्यम् ॥ १७६ ॥

सतियस्सरो वि रत्थ, कवे(ये)सि जइ यजा ११ पा १]णे य संजुत्तो ।

उत्तर-वजणसहिते, वितिए उअं ह्वइ ठाण ॥ १७७ ॥

एतीयस्वर इकारः, स उच्चान्वतमाक्षरोपरिगतो रध्यायां द्रव्यमाचष्टे । द्वितीयस्वर
आकारः, सोऽभिहयोचराक्षर(च)न्वतमसंयुक्ते रध्यायामेव द्रव्य कथयति ॥ १७७ ॥

सविसर्गोऽसु चतस्रः, साणुत्सारेऽसु अघरस्वरठाण ।

लोड्वय-लोठधरिय, घणक्खरे वेउल लक्खे ॥ १७८ ॥

- १ सविसर्गः 'व'कारः, स यदा प्रभे अन्वतमाक्षरपाथेति [११ पा १] तो दृश्यते केवलो
वा तदा चतुष्पथे द्रव्यमावेश्यम् । एकादशमोऽनुस्वारः 'अं' यदाऽन्वतमाक्षरोपरिगतो दृश्यते
केवलो वा तदा तस्य चतुष्पथस्य पश्चिमदिग्भागे द्रव्यमवस्थितं इत्यादेश्यम् । यमाक्षरत्वां
'ल लठ थ थ फ र पा पां, प झ ङ ञ म ष ह्र नां' चान्यतमघटुले प्रभे लौकिकदेवकुले द्रव्यमावेश्यम् ।
[१७१४ पा १] लौकिकं देवकुलं अक्षरपतनाधिकम् । एतेष्वेव यमाक्षरेपूचरस्वरसंयुक्तेषु लोके-
४ चरदेवकुले द्रव्यमावेश्यम् । औचोचरिन्द्रेवकुले (अ)सितार्हवापन बल्यम् ॥ १७८ ॥

सद्वत्थं [य] जीव-घातु-मूलाण लक्खए तउट्टा(ओ) ठाणा ।

एतो य गामदडो, एतो वि य घाहिरो वडो ॥ १७९ ॥

- सर्वत्र जीव-घातु-मूलानां अवेतत्त्वा [११४ पा १] न दृश्यते तत्र जीव(वं) पाठु(ठो)
मूलं चेति त्रयम(मे)वावधार्यतेः कार्य इति । तत्र तत्र स्थाने य एव वडो बहिरन्वतरे च माम-
४ लोचः । ईदृशेष्वेव च यत्र च(व)नमुच्यते ॥ १७९ ॥

॥ नष्टिको(क्ष)यश्च समाप्तम् ॥

एतो(सो) चित्तविभागो, मुट्टिविसेसेण अक्खरुप्पत्ती ।

गेहिरिखा(गहरिक्खा)ण सूया, सवेसि उवगयविसेसो ॥ १८० ॥

- अतः परं चित्ताभि [११५ पा १] भागस्य मुट्टिविसेपस्य प्रहायां महत्तयां च सूचन केसे-
४ (सो)रेसेन यमाक्षरसुत्पत्तिमवर्षण एवाभ्युत्पत्त्यानं च मुट्टा महिरि(अ)क्षाणां च वर्जय-
(पाठु)मुपगतविसेपसि बह(इय)भाणोपन्वासायना(दा?) । अगतः सम्प्रसात्पर्यायः ॥ १८० ॥

तह सदणिण्णओ वि[य], सवे भाषा य सद्वुत्थाणं ।

णदावचे ओए, सच्च नियप्पा [११५ पा १] ह्वति इमे ॥ १८१ ॥

- पट्टात्थोदित-कुत्थपतनादिसम्बन्धो भावस्यैव निन(र्न)यवर्जाकृतिप्रमाणादीति ध्येयते ।
४ सर्वभाषा अक्षरप्रतिबन्धः 'आमाआम-मुल्लुःख-जीवितभरण' इत्याद्यक्षरप्रतिबन्धः । सक्ख-
द्रव्याणां मन्विक्रवर्जाण्ये(स्वे) करणे एत मेवा भवन्तीति बह्व्यभाणोपन्वासाः ॥ १८१ ॥

तथा चैतत्—

पढमो चित्तामेवो, तस्स य भेदा ह्वंति अट्ट इमे ।

जीवादीण ओणी, तिविहो पढमो ह्वति भेवो ॥ १८२ ॥

तेषां सप्तानां मेवानां [प १९ पा १] मध्ये प्रथमभिः(त्रि)म्वामेवः । तस्य मेवा भव-
त्यष्टौ वक्ष्यमाणाः । जीव धातु-मूळानां योनिस्त्रिविधा या सा प्रथमभिम्वामेवे पठति ॥ १८२ ॥

गुरु-ल्लहुय अक्स्वराण, सजोओ वितियओ ह्वसे(वति) मेवो ।

तितीओ पीढासद्धि(हि)ओ, ततो(चो) अभिघातिता तिभि ॥ १८३ ॥

गुरु-ल्लहुयस्य संयोगो द्वितीयो मेवः । पीढामेवस्त्वदीयकः । क(कः) पुनरसौ ? अघा-
(भो)मात्रा अप्रधाना वेऽभिहताः रेफ-यकार-रकार ङकार-सहिताः । आङ्गितवद्बहुयः । अभि-
धूमिघः पंचमः । वग्घः षष्ठो मेव [प १९ पा २] इति ॥ १८३ ॥

एषो पयडिविसेसो, सप्तमओ सकडाइ अठ्ठमओ ।

एचो चिंतामेवा, पणयालीअक्स्वरुप(प्य)ण्णा ॥ १८४ ॥

एकः प्र[ङ्]डिविशेषकः । क(कः)पुनरसौ ? जीवप्रकृति-धातुप्रकृति-मूलप्रकृति[रूपः] म
धमसो मेवः । संकट-विकटमेवा(भो)ऽधम षष्ठ एव । एते चिन्तामेवाः पंचवत्वारिंशदक्षरमति-
पद्य इति ॥ १८४ ॥

॥ चिन्तामेवप्रकरण समाप्तम् ॥ [प १७ पा १]

दुग दुग तिग तिग य च्चु, चतुक्क पण पण ङ सप्त वसु णवया ।

णामक्स्वराण य सरा, ह्व(हो)ति आ(अ)कारादिण कमसो ॥ १८५ ॥

न य्वा इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ अं अ-
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९

अकारो द्विसंख्यः । आकारोऽप्य(पि) द्विसंख्य एव ।
[प १७ पा २] इकारस्त्व(त्रि)संख्यः । ईकारोऽपि ए(त्रि)-
संख्या(स्य) एव । उकारश्च(द्व)संख्या(स्य) । ऊकारश्चतुःसंख्या(स्य) एव । एकार[ः] पञ्च-
संख्या(स्य) । ऐकारोऽपि पञ्चसंख्या(स्य) एव । ओकार[ः] षड्संख्या(स्य) । औकार[ः]
सप्तसंख्या(स्य) । अंकारः स्ना(सा)नुस्वारोऽष्टसंख्यो(स्य) । अकारः सन्विसर्गो नवसंख्या(स्य) । अ
अकारव्य[ः] सरा इवस अक्षरैरुंका [प १८ पा १] यमोच्छसंख्या द्वष्टव्या इति ॥ १८५ ॥

द्वितीयप्रकारः—

चठ ति ति चठक्क चउत्थ, चउ सच वयुहण(ठ्ठ)णवय)वग्मा च ।

संस्नापरिमाणे तस(स्त)राणऽगाराइण कमसो ॥ १८६ ॥

एगादीया पच उ, कमादी(दि) अणुणासियावसाणाण ।

कमसो णाम ए(प)माण, पंषइ(चाण) वि आणुपुवीए ॥ १८७ ॥

ककार एकसंख्या(स्य) । गकार[रे] द्विसंख्या(स्य) । गकारस्त्व(त्रि)संख्या(स्य) ।
पकारश्चतुःसंख्या[ः] । उकार[ः] पञ्चसंख्य इति । एव क-गादि-उकारपर्ययासानां कमसः
(सः) [प १८ पा २] संख्याऽभिहतेति ॥ १८७ ॥

एतीयक्षर इकारः, स उच्चन्यतमाक्षरोपरिग
आहारः, सोऽभिहवोचराक्षर(रा)न्यतमसंयुक्तो रप्याया

सविसगोसु चउळ, साणुस्तारेसु ८

लोह्य-लोठचरिय, धणक्खरे देउ

१ सविसर्गः 'अ'कारः, स यथा प्रभे अन्यत-

वा तदा चतुष्पये इत्यसादेश्वयम् । एकादशमो-

केवलो वा तदा तस्य चतुष्पयस्य पश्चिमदिग्-

'ख छ ठ ड फ र पा र्णा, य स ड ष म ब हा र्णा' ८

[१५ पा १] औचिकं देवदुर्लभं सङ्गवचना

२ चउठेचउळे इत्यसादेश्वयम् । औचोचरिउठेव

१ सवत्य [य] जीव-धातु-म्

एसो य गामदसो, एसो

सर्वत्र पीव-भातु-मूषानां य

मूळं वेति प्रथम(मे)वावधार्योऽस्यः ८

३ लोठः । इंडसभेन च सडं व(प)

॥

एतो(सो) चिंता

गेहिरिखा(ग)

अतः परं चिन्ता

४ (सो)देशेन यथायत्

(नारीता)मुपगवति-

तह -

णद

पग

५ वावभावा

इत्यामा

क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ	ट	ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न	प	फ	ब	भ	म
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५
क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ	ट	ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न	प	फ	ब	भ	म
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५
क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ	ट	ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न	प	फ	ब	भ	म
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५
क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ	ट	ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न	प	फ	ब	भ	म
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५
क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ	ट	ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न	प	फ	ब	भ	म
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५
क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ	ट	ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न	प	फ	ब	भ	म
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५
क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ	ट	ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न	प	फ	ब	भ	म
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५
क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ	ट	ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न	प	फ	ब	भ	म
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५
क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ	ट	ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न	प	फ	ब	भ	म
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५
क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ	ट	ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न	प	फ	ब	भ	म
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५
क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ	ट	ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न	प	फ	ब	भ	म
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५

तत्र संयोगे(नि) आर्लिगिताभिपूमितद्वयसंख्या कथ्यते- विदोपसंख्या कथ्यते । विदोप-संख्यामात्रमा(संख्यानाम) प्रमाणमादेवयम् । -

पठमक्खरसखाए, जाणसु णामक्खराण परिमाण ।

आर्लिगि[१ १ १ १]याइ तत्तो, एक्कोत्तरिया ह्वइ हाणी ॥ १९४ ॥

प्रमाणपत्तां प्रथमाक्षरस्य या संख्या ऋस्व(स)ति । अभिपूमिवा द्वे, द्वयपत्तिमा (स) संख्या ऋस्वति ॥ १९४ ॥

सेसं उ णामसखा, णिस्सेसमणतरस्स संखाए ।

तत्तो नामपमाण, पठमित्(छ)मेण णेयव ॥ १९५ ॥

जो दे(ये)त्र कवग्गकमो, चादीण सेसयाण सो चेव ।

धग्गाण होइ गमओ, जाव ण केण(णा)वि संजुत्तो ॥ १८८ ॥

प एव संख्यां प्रसि [क]र्गोस्य क्रम[ः], स एव चादीनां वर्णानां क्रमो ज्ञेयः । खरेषा-
क्षरेण वा असंयुक्तानां अनभिहृतानां चेति ॥ १८८ ॥

जावतिया सजुत्ता, पत्ते पत्तेसि(वि?) मेलिया सखा ।

आलिं गियाइ तत्तो, विमुद्धसेसा ह्वइ सखा ॥ १८९ ॥

खरेषाक्षरेण वा मुक्ते(क्षो) वर्णेन वा अमलो वाऽनंतरमवहितेन पः पूर्वाक्षर[ः] स
संयुक्त इत्युच्यते । स संयोगो येन कृतः स आ[प १९ पा १] अङ्ग्यमाङ्गिकयति, अविभू-
त(वि)तम्यमभिभूत[प]ति, इत्यर्थं दृष्टीति । आलिं गियामिभूमितवग्गप्रकारात् पूर्वोष्मः ।
* आलिं गितामिभूमितवग्गानां मध्ये यो(पा) विद्यते संख्या तां सो(क्षो)पयित्वा विमुद्ध(आऽ)पति
(धि)ष्ठा संख्या भवति तथा देस(सः) कार्यः प्रमु[ः] सा भ[प १९ पा २] उच्यते ॥ १८९ ॥

एक[क] तिय तिय दुय दुय, चत्त चत्त पण छक्क सत्त वस(सु)इ ष ।

कमसो अक्खरमाणं, अवग्गजोए ककाररस ॥ १९० ॥

एवं सर्ववर्णेषु ज्ञेयम् । एक[एकः] ए(त्रि)कः [त्रिकः द्विकः द्विकः] चतुष्कः चतुष्क
* पचा(च) वद् सप्तादौ अकारादिभिः खरैः सविसर्गाक्षरपर्यन्तेष्व(क्षैर्द्वौ)त्रयमिरम्बितानां
ककारादीनां अक्षरानां ज्ञेया संख्या क्रमेण पापद् द्वादस इति ॥ १९० ॥

एमेव(वो) [प १ १ पा १] सेसाण, खाएही(वी)णणुणासिय(या)वसाणाणं ।

णामपमाण(णं) कमसो, उत्तरवट्ठी(ट्ठी)ए नायबो(बो) ॥ १९१ ॥

एवमेव ज्ञेयाणामपि यथा ककारस्य अकारादिद्वादसखरयोगेन संख्या विहित्वा तथा
* आदीनामपि अहुमप्रसिद्धपर्यन्तादि(नां) नामप्रमाणं कमसः(क्षः) । वचो(वो?)परद्वय(क्षा)
द्वादस्यमिति पूर्वगाद्यायाः प्रसंगेनोक्तमिति ॥ १९१ ॥

बो(जो) षेव[प १ १ पा १] कवग्गकमो, होति उ सो चेव सेसवग्गाण ।

णामपमाण(णं) गमओ, अवग्गजोएण निप्पओ ॥ १९२ ॥

प एव कवर्गस्य क्रमो भवति स यथावसि(सि)ष्टानां चादिवर्गानां सवर्गपर्यन्तानां नाम-
* प्रमाणे गममतां अक्षरयोगेन निष्पन्न इति । अकारादीनां अक्षरानां द्वादशानां संयुक्तानां प्य संख्या
सा पूर्वगाद्यायाः प्रसंगेन उक्तव्याता ॥ १९२ ॥ [प १ १ पा १]

जह उ अवग्गोण सम, कवग्गमादीण सद्ध(स)वग्गाण ।

एव थिय संजोओ, परोप(प्य)रं सेसयाण पि ॥ १९३ ॥

उक्तवैध गाद्या । यथा अक्षरेण सह कवर्गादीनां सप्तानिनां(सप्तानां) वर्णानां संयोगो(णः)
* एव[थिच] परस्परं(रं) आदीनां द्वादशपर्यन्तानां अक्षरानामपि संयोगो ज्ञेयः ॥ १९३ ॥

वक्राण(२)हराण(३)भिषातशुद्धायाः (इ या) शेषा समानाभरसंख्या निर्विज्ञा(हा) बरा
पूर्वाभरो(रा)भिषाव(ते) म सफल(छा?) शुद्धयति तदा तस्याः[?] पूर्वस्थानम्हराभिषातशुद्धायाः
(इयः) शेष[?] त[नी] नामसंख्या शेषा । तस्याप्तामाभरस्य [१ १ ५ २] प्रमाण क्रमेण
घातम्पित्युच्यम् ॥ १९५ ॥

पढमो(मा) तद्वया सपत्कराओ थोव च संखमिच्छति ।

वितिय-चटत्या तेसिं, विपत्करा ते य ग्रहुसखा ॥ १९६ ॥

प्रथमाः— क च ट त प य शाः । वृत्तीयाः— ग ख ङ द य छ साः । तेषां सपत्कूर्धन्ति ओ(स)-

भकरा[?] शुभेस्व(ध)परिधायाः प्रभूः । फालतस्तु स्वस्वफालं भवति । तद्वह्ले प्रभेऽस्पनामाभर
संख्या शेषा । द्वितीयो वर्गः— च छ ट व फ र पाः । पतुर्धो वर्गः— प झ ङ ष भ ष हाः । एते
विपक्ष(स्व)रा अष्टमकरा म छमकरा इत्यर्थः । अस्पष्टस्य पदुक्तसिद्धं च कूर्धन्ति । तद्वह्ले प्रभे
गह्वरी नामाभरसंख्या घातव्या ॥ १९६ ॥

एत सराण गमओ, वग्गाण सत्तमट्टा(ट्टुमा)ण च ।

यिसमन्तरम(व)ग्गाण, चरिमाणं थोविआ संखा ॥ १९७ ॥

एष स्वराणां विधिरिति यद्(दु)च्छ इत्यस्यराः संपत्करास्ते महर्ति(ती) विमूर्ति कूर्धन्ति ।

छामकराद्य । नामसंख्याकरास्य (हराद्य) स्वस्वां कूर्धन्ति । शेषस्यरा विपत्करा अष्टम
कराः । नामाभरसंख्या महर्ति कूर्धन्ति । अगुमेवाथ पूर्वोक्तं निर्विशति । एष स्वरवर्ग उक्ताः ।
कार्यस्तु र्षप चाम्ये वगा उक्ताः । सप्तमवगास्याष्टमवर्गस्य च वर्गसंख्या इह(हे)षोष्ठा
ऽष्टवर्गक्रमे । विपमाभरवर्ग ये, क ? क च ट त प य शाः, ग ख ङ द य छ सा ख(झ) । चरिमा
ख(भ) । र्षपवर्गेण 'ङ ष ण न ना' ख(झ) । चरिमो च 'अं अः' अनयोरप्यस्वसंख्या शेषा ॥ १९७ ॥

जे जे जहा सपक्खा, तेसिं दोण्ह पि मेलिया संखा ।

अभिहयमुद्धा दुगुणा, फाऊण निदि(दि)से सखा ॥ १९८ ॥

प्रभादी योऽभरस्य ये स्वपक्षा उच्यन्ते । येरभिषात[१ १ ५ २]स्याभरस्य तत्

दृ(कि)पते । न चानभिषातकः । स्वयदितोऽस्यपदितस्तु न शोपाः । तयोद्वयोर्मिलितयोर्द्वयं संख्या
तथा(या ?) नामनिर्वेष्ट[?]भवः । इत्यापाद्यकारिकाया व्याप्यानम् । एतत्तु विद्वदम् । पठ आराउ-
च्यम्— "पढमन्तरसंसाए आने नामकराच परिमाण । आसिगियाउ तपो, एकतरिया इवह हार्थी ष"
इत्यनेन । उच्यते— अत्र चरगर्वसिद्धितो यो(ऽयं) विधिः । इह स्वपरपवादा(स्वपवादा) ।
चरगवापवादाच त्तोपरेष्ट [१ १ ५ ५ १] इति । प्रागर्द्धमाभिदि(द)स्य पक्षे इवसंख्यायोगे
संख्या नामाभरणाममिहता । यथा स्वपक्षो अभिह्नो भवतस्तदा तत्रभिषाते अभिषातोक्त-
संख्या(पत्तो) विद्याप्य शेषा(सं) द्विगुणीकृत्य तदा प्रमाण (वत्प्रमाणो) नामनिर्वेष्टः कार्यः ॥ १९८ ॥

परपक्षयाण संखं, अभिहयमुद्धं परोप्परं गुणाण ।

मुण्णेण(ण) विदिऊण, दघाण निदिसे संख ॥ १९९ ॥

यथा पातु-मूय-वीप-संख्या विद्यातव्या । द्विपत्परिमाणमिति । तदा स्वपक्षसंख्या मंत्री(गी)-

दृ(कि)पते । परपक्षसंख्येतादी(दी)र्द्धसंख्या । अत्राप्युच्यते(च) एष विधिः । प्रभादी योऽभरः,

बोऽभिधातकः । तस्य यो व्यवाहितोऽभ्यवहितान्यः । अयम्यवहितोऽकृता(तोक्ता)भ्यामभिधातसु(छि)-
द्याभ्यां परस्परं गुणिने(ते)ति संख्यारूपमिबोध्यते । परस्परं संख्या [याः] एकपिंडमापाद्य वस
(स)मिर्गुणय(दि)त्वा प्रमुद्र(द्रं)व्यसंख्यानिर्देशः कार्यः ॥ १९९ ॥

बहुसख-अप्पसखा, वट्ट(डु)इ हाइति य अप्पसखाओ ।

सोहे [प १०९ पा १] तु अप्पसख, दद्वाण निइ(हि)से सख ॥ २०० ॥

अथ ब्रह्म अत्य[बहु]संख्याया आनयनोप(पा)यः प्रकारान्तरेण कथ्यते-सकलां प्रमां
एव । बहुसंख्या द्वि चतुर्थ-बगाहराः, अल्पसंख्या प्रथम-द्वितीयबर्गोहराः । तेषां विद्यमानाभि
धातुद्वय(श)नामभसि(शि)ष्टसंख्यापिंड स्थापयेत् । बहुसंख्यानामपि विद्यमानाभिधातुद्वयानां
संख्यापिंडमवस्थापयेत् । इयोरनयोः संख्यापिंडयोर्मां यत्र मुद्रति तां [प १९ पा २] यत्र
सोव(शोष)यित्वा या परिशिष्टा नां(तां) शून्येन विद्या ब्रह्मसंख्या ज्ञेया ॥ २०० ॥

जह् चैव द्दसखा, भणिया तह् चैव कालपरिमाण ।

एकमणसो करेज्जा, पुष्ठाइतिउ(रिओ)त्रएसेण ॥ २०१ ॥

यथैव ब्रह्मसंख्याऽभिहिता तथा तेनैव प्रकारेण तथा ब्रह्मसंख्याया[ः] कालपरिमाण
कुर्यात् । अनन्यमहानैमित्तिः(त्तिक)पूर्वाचार्योपदेशेनेति । तत्र कालपरिणाम(माणं) कालप्रकरणे
यथा बह(स्य)सीति नोक्तमिहेति ।

अन्ये पठन्ति 'तद्देव कालपरिमाण' यथा ब्रह्मस्य कालपरिमाणं उपनयापचयं वा प्रति ।
यथा षष्ठः(ष्टु) [प १०० पा १] आयु[ः]प्रमाणमपि वक्तव्यम् । तदुच्यते-देवकीं(वैविकीं) प्रमां
परिगृह्य मानसि(मुपी) वा सैवाकाशप्रमोच्यते । प्रष्टु(अं)भ्रमकर्मनक्षत्रसंख्यामभिधातुद्वयमेकत्र
संविध्य बिसो(बिसो)चरु(श)वमप्यात्सो(च्छो)प्यः । शेषं मध्यः । परमायुरेकाते स्थाप्य व[ः]
प्रलेकं गर्भेरि(क)भ्रसंख्यां मेळयित्वा । स च एकोनविंशत्तमो प्राज्ञः । प्रमाय प्रलेकं यो(या) यत्र
दृष्टति तां विशोप्य फस्ते(च्छे)पं तत्पूर्वकल्पपरमायुम(र्म)व्याच्छोप्यम् । षष्ठना(ष्टुना)माह्वर्यं
सकलरूपं गणयित्वा छो(सो)भयेत् । शेषः स्फुटः परमायुःविंशक इति । [प १०० पा २]
गणकाशपरिधानाथ उच्यतेनक्षत्रसंख्याभिधातुद्वयं संविध्यैकत्र द्विगुणं कुर्यादेकान्ते अवस्थाप्य
ततः अमकर्मगर्भेरी(क)क्षाघातसंख्यामभिधातुद्वयं संविध्य(व्या)नन्तरं द्विगुणीकृत्य संख्यां
विशोप्य (ः) मूय सकलां मामाह्वर्यं सो(शा)पयित्वा शेषेण अतीतकाल इति । परमायुःविंशति
क्षोप्य शेषमागा[प १०० पा १]मिमी भवतीति । एव नैमित्तिकपूर्वाचार्योपदेशेनानन्यमानां
(ः)प्रायुष्यमानं कुर्यादिति ॥ २०१ ॥ तथा लेखाहरसंख्यापरिधानार्थम्-

अक्खरमीस दुग(गु)ण, वगोयस सदा पयच्छेण ।

पणपण्णभागसेस, तमि गुणा म(अ)क्खर जाणे ॥ २०२ ॥

प्रभाह्वर्यां या वस्य स्वरसंख्याऽभिहिता तां संख्यां सकलामेकीकृतां द्विगुण कृत्या ततो
बर्गयित्वा[प १०० पा २] वृच्छा(प्रस्था)पयेत् । तस्य च द्(म)व्यापितस्य इ क्रिय भयनः । तत्रैका
लेखाहरसंख्यापरिधानक्रिया, द्वितीया च बगानयनक्रिया । यत्र तावत्(त)गार(श)रस्य संख्या-
क्रिया भवत्ये-बर्गये(गवि)त्वाऽऽपि स्थापितं माह्वर्यमसिउस(रपा?) पचपचास(स)त्रा भागमपदात्

पञ्च(ड)भ्यं तत्पृथक् स्वापयेत् । तस्मिन् प्रथक् स्वापिते पूर्वविंटीकृत(वा)हरसंख्यां शोषयित्वा पञ्चपञ्चाशत्तथागावसि(क्षि)ष्टाञ्च तत्रैव क्षिप्त्वा छेत्ताहरसंख्या भण्यन्ते ।

सो(सा)म्रतं कवर्गादिबर्गानयनक्रियोच्यते—तत्र पूर्ववर्गित् [१ १ पा १] मन्वत्कारितं, तस्य पञ्चपञ्चाशदा भागमपह्नु(हा)त् पञ्च(ड)भ्यं तत्पृथक् स्वापयित्वाऽवशिष्टस्य चाष्टमि
 मा(मा)गऽपह्नुते यञ्च(ड)भ्यते तद्वर्गकक्षापक्षिपक्षमपरमवशिष्टं, तदपि कक्षापक्षिरेव बर्गः ।
 पश्चात् सप्त द्वादशसि तदा स्वरो ऋच्यते । अकारपृथक्स्वापित अक्षरसप्ताधिकं यदि भवति तत्
 स[प्त]भिरेव भाजितव्यम् । त(स)दा न सप्ताधिकं तद्व्यति तदा तस्मापि कक्षापक्षिरेव बर्गः ।
 एवं मामसंख्याप्रमाणेन अयर्गान्(त्रु)स्वापेय(रये)त् मतिमन्विति ॥ २०२ ॥

॥ इति छेन्मर्गादिकाधिकारः(रे) सख्याप्रमाण [१ १ पा १] समाप्तम् ॥

दिणपक्वमाससवस्त(च्छ)रक्त्तरा जे ह्यति बहुसखा ।

तथ(प्प)ह स[त्ना] गुणए, तस्त सनामा ह्वह सखा ॥ २०३ ॥

कच ट त प य क्षाः— विपताः । र छ ठ भ फ र पाः— पक्षाः । ग ज ड द ब छ साः— मासाः ।

प ह ड भ म य हाः— संवत्सराः । क च ण म माः— मासाः । दिनपक्षमाससंवत्सराभ्यन्तमाहरणा-
 हुत्वे प्रभेदमिषात् शोषयित्वा रो(से)पा[१ १ पा १] मिका संख्या दृश्यते तां गणयेत् ।
 दिवससंख्या(त) इवगम्याधिकसंख्यस्य विवसेरेवावक्ति(भिः) भवतीति शुभाशुभफलादेशः कार्यः ।
 एष पक्षाश्रयणं, मासाश्रयणं, संवत्सराश्रयणं चाधिक्य(रये) संख्या बध्यतेति ॥ २०३ ॥

सत्तम-णयमे य सरे, सुष्ठदिणे पदम-ततियवग्गे य ।

थितिययवग्गे वसमे, सरे य पक्त्वो ह्वह घहुले(लो) ॥ २०४ ॥

सप्तमखरेण प्यारेण, नवमखरे[ज]तु उ(ओ)कारेण, क च ट त प य क्षा नां, ग ज ड द ब छ

सा नां वपरिगतेन केपठेन वा स्वापितेन दृष्टपक्षो भवति । द्वितीयो बर्गः— र छ ठ भ फ र पाः,
 ओ(तेन) उ(ओ)कारेण च दृष्टपक्ष आदेशयः ॥ २०४ ॥

अट्टमसरमि सवत्स(च्छ)रा ह वगे(गे) य तह य चउत्यमि ।

वरिमे घानुम्य(स)रेसु य, मासा अणुणासिये य तहा ॥ २०५ ॥

प ह ड भ म य हा नामभ्यत्वमाधिके प्रभे अष्टम[१ ११ पा १] खरेण केकारेण युक्तं, एका-

वा(एतेषा)मभ्यत्वमाक्षरे केबले प्येकारे यत्र यत्रावस्थिते यस्मिन् पृथग्वि तन् 'संवत्सरेण प्राप्यत'-
 इति बध्यम् । बहुमिषा इति । वरिमास्यां सविन्दु-विसर्गाभ्यां, यज्ज (वृद्धं ?),
 अनुनासिका इ च न माः, यमिरष्टेमास्या(मा) आदेशयाः । पूर्वोक्त्यायननि ॥ २०५ ॥

पदमे य सत्तममरे, पाडिबओ होह मुद्धपस्वरस ।

कायन्मरेसु सत्तमु, थिनियादी अट्टमी जाय ॥ २०६ ॥ [१ ११ पा १]

प्रथमम् अकारः । मन्वत्कारेण पकारः । एतद्व्युत्पन्ने प्रथम दृष्टपक्षस्य प्रतिपद्व्यति । कक्षा
 व्युत्पन्ने द्वितीया, पकारव्युत्पन्ने तृतीया, टकारव्युत्पन्ने चतुर्थी तथा चतुर्थे पञ्चमी, पक्षाधिकं
 षष्ठी, पक्षाधिकं सप्तमी, [सप्तम्यधिके अष्टमी ।] एष दृष्टपक्षः ॥ २०६ ॥

तद्गणवमे य सरे, पाडिवओ [५ ११२ पा १] होइ सुकपक्वस्स ।

गायक्खरेसु सत्तसु, णवमादी पुण्णिमा जाव ॥ २०७ ॥

द्वितीयस्वर इकारः, नवमस्वर ओकारः । एतद्व्यह्रुले शुद्धपञ्चस्य प्रतिपदा भवति । गकारवह्रुले प्रमे नवमी । जकारवह्रुले दशमी । डकारवह्रुले एकादसी (शी) । घकाराधिक्ये द्वादशी । षकाराधिक्ये त्रयोदशी । झकाराधिक्ये [५ ११२ पा २] चतुर्दशी । सकारवह्रुले पूर्णमासी ॥ २०७ ॥

अट्टम-वितिए य सरे, पाडिवओ होइ किण्हपक्वस्स ।

खादक्खरेसु सत्तसु, वितियादी अट्टमी जाव ॥ २०८ ॥

द्वितीयस्वर आकारः । अष्टमस्वर ऐकारः । एतद्व्यह्रुले प्रमे कृष्णपञ्चस्य प्रतिपदा भवति । ककाराधिक्ये द्वितीया । छकाराधिक्ये तृतीया । ठकाराधिक्ये चतुर्थी । फकाराधिक्ये पञ्चमी । चकाराधिक्ये षष्ठी । रकाराधिक्ये सप्तमी । पकाराधिक्ये अष्टमी । तस्यैव कृष्णपञ्चस्य ॥ २०८ ॥

वसम-वउत्थे य सरे, निदि(दि)ट्टे तह य कण्हपाडिवओ ।

घादक्खरेसु सत्तसु, णवमादी [५ ११२ पा १] सोलसी जाव ॥ २०९ ॥

दशमस्वर ओकारः । चतुस्रः स्वर ईकार । एतद्व्यह्रुले प्रमे कृष्णपञ्चस्य प्रतिपदा भवति । पकारवह्रुले नवमी । झकारवह्रुले दशमी । डकारवह्रुले एकादशी । घकाराधिक्ये द्वादशी । मकाराधिक्ये त्रयोदशी । बकाराधिक्ये चतुर्दशी । इकाराधिक्ये अमावास्या । एतास्त्रैव कृष्णपञ्चस्य ॥ २०९ ॥

पचमवग्गे पचम-सरे [य] एकादसी तहा होइ ।

अणुणासिएसु दोसु वि, सेसा तिहिणो य चचारि ॥ २१० ॥

पचमो द्विभ्यावः । अतः उभयपञ्चस्यापि शुद्ध-कृष्णास्यस्य ग्राहको भवतीति । पचम-प्रातिपदा इकारः [५ ११२ पा १] व्यह्रुले प्रमे उभयपञ्चस्यापि पचमी । ओकाराधिक्ये षष्ठी । ककाराधिक्ये सप्तमी । षकाराधिक्ये अष्टमी । गकाराधिक्ये नवमी । मकाराधिक्ये दशमी । नकारवह्रुले एकादशी । अकारः सानुस्वारः, तद्व्यह्रुले प्रमे द्वादशी च त्रयोदशी । अकारः सविसर्गः, उह्रुले प्रमे चतुर्दशी पचदशी वेति । एतास्त्रिभ्यो द्विभ्यावत्ता (त्वा)द्वयपञ्चस्य विधेयाः ॥ २१० ॥

त्रितिया अणुणासाई, एव तिहिणो कमेण चचारि ।

दिट्ठमि कण्हपक्खे, एव तिहिणो य(प)विभागो य ॥ २११ ॥

उत्तमं वा अतिदेशार्थकारिण । पूर्वोदष्टे च कृष्णपञ्चे शुद्धपञ्च च । पचमुत्तम्यायेन त्रिपीनां प्रविभागः कर्तव्य ॥ २११ ॥

संयत्स(च्छ)रंमि दिट्टे, वितिए घग्गमि [५ ११२ पा २] जाण हेमत(त) ।

तद्दयमि गिम्हकाल, चडत्ते(चउत्त्यण) पाउम जाण ॥ २१२ ॥

संबन्धराश्वरे प्रभाश्वरानामार्हं दृष्ट द्वितीयपञ्चगाश्वरे च तन्पानम्भरं अत्रतो दृष्ट इमंतकालो दृष्टव्यः । संबन्धराश्वरः—पञ्चदशमवदशा, द्वितीयपञ्चगाश्वरः—एव उ उ ष फ र पाः । तस्य

संबत्सराक्षरस्य प्रभाक्षराणामाद्यौ श्वितस्य यथा ग ज ङ ष ष स सा नामन्यतमाक्षरोऽनन्तरमेवाप्रतो
दृश्यते यथा प्रीष्मकाळ आदेश्यः । तस्य संबत्सराक्षरस्य आद्यौ श्वितस्य यथा प क्ष ङ ष म ष ह
नामन्यतमाक्षरो दृश्यते यथा प्राहृद्काळो वाच्यः ॥ २१२ ॥

पञ्चमममि य धरिसा, वसतकाल च पढमकादीसु ।

आयक्त्वरैसु पचसु, सरओ सेसेसु चढ(उ)थ पि ॥ २१३ ॥

तस्यैव संबत्सराक्षरस्य, प्रभाक्षराणामाद्यस्य [प ११५ पा २] ङ ष ङ म मा[ना]मन्यत
माक्षरो यथाऽनन्तरमेवाप्रतो दृश्यते यथा ऋषीकाळो(ऋः) । तस्यैव संबत्सराक्षरस्य प्रभाक्षराणा-
माद्यस्य अ ए ऋ ष ट इत्येतेषां पञ्चानाम[न]नन्तरमेवाप्रतो दृश्यते यथा षसन्तकाळो(षः)
आदेश्यः । तस्यैव संबत्सराक्षरस्य प्रभाक्षराणामाद्यस्य त प य मा(सां) इत्येतेषां षट्पुर्णा केचित्
मन्यते न ह्यार्या यकार-स(स)कारार्यां यथा प्रथमपञ्चके 'अ-य' खरद्वय न गण्यते । ऋ ष ट त प
इत्येते तद् गण्यन्ते । एषां यथाऽन[प ११६ पा १] उरमेवाभ्यतमाक्षरो दृश्यते यथा सरत्काळ
आदेश्यः । पीप-मापी हेमन्तः । फास्तुन-चेत्रौ वसन्तः । वैशाख-श्वेष्टी प्रीष्मः । आषाढ-आषाढौ
प्राहृद्काळः । भाद्रपद-अश्वयुजौ ऋषीकाळः । कार्तिक मार्गशीर्षौ शरत् । एवं क्रमः । गाथा-
बंधालुप्तोक्तयथा यथा तयोक्तः ॥ २१३ ॥

पढमस्त पढमतइए, फग्गू चित्तो य दोसु चार्हसु ।

दोस(सु) य कचियमासो, मग्गसिरो दोसु चरिमेसु ॥ २१४ ॥

प्रथमवर्गस्य प्रथम-द्वितीय-तृतीये च [प ११६ पा २] अ-य-क फास्तुनः । प्रजापौ ष्वव
श्वितैरि(ऋः)त्वाक्षरैरनन्तरयोऽर्चनां त्रयाणां मासाक्षराणामन्यतमो यथा दृश्यते यथा फास्तुनो मासः ।
एव क्रमेण यकार-टकारौ चैत्रः । तकार-यकारौ कार्तिकः । य-स(स) मार्गशीर्षः ॥ २१४ ॥

एमेव सेसयाण, उदुवग्गाण पच चउरो(त्या) य ।

मासक्खरा उ कमसो, पोसादी जाव अस्तजुज्जो(जो) ॥ २१५ ॥

जापेराछठ पीपः । यकार प मापः । इओगज ङ वैशाखः । ङ ष स ष्वेष्टः ।
ईओमक्ष ङ आषाढः । य म ष ह भावणः । [प ११७ पा १] उ ङ ष ङ माद्रपदः । न म
अं अः अश्वयुजः । एवं पीपान्तिरश्वयुजपर्यन्तमा[न]मिति । तत्र षट्पुर्णवर्गाक्षरा ये च बत्सर
अ(ः)मराः । पंचमवर्गाक्षराः ऋ ष ङ न मा मासाक्षराः । ते मासाक्षराः संबत्सराक्षराणामुपरि
गता अप्रतो वा ष्ववसिधामां दृष्टि । ऋषेपु तेपु वनाक्षरा मासाक्षरा भवन्ति । तेर्मासाक्षराः
कार्यः । अश्वयुजमासाक्षरश्च षपमवृत्तिः, समाप्तिश्च तस्य भाद्रपदमासे । एवं मासक्रमः उक्तः ।
अनेन छामाद्यम[प ११७ पा २]-मुत्तदुःख-गममागमन-जीवितमरण-महज्जातकामिषु संख्या
कल्पया प्रभाक्षरैः काष्ठ आदेश्यः सुसमाहितेन निमित्ते(च)दानव(क)तेति ॥ २१५ ॥

॥ काष्ठप्रकरणं समाप्तम् ॥

लामदि(ट्टि)यस्त लाम, वदिज्ज जइ उचरा हु अणमिहया ।

अहरेसु णत्थि लाहो, जे वि[य] अहराहरा चउरो ॥ २१६ ॥

[१ १८ पा १] अनभिह्वोत्तराक्षरबहुले प्रमे प्रष्टुम्(छा)म आवेश्यः । अक्षराक्षराधिके
नास्ति क्षमः । येऽपि चाक्षराक्षराः[ः] चत्वारः स्वराः प्रागुक्ताः[ः] तेऽप्यक्षरमकराः । 'आ ई ऐ औ'
स्वोपबिन्द्वेभ्यो क्षमो नास्तीति ॥ २१६ ॥

लम्भइ लह(ह्र) सजोणुत्तरेसु[प]रजोणि उत्तरे लाम ।

लम्भइ विलम्बियकाले, सपरिके(क्लि)प्त [१ १८ पा २] अहृएसु ॥२१७॥

उत्तरजीवाक्षरबहुले प्रमे क्षमिमेवमर्ष(र्ष) क्षिप्र क्षमते खजना[त्], तैरेव जीवाक्षरै-
रपिभ्ये प्रमे उत्तरमात्रक्षरमिभ्येपु उत्तरमूलाक्षरमिभ्येपु वा परस्र(स)काशाक्षमो वाच्य(च्यः) ।
एवमेव जीवाक्षानु-मूलाक्षरा[णा]मुत्तराणामधिकानां आङ्गिनिवामिभूमिधानां निरात् परिच्छेधेन
वाऽपिमेवार्थमर्षं प्राप्नोति । यतः कृ(ङ्)ठभिद(इ)ग्धेनैवास्ति क्षम इति ॥ २१७ ॥

जह् चैव य अमिघाते, तह् चैव य उत्तराहरेसु पि ।

घातुस्सरा य चरिमा, [१ १९ पा १] समावदीहा य अहरहृरा ॥२१८॥

शुभाशुभ प्रच्छतः अमिघातरा(वा)ङ्गिनिवामिभूमितवग्मलक्षण उत्तराक्षरेणाक्षरेण आङ्गि-
नितो(ते) वृत्तशतं सकाशादल्पछेदो भवति । प्रष्टुः उत्तराक्षरेणाक्षरो(रा)क्षरेणाभिभूमितं सत्यु-
क्तात् सकाशाम्भ्यमछेदो भवति । प्रष्टुः उत्तराक्षरेणाक्षरो(रा)क्षरे वग्धे सत्युक्तात् सकाशाम्भ-
रछेदो भवति । अक्षराक्षरेणोत्तराक्षरे आङ्गिनिवे धर्मादस्पष्टुःक्षमवाप्नोति । अक्षराक्षरेणोत्तराक्षरे
अभिभूमिते धर्म(मार्त्)मिभ्यस्य दुःखमवाप्नोति [१ १९ पा २] प्रोति । अक्षराक्षरेण उत्तराक्षरे वग्धे
धर्मान्माह[इ]दुःखमवाप्नोति । एव शुभाशुभ प्रच्छतो वाच्यम् । घातुस्सरो द्वौ 'इ ङ्', चरिसौ
'अं छः', कषणम माः । समावर्षीर्षाक्षयः स्वराः 'ई ऐ औ' । इत्येतेषां मध्ये 'ई औ'
अक्षराक्षरो(री) बहुवर्णप्रतिबद्धत्वात् । एते वाङ्मा वहन्ति, न क्षमं कुर्वन्त्यधिकाः प्रमे ।
वाङ्(वा)म पूर्वोक्ता एव ॥ २१८ ॥

अहरेसु अत्थि लाहो, जह् उत्तरवजणेण अणुवलिओ ।

अहरथलाणुयलेण, पुणो(?) भणिज्ज लाम तु गत्थि चि ॥ २१९ ॥

अह(थ)रेपु क्षमः प्रतिबद्धः अपि वावार्मं भवत्क्षरेषु क्षमो यद्यु[१ १९ , पा १] खरे
पठवलिषा भवन्ति । यथा स्वभयाः अक्षरानुबन्धात्का(क)शा मास्तेव क्षम इति ॥ २१९ ॥

जह् अक्क्षरअणमिहया, पण्हे दसीति उत्तरा लहुआ ।

तो भणसु रायलाम, अहृराहृरसजुए गत्थि ॥ २२० ॥

प्रभाषो उत्तराः अक्षराः जीवाक्षराः अनभिह्वता शुभ्या एवा नहवः, तथा क्षत्रियस्य
उर्यार्षिनो राभ्यक्षमः । छेपवर्णानां यथाक्रमर्षाक्षमो वाच्यः । योनिपि(वि)शेषावाक्षराणां
वया ईहयम् । 'अक्षराक्षर' इति अर्थो अक्षरस्वरपुकेर्नास्ति क्षम इति प्रागुक्तेभ्येति ॥ २२० ॥

लाममि पठमदिट्टे, [१-१९ पा २] तिबिह् कालं तु निदिसे तस्स ।

अतिगतमेस्स वट्टन्त पंचवग्गाणुमाणेण ॥ २२१ ॥

क्षमाधिकार एवायम्-क्षमे प्रथमं दृष्टे ए(वि)दिने काक्षमतीतमनागत वर्धमानं च ।
वर्गाण्यं परिणामेन निर्दिशेदित्येवत्सुत्रमुपरि ताथा(व)या व्याख्यासति ॥ २२१ ॥

पठमतइया हु वग्गा, वट्टते वितईअ(वियई)ओ अईअमि ।

सेसा वोमि वि वग्गा, कालमि अगामिय(य आगमि)स्समि ॥ २२२ ॥

प्रथमवर्गोद्धरणं प १२१ प १)ओं क च ट त प प सा नाम्, एतीयवर्गोद्धरणो ग ज ड द ब ड

सा नाम्, अम्यवमाधिके प्रभे वर्तमानकालमवगच्छ । द्वितीयवर्गोद्धरणो क छ ठ थ फ र पा जाम्य
वमाधिके अतीतकालमवगच्छ । श्लेषवर्गोद्धरणो घ झ ङ घ भ ष ङा नाम्, क ष ण न मा नां जाम्य
वमाधिके भविष्यत्कालमवगच्छ । षट्ठु च वर्तमानकालाधिके प्रभे प्रद्युब(र्ष)वर्तमानकालो(ठे)
छामः । अतीताद्धरणं प १२१ प २)बहुले प्रभे आसीज(? अतीताद्धरण)मः । भविष्यत्काल-
साधिके प्रभे भविष्यति छामः ॥ २२२ ॥

जा जस्स पुद्मणिया, जोणी तस्सक्खराह् लक्खेज्जा ।

तस्सेव वदे लाम, वा पाविय णिहिसे तेणं ॥ २२३ ॥

या अस्य जीव-आहुमूखानां बोलितव्यं तस्याभिविधाया षी (बोने) प्रभाद्धरणं मध्ये
पदा जीवाद्धरणं अजिका भवन्ति तथा जीव छम्यव इति [प १२१ प १]प्रघावा(हुर्वा)व्यम् ।
द्विपद-अहुप्यवस्व वा अद्धरासुमानेन पूर्वोक्तक्रमेणैव श्लेषम् । एवं वा(हु)स्वद्धरा वरा
पद[ः] तथा आहुं प्राप्त(व्य)तीति प्रद्युवा(र्वा)व्यः । यदा मूलाभिकाः, तथा मूलव्य-
मवातोतीति वच्छम्यम् ॥ २२३ ॥

तथा वच्छम्य इति गाथान्तरेणाह—

पण्डुक्खरेसु पढमो, जारिसओ उदिसिज्ज जीवाई ।

तारिसयस्स य लामो, दायाति य [प १२२ प २] णिहिसे तेण ॥ २२४ ॥

वच्छम्येव गाथा ॥ २२४ ॥

पढमाह् घमणाण, घीओ वग्गो ह्वइ भेसाण ।

तइओ य खत्तियाण, सुहाण सेसया वोण्णि ॥ २२५ ॥

प्रथमवर्गोद्धरणं क च ट त प प सा नां अम्यवमाधिके प्रभे ब्राह्मणसकालासामो(साम)
अनेत्याः । द्वितीयवर्गोद्धरणं ग छ ठ थ फ र पा जं अम्यवमाधिके प्रभे वैश्यास(हा)भो वच्छम्यः ।
एतीयवर्गोद्धरणं ग ज ड द ब ड सा नामम्यवमाधिके प्रभे क्षत्रियास(हा)भो वच्छम्यः । श्लेष-
वर्गोणां घ झ ङ घ भ ष ङा नां आहुस्वे तथा आहु[त्] सामो वच्छम्य [प १२२ प १] इति । क ष
ण न मा [र्वा] अम्यवतमबहुले संकरजातीयस(हा)म इति । अश्लेष जातीयका वच्छ पच्छ व
वच्छम्यम् ॥ २२५ ॥

अये(प्ये)वि यणमिहया, वण्णिया (गिगय ?) वग्गा(ण्णा ?)सवग्गसजुत्ता ।

अमिहयपरसजुत्ता, णीया (णय) ह्रीणाहियसमा भणिया ॥ २२६ ॥

अतमिहयाः सर्ववजाद्धरणः वावसि(हि)णो भवति । तेः प्रभाधिके छामो भवति । ये पर
पा(त्य)रमभिप्रगित । क च ट त प प सा [भे]रपरिगतैः, प झ ङ घ भ ष ङा नां च ग ज ड द ब ड री

परिगतैम(मं)वति । स्व[र्]गसंयोगः । तद्गुह्ये प्रभे कामो भवति । ये परस्परमभिप्रति । स
 चामि[प १२१ प २]पावकविधिः । आर्द्धिगितादिकः पूर्वोक्तः । योऽसौ भ्रता तदभिप्रातेन
 वस्मा(गो)ः कदाचित्संस्पर्शया हीना[ः] कदाचिर(व)षिका[ः] कदाचित्समा भवति(न्ति) । पक्ष-
 (ति)न जमिम(ह)र्मते(ी) । हीने(ी) फलछाम[ः] प्रभे समे ईपस्फळ भवति । दृष्टैरधिकैल(अ)
 फलमावः । पक्षमेति(मिः) दृष्टद्योपैः दृष्टमाह्वमसम्भवावैश्यम् ॥ २२६ ॥

पदम-तद्गुह्य(ज्जे) वर्गो, होह [प १२४ प १] सुही बुधिस्रजो धी[य]-वत्तये ।
 पक्षमपु पुण धगो, सुह-दुक्त्वे(कृत्वं) मज्झिम तस्त ॥ २२७ ॥

प्रथमवर्गः-क च ट त प य हा । तृतीयो वर्गः-ग ज ङ व ष ङ साः । पयामहरणां वाहुस्ये
 सुकविद्वयायां प्रभु[ः] सुकसामो भविष्यति सुकामान्ति(मि)रिज्यः । द्वितीयवर्गः-क छ ठ थ फ र
 पाः । चतुर्थो-घ ङ ङ ष म य हा । रे(र)तेषां अहरणां वाहुस्ये मद्गुह्य(दुठ)त्यातो [प १२४ प २] ॥
 द्वेवः । दु(व)त्पा[ता]गमो वा भविष्यतीति । पक्षमवर्गो-क ङ न न माः । तेषु च [सुल]दुर्ल
 मस्यमनवाप्सोति । पक्षमद्यो सुक-दुःखी (कामि ?) वा तत्राप्ये(मो)ति येव(पथं) वाच्यम् ॥ २२७ ॥

धीय-वत्तया धग्गा, दिहा इच्छति सुयद्दु आठ [च] ।

पक्षमद्यो पुण धगो, ममि(अ)मआठ सया इच्छे ॥ २२८ ॥

द्वितीयवर्गः-क छ ठ थ फ र पाः । चतुर्थः-घ ङ ङ ष म य हा । पतेपाम-
 हरणां वाहुस्ये आयु[ः] पृच्छतः, आयु[ः] मष्पु(म्)व बच्छम्यम् । फळ कामादिकं पृच्छति(तः)
 अत्य बच्छम्यम् । पक्षमवर्गाहर[णां]-क ङ न न मा पां वाहुस्ये मष्पमायुः पृच्छकृत्, कामप्रभे
 मष्पमो कामो वाच्यः ॥ २२८ ॥

उत्तरसरसयु(जु)त्वा, सद्ये अप्याठआ फलमुर्वेति । [प १२५, प १]

अहरसरसजुत्वा, तुह (सुघहु) इ(य)च्छति ते आठ ॥ २२९ ॥

उत्तरसरः पूर्वोक्तैः संयुक्त उत्तरसरः प्रथम-तृतीयवर्गायाः । तद्गुह्ये प्रभे यति
 कामादिकं फळं पृच्छति तेषां प्रभूत फळ भवति । येऽप्यायुः पृच्छति तेषामत्यमायुर्भवति(ती)-
 लादेश्यम् । व पक्षादिका उत्तरसर अहरसरसयुक्त आयुप्रभे प्रभूतमायुः प्रयच्छति । फळ-
 प्रभे फळं चात्य कामादिकमिति ॥ २२९ ॥

अहव विसण्णो आयुमि होह सुन्देसु काह्माईसु ।

सचण्ह मेसममा(वसा?)वि सरसंजुत्तेसु विवज्जासो ॥ २३० ॥

पक्षवर्गव्यायेन स(सा)मान्यतः फळं पृच्छकस्यायु[प १२६ प १]मोक्ष[म्] । अह
 वर्गव्यायेन छत्रमुरपाद्य आयुर्बिभागो नष्टविभागो नष्टजातकमिति बच्छम्यमिति । कापानि
 सप्तवर्गेषु दृष्टेषु मेपादिराशयः । सप्त कथं ? । प्रभाकरं शृङ्गा आषकरं जवत्वा द्वितीये 'क च
 ट त प य हा'या(दि)धगाहरणां वर्गोन्वयत दृष्टमात्रारहितं यद् वर्गमध्य याति दृष्टं स रासि(दि)-
 हरपादिः । तत्र प वर्गं यति (यत्)मो वर्ण[ः] तमि लिता(कडा?) शोष्या । पक्षं स(स)को वर्णः । वर्णं
 पट्टाः सो(शो)ष्याः । मुख्यमानस्य वर्णप्रमाणेन पट्टाः शोष्याः । पट्ट(वर्ण)मस्य पक्षमो रेफः, स-
 ति २३० ॥

[सम]वर्गज्ञ सकारः, अ ए ट ट अ [५ १२६, पा २] वर्गाद्य इतिवादिनाः । एते अन्तः संतस्तवैव
 कुर्वन्ति । एवं अरयुजा आधतज्ञानेन [वि?] पर्ययो ब्रह्मणः । एव वर्ग(ती)भानं उभ प्रभाकरै-
 क्तवापते । ततः सिद्धाह[र]राक्षिसुसध(त्याघः ?) । कर्त्तुं ह्यद्वय एता द्विगुणीकृतान्ताप्यन्य-
 प्रभया इत्यक्तसंभवा सिम्भया गुण्य जातं अतएव अत्वारिह[५ १२७ पा १] अथिह सिद्धरासि(सि)
 १० ज्ञाप्य प्रभागतज्ञाना[र] विज्ञोभ्य शेषमाग ककारगर्भेण काक्षिबर्गाहकगुणेन कर्त्तुं एतन्ते
 स्वाप्य, रूपमेक शेषवर्णाकानां यथादृष्टां(ष्टं) ज्ञाप्य, पश्चिमेह वाऽवस्ताप्य, उपरिबर्णराक्षिसव
 र्भ(?) पश्चिर्ष्वभिगु(गु)ण्यं तेन भागोपरि राक्षे[?] कर्त्तव्यं वर्णानि । शेष एतद्युज कर्त्तव्यं मा-
 सा[?] वाह्यरूपवर्णगुणे विनासि । 'अ ए ट ट' अतएव अत्वारिह[५ १२७ पा २] अथिहः ।
 एतद्वर्णिकमेव ज्ञाप्य ककारगर्भेपद्वर्णगुणाद्विज्ञोभ्य एतद्वर्णस्य प्रथम-मध्यम-द्वितीयावलां
 ११ विज्ञा(ज्ञा)म आत्वादिभ्यर्भं दैवम् । विज्ञो वा अहवर्गं वे आद्यस्तपादे बह्वर्णाशेषोपवतो वा
 १२ एतौयवृत्ता(ज्ञा)यां 'अ ए क च ट त प व ह' वर्गं शेष्य वाऽव(प)र्षीर्षं वा । एवमाहुस्वा वावदि-
 (वि?)मित्तकर इति । वावतस(स) पर्यया आत्वादि[५ १२८ पा १] अ(त्रि)कस्य वक्रवक्रसंस्तु
 ह्युपसि(सि) प्रक्षिप्यन्ते वा वावद्वर्णशेषोपादोऽन्वसावायोवज्य(?)सावसि बुद्ध्या पातो वैशो
 वा । एवं एतद्वर्णादीतः कर्त्तुः स्फुटः । आगामिकावपरिज्ञानार्थं ए एपः अति(ती)तकसः,
 १३ एपः अतएवगुणाकारः, गर्माहिसो(सो)भ्य वर्णानि । इदानीं तस्मादाव(ती) वसा(ज्ञा) विमार्ग-
 सा(ज्ञा) प[?]ति वावति(ती) इह श्रेत्राक्षिप्रेषु पाप्मा । [५ १२८ पा २] इह शेषवर्णादि-
 वर्णादि(ग)व्य वमपयोगे सर्वे(र्षं) वर्णाप्रसिति (?) ॥ २३० ॥

आठमि जो वियणो, काले देसे य होइ सो चेव ।

अणुणासिया य सबे, चरिमा सेसा समा मणिया ॥ २३१ ॥

१४ आयुवि वा क्रमोऽभिहितः स एव काखो(सि) वक्ष्यः । अचराक्षरैरथिकैः क्षिप्रं क[?]तीति
 वक्ष्यन्तम् । अचराक्षरैरथराक्षरान(जुवा)क्षितैः, दृष्टि(दृ)रथिकैः स(वि?)रेव प्राप्सतीति प्रज्ञा
 वाच्यः । ऐसो(सो) माम-विपयानिहस्यः । मामानिकस्य ज्ञानो भवतीति प्रभे अचराक्षरैरथि-
 कैर्द्वयैः [क्षिप्रं] अचराक्षरैरथराक्षरानुक्षितैः [५ १२९ पा १] क[?]रिण ज्ञानम् । अचराक्षरै
 व्यापिकैर्नासि ज्ञानम् । अनुनासिकाभ्ररिमसंज्ञाद्यैः समो ज्ञानः स्वोमिगुणतुल्य इति ॥ २३१ ॥

॥ साभगडिकाप्रकरणं समाप्तम् ॥

इत(तइ)य-मदमेसु य जल, धीय-वउत्यैसु अप्यपाणीयं ।

पचमए पुण वमो, णत्थि जल चेव णायह ॥ २३२ ॥

प्रथमवर्ण-द्वितीयावलां अचराक्षरैः प्रभे मालि अस्मादेवम् । या मात्रा [?] स्वर्णाप्रसि
 वदा वाभिरप्येवमेवेति ॥ २३२ ॥

१५ पठम-तइएसु [पर]मा, धितिए मज्जा उ सस्ससपची ।

अउ-पचमए आयरिए (?) णत्थि सस्स ते(ति) जाणेज्वा ॥ २३३ ॥

प्रथम-द्वितीय[५० ११९ पा० १]वर्गाक्षराधिके सस्त्रनिष्पत्तिः षट्कृता । द्वितीयवर्गाक्ष-
राधिके मध्यमा सस्त्रनिष्पत्तिः । त्र्युर्ध्ववर्गाक्षराधिके श्लोकं निष्पद्यते । पञ्चमवर्गाक्षराधिके श्लोक-
मपि नास्ति सस्त्रम् ॥ २३३ ॥

पठम-तद्व्यमि धग्गे, सहस्रण तद् य धीयए असई ।

चउत्थ-पचमए धग्गमि(ग्गे) णत्थि सह चिय णायद्वा ॥ २३४ ॥

प्रथम-द्वितीयवर्गाक्षराधिके प्रथमे महती सती ज्ञेया । द्वितीयवर्गाक्षराधिके प्रथमे मध्यमा
सती ज्ञेया । त्र्युर्ध्व-पञ्चमवर्गाक्षराधिके प्रथमे सतीरेव नालीति निष्पत्त्यभावात् ॥ २३४ ॥

॥ धर्गस्य [५ ११ प १] गङ्गिका समाप्ता ॥

आदा पुस्तो [य] महा, हृत्यो चित्ता तद्देव [साई य] ।

जिह्वा [मू]लो एए, इ(इ)अक्खरा अट्ट नक्खत्ता ॥ २३५ ॥

आर्द्रा-मुष्प-मथा-इच्छ-चित्रा-स्तावि-भ्येष्ठा-मूष्ठा अष्टौ रे(ऽप्य)क्षराणि नक्षत्राणि ज्ञातव्यानि ॥

अस्तिणि मरणि तद्द(य) किच्चिय, रोहिणि ऋणिदेवया विसाहा य ।

रेवय सयण घणिह्वा, तिअक्ख(क्ख)रा णव उ नक्खत्ता ॥ २३६ ॥

अधिनी-मरणि-कृषिका-रोहिणी-अस्तेपा-[विज्ञाता]-मथण-मरि(मि)ष्ठा-रेवय इति नक्ष-
त्राणि अ(अ)क्षराणीति ॥ २३६ ॥ [५ ११ प १]

मिगसिर पुणव(व)सु थिभि, पुद्वासाढाणुराधजलदेवा ।

एए पच वि र(रि)क्खा, चउरक्खरनामया भणिया ॥ २३७ ॥

भृगसि(मि)रः पुनर्भृगुः पूर्वाषाढा अक्षराया अतमिया एतानि पंच नक्षत्राणि [चतुर-
क्षरनामकाणि मणिषाणी]ति ॥ २३७ ॥

भृगदेवा वृगदेवा, रिक्खा पचक्खरा दुवे एते ।

अट्ट(ज्ज)म-विस्सा छक्क, सत्तक्खवि(रि)याहिच्चुच्ची(चन्नु)या ॥ २३८ ॥

पूर्वाषाढाणी चत्तराषाढा द्वे एते अभाब(भेऽ)पि पंचाक्षरौ(रे) । अर्धमरेवता-चत्तराषाढाणी,
विश्वदेवता-पूर्वाभाद्रपदौ एतौ पञ्चक्षरौ । अक्षिचन्नुः चत्तरभाद्रपदा असाक्षरा ॥ २३८ ॥

दो[अ]क्खरमाधीण, णक्खत्तग(त्ता?)ण [कमेण ?] ठावेउ ।

पण्हाइमसंज्ञाए, [५ १११ प १] णक्खत्तगणं वियाणाहि ॥ २३९ ॥

अक्षरादीनां नक्षत्राणां चरा(ता)क्षरपर्यन्तानां कमेण स्थापयित्वा प्रसाक्षरणां आधक्षर-
संस्थपयाऽभिषावद्वया नक्षत्रगणमभ्या नक्षत्रगणं ज्ञानीति । अक्षरं अक्षरं चतुरक्षरं पंचाक्षरं
पञ्चक्षरं असाक्षरं चेति ॥ २३९ ॥

अधरुत्तरच्छमेण, पच्छा अहरुत्तरेण सद्धान् ।

णादुण(दूण?) तवणाम, जाणेज्जा णामकरणाण ॥ २४० ॥

अथरा उच्छः, उच्छ अमुच्छ एव । प्रमाद्यराणामाद्यबन्धितो(तेन?) उच्छराद्यरपर(रेषा)

एवसंख्या(स्यं) नक्षत्रं ज्ञेयम् । प्रमाद्यराणागा(मा)दिसिधेन अथराद्यरेण बहुसंख्यं नक्षत्रं ज्ञेयम् ।

[५ १११ अ ३] प्रमाद्यरेना(ना)माद्यरेण पूर्वोच्छि[न] क्रमेण प्रगमनीय तेषामुच्छराद्यरे

उच्छराद्यरा उच्छमे । अथराद्यरेरपरराद्यरा उच्छवर्गा[ः] प्रसिद्धव्या[ः] प्राप्यन्ते । तैर्मद्यत्र

योमवेदिति । अथ एव अथराद्यसि(सि)रपि ज्ञेया ॥ २४० ॥

॥ नक्षत्रगणिका समाप्ता ॥

सिहि उत्तरेहि धग्ग, उत्तरवग्गोसु [५ ११२ ण १] पढमय लह्हु ।

तिहि अधरेहि अधरं, अधरेसु(सु) य तिजय लह्हु ॥ २४१ ॥

प्रमाद्यराणामाद्यो यथा त्रयोऽक्षरा उच्छरा मात्रामिदमिहवा (मात्राद्विधाः?) असंयुक्त

अनभिहवाद्य भवन्ति यथा तेषां य आ[सि]क्षर(रः) स आत्मीयं वर्गं कथ्यते । प्रमाद्यराणामाद्यो

यथा त्रयोऽक्षरा अथरा मात्राद्विधा [५ ११२ ण २] असंयुक्त अनभिहवाद्य भवन्ति यथा

तेषां यस्तृतीयोऽक्षरः [स] आत्मीयं वर्गं कथ्यते ॥ २४१ ॥

उमएसु दोसु दोण्णि धि एक्केण चउक्कय लह्हु ।

भामिस्सेसु धि एक्क, पुरिमेसु अणतर लह्हु ॥ २४२ ॥

प्रमाद्यराणामाद्यो यथा द्वौ उच्छराद्यरे भवतः मात्राद्विधौ असंयुक्ते अनभिहतौ च

तद्वौ(वा) तौ द्वौचपि प्रत्येकं आत्मीयं वर्गं [५ ११२ ण १] कथ्यते । प्रमाद्यराणामाद्यो यथा

द्वौ अथराद्यरे मात्राद्विधौ असंयुक्तौ अनभिहतौ च प्रत्येकं आत्मीयं वर्गं कथ्यते । यथा अथरा-

द्य(र वा)द्वौ पस्विदोऽनन्तरस्य स(व)स्योत्तरः पस्विः । य(वौ)दाऽऽर्द्धिगिठामिभूमितवद्गन्-उच्छर्षं अमि-

भार्धं सो(सो)धयेद्(द्) । निवर्धनम्-उकारस्य उकारेणार्द्धिगितव्येका संख्या ह्यसति । इदितेक-

संख्या[क]स्य उकारे [५ ११२ ण २] भवति । तस्मिन् उकाराद्य(रस्य)दुर्धर्षवर्गस्यदुर्धर्षं कथ्यते ।

अथराद्युच्छराद्यवत्त्वात्पुनर्धर्षं उच्छरं कथ्यते । स एव उकार(रौ)उकारेणामतोऽवस्थितेनामिभूम्यन्ते(ते) ।

अमिभूमितस्य उकारस्य द्वे संख्ये निवर्धते । एका उकारसंख्या, द्वितीया उकारसंख्या । तत्रैका

स्वामे(म)आगेन उकार उकारादारभ्य अदुर्धर्षवर्गमाप्नोति । स चा(च) उकाराद्युच्छराद्यवत्त्वात्

पुनर्धर्षं अथराद्यरं प्राप्नोति । यथा अथ[द्] आद्यो पस्विदोऽनन्तरस्य सस्योत्तरं पस्वि[त्तः], यथा-

ऽऽर्द्धिगितामिभूमितवद्गन्धस्य अमिपात् शोभवे[सि]ति । [५ ११४ ण १] निवर्धनम्-उकारस्य द्वे

उकारस्य उकारे[ज] चोत्तरेण अथस्य तिष्ठः संख्या निवर्धन्ते । आद्यादिसा संख्या । उकार-

स्य संख्या द्वे वेति । स्वान्तरस्यस्य उकारादारभ्य अदुर्धर्षवर्गं प्राप्नोति । का पुन[र]त्तौ

अदुर्धर्षवत्त्वात्पुनर्धर्षवत्त्वात् पुनर्धर्षवत्त्वात्(री)प्राप्नोति । एषं एको(के)न अदुर्धर्षस्य उच्छः ।

अन्वेषामप्यहराणां एवमेव क्रमो ज्ञेयः । व्यामिमास्तु संयुक्तहराणां यत्र यत्र पठिता आत्म-
वर्गं छमते(स्ते) । तेषां संयुक्ताहराणां क आत्मवर्गं छमते ? किं प्रोऽपस्तम् आहोधिदु-
परिहृ(ताः ?) । [१ ११४ वा २] उच्यते- प्रोऽस्तासु(क्षु)पमा(र्य)भ्रर । प्रभे पूर्वाभये यदा ह्यसु-
चये भवतः, मात्रारक्षितौ असंयुक्तौ चेति । तथा द्वितीयोऽभ्रर आत्मीयं वर्गं छमते ॥ २४२ ॥

अ च त य धग्गा उत्तर-करणं च ह्रस्वि [जइ ?] चउ व[ग्ग]स्त ।

होदि कमणेण कट पशा, चदुरा णीप(य) च णावृष ॥ २४३ ॥

‘अ च त या’नां चतुर्णांमहराणां चाहुल्ये(स्यं) यदा प्रभे भवि(ब)त्यभिहि(ह)वानां तथा
विंशत्यां चत्तमकार्यं पृच्छतीत्यादेशम् । छामप्रभे चत्तमो भयतीति चाच्यम्(‘च्यः’) अ(प्र ?)ष्टा ।
‘कट पशा’नां चतुर्णांमहराणां [१ ११५, प १] प्राचुर्यं यदा प्रभाक्षरेषु दृश्यते अनभिहृतानां
तथा विंशत्यां नीचकार्यं पृच्छतीति चत्तमम् मष्टा । छामप्रभेऽस्पष्टामष्टे भविष्यतीति ॥
चत्तमम् । ‘अ च त या’ उत्तरकरणसंज्ञकम् । ‘कट पशा’ अपरकरणसंज्ञकम् ॥ २४३ ॥

संजुत्तमसजुत्त, आर्लिगियमादिय अ क च टा दी ।

उच्चारिज्जिदि कमसो, अणुपुषीष् करणमेद ॥ २४४ ॥

प्रभे येऽभरास्ते संयुक्त [असंयुक्त] वा आर्लिगिता [अ] भिभूमिता वग्गा वा, अ क च ट
त प [य] क्षा येऽभराः पंचपत्वारिंशत् [१ ११५, प २] तेषां क्रमोच्चारण आनुपूर्वीति मण्यन्ते(ते) ।
आनुपूर्वीक्रम उच्यते । ‘अ क च टा’दीनामष्टानां वगाणां क्रमोच्चारण आनुपूर्वीक्रम उच्यते । विप-
र्णोच्चारणं अनानुपूर्वीकरणमिति । एवापानेष, मात्र कश्चिद् विद्येयः । प्राप्तिस्तु वर्गाणां
अन्यथाका(प्यकाणी) रिकयोच्यते ॥ २४४ ॥

[पठ]अं(म?)तिष्ठचउक्के त प य श वग्गे वि पात्रए जेण ।

एय अनानु[णु]पुषीकरण छट्ट मुणेयव ॥ २४५ ॥

प्रथमवर्गस्य ‘अ क [१ ११६ वा १] च ट त प य शा’स्यस्य अन्य(स्या)भराभरवारः ‘त प
य शा’ एते यदा प्राप्नुवन्ति यगाणां तथा वर्ण(वि)प्याग्युपरिष्ठा[त्] । एष तद्गगा(मर्गः)
विद्योम्येन अनानुपूर्व्यां प्राप्नुवति । वर्गाः-कवर्गः चवर्गः टवर्गः घवर्गः सि(इ)ति । अनानु
पूर्व्यां पठं करणं ज्ञेयमिति । अ क च ट त प य शा इत्यत्र पूर्वाः-‘त प य शा’ इत्येवानुपूर्वीक्रम
इत्यर्थः । एवमेव विपर्ययोच्चारण अम्योम्य(नानु)पूर्वी [क्रमः] । प्राप्ति(पश्चात् ?) क्रम इत्यर्थः ।
[१ ११६ वा २] पंच करारण्य(करणानि म ?)तीतानि । इ(त्रि)पुचरेषु वगः प्रथमकरणम् । एष
इ(त्रि)पुचरेषु द्वितीयम् । प्रथमत उचरौ द्वौ पृतीयम् । म(ए)केन चतुर्थं छम्यते चतुर्थंकरणम् ।
व्यामिभैयु(क्षु)क्षेरेको वर्गः छम्यत इति पंचमं करणम् । यद्वा व्यामिभ एकेन चतुर्थमस्मात्तवर्गं
चतुर्थोऽर्थं भेदः । आनुपूर्वी उच्चारणकरण पंचमम् । अनानुपूर्वी पठ करणमिति ॥ २४५ ॥

अणभिहृदा सजुत्ता, पट्टम पावति अप्पणो [१ ११७ वा १] धग्गा ।

आर्लिगिया य तचो, हसति ण्छेक्षय टाण ॥ २४६ ॥

उत्तर अनभिहृता येऽभराः प्रमादी अण्यवमेऽप्रतो वा त एवांसुचो(का) यदा दृश्यते
तदा ते प्रथमवगाः स(न्व)वर्गं प्राप्नुवन्ति । यदा आर्लिगिता असंयुक्ताश्च तथा परम्यानहासेन हने

(डासं ?) प्रामुबंति । निदसंनम्-[ककारः] लकारेणाडिगितककारं प्रामुबं(मो)ति । एष ककारः इ(डा)कारेणाडिगितः इ(ड)कारं प्रामुबं(मो)ति । तथा गकारो [प ११० प २] ककारेणामिभू मितः अकारं प्रामुब(मो)ति । लकारः झकारेणामिभूमितः डकारं प्राप्नोति । एष ककारो इ(ड)कारेण इगमः ककारं प्राप्नोति । एषमन्येऽपि [वर्गा]क्षराः संयुज्या द्वितीयानिबन्धनं प्रामुबंति । द्वितीयवर्गप्रहणेन द्वितीयोऽक्षर उच्यते । त एष संयुज्य आडिगिताः स्वानव्यवहसि[ड]त्वात् ते तथा तृतीय स्वान टवर्गं प्राप्नो(मुब)ति । एषं गकारोऽपि संयुज्यो यदाऽऽडिगमते तथा [प ११८ प १] तृतीय वर्गं प्राप्नोति । एषं संयुज्यामिभूमिवाङ्गुयो(र्धम् ?) इगमाः पंचममिति ॥ २४६ ॥

सहाणमुबंति वडा, चत्तीसं एत्य ह्योति सयो(जो)भा ।

हस्ता य सति कमसो, चउवगगकमेण एकेक ॥ २४७ ॥

१४ ॥ कस्या[न]मुब(मुपय ?)न्ति इगमाः । तत्र सरा(ह्रा)क्षरसंयोगेमा(ना)डिगितामिभूमितव ग्यसंयोगेन च ड्रात्रिंश(क्षप)संयोगा भवति । तामुपरि निर्बर्णयिष्यति । अष्टौ वर्गाः संयुज्य-डिगितव्यमामिभूमिता इत्येते चतुर्भिर्विबर्ण [प ११८ प २]न्यैगुमिता ह्यर्धस(त्रिंश)श्च भवति(मि)त् । द्विधा(इसिवा)येऽक्षरत्वे आडिगितात्वे द्वितीय स्वानं प्रामुबंति । अमिभूमिवा[ः] तृतीयम्, इगमा[ः] चतुर्थं स्वानं प्रामुबंति । एतच्च निदसंनम् पूर्वक्षेपा(पं) चर्चितमितो(त व ?)कम् । अनंतरगा- १५ ॥ मातुसारेणामायमर्थाः—‘हस्ता छत्रंति कमसो’ चतुर्थवर्गकमेति एकेकं वर्गं प्रामुबन्ति । संयो गस्य [प ११९ प १] च प्रकृतत्वात् ‘अ इ ए ओ एते चत्वारः इत्यमहणेन एत गृह्यन्ते । तत्र अकारः प्रमादी अन्यत्र वा निरुपहृतः अक्षरमेव प्राप्नोति । ककारोपरिगत इकारः कवर्गं प्राप्नोति । चकारोपरिगत पकार[ः] चवर्गं प्राप्नोति । टकारोपरिगतः ओकारः टवर्गं प्राप्नोति ॥ २४७ ॥

वितिय-चउतयो पचम-उड्यो अण्णेसु लहृदि [प ११९ प २] आदेसा ।

लभदि अ चरिम चउक्यो, तकारमादीस(मु?) एकेक ॥ २४८ ॥

१५ ॥ द्वितीय आकारः, चतुर्थ ईकारः, पंचम [वकारः, य] ऊकारः । एते चत्वारः एत अन्ववर्गं क्षराणामुपरि प्रामुबति । के ते अन्ववर्गाक्षराः ? ‘त प य झा’ । तत्र वकारोपरिगत आकार[ः] ववर्गं कमते । पकारोपरिगत ईकारः पवर्गं कमते [प १४ प १] जु(च)कार उकारेण पुञः प(प)वर्गं कमते । झकार उकारेण पुञः सवर्गं प्राप्नोति । झकारपरिमत्तत्रात्पीति १६ ॥ ‘त प य झा’ चतु(त्वा)रोऽपि चरिमसंज्ञाः । अत एवामि(वाकिन्) चतुके(के) इत्यर्था एतयां संयोगेन तस्याप्रोति(प्राप्ति)कथ्य ॥ २४८ ॥

अणुबलिया तिहदा वा, जुता पुष्पावरेण एकेक ।

एस सराण णिवेदो(सो), ककारमादी[सु] त(य)ण्णेसु ॥ २४९ ॥

अनुबलितव्य आडिगितवापि(धी) । अनुबलिता द्विविधाः—उचयन(श्र)कलिता अथवा- १७ ॥ नुबलिताम् । तत्र अथवा अथवा उचयनसंयुक्त उचयन(श्र)कलित(संज्ञः ?) । यद्वर्गसंबन्धितेन क्षरेणाक्षरो युक्तत्वमित्येव च वर्गे [प १४ प २] उचयन(श्र)कलितत्वात् उचयनं कमते । एत[ण]मपि मन्ये स्व(व)मेव अक्षरमुचरं प्राप्नोति । उचयनोऽप्यथवा उचयुके अथवा अनुबलित संज्ञः । यद्वर्गसंबन्धी(धि ?)तेन क्षरेणाक्षरो युक्तत्वमित्येव वर्गे अथवा अनुबलितत्वात् अथवा उचयनं कमते ।

स्वराणामपि मध्ये तमेव स्वरमुत्तरं(मघरं) प्राप्नोति । उत्तराक्षरोऽप्यपरस्वरयुक्तोपर

† मिथून्यते स द्वितीयवर्ग-

मप्राप्नोति । निर्वर्तनम्—ककारोऽभिधूमितः सकारेण [ब]वर्गं प्राप्नोति । सकारोऽभिधूमितो
 घकारेण छवर्गं प्राप्नोति । गकारोऽभिधूमितो घकारेण जघर्गं प्राप्नोति । ककारो वृग्भः ककारेण
 टवर्गं प्राप्नोति । एवमन्येऽप्यक्षरा[ः] पूर्वाभिहित[प १४१ प २]विक्षारक्रमेण द्रष्टव्या[ः] । ये
 संयुक्ताक्षराक्षेपामुपरि योऽक्षरः स स(स्व)वर्गाक्षरं समते । उत्तरः उत्तराक्षरमभरोऽप्यक्षराक्षर-
 मप्राप्नोति । एष स्वरविशेषः(सः) सकारादिषु हकारान्तेष्वक्षरे[षु] आर्द्धिगितामिधूमितवृग्भच्छ्रुण
 इत्यः । इत्या समते । आदिबहुष्कम्—अकारप्रभृतयः । [प १४२ प १]मन्त्रचतुष्क प्राप्नो-
 मुषीति साम्यां (१ साम्यां) यग समन्त इति ॥२४९॥ अक्षैर्वायंस्वातिशेषान्न कारिकास्वरमाह—

जहृ चेष सरवसेसो (विभागो ?), ककारमादीसु घ(व)जणेषु पि ।

एमेव [वि] रई(इ)यत्तो, णिरत्तर जाव [उ] हकारो ॥ २५० ॥

एवमेव कर्तव्यो निरंतरं ककारादारभ्य पावत् हकार इत्येव वर्गसंख्यर्थं स्वरविभागो
 विज्ञातव्यो व्यञ्जनेषु । अयमर्थः पूर्वगाथयाऽभिहित इति नोक्तः ॥ २५० ॥ [प १४२ प २]
 एवं अमानुपूर्वो(बी)प्रपञ्चेन पद्यं प्र(१)करणम् ॥

जो य सराण विभाग, देसेदि य सत्तमो य सो करणो ।

एमेव व्रजणाण, विभावणो अट्टमो होति ॥ २५१ ॥

उक्तार्थातिशेषार्थं गाथेषु पठिता । पद्यमुक्तमनानुपूर्वीकरणम् । अनन्तरं स्वरयोगाङ्ग-
 उचिष्यत्त । अर्धौ स्वरविभागो नाम सप्तमं करणम् । संयुक्तासंयुक्तविकल्पेन वर्गप्राप्तिरित्यष्टमं
 व्यञ्जनविभागो नाम प्र(१)करणम् ॥ २५१ ॥

दसेति सव[र्ग]स्वर-सजोग [प १४१, प १] जो य सो हवे णवमो ।

परवगाक्स्वरसजोय, दसेदि य दसमर्धौ करणे ॥ २५२ ॥

अधर्गाक्षरसंयोगेन मघमं करणम् । इह यथा मघति तथा पूर्वमुक्तम् । परवगाक्षर-
 संयोगा[त्] इक्षानं करणम् । परवगाक्षरसंयोगोऽपि पूर्वाभिहित(वि)त् एव । अनयो करणयो-
 र्पेयाक्षरत्वान्[ः] तयोपरि वर्णयिष्यामः ॥ २५२ ॥

अह उचराणुवलिमा, हस्ता उ ल्हति हस्समन(स)यर ।

अहरेणऽपि हम्मता[प १४१ प २] तेसिं चिय वगगमण्ययर ॥ २५३ ॥

अधराक्षरा उत्तराक्षरैरार्द्धिगिता इत्यत्र अन्वयं समन्ते । निर्वर्तनं यथा—उकारः ककारे-
 ष्वर्द्धिगितो वृग्भः कवर्गं प्राप्नोति, तर्द्धिगितोऽधराक्षरम् । घपमन्ये(न्य)वर्गेष्वोऽधराः प्राप्नुवन्ति ।
 उत्तराक्षरा अधराक्षरे[न]अभिहृत्यमाना सप्रयवर्गेऽधराक्षरं प्राप्नुवन्ति । यथा ककारः सकारेणा-
 र्द्धिगितः[ः] पवर्गं अधराक्षरं प्राप्नोति, अधराक्षरानुबन्धितत्वात् । अथवा पासा गाथाया अन्वयथा
 [प १४४ प १]न्याक्यानम्—अधरस्वरा अधरैर्द्धिगैः स्वरैरनुबन्धित्वा इत्यस्वरमेवाभ्यन्तम समन्ते ।

अनुबन्धितमेव सन्ध(म)म्भे (१) उत्तरा हस्ताः(१) 'अ इ ए व' इत्येते अक्षरेण खरेणामिहम्बयात्
अक्षरमेव खरं अनुबन्धितमभिन्नमत(न्व) इति ॥ २५३ ॥

एव अह्र चउक्के, आइह्यो पच्छिमो व एमेव ।

चउ तिय एक्क कमसो, हस्तेसु ह्यति आवेसा ॥ २५४ ॥

अनानुपूर्वीमग(गी)कृत्य अक्षरचतुष्क 'क ट प श्वाः' चत्वारणाया मध्यम्भे [प १४४ पा २]

अथवा पञ्चाक्षरवन्तीति पश्चिमाः 'क ट प श्वाः' । ककारः अकारवर्गोऽक्ष(अ) पश्चिमो
भवति । एव न(हे)पम् । एतदन्वयतमाधिके प्रभे मध्यमछाम आदेश्यः । 'अ च उ वा' आद्याः ।
उत्तराः तदन्वयतमाधिके प्रभे अक्षरद्वयम आदेश्यः । एषां 'अ च उ वा'नां मध्ये अकार-
वकारधिके प्रभे अक्षरद्वे छाम आदेश्यः । एषां(र्ष) 'क ट प श्वा'नां मध्ये पकार-अकारधिके
प्रभे अक्षमछाम आदेश्यः ॥ २५४ ॥

जह चैव सरनियेसो, मणिओ सह चैव वंजणेसु पि ।

एमेव [वि]रह्यद्यो, गिरतर जाव उ ह्कारो ॥ २५५ ॥

अथवाऽस(सा)गाथाया विस्तरेण खरम्बंजनवि[प १४५, प १] भागेनाक्षरोत्तरं प्र-

स्तारचतुष्टय पंचवर्गीये तत्र प्रथमतः यथा-तिर्यक् चतुर्वैश्वानरकामि ऊर्ध्वं [म]व च ।

एव विरच्यारस्यासः-अ आ इ ई व ऊ ए ऐ ओ औ अं अः । अ । एवमेवा प्रथमा पक्षिः । इ
क का कि की कु कू के के को कौ कं कः । उ । प्रथमाया अथः द्वितीया । ए । अथापि तीसु
पू ये ये वो वी वं वः । तृतीया । ऊ । उता द्वितीसु हू हे हे टो टी रं टः । उ ए ऐ । चतुर्थी । ए ।
तीसु पू ते ते वो वी वं वः । उता ति । उ । पंचमी । ऐ । पुपू पे पे पो पौ पं पः । पथा पि पी । ऊ ।
पथी । औ । पुपू पे पे वो वी वं वः । यथा पि पी । ए । सप्तमी । औ । [प १४५, प २]

से से शी शी श्वाः । इ शा शि शी श्वाः । अष्टमी । अं अः ओ औ ए ए ऊ ऊ ई ई आ अ । इ ।
नवमी । एवमेवा नव पक्षयः अष्टोऽथः आत्माः । एवं यथा पञ्चवर्गेषु वर्णितव्यारम्भेऽपि-
'ए उ उ व फ र प । ग ब ड द व छ स । प श्वा अ म ब ह ।' इत्येते क्रमेणालिख्य पंचवर्गी[याः] ।
पंचप्रकारा वर्धनीयाः । एकैकलिङ्गप्रकारेणा(१)शौ अक्षरं दृष्ट्वा प्रकारे तथा(२)बन्धोक्त्याक्षरमथ
प्राप्तिः विद्या(३)या, इति । कथं [प १४६ पा १] प्रमाशौ ऊर्ध्ववर्णित्येवमात्रा(३)मक्षरमबन्धोक्त्या

ऊर्ध्वमात्रे ऊर्ध्वगन्ध्याक्षरं गृह्यते । यथा गौरित्खिन् दृष्टे उपरिष्ठात् खरसंज्ञक्या एते त्रयाणां त्रयाणां
दक्षमस्य दक्षमस्य [अ]परिष्ठातो ककारस्य गजबिलुडितक्रमो यथा-ती शौ, के, ए ऐ ओ औ
अं अः इत्यादि । एव तिहेन विपर्ययः । अथ(त्र) मात्रायाचक्षाज्ञानः । तिर्यक्करणइत्यममोगदो
ज्ञानो बन्धव इति । 'ओ उ सरा[प १४६ पा २] विभागं वंसेही' सीता(वो) गाथाखरविभागो
वर्धनो(सिंघः) । पूर्वस्य प्रकारस्य किञ्चिद्विधेयेण लिख्यते-तिर्यप(ग) द्वावस गृह्यामि ऊर्ध्वमासौ

(मद्यो) ब्रह्म्यमीति । न्यासः-अ आ इ ई व ऊ ए ऐ ओ औ अं अः । प्रथमा पक्षिः । अस्मापस्तात्-
क का कि की कु कू के के को कौ कं कः [प १४७ पा १] । क । एता द्वितीया । अस्मापस्तात्-वि र्वा
वु वू ये ये वो वी वं वः । अथापस्तात्-टी टू टू हे हे टो टी रं टः । [उता ति] । अस्मापा-
हू हू ते ते वो वी वं वः । उता ति ती । अस्मापस्तात्-पू पे पे पो पौ पं पः । पथा पि पी तु । अस्माप-
स्तात्-ये ये वो वी वं वः, यथा पि पी पुपू । अस्मापस्तात्-शी शौ शौ श्वाः । [प १४७ पा २]

[संज्ञा सिद्धीष्टुष्टे] एष विरच्य(व्या)क्षरमहण सिंभा(हा)पञ्चोक्ति-नाजविलु(डि)वकरण-
ह्यपस्यासेन ऊर्द्धांभक्तिपेक्षमात्राफलपनयाक्षरत्रयस्य पूर्वबन्त् । एष पंच प्रस्तापस्या(व्या)सिच्य-
(ख)नीयानि 'क ख ग घा' इत्यादिमिरपि वर्गैरिति ॥ एवं खरविभागो वर्धितः ॥ २५५ ॥

"एमेव पञ्चम्याय, विभाषयो अटुमो करणो" ॥ [प १४८ पा १] स च प्रथमखरपठिरहितो
तिच्यते—अत्रापि पञ्चवर्गिये पंचैव शेषक्रमः समानाक्षरमहण वेति "वृत्तेति सवर्गपत्तर-सजोबं"
गाथा । स्ववर्गाक्षरं संयोगकरणमुपरिष्ठाद् प्रत्येतैवाभिप्रास्यति । छमते ककारो गुरुः । कोऽसी ?
स(ख)वर्गमित्वादिना इति । "परवर्गपत्तर" इति । तत्र संयोगोऽनेकभा [प १४८ पा २] स्ववर्ग
संयोगः, परवर्गसंयोगः, अन्त्यान्तसंयोगमि(गइ)ति । अत्रैव ककारो छमते इति वर्धयिष्यति ।

एगावीया कमसो, एकोत्तरवट्टिया मुण्येयद्वा ।

अधरेसु य आदेसा, एस समचो सरविभागो ॥ २५६ ॥

इयानी प्रागुपम्यसप्तमखरविभागकरणचक्रम्यतिरिक्तविशेषाक्षरोपक्रम्यर्थमाह—'एका-
(गा)वीया' इति । य एते द्वावन्न खराः । एते एकाक्षिका एकोत्तरवट्ट्याम् (घ) । स्थापना अत्र ।
[प १४९ पा १] अपरे आ(वा)देशाः । अक्षरछम्भिरादेशः । वर्गछम्भिरा । न केवछमधर
खरेपुतरखरेषु च । कथं ? अकारः प्रसावौ अनमिहतासंयुक्त अकारवच(परम्?) नवसंख्यो-
(व्या)काकारं मित्वा अकार अष्टापगमे ककारमेव छमते । तमभ्ये उकारः पंचसंख्यः सवर्ग
छमते । एव आकार(रो) द्विसंख्यवकारं छमते । अथलाहसमं मित्वा अष्टाय(प)गमे च
ककारमेव । मभ्ये सु ऊकारी(रः) पद्(छ)पवग छमते । एव त्रयाणां [प १४९ पा २] त्रयाणां
मासिद्वष्टव्या । एव खरविभागः । उक्तः सप्तमप्रस्तारं प्रपचेनेति ॥ २५६ ॥

उत्तरसु(स)राणुवलिओ, लहृइ ककारो ककारमेवन्न ।

अहरमिहओ खकार, सेसा पुषाधरेणेछ ॥ २५७ ॥

पदुक्तभायी व्यजनविभागाहमः करणमिति । तस्मात्तम छमुतरः प्रयोगः । उत्तरखराः,
के ? 'अइएछ' एवामभ्यसप्तमानी ककारो युक्तः क्वर्गे उत्तराक्षरं प्राप्तेति उत्तरानुबलितत्वात् ।
एवमभ्येऽप्युत्तराक्षरं अनमिदि(ह)ता उत्तरखरयुक्ता उत्तराक्षरं स्वर्गे छमते । अथरखराः, के
'आ ई पेओ' इत्ये[प १५ पा १]तेषामभ्यसमेन ककारो युक्तः चर्गे अथराक्षरं प्राप्तेति ।
शेषाः पूर्वोक्तेष्वेकं छमन्ति । उत्तरानुबलितो(वः) अथरानुबलित इति पूषापरनुच्यते । एवम-
भ्येऽप्यक्षरा इष्टव्याः ॥ २५७ ॥

॥ व्यजनविभागोऽष्टमः समाप्तः ॥

धीओ पठमेण सम, गुरुओ चत्तारिमो तहृजेण ।

सेसा सकायगरुया, वग्गे वग्गे भवे तिणिण ॥ २५८ ॥

द्वितीयोऽक्षरः प्रथमे[प १५ पा २]युक्ते गुरुभवति । यथा 'क(वत्स)' । चतुर्थोऽक्षर-
स्तृतीयोऽक्षरेण युक्ते गुरुको यथा 'गप' इति । शेषाः स्वकायगुरुया(काः) 'वग्गे वग्गे इयइ' तिणिण
वर्गे वर्गे त्रयस्यपो(वः) 'खगइ' इत्येव क्रमः प्रतिवर्गे इष्टव्याः ॥ २५८ ॥

अणुणासिया य जुञ्जइ, आदिछुचठछए सवग्गस्त ।

सत्तट्टमो य कमसो, सष्ठा(का)यगरुआ मुण्येयद्वा ॥ २५९ ॥

अनुनासिका उभयनमाः, ते युग्मन्ते आद्यचतुष्केण बर्गं (प्लवर्गेण) यथा-इह
 इह । अण्ड अण्ड । ष्ट ष्ट ष्ट ष्ट । म् म् म् म् म् । म् म् म् म् म् । सप्तमो बकारः ।
 अष्टमो(मा) बकारः । इत्यंती स्त्र-स्त्रकावगुह(स्) हेतौ । [५ १५१ पा १] यथा 'ध
 रस' इति ॥ २५९ ॥

पठमो तद्विय धग्, विद्विओ य चउत्थय चउत्थो य ।

पचमओ पुण णिच्च, चउत्थया यावए वग्ग ॥ २६० ॥ [५ १५१ पा २]

अ	आ	इ	ई
१	२	३	४
५	६	७	८
९	१०	११	१२

प्रथमबर्गस्तृतीयबर्ग(गं) तृतीयबर्ग(गो) द्वितीयबर्गं च प्राप्तवः
 (माप्नोति) । द्वितीयो बर्गश्चतुर्थबर्गं छन्दते । चतुर्थः पचम माप्नोति ।
 पचमो बर्गश्चतुर्थं माप्नोति । किमत्र कारणमित्यत्रोच्यते-च(अ)कार
 स्थाप्रतो यदा ककारो दृश्यते तथा तेन ककारेण लकारो(र) आर्द्धिगित
 इत्येका(कां) संख्या(स्या) त्यक्त्वा ककार[ः] ककारो [५ १५१ पा १]
 न भवति । गकारस्त्वाप्रतो यदा लकारो दृश्यते यदा तेन लकारेणा

र्द्धिगित इत्येकसंख्या(स्या) त्यक्त्वा स गकार[ः] लकारो भवति । चकारस्त्वाप्रतो यदा लकारो
 दृश्यते तथा तेन लकारेणाभिपूमित इति हे संख्ये इतिरत्वा चकार[ः] लकारो भवति । जकारे
 चकारेणाप्रतोः स्थितेन यदा आर्द्धिगते तथा एका(कां) संख्यां त्यक्त्वा लकारो चकारमापद्यते । एष
 मन्थे[पु] बर्गेण्यपि ये आर्द्धिगन्ते अमिभूम्यन्ते वा आकाराद्येनैवाभिहितकमेव इहम्माः ॥२६०॥

॥ स्वर्गसंयोगकरणं समाप्तम् ॥ [५ १५१ पा २]

परवमावस्त्ररगरुत्वा, पठम पायति अप्यणो धग्ग ।

अणुवलिता[िया]निहता, लमति पुद्वावरेणेक ॥ २६१ ॥

परबर्गा[अ]रुत्वाः प्रथमे प्राप्नुवन्मात्मनो बर्गे इ(मि)ति । याः अप्यवस्त्रः स आत्म-
 नगा(मा)प्रतिबद्धाक्षरं छन्दते । के ते प[र]बर्गाक्षराः ? ते उच्यन्ते । 'अ आ इ' इत्येव
 माया हेमाः । अनुवद्वितसप्तः आर्द्धिगितपर्यायः । [५ १५१ पा १] एकारेण यदा ककार
 आर्द्धिगते तथा आर्द्धिगितत्वात् एका संख्या इति(द्विसित)त्वात् ककारः चकारत्वं माप्नोति ।
 चकारप्रतिबद्धाक्षरं च छन्दते । चकारः एकारे[ज]अ]मिभूमयि(प)मिभूमितत्वात् हे संख्ये
 द्विसि[त]त्वा[त्] स प्य(प)कारः एकारमापद्यते । एकारप्रतिबद्धाक्षरं च माप्नोत्येवमन्थेऽपि ।
 उ(अ)कारो जकारेणाप्रतो[ज]मितेन [५ १५१ पा २] दृश्यते । मन्थे सति संख्यात् (१) एकारक्षरं
 छन्दते । एकारप्रतिबद्धाक्षरं च माप्नोत्येवमन्थेऽपि आर्द्धिगिताऽमिभूमितत्वात् । स्वर्गप्रतिबद्धाक्षरं
 प्राप्नुवन्ति पूवा(र्ष)पर्यायेणति । आर्द्धिगितामिभूमितत्वात् च वर्गवर्गित ॥ २६१ ॥

॥ परवर्गसंयोगकरण समाप्तम् ॥

सीहायिलोषिट(वलोइओ) पुणो, दुआदि कमसो यहुविया(हा)देसो ।

संयो(जो)मवियप्पेण, पायति [य] लोयणेणं धा ॥ २६२ ॥

अ इ ए आ इत्येद(वर्क)मन्थरे(रि)द्विभूमिपुच्छाः 'क प ट त प य गा' ताः पंच वर्गाः
 सिद्धावलोषिटव्यापन आरममो [५ १५४ पा १] यः उपपद्यतेऽन्तरं य(व) प्राप्नुवन्ति । 'आ ई ए

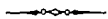
औ' इत्येतेषी(तेर्वी)र्षस्वरैश्चतुर्मियुक्ताः 'क ष ट व प य क्षा' याः पञ्च वर्गा गजबिधुसितन्यायेन
 आत्मनोष(ऽप)स्वायः अक्षरोऽन्म्वरः व प्राप्नुवन्ति । निर्वर्जनं च - ककारो ह्रस्वस्वरयुक्त अकारं
 प्राप्नोति । चकारोऽपि ककारं प्राप्नोति । एष सर्वत्र सिंहावलोकितन्यायेन द्रष्टव्यम् । दीर्घस्वरयुक्तः
 ककारश्चकारं प्राप्नोति । चकारो दीर्घस्वरयुक्तः टकारं प्राप्नोति । टकारोऽपि [वकारं प्राप्नोति ।]
 वकारोऽप्य(ऽपि)[वकारं] प्राप्नोत्येव पञ्चवर्गप्रतिपद्याक्षरा [प १५५ पा २] गजबिधुसितन्यायेन ।
 द्रष्टव्य(व्या) इति ॥ २६२ ॥

पत्तो वि पर ठाण, आहृष्ट य पुणो पलोएह ।

सिंहावलोकितकरण, प्यारसमं मुणोयध ॥ २६३ ॥

प्राप्नोति(प्रोऽपि) परं स्वानं वस्मात्परस्मानात् पूर्वं पस्मादालोक्षयति वसामिधितं सिंहाव
 लोकेत्करण एकादशमं भवति । सिंहाव्यासिक्कान्तं पश्यतीति ॥ २६३ ॥

॥ सिंहावलोकितकरण समाप्तम् ॥ [प १५५ पा १]



लोएह पुष्टमणिय, करणो गयविल्लुलिओ महा मणिओ ।

सूरकरविपर(पवि)ह्यौ, गठ ध सरपाणिय सरए ॥ २६४ ॥

छोडयति पूर्वोक्तं गजबिधुसितन्यायेन ककारोऽपि अक्षरं पश्यति स्व(स्)रकराहतो गज इव
 सरसिकाङ्गं(सरत्काङ्गी) इव भूमिममक्षरं पश्यति । छोडयत्यम्बिपतीति वाच्यार्थः ॥ २६४ ॥

चत्तारि मूलवत्पुणि, धहू(ह्व)ति म(ग)यविल्लुलियस्त करणस्त ।

सरबजणेण [प १५५ पा २] कमसो, सवग्ग-परवग्गजोए य ॥ २६५ ॥

चत्वारि मूलवत्सुनि भवन्ति गजबिधुसितन्यायेन करण[स्व] । सरवस्तु, व्यञ्जनवस्तु ।
 व्यञ्जनमन्यक्षराणि । स्ववर्गसंयोगवस्तु, परवर्गसंयोग[व]स्तिवति ॥ २६५ ॥

तत्य सरवत्पु तिविहो, सकड वियडा य मीसया चेव ।

पठमाण भिवि(ति)य तहि(इ)या, चरिमाण आविमा पक्खा ॥ २६६ ॥

एतत् सरवत्पु त्रिभिः । संकटं, [प १५६ पा १] विकटं, संकटविकटं चेति ।
 प्रथमाः 'क ष ट व प य क्षा'स्यै(र्हि)वीधानो 'अ छ ठ थ फ र पा'णात्पुपरिगतैः संयोगः । 'ग ज ड
 ढ ङ घा' 'घ ङ ड ध म य हा'नात्पुपरिगतेश्च(तैश्च)संयोगः । चरिमा 'क ष ण म मा'स्यैः सर्वेषा-
 मेवाक्षराणां सपुपरिगतैः संयोगश्चेति सूत्रम् ॥ अथवाऽस्या गायत्र्या अन्तया व्याख्या कृ(कि)यते-
 "तय सरवत्पु [प १५६ पा २] तिविहो" इति । संकटाः 'अ इ ए अ ङ' । विकटाः 'आ ई ऊ ङा' ।
 संकट-विकटाः 'ओ ऐ औ' । पञ्चवर्गीयो(षा) वर्गा अपि । प्रथम-एतीथी संकटौ । द्वितीय-
 पशुर्षी विकटौ । पञ्चमः संकट-विकट इति ॥ पठमा विदियाण चरिमा' इत्यत्र क्षरेषु प्रथम-
 द्वितीयौ 'अ ङा', चरिमी ङं ङा' । एषां तुभ्यता । कथं ? अकारस्य अनुस्वारः सपञ्चत्वात् संकट
 एव भवति । अकार-विसर्जनीयौ ह्रस्वसमः स्वपद्यः, अतो विकटोऽप्यम् । सपद्यता परस्परं मैत्री
 भाव इति ॥ २६६ ॥

आइष्ट्याण षोण्ड्, सधे वि सरा ह्वति सरिपक्त्वा । [५ १५० प १]

पचम-चउत्थ-णवमा, होइ(होँ)ति इकारस्त सरपक्त्वा ॥ २६७ ॥

षाषो षो सरो 'अजा' तयोः सर्वे सराः मवति मित्राणि । पंचम षकारः, षुर्ष ईकारः, नवम ओकारः । इत्येते त्रय इकारस्य मित्राणि ॥ २६७ ॥

अट्टम-वसमा षोणि वि, एते सचमसरस्त सरिपक्त्वा ।

एकारस-वारसमा, छट्टो ह्वंति उकारसरिपक्त्वो(क्त्वा) ॥ २६८ ॥

अष्टम षकारः, दशम ओकारः । इत्येते द्वौ सप्तमस्वरस्य षकारस्य मित्राणि । एकारस्य स्मृ['अ', द्वावसमस्वर] 'अः' षष्ठस्वर ओ(ऋ)कारः । एते त्रय(त्रय) उकारस्य मित्राणि ।

ऐकारौकाराण, दुविष्टा [५ १५० प २] दिष्टी उ होइ नायवा ।

जइ उचराणुवलिया, लहति तौ संकटा एदे ॥ २६९ ॥

ऐकारस्य औकारस्य च द्विविधा संज्ञा संकट(टा) विकटा चेति । प्रयोजनमुपरिडाइ ह्यति । 'अ इ ए ष' इत्येते स्वरात्मत्वारः संकटसंज्ञाः । एतैरुप[रि]गतेः 'क ष ट व प य सा'द्याः पंचवर्गाधरा संकटसंज्ञा मवति । एतैरेव संकटस्वरै[प १५० प १]मुक्तानां अक्षराणां विद्यमानामिपाते शोधिते सति बोऽक्षर इत्यपि संकटविधिना छयत इति संकट संज्ञा ॥ २६९ ॥

अधरयलेण य वियटा, उत्तरअहरेण मिस्तया ह्येति ।

अहुरुचरेण वि(?)सेस, लक्त्वेज्ज घलाघलविसेसं ॥ २७० ॥

'आ ई लौ' इत्येते त्रयो विकटसंज्ञाः । एतैरुक्तः 'क ष ट व प य सा'द्याः पंच [५ १५० प २] वर्गाः(र्गाः?) संकटसंज्ञा मवन्ति । एतैरेव विकटस्वरैरुक्तानां अक्षराणां विद्यमानामिपाते शोधिते सति बोऽक्षर प्रमे आकारमुक्तः स आर्द्धिगितत्वात्स्वरसंज्ञया द्वितीयवर्गं प्राप्नोति । षा षकार आक्षरेणार्द्धिगिते द्वितीयवर्गं प्राप्नोति । ('यथा षकार आक्षरेणार्द्धिगिते द्वितीयवर्गं प्राप्नोति ।) [५ १५१ प १] तस्मिन्प्यधराधरो(र)मुक्त्विताधराधराम् । स एव षकार इकारेणामिपूमितो टवर्गमिवात्स्वरसंज्ञया पचर्गं प्राप्नोति । तस्मिन्प्यधराधरामुक्त्विताधराधराम् । स एव षकार उकारमुक्त्वेन दहते । दग्धः स षर्गं मिमांशस्वरसंज्ञया टवर्गं प्राप्नोति । टवर्गे उचराणुक्त्विताधराधराम् । एमिः स्वरैस्त्व(कि)मिरम्येऽप्य[५ १५१ प २]धराः पूर्वोक्त्यायेन दृष्टव्याः । 'इ ए ओ' इत्येते त्रयः संकट-विकटसंज्ञाः । एतैरुक्तः पूर्ववर्गी[याः] पंच संकटविकट संज्ञा मवन्ति । एतेः संकटविकटैरु(मु)क्तानां अक्षराणां अमिपाते शोधिते सति संकट-विकट प्रकारेण बोऽवोऽक्षरो छयते स संकट-विकटसंज्ञा । आर्द्धिगितामिपूमितदग्ध-सप्तवर्गप्रतिष्ठा पूर्वोभिह(द्वि)ता । छयते च षकारविधेःपमिति । येऽक्षर आर्द्धिम्यन्तेऽमिपूम्बन्ते दहन्ते वा तेपाम[५ १५१ प १]मिपातमुक्तानां या(या) संख्याधिको मवति स षडीयान् तेनादेशः कार्यः ॥ २७० ॥

जो य हकारो(रे) गमओ, इ(ई)कारम्मि वि वियाण सो चेव ।

जो ए(य उी)कारे गमओ, क(ऊ)कारे ह्वइ सो चेव ॥ २७१ ॥

इकारस इकारस च द्वयोरसि प्रीतिस्त्वद्वह्ले प्रभे 'प्रीतिमें भविष्यतीति?' पूच्छन्तो-
(तोऽ)सि प्रीतिरित्यादेश्यम् । ए(ष)कारस [ऊकारस] च द्वयोरसि प्रीतिस्त्वद्वह्ले प्रभे प्रीति-
रनेन सह मे भविष्यतीति? चिन्ता(श्च)यर्षोऽसि प्रीतिरित्यादेश्यम् ॥ २७१ ॥ [१ १९ प २] ।

ऊकारे ज धुच, छट्टे प्यारसे य धारसमे ।

होइ सरे त सह, सधत्य घलाधलविसेसो ॥ २७२ ॥

इकारस ऊकारेण अकारेण च सातुस्वारेण सविसर्गेण च सह प्रीतिः । इकाराधिके प्रभे
पर्या खराणामन्यतमे दृष्टे प्रीतिं पूच्छतोऽसि प्रीतिरिति वाच्यम् । घलाधलविसेपत्र द्रष्टव्यः ।
अनभिहतो अस्त्रियां (बलीयान्) अनभिहतो दुर्बलः । प्रभमो भेदः खरवस्तु ॥ २७२ ॥ ॥

इदानीं [१ १९१ प १] व्यञ्जनविभागकरणस्यार्षेण कर्षभाह-

जो चेव पुषमणिओ, सजोओ वजणाण परि(य वि?)भाओ ।

सो चेव इह सधो, गयविलुलियवत्युए धीए ॥ २७३ ॥

य एव पूर्वोक्तव्यञ्जनानां खराणां च संबोगविभागस्यार्षेणोत्पत्तौ उपरिष्ठाह कर्षपस्य
(विष्य)सि गजबिलुलितन्यायेन । एवं द्वितीयो भेद(दो) व्यञ्जनविभाग इत्यः ॥ २७३ ॥ ॥

लहति ककारो गरुओ, सवग्गय(गिय?) खकारसजुओ च-वग्ग ।

अणुणासियसजुओ, कमसो पावेइ ट-सवग्ग(ग्गे) ॥ (१)

लमति गकारो गरुओ, सवग्गय(गिय?) घकारसजुओ प-वग्ग ।

अणुणासियसजुओ, कमसो पावेइ य-स-वग्ग(ग्गे) ॥ (२)

लल(म)ति चकारो गरुओ, [१ १९१ प २] सवग्गय छकारसजुओ ट-वग्ग । ॥

अणुणासियसजुओ, कमसो पावेइ त-प-वग्गे ॥ (३)

लहइ जकारो गरुओ, ज(स)वग्गाय झकारसजुओ [य]वग्ग ।

अणुणासियसजुओ, कमसो पावेइ स-क-वग्गे ॥ (४)

लहइ टकारो गरुओ, सधग्गाय ठकारसजुओ त-वग्ग ।

अणुणासियसजुओ, कमसो पावेइ प-य-वग्गे ॥ (५) ॥

लहइ डकारो गरुओ, सवग्गाय [१ १९२ प १] ढकारसजुओ स-वग्ग ।

अणुणासियसजुओ, कमसो पावेइ क-च-वग्गे ॥ (६)

लहइ षकारो गरुओ, सधग्गाय धकारसजुओ प-वग्गं ।

अणुणासियसजुओ, कमसो पावेइ य-स-वग्गे ॥ (७)

लहइ धकारो गरुओ, सधग्गाय धयारसजुओ क-वग्ग ।

अणुणासियसजुओ, कमसो पावेइ च-ट-वग्गे ॥ (८)

एव तु समावत्या, लहति अह् अणुवलाभिघाएण ।
 विट्ठा पुषाधरओ, लहति तो णतर वग्ग ॥ २७४ ॥

एव तु समावत् एव प्रसारेण छिद्यिरुत्ता । प्रभाष्यराजामधरघातु(राजु?)बलित्वाभासरं
 छद्येत् । उक्त[१ १९५ पा १]रान(जु)बलित्वाव् आर्त्तिगिताभिपूमितवग्ग(ग)धमेवासरं पयोक्तं
 यथा छद्येत् । पूर्वार्त्त(वै?)कमेण पूर्वोक्ताभिघावसु(ह)येन आर्त्तिगित्वावन्तरं वर्गं छमते ।
 अभिपूमित्वात् द्वितीयवर्गम्, वग्गत्वात् तृतीय वर्गं यथा प्रामुबंति तथा पूर्वोक्तम् । स्ववर्गा-
 धरसंयोगवस्तु तृतीयम् ॥ २७४ ॥ इदानीं चतुर्थो भेदः—[१ १९५ पा १]

परवग्गक्खरगरुमा, अ(ज)त्तियमिच्चेहि पण्ह आइह्छा ।
 ते सधे पचेय, पढम पावति सठाण ॥ २७५ ॥

प्रभाष्यराजा मध्ये यावन्मात्राः परवर्गाधरगुरवो दृश्यन्ते तेषामुपरि अहरो या स ॥
 मलेकं प्राप्नोत्तात्मनो वर्गम् । उक्तराजुबलित्वात् उचरं, अपराजुबलित्वावधरमिति ॥ २७५ ॥

सेसा सकायगरुमा, सधे वि लहति अप्पणो वग्ग ।
 सेसाण वि एस कम्मो, सव(ह)त्थ घलायलविसेसो ॥ २७६ ॥

सकायगुरुव(रवः) सर्वे [१ १९५ पा १] यथा प्रामुबन्त्यात्मनो वग्ग तथा उक्तमेव ।
 शेषाणामेव कम्मः । शेषमहणेनार्त्तिगिताभिपूमितवग्ग(ग)ध मध्यन्ते । ते यथा स्व[व]र्गं प्रामु- ५
 बन्ति तथा पूर्वभेदोक्तम् । सर्वत्र वलवस्यविशेषो ब्रह्मण्यः । इत्यभिहृता पक्षीयानी(नि)ति ॥ २७६ ॥

॥ चतुर्मद गजविल्लुलित समाप्तम् ॥

पण्हाइमसखाए, जाणिज्जा तमि वग्ग एक्केह्क ।
 नामक्खरं तु लब्भइ, एव से[से]सु वि कमेण ॥ २७७ ॥

प्रभाष्यमखाधरस्य वाऽनभि(मि)हृतस्य या संख्या तथा नामा[१ १९५ पा २]धरसंख्या ५
 शेषा । स एवानमिहृतः स्ववर्गाधरं छमते । एव येऽपि तत्रावसिष्टा अभिहृतालेऽपि स्ववर्गाधरं
 छमन् एव ॥ २७७ ॥

जत्थेऽट्टगाहरिप्पा, ह्वति तत्थेऽट्टय विसोहेत्ता ।
 ज तत्थ ह्वइ सेसं, त मिट्ठा(?)णामक्खरवग्गे ॥ २७८ ॥

प्रभाष्यराजा निपठितानां यथा एष्यो अक्षरेष्योऽभि(ति)रिच्छ [अ]धर भवन्ति तथा
 तेषां या संख्या साऽऽपाधरवृत्तमप्ये शोषयित्वा अक्षमिमा(मा)गमपट्टय छम्पावसि(रि)ष्टाव ५
 द्वौ वर्गौ छम्येते । [१ १९५ पा १]उपगातिगणनया च तौ गण[वि]त्तम्यौ । उक्तराधरवृत्ते प्रभे
 उक्तराधरो छम्येते । अपराधरपिक्के प्रभे अपराधर इति ॥ २७८ ॥

एवं तु समावत्ये, कीरइ णामक्खराण उप्पत्ती ।
 अणुयलिट्ठा(या)भिह्या त्रि य, पुषाधरवग्ग एक्केह्क ॥ २७९ ॥

प्रमाक्षराणां मध्ये ये अक्षरा अनभिहृताः स्वभावस्या उच्यन्ते तैः स्वभावस्यैरात्मीयवर्ग-
 प्याम(मांमामा)क्षराणामुत्पत्तिर्हेया । क्व ? उच्यते(रः) सम् उच्यते(रः) प्रप्लोति, अक्षराक्षरोऽपि
 अक्षराक्षरम् । [५ १९९ पा २]अभिहृतमहणेन आर्द्धिगिताभिभूमितद्वया मु(ठ)च्यन्ते । वेपथि-
 हतेषु अभिपाठसंख्या दृष्टदृष्टदोषेषु यस्मिन् यस्मिन् वर्गे ते दृष्टदोषाः, तस्मिन् तस्मिन् वर्गा-
 १ क्षराः प्राप्नुवन्ति । पूर्वापर्य आर्द्धिगिताभिभूमितद्वयमक्षरणमेव संख्यात्करण नाम ॥ २७९ ॥

अद्वयवर्गस्त भवे, गुणयारो सेसयाण एकेक ।

परिहायत कमसो, [५ १९० पा १] चरिमो एकेकओ सरिसो ॥ २८० ॥

स्वराणामष्टभिर्गुणाकारः । 'कृत्त ग घ ङा' सप्तभिर्गुणाकारः । 'ब छ ज हा(स) ञा'
 पञ्चभिर्गुणाकार । 'ट ठ ड ढा (ठ) णा' पञ्चभिर्गुणकारः । 'त थ द [ध] न' चतुर्भिर्गुणकारः ।
 ११ 'प क ब भा(म) मा' च(त्रि)भिर्गुणकारः । 'य र ङ ञा' द्वाभ्यां गुणकारः । 'स व स ङा' नो
 एके(के नै)च गुणाकारः । प्रमाक्षरस्वरसंख्यापिंडमेकीकृत्य प्रमा[५ १९० पा २]स्वराणामादौ
 अक्षरो यत्तुक्तवर्गसंख्याया ९ संगुणयाष्टाभिर्माणे कृते अक्षरोषा च कवर्गादिवर्गो हेयः ।
 निवर्तनं यथा — तावत्प्रमाक्षरः ककारवर्गप्रतिबद्धः । तत्प्रतिबद्धस्व(स्य) सप्तसंख्यागुणाकारः ।
 १२ तस्मात् प्रमाक्षरपिंड सप्तभिर्गुणयेत् । [५ १९० पा १] यदा प्रमादौ स्वरो दृश्यते ततो(रो)क-
 १३ स्वराष्टगुणकारेण प्रमाक्षरसंख्यापिंडं गुणयेत् । यदा प्रमाक्षरो हकारः तदा तद्वर्गप्रतिबद्धैकसं-
 १४ ख्यया प्रमाक्षरसंख्यापिंडं गुणयेत् । एवमन्येषामपि प्रमाक्षराणामुक्तगुणकारेण प्रमाक्षरसंख्या-
 १५ पिंडं गुणयित्वा [५]वृत्तमाहरेत् । प्रसंगनोक्तममु(मु)[५ १९० पा २]मेवार्थमुपरि गावथा
 पुनर्नर्णयिष्यति ॥ २८० ॥

पण्हर(स्त्र)रा उ सधे, आइम-गुणकारसगुणा काठ ।

१६ वग्गदृष्टुण धिमाए, सेसाण(णा)मक्खरुप(प्प)त्ती ॥ २८१ ॥

प्रमाक्षराणां निपतितानां यदादौ क्वत्स्वराष्टगुणकारेण गुणयेत् । सर्व-प्रमाक्षरसंख्या-
 पिंडं(डे) यदा आदौ स्वरा(रो) नास्ति तदा आद्यक्षरस्व संवधी ओ(षो) वगः तस्य गुणकारः
 तेन गुणयेत् । अद्वयिः मातोऽपहते क(ष्वा)वसि(त्रि)ष्टा(ष्टः) च-वर्गो हेयः । ये वर्गा उच्यन्ते-
 वेपास्तुत्तरापरक्रमेण अक्षरोत्पत्तिर्हेया ॥ २८१ ॥ [५ १९९ पा १]

१७ पचेय पचेय, एव पण्हरत्तरेसु सधेसु ।

गियगुणकार(री) गुणिए, अट्टविहि(ह)त्ते ह्वइ वग्गो ॥ २८२ ॥

प्रमाक्षरपिंडसंख्यामुक्तमिष्टगुणाकारगुणित(तां) मावयित्वा अष्टाभिर्वद्वयं तस्य शेषाच्च
 पूर्वं तद्वर्गो हेयः । पूर्वागाथा(वा?) नितरामेव[वि]त्तं न पुनः विलोकाव्यातम् ॥ २८२ ॥

धिताए मुट्टीए, णामे णक्खत्त मुट्टुणि(मिण)संस्साए ।

१८ अट्टविमाए छेत्ते, काले लेहक्खरेसुं च ॥ २८३ ॥

विवाचां मुट्टो नास्ति मध्ये तत्रे वाद्यक्षरसंख्याया नामाक्षरसंख्या हेया । [५ १९९ पा २]
 अष्टाभिर्माणे । 'अष्टाभिर्माणे क्षेत्रे' इत्येवमुच्यते — पूर्वाऽऽपेक्षी याम्मा नैर्कटी वादपी वायव्या
 कोपेटी येष्वापी — इत्यष्टाभिर्माणं क्षेत्रम् । तत्पूर्वविहितप्रक्रमेणा(ण) काष्ठप्रमाणं वद्वयम् । केला-
 क्षराम प्रमाक्षरैः पूर्वाभिह(हि)तक्रमेणैव विधेयाः ॥ २८३ ॥

अणोसु एवमाहसु, कज्जसु जहट्टि(च्छि ?)एसु सधेसु ।

गुणकारं काऊण, अह्णं प १० ण १ विहत्ते हवइ इच्छा ॥ २८४ ॥

अभ्येधेवमासिपु कार्केपु यथेधितेपु प्रभासुरसंख्यापिडभाषासुरसर्गोसुरसंख्यया गुणयित्वा
अह्विमके वर्गो छम्यते । तमेव पूर्वोक्तमर्थं बर्णितवाम् ॥ २८४ ॥

॥ गुणाकारप्रकरण समाप्तम् ॥

पचण्ह वि वग्गाण, जस्स य धग्गस्स पण्हमादीए ।

धग्गक्खर पईसइ, तमि हु णामक्खर [प १०, ण २] वग्गे ॥ २८५ ॥

पंचानामपि वर्गानां 'क' जट त प य सा' धानां पत्य वर्गस्य प्रभासौ अक्षरोऽनभिहृतो दृश्यते
तस्मिन् वर्गे एको नामाक्षरो छम्यते ॥ २८५ ॥

एव तु सहावत्ये, थलाघल-विसेसओ जहा पुह ।

एव विपक्ख(क्ख)राण, गमओ सपक्ख(क्ख)राण च ॥ २८६ ॥

समासत्वाः प्रभासुरा अमभिहृतास्तेषु बलाबलविधेयेषु यस्मिन् [प १०१ ण १] वर्गे ते
अक्षराः प्रतिबद्धास्तान् वर्गाम् प्रति छम्यन्ते । विपक्ख(क्ख)राः, के ? अक्षराक्षराः । संपत्कराद्धो-
त्तराक्षराः । उत्तररुत्तराक्षरा छम्यन्ते । अक्षराक्षरैरक्षराक्षरा इति ॥ २८६ ॥

वग्गक्खरमि दिट्ठे, तत्तो वग्गक्खर(रा) पवत(त्त)न्ति ।

पढम तइय छहु, नवम च तहक्खर जाणे ॥ २८७ ॥

वर्गोक्षरा इति । त एव प्रभासुरा छम्यन्ते । तेभ्यः प्रभासुरेभ्यः वर्गा [प १०१ ण २]-
क्षराणामुत्पत्तिर्हेया । ये वा प्रथम-द्वितीय-यत्र-नवम-प्रभासुरा अमभिहृता भवन्ति तदा ते
सर्ववर्गप्रतिपद्यक्षरं प्राप्नुवन्ति ॥ २८७ ॥

॥ उत्तराक्षरामी(णी)ति विभागप्रकरण समाप्तम् ॥

णामक्खराण एसा, पयडी णामाण चैव य पहाणा ।

तह करणमाइयावि य, पच य नामा भवे इत्य ॥ २८८ ॥

नामाक्षराणामेव समाधो बर्णितप्रधानः । तथा करणमादुकायु(प्र)द्वेणेन पचयत्वारिंशदक्षरा
मण्यन्ते । तेषामपि पंचभिः प्रकारैः अक्षरा छम्यन्ते आर्द्धिगताभिपूमितद्वग्गोत्तराक्षरैः ॥ २८८ ॥

णवम [प १०२ ण १] द्दमेसु एकेक्य तु एक उरेसु (रस्स ?) सठाण ।

एमेव य कठाण, सत्तद्धमएहि सह यो(जो)गो ॥ २८९ ॥

वरस(साः), ऋत्याः, सिद्धाम्हीपाः, तासम्याः, [मूर्द्धतासम्याः ?] इत्याः, व(भो)द्व्याः,
अनुमासिकाः, मूर्द्धन्या इति मत्र स्थानानि ब्रूयानाम् । तत्र नामाम्या(ः) मूर्द्धन्याः, तेषामन्यतम
आर्द्धिगतः यदा यदा अनुनासिकानां मध्ये अक्षरं छमति । अनुनासिकानामन्यतम आर्द्धिगत
३ ५

ओष्ठा(ष्वा)नां मध्येऽक्षरं छमते । ओष्ठा(ष्वा)नामन्वतम आर्द्धिगितः, [इत्थानां मध्येऽक्षरं छमते] इत्थानामन्वतम आर्द्धिगितः मूर्द्धताच्छ्रानां मध्येऽक्षरं छमते । मूर्द्धताच्छ्रानामन्वतम आर्द्धिगितः हास्रानां मध्ये[५ १०१ पा १]ऽक्षरं छमते । उरस्थानामन्वतम आर्द्धिगितः मूर्धस्थानां मध्येऽक्षरं छमते ॥ २८९ ॥

पचम-चउत्ययाण, जीहामूलेहि होइ सह जोओ ।

तास्रयाण जोगो, पढम-तइजेसु दोसु पि ॥ २९० ॥

मूर्द्धस्थानामन्वतम अभिभूमितः मूर्द्धताच्छ्रानां मध्येऽक्षरं छमते । अनुनासिकानामन्वतम अभिभूमितः इत्थानां मध्येऽक्षरं छमते । ओष्थानामन्वतम अभिभूमितः मूर्द्धताच्छ्रानां मध्ये[५ १०१ पा १]ऽक्षरं छमते । इत्थानामन्वतम अभिभूमितः तास्रानां मध्येऽक्षरं छमते ।

११ मूर्द्धताच्छ्रानामन्वतमः अभिभूतः जिहामूलीयानां मध्येऽक्षरं छमते । तास्रानां अभिभूमिताः कृष्णानां मध्येऽक्षरं प्राप्नुवन्ति । जिहामूलीया [अ]भिभूमिता उरस्थानां मध्येऽक्षरं प्राप्नुवन्ति । कृष्णानामन्वतम अभिभूमित(दो) मूर्द्धस्थानां मध्येऽक्षरं छमते । उरस्थानामन्वतम अभिभूमित [५ १०१, पा १]माधुनासिकानां मध्येऽक्षरं प्राप्नोति । उचरा उचरमेव, अचरा ए(एव)चरे (के)ति क्रमसंज्ञक्य स्वा(असा १)भिरुच्य सु(न १)गाथानुरूपमिति ॥ २९० ॥

वि सिय-चउत्येहि सम, संजोगो होइ मुद्धतालाण ।

पचम-चउत्यएण, जोगो वग्गाण वन्तेहि ॥ २९१ ॥

मूर्द्धस्थानामन्वतमो इष्यो इत्थानां मध्येऽक्षरं प्राप्नोति । अनुनासिकानामन्वतमो

[५ १०४ पा १] इष्यो मूर्द्धस्थानां मध्येऽक्षरं प्राप्नोति । ओष्थानामन्वतमो इष्यः तास्रानां मध्येऽक्षरं प्राप्नोति । इत्थानामन्वतमो इष्यः जिहामूलीयानां मध्येऽक्षरं छमते । मूर्द्धताच्छ्राना-

१२ नामन्वतमो इष्यः कृष्णानां मध्येऽक्षरं छमते । तास्रानामन्वतमो इष्य उरस्थानां मध्येऽक्षरं छमते । जिहामूलीयानामन्वतमो इष्यः [५ १०४ पा १] मूर्द्धस्थानां मध्येऽक्षरं छमते । कृष्णानामन्वतमो इष्यः अनुनासिकानां मध्येऽक्षरं छमते । उरस्थानामन्वतमो इष्यः ओष्थानां मध्येऽक्षरं छमते । उचराचरैरुचराभि छम्यन्ते । अचराचरैर्या[चरा]चरभि[इति] क्रमसंज्ञक्यो चम् । न गा[वा]नुरूपम् ॥ २९१ ॥

उठ्ठाण पुण यो(जो)गो, पचम-उठ्ठेहि होइ धग्गेहि ।

छठ्ठेण सचमेण, जोगो अणुणासियाण च ॥ २९२ ॥

क्रमसंज्ञक्य उचरभि(के)तं तत्रैव व्याख्यानं अर्थतो गाथेयमिति न वृत्ता(विहृता) ॥२९२॥

सचठ्ठमेहि दोसु वि, मूढणा(मुद्धण्णा?)ण [५ १०५, पा १] तत्रैव सी यो(जो)गो ।

धमो धग्गे एव, सिण्णि हु णामन्नररा पढमे ॥ २९३ ॥

१३ आर्द्धिगितत्पारेऽक्षरं छमते । अभिभूमितत्पारु द्वितीयं, इष्यत्पारुतीयमक्षरमिति । एष-पाम(एषोऽ १)ति गाथार्थः व्याख्यातः । अतो न विहृत इति ॥ २९३ ॥

सो(सा)हाविहा य एव, पयढीए पढमओ ह्यइ णामं ।

उचरमहरचउठ्ठे, धलायलवितेसओ विइए ॥ २९४ ॥

प्रमाह्वयणां मध्ये येऽक्षरा अनभिहृतास्ते स्वभावतः प्राप्नुवन्ति आत्मबर्गस्यै(र्गं तै)र्नाम निर्देशः कार्यः । उत्तरार्धे १०५ पा २ जुक्त इति 'अ च त या' निर्दिश्यन्ते । अक्षरचतुष्क इति 'क च ट व प य क्षा (क ट प क्षा णी)नां' निर्देशः । 'अ च त या'नामन्यतमस्य 'क ट प क्षा'नामन्यतमोऽप्रतो यथा भवति तथा स्ववर्गप्रतिबद्धाक्षरं प्राप्नोति । यथा 'क ट प क्षा'नामन्यतमस्य 'अ च त या'नामन्यतम(मा)क्षरोऽप्रतो भवति यथा स्ववर्गप्रतिबद्धाक्षरं छमते ॥ २९४ ॥

॥ स्ववर्गप्रकरणं समाप्तम् ॥

मूलस्तरा सवर्गो, एक्क जुच्चा लभति सद्वाणो(णे) । [१ १०५, १०६]
 परवर्गान्स्वरगद्युच्चा, वितिय च अणतर अहर ॥ २९५ ॥

मूलस्तराः ? के ते ? त्रयः । तैर्मुक्ताः प्रभे 'क च त या' 'र छ पाः' एवमेव मध्येऽन्य तमाक्षरं छमते । मूलवर्गप्रतिबद्धत्वात् । पञ्चमवर्गः स्ववर्गो मूलस्तराणाम्, षोषाः परवर्गास्तत्पराः, ११ तैर्मुक्ता एव मूलस्तराः । येषांक्षरेण युक्तस्वप्नस्वरस्मानतरो यो वर्गोऽपक्षवर्गप्रतिबद्धमेवाक्षरं प्राप्नुवन्ति ॥ २९५ ॥

उत्तरे(र)वर्गो एक्क, धीय पुण ह्ये जत्य संजुच्चा ।

अहरमि लभे तइय, दुविहा दिट्टी उ आकारे ॥ २९६ ॥ [१ १०६ पा २]

द्विप्रयोगसंयुक्तेन असंयुक्तेन च आकारेण एवमुपरिप्रयोगेष्वपि अक्षरव्यपि[ः] द्विषा ११ भवतीति । उत्तरेर्बर्गैः 'क च ट व प य क्षाः, ग ज ङ ढ व छ षा' इति । एवमन्यतमाक्षरस्वोपरिगते मूलस्तर अमत्तरमधोवर्गं प्राप्नोति । यथाहरणम्—ककारस्वोपरिगतो मूलस्तरः चवर्गं प्राप्नोति । चकारस्वोपरिगतः मूलस्तरः [१ १०७ पा १] च(ट णी)वर्गं प्राप्नोति । टवर्गस्वोपरिगतो मूलस्तरः षवर्गं प्राप्नोति । एवमन्येष्वपि द्रष्टव्याः । एवमेव प्रथम-द्वितीय-वर्गाक्षराणां प्रमायो एवमवो मूलस्तरोऽसंयुक्ते पश्चात्ततो व्यबक्षितस्वप्नस्वरस्य पूर्वस्य संबंधिवर्गं प्राप्नोति । एव ११ द्वितीय चतुर्थवर्गाक्षराणां अप्रतो(वः) स्थिता मूलस्तरा असंयुक्तास्तृतीयवर्ग[१ १०७ पा २]मंतवः प्राप्नुवन्ति । यथा अकारस्वामवो व्य(भ्य)बक्षितो मूलस्तर[ः] टवर्गं प्राप्नोति । छकारस्वामवो व्यबक्षितो मूलस्तर द्वितीयवर्गं प्राप्नोति । एवमन्येऽपि द्रष्टव्याः । आकारव(रः) ककार-स्वोपरिगत आकारः तस्मात्तोऽनन्तरं द्वितीयवर्गं प्राप्नोति । तस्य द्वितीयस्य वर्गात्पराक्षरमन्तवर्ं छमते । यथा ककारस्वोप[१ १०८ पा १]रिगतः अकारश्चवर्गं प्राप्नोति । चवर्गोऽप्यपराक्षरं ११ प्राप्नोति । एवं चकारस्वोपरिगतः आकारः टवर्गं छमते । अत्रान्यपराक्षरम् । एवमन्यत्रापि । एव ककारस्वोपरिगतः स्थितः अकारः चकारमेव छम्य(म)ते । तथा अपराक्षरोपरिगत स च वा(वा ?)कारोम(ऽ)मन्तवर्ं द्वितीयवर्गं प्राप्नोति । तस्मा(स्य) द्वितीयवर्गमन्तवरेवापराक्षरं [१ १०८ पा २]प्राप्नोति । एवमन्तवरोऽप्यसंयुक्तः । यथाहरणं यथा—पकारस्वोपरिगत आकारः ककारवर्गोऽप्यपराक्षरं प्राप्नोति । एवमन्येऽपि द्रष्टव्याः ॥ २९६ ॥

एवचु(न्तु) अहरवर्गो, एक्क वितिय तु जत्य संजुच्चा ।
 भातुस्तराण एव, दुविहा दिट्टी उ पयडीए ॥ २९७ ॥

द्वितीय चतुर्थवर्गयोस्परस्परौ अक्षरा धातुस्वरयुक्ताद्ये अपोवर्ग द्वितीयानतरं द्वितीयवर्गं प्राप्नुवन्ति । यथा सकार एकारेण अकारेण वा युक्तः एकारं प्राप्नोत्येवमन्वेऽपि इत्याद्याः । तयोरेव धातुस्वरयोस्त्वयते यथाऽपराक्षराणां अमयो[१ १०९ प १]भवत्संयुक्तः, तथा व्ये बाधतं प्राप्नोति । यथा सकारस्यामयो एकारदृष्टः रकारं समते । द्विविधा दृष्टिरिति प्रबोधः । [३]प्यते ॥ २९७ ॥

ह्रस्वस(स्स)भा य भवे(सवर्गो), एव(ः) तु लभति जत्य संजुचा ।
 द्वितीयवर्गे तद्य(सव)भग, लभति अहरेण पदमिच्छे(छि) ॥ २९८ ॥

द्विसंख्यप्रकारः 'अ इ ए उ' । क ए ट व प य क्षा'नां 'ग ज ङ ष ष सा नां' नाम्बन्धमाहरे [५] युक्त्यै स्वर्गं फलं प्राप्नुवन्ति । यथा ककार एकारेण युक्तः ककारं प्राप्नोत्येवमन्वेऽप्यह्य एवार्गं प्राप्नुवन्ति । संयुक्तसंयुक्तेरनुत्वा प्राप्तिः । द्वितीयवर्गाक्षरानां 'र उ ठ थ फ र पा'नां नाम्बन्धना- [१ १०९ प २]सूतो यथा(हा)भ्यवमहस्यत्युक्तः तथापत्युत्पीपवर्गं प्राप्नोति । यथा ककार एवतुर्थं 'अ इ ए उ' जन्मवत्मेन युक्तः तृतीयवर्गं प्राप्नोति । एव वद(ः)प्युत्तपनुवन्तिवत्त्वाऽप्युत्तप्यं प्राप्नुवन्ति । 'क ट' वर्गे च तृतीयम् । एवमन्वत्रापि ॥ २९८ ॥

॥ उपजनम्यरप्रक्षरण समाप्तम् ॥

जीया(हा)भूष्ठियफठाइसंजुओ लहइ निणिण उ हकारो ।
 उत्तरप[य]टिचटष्टे, ष्ट दो दोमु चरिमेसु ॥ २९९ ॥

'अ इ ए उ' इत्येते परकारः कर्णाः । 'क ङ ग पा' त्रिहामूर्त्तियाप्रकारः । एवामन्वत्तमा- ह्यरो जन्मवत् कर्णम्यरपुच्छत्रिहामूर्त्ती[१ १०९ प १]नानां मन्वेऽपरं प्राप्नोत्युत्तरानां(सु) वस्ति- तन्वात् । उत्तरं उत्तरमद्विचिचतुष्टमहजेन 'अ च व पा' उच्यन्ते । तथा चतुर्णां जन्मवत्तमो'द्युत्त, 'अं' एतौ परिमो जनयोस्त्वयतेण युक्त्यमेव युक्ताहरे समते । यथा 'अं' अनेन युक्त चकारे मति चकार एव सम्पत्ते । 'अः' अनेन युक्त चकारो सम्पत्ते । एवमन्वेऽपि इत्याद्याः । 'इमर' तिष्ठि च हकारो वर्त्तये वर्गे सम्पत्तयः त्रिहामूर्त्तियैरिति ॥ २९९ ॥

पमेय सैसयामु धि, दोमु(मु) धोम(मु) तु जामु सञ्चोञ्चो(जोगो) ।
 पयटीमु तामु ण्मो, हयइ हमारम्म [१ १०९ प २]अहिलासो ॥ ३०० ॥

एवं 'क ट व द'प्रकारः ककार-एकारयुक्ते द्वौ ककार-एकारावपरो देवामन्वत्तमाह्यरो- ऽप्युत्तमेन चरिमेत मरेण युक्तः येन युक्तः ग विर(व)िः तमव(व)िः समते । गरिगर्गे हकारः सातुम्यते वा जामानमेव समतं जामात् ॥ ३०० ॥

उत्तरपयर्गामु ष्ट(ग), लहति जामु(गु) च संजुया तामु ।
 ष्टष्टमर यत्ता, ट्टाता उरारमि(मि) जाय ॥ ३०१ ॥

तिंवेन(वर्ते) तु वा(व)िःम(व)िःमो 'अं' अः । कर्णानां कर्णानां मूर्त्तयः इत्याद्याः वाऽप्युत्तमेन चरिमेत मरेण युक्तः येन युक्तः ग विर(व)िः तमव(व)िः समते । एवमन्वत्तमाह्यरो- [१ १०९ प १] ॥ ३०१ ॥

अहरासु लभे एक, एकेक चैव जासु ज जुज्जो ।

अहरपयडीसु षउसु वि, वतावी जाव सुक्काण्हा (सुक्कणा ?) ॥ ३०२ ॥

इत्यानामोष्ठानाममुतासिक्कनां मूर्धन्यानां मध्येऽधराक्षरो वाऽधरस्वरः 'आ ई ऐ औ' एषां चसुप्रोथम्यतमेन सुकोऽधराक्षरोऽधराक्षरमेव छमते । उचरोऽप्येषां वृत्तादीनां मध्ये पूर्वैरेवाधराक्षरैर्यथा सुको(क)श्च वा अधराक्षरमेव छमते(ति) ॥ ३०२ ॥

॥ स्वभाषमकृतिस्त्रिभासा ॥

पठमसरा आइह्हा, तिण्णि वि उट्ठा य हो(हो)ति पयडीओ ।

वोसुचरपयडीसु, वोसि य सो अक्षत्तरे लहइ ॥ ३०३ ॥

प्रथ[१ १८१ पा २]सस्वरा आधाक्षयः 'अ आ इ' ओष्ठ्याक्षरैः सार्द्धमेपां स्वराणां मध्ये अकार इकारम् द्वाबुचरो अ(आ)कारोऽधरः । ओष्ठ्याक्षराणां उत्तरधोरन्यतरो यथा भवत्स-
प्रथः, तथा उत्तराक्षरं प्राप्नोति । एषां मध्ये ओष्ठ्याक्षराणामन्यतमस्याप्रतो एष्ट आकारोऽध-
रत्वेणो मध्येऽधराक्षरमेव प्राप्नोति ॥ ३०३ ॥ [१ १८२ पा १]

अका(उच)रिसर(रा ?)ठ कठा, वोण्णि वि चरिमा ह्वंसि पयडीए ।

एव एस विसम्भो, तिण्णि हु नामक्खरे लहइ ॥ ३०४ ॥

कंठ्या उत्तरस्वराः - 'अ इ ए ओ' चस्वाराः । तेषाममुत्सारेण अकारेण सविसर्गेण च सह
प्रीतिः । एवमेव ए(त्रि)संख्याः अकारः ए(त्रि)नामाक्षरं प्राप्नोत्येवयो(बो)परिगाभया व्याख्या-
कृति ॥ ३०४ ॥

अवस(वर ?)धरासु एकेक्य तु एक च ख(ळ ?)भिइ मिस्तासु ।

पचम-छट्ठा [१ १८२, पा २] तह सत्तमा य मां तइउ(?)पयडी ॥ ३०५ ॥

प्रभे यथा अधरवर्गां द्वौ अधरो द्वितीयवर्गाक्षराणां यथा प्रभे 'अ छ ट थ फ र पा' स्वर्गा
क्षराणां चांतरद्वौ दृश्येते तथा तयोरन्तरोऽक्षरो छम्यते । यथा सकारस्वामयः चकारोऽधरस्वितः ।
एवमन्यत्रापि । तथा उत्तरेषु प्रथमवर्गाक्षराणां 'क ख ट थ प य द्वा'नां द्वितीयवर्गाक्षराणां च 'ग ल
व व ख सा'नां यथा प्रभे द्वावक्षरावर्गवरा वा द्वौ दृश्येते तथाऽनधोरेको छम्यते । यथा कका-
रस्वामयो गकारः । एवमन्यत्रापि । एवं च अधरोत्तरं छमत् इति । उच्य एव सिद्धा स्थितिः ।
यथा प्रभे एक उत्तरा अधः तस्मात्तोऽधरोऽधवाऽधर आधः (तस्मात्तोऽधरोऽधवापर
आधः) तस्मात्त उत्तरक्षरामिषाये [१ १८२, पा २] हुंके सति इयोरन्तरोर्धो वक्षयान् [उ]
छम्यते एक एव । यंथम उकारः, पठ ऊकारः, चतुम एकारः, इत्येतेषां त्रयाणां इकारेण सह
भीतिरिति(महति)रिति प्रीतिरुच्यते ॥ ३०५ ॥

कठाअ(ऽ)गुणासि उव्य(?ट्टा), तिण्णि वि तइयस्त सो लहइ (?) ।

वोसुच[र]पयडीसुं, एक अहरासु तह जाण ॥ ३०६ ॥

अकारस्य एकारस्य उकारस्य वा कंठ(ठ्य)स्य पदाऽप्रवोऽनंतरं इकारो दृश्यते, तथा स्वेन पूर्वस्वरमवाप्नोति । अनुनासिकानां 'अथपनमानां' ओष्ठानां 'अथपनानां' (पेकवमा)'अं' च पचामन्वतमन्वोपरिगत इकारस्येवाक्षरं समते । प्रभोत्तरप्रकृतिद्वय । प्रकृतिप्रभो मैत्री-पर्यायः । 'अकं अथपनु जानीह(श्चि) इमेतनुपरिष्ठा[त्] न्वास्यास्यति ॥ ३०६ ॥

ईका[१ १८१] च २ प्रस्त चठत्या, मुहृहा(ऋणा) सेसया जहा तहए ।
अक्स्वरलमो जो उतरामु सो चैव अहरामु ॥ ३०७ ॥

एकारस्य मूर्धन्या(म्ब)स्वामतः कित ईकारे(र) ऐकारं समते । ओकारो(रस्त्री)मूर्धन्यस्वामतोऽन्-
कित ईकार ओकारमेव प्राप्नोति । 'र' अथपानां(पां) मूर्धन्यानामन्वतमन्वोपरिगतः ईकारस्येवाक्षरं
प्राप्नोति । ईकारस्य पचाऽध्वरजाम अक्षः, [१ १८४] च १] एष ईकारस्याप्यध्वरजद्वयेऽक्षः ॥ ३०७ ॥

जा ईकारे पयडी, चठरो सा चैव ह्रीइ उ(यी) उकारे ।
अक्स्वरलंमो जो पचमस्त सो चैव पयस्त ॥ ३०८ ॥

चतुर्थस्य ईकारस्य उकारेण सह मीतिः । मीतिज्ञानः स्वभावपर्यायः । 'ईदेवी' इमेतेषां
च(त्र)पायां आम्बतमन्वामतोऽनंतरकित उकारस्येव पूर्वस्वरं समते । 'र' [छां]पा' पामन्वतम
स्वा(स्) पस्वामो[१ १८४] च २] मुक्त उकारस्येव समते । पंचम उकारो पचाक्षरं समते इकारोऽपि
३०८ चैव प्राप्नोति ॥ ३०८ ॥

जीहामूलियकठा, तालबाणुणासिया य एकारे ।
अक्स्वरलंमो तहए, जो वि य सो चैव इहय पि ॥ ३०९ ॥

त्रिहामूलीयातां कंठ्यानां तालस्यानामनुनासिकानां पामन्वतमाक्षर एकारेण मुक्तः उपरि
गतेन तमेवाक्षरं एकारः प्राप्नोति । कंठा(ठ्या)नामपि स्वराणां आम्बतमन्वानंतरममतोऽन्कित
३०९ एकारस्येव पूर्वस्वरं समते । एकारेण षोऽध्वरजामः स अक्षः । ऐकारेण चक्षति ॥ ३०९ ॥

अधर(उर)कंठोहा दता, मुहृदं(ऋणा)णुणासिया[१ १८५] च १] अट्टमए ।
अक्स्वरलंमं इह, त पि य अहराहरे लहह ॥ ३१० ॥

उरस्थानां कंठ्यानां ओष्ठ्यानां इन्सानां मूर्धन्यानां अनुनासिकानां पामन्वतमाक्षर(उ)ध्वर
ऐकारेण मुक्तोऽध्वरक्षरं प्राप्नोति । अध्वरक्षरोऽन्वेषां मध्ये ऐकारेण मुक्तोऽध्वरक्षरमेव प्राप्नोति ।
३१० एषां मध्ये ऐकारेण (स्व)पामन्वतमस्वामता(ता) कित ऐकारस्येव स्वरप्राप्नोति ॥ ३१० ॥

जीहामूलियकठा, उट्टा अणुणासिया य ऐकारे ।
अक्स्वरलंमं एनो, लहह तहृज्वस्त गमणेण ॥ ३११ ॥

त्रिहामूलीयाः 'पठ' अज्ञाः । कंठ्या 'अइहए' । ओष्ठ्या [१ १८५] च २] ऐकवमा' ।
अनुनासिका 'अथपनमाना' । पचामन्वतमस्य पचोपरिगत ऐकारस्येवाक्षरं समते । स्वामा-
३११ मपि पचामतोऽनंतरमवधिज्ञानमेव पूर्वस्वरं समते । पचा एतीव इकारो उकारमवाप्नोति ।
उकारोऽपि तमेवेति ॥ ३११ ॥

मुद्गणुणासियकठा, तालघा मुद्गतालधतोद्गा ।

वस[म]सरे पयढीओ, [प १८९ पा १] अक्खरलभ जहम्मा(हुम)ए॥३१२॥

मूर्द्धम्यानुनासिककठ(ठप)वस्त्रम्य-वृत्तोद्गाः(सौष्ठवाः) । तेषामभ्यतमोऽधराक्षरस्योपरिगतः वक्ष मस्त्रस्येवाक्षरं छमते । उत्तराक्षरोपरिगतः वकारोऽधराक्षरमेव छमते । एतत्प्रतिबद्धस्वरणां 'आ ई ऐ' अभ्यतमस्यामतो वच(ऽनन्त)रमबधिस औकारः[ः] पूर्वस्तरं छमते । यथाहम[प १८९, पा २] ' पेकारोऽक्षरं छमते । पयमौकारोऽपीति ॥ ३१२ ॥

मोत्तु पचमपयढी, एकारसमस्त सेसया अट्ट ।

एक्केक्क वतोद्दे, मुद्गण्णे अक्खरे एक्क ॥ ३१३ ॥

परस्वाः कंठ्याः जिह्वामूलीयाः तालघ्या मूर्द्धतालघ्या वला औष्ठा मूर्द्धम्याः । एषां अष्टानां अभ्यतमोऽक्षर एकादशमः(सर्ग)स्वरेण युक्तः तमेवाक्षरं छमते । (एषामष्टानां षः १ [प १८७ पा १] एकादशस्वरेण युक्तः षमेवाक्षरं छमते ।) एषामष्टानां ष एकादशस्वरेण युक्तं स एव छम्यत इति ॥ ३१३ ॥

जो ह्का(क्का)रे म(ग)मओ, पुह(धु)चो सो इह विसग्गमि ।

एयस्स णत्तिर(वरि ि)पयढी, सखा वि य तत्तिया चेव ॥ ३१४ ॥

अकारः सानुस्वारः यथा हर(ी)कारं प्राप्नुवन्ति(प्राप्नोति) । एव हकारः[ः] सविसर्ग- १ हकारमेव प्राप्नोति । द्वावष्टानां [प १८७, पा २] स्वरणां यस्तु (बस्तु(ी)भावाः स वर्णितः । प्रवृत्तिस्तद्गन्तः तन्मात्रपर्याय इति ॥ ३१४ ॥ समाप्त ॥

अणमिन्नगगव(हते य अ ि)यारे, अ ज खा ट च त था वाय(ि) एकारे ।

अभिघाह िअट्टमे पचममि ॥ ३१५ ॥

अकारेण अ सा म हा व ट(ी)कारस्य(स्वाम)षो ष्यबस्थितेन ककार एव छम्यते । अकारे १ अनभिहते ब(ब)कारस्यामतः स्थिते बकार एव छम्यते । आकारे अनभिहते(ते) वकारस्यामतः स्थिते टकार एव छम्यते । अकारे अनभिहते वकारस्यामतः स्थिते वकार एव छम्यते । अकारे अनभिहते यकारस्यामतः स्थिते [प १८८ पा १] यकार एव छम्यते । एकारेण युक्ते एकारो(रे) ककारो छम्यते । एकारेण युक्ते उकारे ब(ब)कारो छम्यते । एकारयुक्ते ठकारे टकारो छम्यते । एकारेण युक्ते धकारे तकारो छम्यते । एकारेण युक्ते रेफे यकारो छम्यते । अष्टमस्य ऐकार(स्व) एकार(स्व)स्य संयोगकञ्चमुच्यम् ॥ ३१५ ॥

अणमिहते आकारे, ख छ ज झ त ह् अभिहयति दो चरिमा ।

ठ थ ट त ईकारंमि, उ फ र प य चठरो [अ(ि)आरंमि ॥ ३१६ ॥

रकारस्यामतः स्थितेन अनभिहतेन अ(आ)कारेण गकारो छम्यते । उकारस्यामतः स्थितेन अनभिहतेना [प १८८ पा २] कारेण उकारो छम्यते । जकारः सानुस्वारः उकारमेव छम्य(भ)ते । १ (उकारस्यामतः स्थितेन अनभिहतेनाकारेण उकारो छम्यते । जकारः सानुस्वारः उकारमेव

छम्बते) शकारः सविसर्गो शकार एव छम्बते । ङ(ङ)कार इकारयुक्तो टकारं छम्बते । वकार इकारयुक्तः बकारमेव प्राप्नोति । फकार वकारयुक्तः पकारं छम्बते । रेफ बकारेण युक्तः बकारं छम्बते ॥ ३१६ ॥ [५ १८५, प १]

जह् पठम-सत्तमाण, तद्ज(य)णवमाण तद् घ सद्वाणे ।

— पठम-सद्वाणुणासिय, घ ज्ञा य छद्दुमि अणमिहते ॥ ३१७ ॥

गकारस्वामतोऽनन्तरमवस्थितः अनभिहृत इकारो गकारमेव छम्बते । बकारस्वामतोऽनन्तर-
मवस्थितः अनभिहृत इकारो बकारमेव छम्बते । ङकारस्वामतोऽनन्तरमवस्थित अनभिहृत इकारो
ङकारमेव छम्बते । इकारस्वामतोऽनन्तरमवस्थितः [५ १८५ पा १] अनभिहृत इकारो इकारमेव
प्राप्नोति । प(प)कारस्वामतोऽनन्तरमवस्थितो(तः) इकारो(त्) प(ब)कारमेव छम्बते । छकारस्वाम-
तोऽनन्तरमवस्थितेन अनभिहृत इकारो[हकार]मेव छम्बते । सकारस्वामतो वाऽनन्तरमवस्थितेन [अन-
भिहृतः ?] इकारः सकारमेव प्राप्नोति । लकार व(वो)कारसंयुक्तः जोकारं छम्बते । झकारः जोकार-
संयुक्तो[५ १९० प १]घोकारं छम्बते । ठकार जोकारसंयुक्तः टोकारं छम्बते । ढकार जोकार
संयुक्तोः [ठो]कारं छम्बते । फकार जोकारसंयुक्तः पोकारं छम्बते । रेफ जोकारसंयुक्तः योकारं
छम्बते । पकार जोकारसंयुक्तः स(सो)कारं छम्बते । पठ औकारेणा(पा)मिहृतः पकारस्वामतोऽन-
न्तरमवस्थिते पकारमेव छम्बते । बकारो[५ १९ प १]ऽनभिहृतो शकारस्वामतोऽनन्तरमवस्थितः
शकारमेव छम्बते । शकारोऽनभिहृत अकारस्वामतः स्थितः अकारं छम्बते । औकारोऽनभिहृत
इकारस्वामतः स्थितः इकारं छम्बते । उकारोऽनभिहृतः उकारस्वामतो(र)स्वामतोऽनन्तर-
मवस्थितः अनुस्वारमेव अकारं छम्बते । यथा पूर्वगाथया प्रथमस्य अकारस्य, सप्तमस्य च
पकारस्य प्रयोगे उक्तः, तथा तृतीयस्य इकारस्य, नवमस्य औकारस्य प्रयोगो वर्णितः पञ्चाङ्गनामि
गाथान्तरेणार्थः ॥ ३१७ ॥

अनिघाङ्गैस्तु छद्दे, ह्यङ् ह्यारो हु अद्भुतो णवमो । [५ १९१ प १]

छं ङ चतु तद्वाणुणासा, घसमसरे तिग्णि ऊ भवमा ॥ ३१८ ॥

बकारोऽनन्तरमवस्थितेन ओकारो(रेणा)मिहृतो हकारं प्राप्नोति । मकारस्वामतो
ऽनन्तरमवस्थितो गकारः अनुर्ध्वबकारं प्राप्नोति । टकारो दक्षमन्तरेण युक्तस्तृतीयं व(ङ्)कारं
प्राप्नोति । 'भवमा'स्य पञ्चमपमौय [ः] ॥ ३१८ ॥

पठम-सद्वाणुणासा, घ ज्ञा य द्दोण्ह पि अस्तिमसराण ।

धाधा(धाधी)सद्भुमो करणो, णामेण य(?) ह्यमोहिञ्चो एत ॥ ३१९ ॥

प्रथमो टकारः अनुसारेण अकारेण युक्ते बकारं प्राप्नोति । बकारः सविसर्गः बकारं
छम्बते । तृतीयो गकारः सानुस्वारो[५ १९१ प १] गकारं छम्बते । गकारः सविसर्गः गकारमेव
छम्बते । पकारः सानुस्वारः पकारं प्राप्नोति । प(स)कारः सविसर्गः शकारमेव छम्बते । शकारः
सानुस्वारः शकारं प्राप्नोति ॥ ३१९ ॥

॥ द्वायिंशतिकरण समाप्तं । अश्वमोहितं नाम समाप्तम् ॥

उत्तरसरसजुत्तो, जइ उत्तरवजणो य दीसेज्जा ।

पावइ य पढमवग्गो, अहरस्सरसजुत्तो तइय ॥ ३२० ॥

उत्तराः के ? 'अइएइ' इत्येतेषां चतुणामन्यतमेन युक्तः [१] प्रथम-वृतीयवर्गाक्षराणां कषट्ठपक्षज्ञानां, गज्जइइकसा नां अन्था [५ ११२, पा १] उभोऽक्षर आत्मीय वर्गं समते । यथा 'क्वि' कखगपा नां मध्येऽक्षरं प्राप्नोत्युत्तरानुवक्षितत्वात् उत्तराक्षरम् । एव सर्वत्र । अक्षर- ३
क्षराः के ? 'आइयेओ' । एषां चतुर्णामन्यतमेन स्वरेण युक्ता तेषां प्रथम-वृतीयवर्गाक्षराणां अन्वयमाक्षरं वृतीयं वर्गं प्राप्नुवन्ति (प्राप्ति) । यथा 'क्वि' कखगपा नां वृतीयवर्गाक्षराणां मध्ये ३
इकाराक्षरं प्राप्नोति ॥ ३२० ॥

उत्तरसरसजुत्तो, पचमवग्ग तु पावए अहरो ।

अहरस्सरसजुत्तो, सत्तम पावए अहरो ॥ ३२१ ॥

उत्तरक्षराः के ? 'अइएइ' । एतेषां [५ ११२ पा २] चतुर्णामन्यतमेन युक्तोऽक्षराणां ३
कषट्ठपक्षरपाणां, पज्जइइकसा नां चान्यतमाक्षरं पचमवर्गं समते । यथा लकारलो ३
परिणतोऽकारः पचमवर्गाक्षरं प्राप्नोति । उत्तरानुवक्षितत्वाद्दुत्तरम् । एवमन्येऽपि । तथा पकारो ३
ऽनुत्तरस्वरसंयुक्तः पंचमवर्गाक्षरं [५ ११२ पा १] समते । एव सर्वेऽपरा उत्तरस्वरसंयुक्तः ३
पचमवर्गं प्राप्नुवन्ति । अक्षरक्षरा 'आइयेओ' एतेषां चतुर्णामन्यतमेन युक्तः द्वितीय चतुर्थ- ३
वर्गाक्षराणामपराक्षराणामन्यतमः सप्तमवर्गं प्राप्नुवन्ति (प्राप्ति) । यथा लकारो अक्षरस्वरसंयुक्तः [३] ३
सप्तमवर्गं प्राप्नोति । अक्षरानुवक्षितत्वाद्दुत्तरः । एव कर्त्ता [५ ११२ पा २] उभोऽक्षरस्वरसंयुक्तः [३] ३
सप्तमवर्गं प्राप्नोति । तत्राप्यपरम् । तथाऽपरोऽप्यक्षरस्वरसंयुक्तः [३] सप्तमवर्गं प्राप्नोति । ३
तत्राप्यपराक्षरम् (१) । एव फटपा इति । तथा पक्षरः सप्तमवर्गं प्राप्नोत्यपराक्षरानुवक्षितत्वात्- ३
पराक्षरम् ॥ ३२१ ॥

एव लमति पढम(मे), वग्गे सरवजणेहि सजुत्तो(त्ता) ।

उत्तर-अहराणुबला, लमति पुष्ठावर वग्ग ॥ ३२२ ॥

यथा प्रथमवर्गे सु(स्व)पक्ष[र]संयुक्ता समति अक्षरात् यथाभिहित पूर्वमेव । से च ३
क्षरा उत्तरानुवक्षितत्वाद्दुत्तराक्षरं प्राप्नोति । [५ ११४ पा १] अक्षरानुवक्षितत्वात् अपराक्षरं ३
प्राप्नुवतीत्येवमपि पूर्वोक्तं पुनरनेन स्थिरतामापादयता बर्णितम् । पूर्वं इत्युत्तराक्षरं चक्ष्यते । अपर ३
इति चात्रो मण्यते ॥ ३२२ ॥

उत्तर-अहरसरो घा, लग्गो जो जमि वजणे होज्ज ।

उत्तर-अहराणुबला, लमति तइ(हे)यसर तत्तो ॥ ३२३ ॥

उत्तरक्षरा(र) इकारः, अक्षरस्वर ईकारः [३] उत्तराक्षरे[र]परो(१) विद्यम उत्तराक्षरः उत्तरो ३
विद्यम [३] वक्षानुवक्षितत्वं प्राप्नोति । इकारः [३] वृतीयस्वरं प्राप्नोति ॥ ३२३ ॥

॥ उत्तराक्षरसपत्करण समाप्तम् ॥

पठमो तद्द्विओ य सरो, पण्डार्हिए सम ककारेण । [प ११४ प १]

जद्द्वीसद्द्वीसो लस(म)ए, क्यग्गए अन्तर एक्क ॥ ३२४ ॥

प्रभाषराणामासौ ककारस्वावस्थितस्वामप्रतोऽन्तरं यद्वा प्रथमः स्वरः अकारो दृश्यते तथा अकारः [ः] ककारं प्राप्नोति । तृतीयक्षरेण युक्तः [ः] सकार आक्षिप्तप्रभाषराणां ककारवर्गाक्षरमक्षरं समते । उत्तरानुबन्धितत्वात् उत्तरम् । एवमन्वयेऽपि प्रथम-तृतीयवर्गाक्षराः [ः] प्रभाषराणामाक्षिप्त्वा अकारे(र)प्रतोऽन्तरमक्षिप्त्वा इकारेण वा युक्तः(त्वा) स्ववर्गाक्षरं समते ॥ ३२४ ॥

एएहि चैव सहिओ, लहद्द्वी खकारो चवग्ग एक्केक ।

तद्द्वयन्वरिमा [प ११५ प १]सवग्गो, लहद्द्वी घकारो टवग्गंमि ॥ ३२५ ॥

प्रथमक्षरेण अकारेणामप्रतोऽन्तरमक्षिप्तेन इकारेण वा युक्तः लकारः [ः] चवर्गाक्षरमक्षरं समते । उत्तरानुबन्धितत्वात् उत्तरम् । तृतीयवर्गाक्षराणां ग ख ङ च छ सा णां चरिमाणां क च ज न मा नां अन्वयप्रतोऽक्षरो अकारेऽप्रतोऽन्तरमक्षिप्ते इकारेण युक्तः [ः] स्ववर्गाक्षरमक्षरं समते । उत्तरानुबन्धितत्वात् उत्तरम् अकारे(र)स अकारेऽप्रतोऽन्तरमक्षिप्ते इकारेण वा युक्ते अकार(र) टवर्गाक्षरमक्षरं प्राप्नोति उत्तरानुबन्धितत्वात् उत्तरमेवैति । [प ११५ प १]गाथाद्वयस्यापि धर्षं व्याख्या प्रकारेण दृश्यते(दृश्यते) रचना - क का(च) कि ग एवा एव ख खौ(ी) लकारयुक्तो यद्वा तथा प्रथमक्षरेण चकारं समते । तृतीयेन य(म)कारम् । लकारोऽपरत्वाद् द्वितीयवर्गा(मै)प्रवर्षी खरुत् बन्धितत्वात् अक्षरसिद्धिः । रचनापूर्वकवर्गा अप्रत्यात् क छ सि ख । तथा अकारः प्रथमस्वर(र) युक्तः ठकारं समते तृतीययुक्तः ङकारं । रचना - प ट थि ट(ड) । एवं चवर्गाक्षरीनां श्लेषवर्गाक्षरीनां च श्लेषवर्गाक्षराणां अन्वि [ः] रचनामात्रं दृश्यते(दृश्यते) - चवर्गास अ इ युक्तस्य प चा सि ख । अस्माभः - अ चा सि ख । अस्माभः - य चा सि ख । अस्माभः - इ ट सि ड(थ) । एवं चवर्गाक्षरी-रचना । ट ट ति ड । अस्माभः - ठ ट ठि ड । अस्माभः - ङ ङ ठि ड [प ११६ प १] अस्माभः - ज ट थि ट । अस्माभः ट प थि ख । चवर्गास रचना - त त थि ड । अस्माभः - च प थि प । अस्माभः - द त थि ड । अस्माभः - इ त नि ड । अस्माभः - य य थि ड । चवर्गास - प प थि प । फ थ थि ड । च प थि ख । म य थि ख । म छ थि थि । चवर्गास रचना - ए य थि ड । अस्माभः - र स रि स । छ छ थि ड । अस्माभः - क क थि ग । चवर्गास प्रत्याट - छ छ थि थि । अकारेण युक्तः [ः] स स थि थि । अस्माभः - ङ(र) क थि ड(हि ड) । एवं चिरत्वात् अक्षरसिद्धिः चत्तवग्ग(इ)प्रव्या ॥ ३२५ ॥

सत्तम-णावमेहि सम, लहद्द्वी ककारो चवग्ग एक्केक ।

तद्द्वयन्वरिमा थि एव, ग्वटवग्गो घतवग्गो य ॥ ३२६ ॥

प्रभाषौ ककारः सप्तमेन एकारेण युक्तः नवमेन व(जो)कारेण युक्तः चवर्गा [प ११६ प १]

क्षरमक्षरं समते । तथा तृतीयो गकारः, चरिमा ङकारः, सप्तम-नवम-स्वरयुक्तः चवर्गाक्षराक्षरम् । एवमुक्त इति । तथा गकारः सप्तमेन नवमेन वा स्वरेण युक्तः टवर्गाक्षरमक्षरं चत्तवग्ग-बन्धितत्वात् उत्तरम् । तथा अकारः सप्तमेन नवमेन वा स्वरे[न] युक्तः चवर्गाक्षरमक्षरं समते चत्तवग्गबन्धितत्वात् उत्तरमिति ॥ ३२६ ॥

सेसाण वि एस कमो, चादीण अट्टमा [५ ११० पा १] वसाणार्णं ।

अहरवि(व)रि एकेक, परिहा[य]इ वट्ट(इ)इ अहरो ॥ ३२७ ॥

प्रकारेणास्वार्थो दर्शयितव्यः । श्लेषाणामप्येव क्रम इति । प्रभाकराणामादिस्वितस्व
ककारस्य चकारस्य वा चकारेण वा ककारस्य युक्तस्य यथायस्ववर्गाक्षरस्यम उक्तः । चाहयोऽपि
इकारान्ताः सप्त सप्त प्रसक्त(सा)रेणयुक्ता उकारयुक्तः [१] पूर्ववत्स्ववर्गाक्षरमक्षरं समन्ते । उत्तराक्षरो
ऽपरकारयुक्तः परिधीयन्ते(ठि) [५ ११० पा २] अत्यसंख्यो भवतीत्यर्थः । अपराक्षरोऽपरस्वर-
युक्तो बद्धंते बहुसंख्यो भवतीत्यर्थः । एवञ्च विश्वरेण वर्णितमिति नोक्तम् ॥ ३२७ ॥

आकारीकारेहि, लमइ समेधो ककारो [य] चवगो ।

तइय-धरिमादि एव, लमइ स्कारो य-ट-तवगो ॥ ३२८ ॥

ककारः आकारेण युक्तः चवर्गाक्षरमक्षरानुबलितत्वात् [५ ११० पा १] चरं प्राप्नोति ।
ककार ईकारेण युक्तः [१] टवर्गे अपराक्षरं अपराणुबलितत्वात् । एव गृहीतगकारः, पञ्चम
इ(ई)कारः क्रमेणाकारयुक्तः चवर्गाक्षरं, ईकारेण युक्तः टवर्गाक्षरं अक्षरं अपराणुबलितत्वात् ।
लकार आकारेण [युक्तः] टवर्गे अपराक्षरं प्राप्नोति । प(स)कार इ(ई)कारेण युक्तः [१]
टवर्गाक्षरमक्षरं [५ ११० पा २] समन्ते अपराणुबलितत्वात्परम् । एव द्वितीयवर्गाक्षराः श्लेषाः
अकारेण क्रमेणाकारयुक्तास्तृतीयवर्गाक्षराणि समन्ते । इ(ई)कारयुक्तान्पूर्ववर्गाक्षरं प्राप्नोति
(श्रुतमिदं) अपराणुबलितत्वात्परम् । अन्यगाधया अनुमेवार्थं प्रकाशयते - ककार आकारयुक्तः
ईकारयुक्तश्च क्रमसाः(सा) चवर्ग-टवर्गा समन्ते । यथा - का च की ट । अस्माधः [५ १११ पा १]
लकार-चकाररचना - सा ट की य । अस्माधः - गा च गी ठ । अस्माधः पकारः आ(आई)कार-
युक्तश्च । ट-पवर्गो प्राप्नुवन्तः (प्राप्नोति) ॥ ३२८ ॥

चवर्गगाधामाह -

त-पवगोसु प्रकारो, दोसु वि एकेकय लमे कमसो ।

सेसाण वि एस कमो, चादीण सधवग्गाण ॥ ३२९ ॥

पकार आकारयुक्तः चवर्गाक्षरमक्षरमप्राप्नोति । पकार इ(ई)कारेण युक्तः पवर्गाक्षरम-
प्राप्नोति । क(ी)काराद्यन्पूर्ववर्गाक्षराः श्लेषाः पद आकारेण युक्तान्पूर्ववर्गाक्षरं प्राप्नुवन्ति ।
इ(ई)कारयुक्ताः पञ्चमवर्गाक्षरमक्षरानुबलितत्वात् [५] समन्ते अपराणुबलितत्वात् । यतौक्त(योक्त)क-
[५ १११, पा २] मित्र । एव च चकारावयो इकारान्ताक्षर आकारेण ईकारेण वा युक्ता यथा प्राप्नु-
वन्ति चवर्गाक्षर(रा)क्षरामिदम् (हि ताः) । प्रकाशरोऽत्र लिख्यते - अजन्तरस्यापच्छात् - पा य पी भ ।
एवं चकारः चकारं । की टकारम् । आपतादनन्तरस्यापच्छात् - उ च बी डा । एवमेवौ द्वितीय
चवर्गमात्रौ श्लेषवर्गाक्षरानुबलितत्वात्(सार)तोऽपि चक्ष्म्याद्या(भ्यो वा)वत् स्ववर्गं [५ २, पा १] इति
पूर्वस्या गामया चवर्गं आर्द्धान्त्वक्रमेणेति ॥ ३२९ ॥

क-च-टादीनां पढमा, चरिमो(सा) य सम लहसु (ह तु) कारेण ।

लमइ तवगो एव, साणुस्तारे य सधिसगो ॥ ३३० ॥

ककार(ी) क च ट वग-त्रयस्य ग्रहणम् । आदिशब्दाच्छ्लेषवर्गाणामपि कवर्ग-चवर्ग
टवर्गस्य च प्रथमाः । ककार चकार-टकारोचे(राभ्ये)वम् । एते प्रभाहो उकारेण सह दृश्यमानाः

१ असावैवार्थः प्रकाशयते अथवा अनुमेवार्थं प्रकाशयति इति मन्वत् ।

- [५ २ पा १] किं कर्मत इत्यत आह—पद्यस ककारा उकारयुक्तः पकारं कर्तते । पकार उकारेण युक्तः यकारम् । टकारा इकारम् । भाषासंख्यानियमेन श्लेषवर्गीणामपि चरमः । पद्यानेव क्रमेण—कश्चन एते उकारयुक्ता एत एव कर्मते(न्ते) । यथा कुकार पकार(रि) युक्तर उकारे गुकार सकार [५ २ १ पा १] रचना—कृप कुप हुप (स) । अस्मापत्वात्—कृप कुप हुप ।
- अस्मापत्वात्—गु अ । पुठ । हुस । ततः पंचमः—कृप । कुप । पुस । अस्मापः वतुर्धः—पुम । हुव । हुह । एवं छम्बिक(रि) ककारवर्गस्य तथा रचना ककारस्यापि टकारस्य च । 'कश्च यद्दीर्घां पद्यां चरिमा य सप्त उकारेणे'ति गाथार्यः [५ २ १ पा २] व्याख्याया ॥ 'कश्च उवन्ते' इत्येतत्सर्वं व्याख्यायते—'त पद्यस(स)' वतुर्धामेवां वर्णानां छम्बिक(रि) कन्तिन्वादेन यथा उकार पकार-यकार-सकाराणां उकारसद्विधतायां क्रमेणैव छम्बिः । केवां ? उकार-ककार यकार-उकाराणां
- स्थापनात् । अ पुक । पुक । हुट । अस्मा० पुमा । कृस वठपु । ठ । अस्मापः—हुइ । गुगलु । अस्तुम । अस्मापत्वात्—हुअ । मुडा । पुम् । गुप । अस्मापः—हुई । गुप । पुक । हुह । एवं यथा त पद्यस वर्गीयस्यारणां छम्बिक(रि) ककारेण सह तथा श्लेषाणामपि । यथा—उकारेण सह छम्बिः[ः] यकस्या इति । व्याख्यायतेतत्सर्वे [५ २ १ पा १] 'कर्मति तवर्गे एव'मिति । 'सामुस्वारे च सविसर्गे' इत्यस्य गाथापश्चात्तस्य व्याख्या कु(कि)यते—कवर्ग-यवर्ग-
- उवर्गीस्यः ककार-यकार-उकाराः सामुस्वाराः—कं चं ठ एते पूर्ववद् यथा उकारसद्विध कर्मते । तद् विवृण्विसर्गोभ्यां अपि । विन्दोर्पुक्तस्योदाहरणम्—ककार[ः] विन्दुसद्विधः पकारं कर्मते, 'वं' इत्येपा(व) प(प)कारम्, 'ठं' इत्येव सकारम् । स्थापना—कंप । चं व । ठं व । अस्मापः—रं फ । ठं र । ठं प । अस्मापः—म च (रं व) । ज छ । चं स । अस्मापः—वं म । सं व । सं ह । अस्मापः—डाम सु ट च (सं म । सं प) । रं स । चत्तरे समासावपति । अकार
- पु(सु) अथरमेव । सविसर्गे(वे) च यथा—कः प । यः प । टा स । [५ २ २, पा २] अस्मापः—कः फ । छ र । च(ठ)ः प । अस्मापः—गः व । जा छ । डा स । अस्मापः—जः म । यः प । यः स । अस्मापः—पः म । हा व । डा ह । यथा एषां सामुस्वारस्य (स)-विसर्गक्रमेण छम्बिक(रि) तथा 'त पद्यस' इत्येतेषामपि प्रकारः—म(रं) अ । पं क । पं व । सं(रं) ट । अस्मापः—वं जा । पं(कं) स । रं छ । [वं ठ] वं ह । पं(वं) ग । मं(सं) अ । मं ड । अस्मापः—मं जा । मं वः(डा) । पं वः । ग(स) या । [५ २ २, पा १] अस्मापः—पं ई । मं प । व ह । ई व । सविसर्गे(गी)त्येवं यथा—टा अ । पा क । यः व । सा ट । अस्मापः—पा जा । फः ज । रः छ । पा ठ । अस्मापः—दा इ । पा स । [वः ग] डा स । सा ड । अस्मापः—मा अ । मा क । पा म । सा न । अस्मापः—पा ई । मा प । वा स । डा व । सामुस्वार-विसर्गावेष्टौ । अथवाऽन्यथा रचनाक्रमेण शुद्धराग(ह) ॥ ३३० ॥

१ मूलवर्ते एतेऽपीवमङ्गरस्थापना प्रवृत्ततास्तिस्रश्च वपकन्वते अतोऽथचात् योऽङ्केषु द्वादशेषेषा प्रवर्तते अस्माभिः । —पंचरथः ।

सामुस्वारानां कवर्गानां स्थापना	सविसर्गानां कवर्गानां स्थापना—	सामुस्वारानां उववर्गानां स्थापना—	सविसर्गानां उववर्गानां स्थापना—
१ कं व चं वं ठं षं २ ए अ ऊ ई औ षं ३ ग घ ङ ञ ण स ४ य र ल श ष ह ५ ऋ ॠ ऌ ॡ ऋ ॠ	१ कं व चं वं ठं षं २ ए अ ऊ ई औ षं ३ ग घ ङ ञ ण स ४ य र ल श ष ह ५ ऋ ॠ ऌ ॡ ऋ ॠ	१ कं व चं वं ठं षं २ ए अ ऊ ई औ षं ३ ग घ ङ ञ ण स ४ य र ल श ष ह ५ ऋ ॠ ऌ ॡ ऋ ॠ	१ कं व चं वं ठं षं २ ए अ ऊ ई औ षं ३ ग घ ङ ञ ण स ४ य र ल श ष ह ५ ऋ ॠ ऌ ॡ ऋ ॠ

कचया(टा)वीण पठमो, चरिमो य सम लभतुकारेण ।

लभद्[प २ १, पा २] तवग्गे एङ्, साणुस्तारे य सविसग्गे ॥ ३३१ ॥

'कचटादि' इत्यनेन कचटसपयज्ञा नां प्रथमो वर्गः । तृतीयस्वराः(वर्गः) गज्जड
 रचलसा नौ । पञ्चमः कचणनमाः । एवमेवादिग्रहण समर्थित मवति । एते कचटा वयः
 उकारसहिवा यथा—कृषुदृदृपुयुष्टु । मसो(पते?)षस्तात् पञ्चमवर्गोचराम् लभन्ते यथा—तपय
 स(स) । अकचट । तृतीया[प २ ४ पा १]स्तु गज्जडा वयः उकारसहिवा यथा—जुगु(गुजु)
 इदु(गु)कृसु । एतेऽपि स्व(स्व)भ्याम् क्रमेण पञ्चमो पञ्चमो लभते(?) दृषलसगज्जडवया
 (वावयः) । अन्ता उकारयुक्ता यथा—कृषुणुतुसु । ग(य)वर्ग-सवर्गयोः पञ्चमः क्रमासध्वः,
 शिक्षासध्वः । प्रमकाष्ठे तावपि भ्रुत्वा पचमस्य य-सवर्गमाप्तिर्भवेति । यथा—मय य स दु । क्रम
 सध्वः, शिक्षा[प २ ४ पा २]स्यम् । एते सप्त । “कचटा वीण पठमो षड्गो चरिमो सम
 उचरेण लभद् तवग्ग” इत्येतद् व्याख्यातम् ॥ ३३१ ॥

ख-छ-ठाविर्हि सहिया, एते उ हवति छट्टुप वग्गे ।

घ-झ-ढाइर्हि सहिया, सप्तमवग्गे लभे एङ् ॥ ३३२ ॥

उकार उकारयुक्तः पष्ठे षड्गोऽक्षरमुत्तरं प्राप्नोत्युत्तरानुबलितत्वात् । छकार उकारयुक्तः
 षड्गो उचरानुबलितत्वाद्दुत्तरम् । ठकार उकारयुक्तः अक्षरौ उचरानुबलितत्वात् उचरस्वरम् ।
 एवं य फ र णा(पा)[अ]पि । छकारः अनुस्वारयुक्तः पष्ठे षड्गो उत्तर[प २ ५ पा १]राक्षरं लभते ।
 स एव सविसर्गो युक्तोऽपरम् । छकारः सानुस्वारः सवर्गो उत्तरमभाप्नोति । प्रकारः सानुस्वारः
 अपवर्गो उत्तरं लभते । विसर्गयुक्तोऽपरम् । एवं छकारोऽपि [स]विसर्गयुक्तो षड्गोऽपरमिति ।
 एवं य फ र पा ऋळथाः । एवं गाथामागर्वशब्द(मागर्वशब्दार्थः) । ‘घ-झ-ढाइर्हि सहिया’
 उकारविन्दुविसर्गाः । य(घ)कार ओ(घ)कारयुक्तः सवर्गो उत्तरं लभते । विन्दुयुक्तः सवर्गो यवोत्तरं
 लभते । स एव प्रकारः विसर्गयुक्तः तत्रैवापरमिति । एव क(झ)कार उकारयुक्तः सप्तमे सवर्गो
 पष्ठपानुबलितत्वाद्दुत्तरं, स एव विन्दुयुक्तः [प २ ५ पा २] सभिन्नेवोत्तरं लभते । विसर्गयुक्तः
 अपरम् । एवं छकारोऽपि । एव च सर्वथा(मि य हा) अपि स्वस्वात्सप्तमं वर्गोत्तरं लभन्ते ॥ ३३२ ॥

उत्तरवजणसहि[या], सप्तमवग्गे लभति सेससरा ।

अहरेर्हि अ संयु(जु)त्वा, लभति अह्राहरे वग्गे ॥ ३३३ ॥

उत्तराः [प २ ६ पा १] प्रथम-तृतीय-पञ्चमवर्गाक्षराः परिसिद्धेः स्वरेः ‘ऊपे औ’ इत्येते
 स्व(कि)मिर्युक्ताः आत्मीयावात्मीया[न] सप्तम ईकारयुक्तो सम्भवेत् । प्रमाक्षरापामाविस्वित्तस
 मराऽपरतः हकार हकारयुक्तो दृश्यते तथा टकार इका[प २ ६ पा १]रयुक्तो लभ्यते । प्रमा-
 क्षरापामाविस्वित्तस यवामतः टकार ओकारयुक्तो दृश्यते तथा ऋकारो लभ्यते । अपरवर्गा [अ]-
 यवपरमक्षरं लभन्ते अपरस्वरयुक्ताः । इत्येव पञ्चमो(ई)गाथार्थः ॥

अथवाऽस्म(ध्या) गाथ(धा)या इयाख्या—उत्तरवर्गत्रयस्यैवः ‘ऊपे औ’ द्वयोऽप्येते
 उचरव्यञ्जनसहिवा यथा—कृषुदृदृपुयुष्टु । ऊकार अपस्तात् उत्तरव्यञ्जनसहितो लभते
 क्रमसः(हा) सर्वस(ई)वर्गं यथा—अ अ क च ट व प । यथा उत्तरव्यञ्जना येषु वर्गेषु अपरावुबति

यत्वावपराक्षरम् । तथा उत्तरव्यञ्जनाः-गूञ्जूञ्जु [प १ ७ पा १] गूञ्जु एतं अन्वि ।
 क्रमेणैव स इ गज ङ व वाः, एषु वर्णेषु अक्षराणुवलिखित्वाक्षरं समन्ते । तथा गूञ्जुगूञ्जु
 क्रमस(सः) सप्तमवगा यथा क्रमेण चि(च)ञ्चमराणुवलिखित्वाक्षर(र)मिति । ई(पि)कार उत्तर
 व्यञ्जनसहितः यथा-के वै दे दे वै वै कै । अविभक्तु क्रमसः(सः) एषु वर्णेषु द(त्रि)या प्रथमे ।

• [†] वस्वावपराक्षरं । पु । अ क च ट व पा । एव ग क ङा इवोऽपि ऐश्चरानुञ्ज
 ङकम्बाः । ङ म पा य य म्ति । तथा ऊ(औ)कारयुक्तो उत्तरव्यञ्जनाः । औ औ टी दी पौ पौ
 सौ(शौ) । अन्विभक्तु सप्तमवगां अक्षराणुवलिखित्वाक्षरम् । स क च ट व पाः । एवं ग क ङा इवो
 ङ म पा य योऽपीति । एवं ऊकार-येकार-औकारयुक्तः अक्षरा अक्षर[र] समन्ते । खूङ्खू
 पूरूप । अन्विभक्तुभ्यवे अक्षराणुवलिखित्वाक्षरानेव [प १ ७ पा १] व आ ङ ङ ट व ङ ।
 • तथा, गूञ्जूञ्जु गूञ्जूञ्जू । अन्विभक्तु वर्णेषु अक्षराणुवलिखित्वाक्षराक्षरसन्धिः । अ इ प ङ ट व म
 यथा ङकारयुक्तयथा ऐकारौकारावपि वाच्यमिति एव अक्षरयवेषु समन्ते । इत्युक्तो गाथायै
 इति ॥ ३३३ ॥

लमइ ककारो जुक्तो, चकारवगमि तद्वय-न्वरिमेण ।

ट[त]वमो जइ पण्ठे, वसमसरो [प १ ८ पा १] तद्वर्जो यावीए ॥ ३३४ ॥

• ङकार प्रमाक्षराणामाविति(व) ईकारेण सासुसारेण युक्तः चकारोऽङ्कमक्षरं समन्ते ।
 उत्तरयुत्तरानुवलिखित्वाक्षरमन्तं । प्रमाक्षराणामौकारस्वामिभक्त्यस्य पक्षामत आकारयुक्तो टकारो दृश्यते
 तथा आकारयुक्तकार एव समन्तं । अक्षरस्वामिभक्त्यस्य प्रमाक्षर(रेपु) पक्षामत [प १ ८ पा १]
 टकारः इकारयुक्तो दृश्यते तथा टकार एव ईकारयुक्तो समन्ते । प्रमाक्षराणामौकारस्य पक्षामतः
 वकारो अकारयुक्तो दृश्यते तथा वकारो समन्ते । औकारावितिभक्त्यस्य पक्षामतः वक्षर ईकार
 • युक्तो दृश्यते तथा वीकारो समन्ते । प्रमाक्षराणामावितिभक्त्यस्य इकारस्य क्या(शाऽ)मतः वकार
 आकारयुक्तो दृश्यते तथा वकार आत्मानं समन्ते । प्रमाक्षराणामावितिभक्त्यस्य इकारस्य पक्षामतः
 वकार इक्षरयुक्तो दृश्यते तथा वकारो समन्ते । औकारस्यामतः वाकारो यथा दृश्यते
 तथा [प १ ९ पा १] वाकारो समन्ते । औकारस्यामतः ईकारो दृष्ट ईकार एव समन्ते । इक्षर
 स्यामतः वाकार आत्मानं समन्तं ॥ ३३४ ॥

यित्तिव-न्वटत्येहि सम, सरेहि सो चैव लमइ त-पवग्गे ।

सचम-शवमेहि सम, सेमेहि सम अहरवग्गे ॥ ३३५ ॥

• पूर्वाङ्गो अक्ष(स्वा) गाव(वा)या अक्षरव्यञ्जनात्पक्षामत पर्वितः । प्रमाक्षराणामावितिभक्त्यस्य
 वकारस्यामतः टोकारं समन्ते । औकारस्य प्रमावितिभक्त्यस्य पकार पकारयुक्तः ऐकारं समन्ते ।
 औकारस्य प्रमावितिभक्त्यस्यामतः पाकार औकारयुक्तो पो(पौ)कारं समन्ते । इक्षरस्य प्रमावितिभक्त्यस्य-
 • [प १ ९ पा १]मतः इकार(वकार) वकारं समन्ते । इकारस्य प्रमावितिभक्त्यस्यामतः टो(टी)कार
 टोकारं समन्ते । ईकारस्य प्रमावितिभक्त्यस्यामतः भित्तः[वक्षरौ] ऐकारं समन्ते । इक्षरस्य प्रमावितिभक्त्यस्य
 स्यामतः वकारो टोकारं समन्ते । इक्षरस्य प्रमावितिभक्त्यस्यामतः सित्तस्य [वकारौ] ऐकारं समन्ते ।
 इकारस्य प्रमावितिभक्त्यस्य ॥ ३३५ ॥

† अत्रादये किंचाद् वाच्यं नानि ।

यितिएण य सजुचो, चकारवग्गो लभइ [५ २१ पा १] तइयवग्गे ।

प-यवग्गे पुण लभइ, चत्तारिस(म)एण सजुचो ॥ ३३६ ॥

चकार एकसंख्याक[कः], ककारोऽप्येकसंख्य एव । ततः संयोगा[बु]द्धौऽक्रान्तिकसंज्ञः । ककारोऽप्येकसंख्यात् । यथा 'कू' । स यत्रतत्रस्यः प्रमे प्व(ख)यगाम् प्राप्नुवः (प्राप्नोति) । टकारो ककारयुक्तेऽर्द्धक्रान्तिकसंज्ञः यथा 'दू' । स यत्रतत्रस्यः प्रमे पयग प्राप्नोति । चतुर्थवकारेण युक्तः [५ २१ पा २] ककारोऽर्द्धक्रान्तमापन्नो यद्योक्तः स यत्रतत्रस्ये(खः) प्रमे तृतीयवग प्राप्नोतीति ॥ ३३६ ॥

जो अ ककारे गमओ, भणिओ सो चेव तइय-चरिमाण ।

आइम-तइयाभिहए, लभइ तकरो हु त पवग्गे ॥ ३३७ ॥

यथा ककारः प्रथमस्वरेण तृतीयस्वरेण वा युक्तः सवगाक्षरं लभते । एव तृतीयवर्गाक्षरं ॥ यथा ग क ड व ङ सा नां, चरि[५ २११ पा १] भाषां क ञ ण म मा नां चान्यतमाक्षरप्रभे प्रथमस्वरेण तृतीयस्वरेण वा युक्तः आस्मीयवर्गेऽक्षरमवाप्नोति चत्तरानुबलितस्वाद्युत्तरम् । खकारः प्रथमस्वरेण युक्तः तवर्गेऽक्षरमेक प्राप्नोति चत्तरानुबलितस्वाद्युत्तरम् । स एव खकारः तृतीयस्वरेण युक्तः पवर्गेऽक्षरमेकमवाप्नोति चत्तरानुबलितस्वाद्युत्तरम् ॥ ३३७ ॥

लमए धीव(इ)यजुचो, चकारवग्गो य तइया[५ २११ पा २]वग्ग य । ३३

चत्तारिमएण सम, लभइ यकारो पवग्ग उ ॥ ३३८ ॥

चकारो द्वितीयस्वरयुक्तः टवर्गं प्राप्नोति । यकारश्चतुर्थस्वरेण य(प)वर्गं लभते ॥ ३३८ ॥

जहू मेओ उ चवग्गे, तहू य कयग्गमि चेव णायधो ।

एव धिय दा(ता)वीहि, सरेहि मेओ मुणेयधो ॥ ३३९ ॥

यथा चकारो द्वितीयस्वरयुक्तः तृतीयं वर्गं प्राप्नोति प-यं(बं) ककारोऽपि द्वितीयस्वरयुक्ते ऽ द्वितीयं वर्गं प्राप्नोति । टकार चकारावप्येवमेव ॥ ३३९ ॥

एमेव सेसयाण, चावीण अट्टमावसाणाण ।

सरवग्गाण य जोगो, अरुक्कतक्कमो होइ [५ २१२ पा १] ॥ ३४० ॥

एव यथा प्रथमवर्गः शेषाक्षराणां ककाराद्यसप्तं(ष्टमां)तानां तृतीयवर्गाक्षराणां ग क ड व ङ ङसा नां चतुःसंख्यानामक्षराणां यः संयोगः सार्धं(िभाट्ठे)ऽक्रान्तिकसंज्ञः । तस्य संयोगस्य अपस्वाम् ३ षोऽक्षरः स तृतीयवर्गं प्राप्नोति । दुस्मसंख्यस्य स्वरसाक्षरस्य च यः संयोगः सोऽप्यर्द्धक्रान्तिकसंज्ञः । अः तृतीयवर्गं प्राप्नोति ॥ ३४० ॥

पण्हाइमसंखाए, सधे पण्हक्खरे गुणेऊण ।

उवरिल्ले पक्खेउ, आइल्ले अट्टहि विभाए ॥ ३४१ ॥

सेस वग्गे णामक्खर होइ ।*

जइ पुच्छइ क म(स)रं तो, करेज्व अह[५ २१२ पा २]त्तर कमसो ॥ ३४२ ॥

* मूलवर्त्स जला गावाया पनाया ङव पूर्वाइ ङवमभ्यने । अपिइतवाव इत्यामापि ।

प्रमाक्षरमध्ये हव(प)रिस्तराणां संख्या उपरिमात्ररहितानां च संयुक्तद्वयानां वा अर्ध-
क्षरसंख्या तामेकीकृत्य पृथग्(क) स्थापयेत् । परिच्छ(मि)धानां प्रमाक्षरानां निचयान्तररक्षणानां च
या संख्या तामेकीकृत्य स्थापयेत् । अ क च ट व प य स ष र्गाणां वसु-मुनि-रस-स(ब)र-सगाट-रि-
पम चम्राः क्रमसो(लो) गुणकारा[१] । प्रमाक्षरानां सात्रायक्षर प्रतीकयो गुणान्तर, तेन गुण-
मिता स्थापितां अक्षोऽक्षरसंख्यामुपरि[१] २११ य १]स्तराक्षरं प्रबद्धं स्थापितं तत्रैव प्रथिप्रा-
मिर्माणेऽपहृते छम्पाच्छेपाच्च द्वौ वर्गौ छम्प(म्बे)ते । छम्पवर्गो वपुषिका(क)वपुषिका
पुनर्माणे हृते छम्पाच्छेपाच्च(ब)द्वौ वर्गौ पुनर्छम्प(म्बे)ते । ककारावचो छम्पवर्गः छेपञ्च
क्षेयाः ॥ ३४१-३४२ ॥

एमेव सेसवर्गो, णामक्स्वरपा(या)ण ह्वइ एक तु ।

जइ हृच्छसि त करणं, करणे(रे)ञ्च अघराक्षर तथो ॥ ३४३ ॥

तत्र छेपवर्गो(ब)र्धवर्गोच एकैक नामाक्षरं छम्पते । प्रमाक्षरानां निपत्तिवर्गं च
पूर्वोच्चारणपरम्प्रेणाक्षरानुत्तरमपरं वायाही ॥ ३४३ ॥

॥ वर्गाक्षरसंयो[१] २११ य २]गोत्पादनं समाप्तम् ॥

अत्यु(ण)सार विसर्गाविही, ण(णा)यवो होइ सव्वभोमणे(हे) ।

चउसु वि विसासु एव, वग्गे ण(णा)मन्त्वरुपपत्ती ॥ ३४४ ॥

सर्वतोभद्र[१] प्रक्षारमंतरेण न शक्यते वर्सेवितुम् । अनुस्वारविसर्गमहजेन छेपक्षरानामपि
सूचना कृता । अतो अक्षरमन्तरयोगाच्च(ब)द्वर्षेपि विष्णु(इव)क्षरपाठनिकया सुलदुःखजाभास-
पीवित्तरणाद्यपि नामाक्षरोत्पत्तिरपीति प्रक्षारेण वर्से(वर्ष)व इति सर्वतोभद्रस्य महाकारस(न)न
मूळप्रतिपदावारस्या(म्या)वत्पणपचदपार्थमित्(म्ब) म्यासमात्र [१] २१४ य १] वंछि पछि(१)
तिरूपते । तत्र मूलप्रतिपदा अष्टमंडलमध्ये अकार वस्य पूर्वतः एकारः । दक्षिणतः ऐकारः ।
अपरतः उकारः । उत्तरतः औकारः । द्वितीयवर्गे पूर्वोद्विगारि अ क च ट व य स ष र्गाणां वपुषिका
दक्षिणानि आ र ट ठ व क र प । वसुधे अपरानि इ ग ज ड ढ ञ छ स । पंचमे वत्तपारि व
प ष ङ ष म ष द । भूयः पदावरणे पूर्वानि आदिस्-भौम शुक्र-पुष-गुरु-सनि चन्द्र-राहु-यर्वन्ता
भदाः । रूर्वा(ब)भौमोपु(न)रे पुनर्वसु पुष्या-श्लेषा । भौमशुक्रमन्तरे मथा चन्द्रानौद्वं च ।
शुक्र-दन्तः । शुक्रपु[१] २१४ य २]याम्तरे चित्रा स्वाति विसाया । पु[१] २१४ य ३]याम्तरे
अमुताया येतामूमानि । शुक्रमन्तरेऽतरे आपाडाऽभिजित्प्रवज । वृहस्पत्योपरि पूर्वोक्तानां ।
मनभ्रगंतरे धनिष्ठा शतभिषा पूर्वभाद्रपदा । चन्द्रोपरि वत्तमाश्रपदा । चन्द्रराहु न(ब)मन्तरे
रेवती अधिनी भरणी ऋषि । राहुम्याम्तरे कृत्तिका [१] २१५ य १] रोहिणी वृषसिरभ्येति ।
रूर्वोपरि आश्रा । एतन् पदावरण पूर्वोद्विगारिदः ॥

मेव क र ग प ष । वृषः प ट ङ ष ष । मिथुन हृपोपरि म(गा)कारः । वकायेपरि
निगुमः । दक्षिणम्यां क र ट ङ । मगः ट ठ ड ढ ञ ङ कारम्योपरि मिहः । व ष ष म ष द
व्योपरि वत्तः(म्या) । अपरदिगा(गा)दी तुष्यः(वा) । च ष ष म ष [१] २१५ य २]वका

पुंरताः च विचारं चार इति अर्थवर्ति ।

लोपरि वृद्धिः । परछव यंनमोऽयं कुंयक्षयो लकारोपरि घुः । छपरतो मरुः । सपसह
 पंचमोऽयं हिंहुतः क्षभः शकारोपरि हुंमः । कखगपक मकारोपरि मीक्षः ३ व्यब सप्तमा-
 वरणम् । अष्टमसिद्धानी-पूर्वावितः कचछजक्षभ । अटठडडण । अतयवधन । पफ
 वमम । एपरछव । क्षपसह । वकखगपक । अछजक्षभ । एवा(वम)ष्टमम् । मवर्म
 इतानी-पूर्वावितः अटठडडण । अतयवधन । पफवमम । सपरछव । वक्षपस
 इ । ककखगपक । पचछजक्षभ । अटठडडण । दशमसिद्धानीम्-टतयवधन । क्षप
 कवमम । एपरछव । कक्षपसह । पकखगपक । अचछजक्षभ । २१५ पा० ३ । अक्ष
 म । अटठडडण । अतयवधन । एकादश(म)सिद्धानी-वपफवमम । कचरछव ।
 पक्षपसह । अक्षजक्षभ । अचछजक्षभ । अटठडडण । अतयवधन ।
 द्वपफवमम । द्वादश[म]सिद्धानीम्-पपरछव । क्षपसह । अकखगपक । वचछ
 जक्षभ । अटठडडण । अतयवधन । कपफवमम । पपरछव । त्रयोदश[म]सिद्धानीम्-
 पक्षपसह । टकखगपक । सचछजक्षभ । अटठडडण । अतयवधन । पफवमम ।
 चपरछव । पक्षपसह । चतुर्दश[म]सिद्धानीम्-क्षभ, कषा, कइ, गई, पच(वी), अच
 (डी), अए, अय(दे), छछ(लो), अऊ(बी), क्षभं, अषः । कअ, उषा, ठइ, व(ड)ई, डड,
 अअ(ऊ), पए, अये, पषो, इषो, अषं, नषा । अ[अ], पषा, फइ, वई, [प २१५ पा २] ।
 मय, मऊ, अए, अये, अच(लो), छऊ(लो), अषं, डषः । इअ, [अ] आ, [अ] इ, सई,
 इअ, लअ(ऊ), गए, कए, अच(लो), गअ(लो), अषं, ग(अ)अः । पंचदश[म]पूर्वावितः
 अकअटतपपस । ए । अकअछठअफरप । आ । इगअडवअअस । ओ । ओ पक्षड
 प्रमथइ । ई । अकअटतपपस । ए । आ अछठअफरप । ऐ । इगअडवअअस ।
 ई । पक्षडअमथइ । औ । एवं पचदशावर्ण(रण)पर्यन्तोऽयम् ॥ ३४४ ॥ [प २१० पा १] ॥

॥ सर्वतोमद्रः समाप्तः ॥

सर्वतोमद्र इति महरि(क)श्वराइयधरविधानेन येन केनचिद् पयाविस(क्ष)मावातस्मा
 देसो(इवा)श्वराण(वि) च प्राद्यानि । अन्यत्र विधानं इति । मगद्यार्थं च इह लिखितमिति ॥ ४ ॥

कठतरिओ धि उरो, उ(पी)रमार(वी?) सो न गच्छए सोसु ।

अवसेसंति(समंत?)रिओ पुण, आइल्लमणतरं पावे ॥ ३४५ ॥

‘अइएच’ एते कठपाः । एतेपामन्वतमो[प २१० पा २] इकारसे(अ)मभाक्षपरिक्ख
 पयाऽमवः एवा इकार एव छभ्यते । ‘अइएच’ एतेपां कंठ्यानां अन्वतमादिक्खस्य ‘आईअऊ
 देओईअः’ एतेपां अपरिदिहखराणां अन्यतमो पयाऽमवः सिवमेवापमन्वतं एवा कंठपा(अव)
 कंठ्यते ॥ ३४५ ॥

उच्छाराविंसु एव, पठमतरीओ ण एइ परभाव ।

अभिहमं(म्म)तो पुरओ, आदिअ(छ्छी)मणतर लमइ ॥ ३४६ ॥

इकारस्य इकारस्य प्रथमस्य मभाक्षपरिक्खस्य यथाऽमवोऽन्तरे ककारे प्रथमो दृश्यते
 एवा इकार एव छभ्यते । इकार(रे) ककारेप्यादिगिदे आसिओ [प २१० पा १] इकार एव
 छभ्यते । इकारस्य कंठ्यसंयोगकरणम् ॥ ३४६ ॥

तीस भायए सदा काल

ज सेसं सा हु तिही, वोच्छ णक्खत्तकरण से

लब्धाओ जा तिथीओ, या(हीणा) रूपेण कण

मुक्क पि वोहि भाए, माससनामादिरिक्खत्तगण

सर्वथा प्रमाद्विमी छाया राम(स)यो द्वावस होरेति पचद्वयान

कीच्छत्त दुम्स(विह)त्पचगुणाक्षेपः । वर्तमानविधियुक्तं च कृत्वा क्षेप ग

पदमो विसमो उ सरो, विसिओ य समो तइ

विसमसमो य चउत्थो, सेसा एव सरचउक्का ।

प्रमाद्वरणामादिभ्यो गकारो विष्[म] इति इकारयुक्तं गका

पकार स ईकारयुक्तो पकार एव उच्यते । इकारो विषम इकारयुक्तो

एव समवग्गाण, चउत्थ्या विसमवग्गायाण च

णायथा णतरओ, विसमा [५ ११५ प १] विसम

समसरे[ज] युक्तसमाद्वरणेष उच्यते । विष(प)मसरेण

एवं सर्वे ककारयुक्तो इकारयुक्तः समसरे(रे)र्मुक्तः समाद्वरणेष

विषमोद्वरण एव उच्यन्ते ॥ ३४८ ॥

सममजोएण समो, लमइ थ विसमो य विस

वग्गे दिट्ठी एसो, भणिओ वग्गक्खरवि[५ ११५

समस्ररवोगे व्यक्तं समं उच्यते । स्रं च विषमस्ररसंभे

उच्यते । स्रत्थ विषम एव प्राग्व[५]र्वः । ततोऽस्ररस्ररविभागे स्रं

॥ संकट-चिकट समाप्तम् ॥

वग्गक्खरवि तिपु(गु)णिया, खेवो पदमक्खरस्स

तिट्ठु चउत्थु अधो अठे, तंमि य णा[म]क्खर

प्रमाद्वराः । एव वर्गाद्वराः । प्रमाद्वराणां विषयान्वरण

ए(वि)गुणां कृत्वा प्रमाद्वराणां ककारादीनां इकारांतानां अन्यतम

विहात्वं च प्रक्षिप्य ये ककारादीनां इकारांतानां [५ ११५ प १]

तस्मिन्नेव संख्या विहास्या चतुरक्षिप्याद्याभिर्मागेऽपहृते क्षेपे उक्ता

पुनः सप्तभिर्मागे पञ्च(पञ्च)त्वं एव क्षेपं तयोः ककारादिवर्गो उच्यते

अक्खरसरिसा जोणी, मचासरिसं च जाणए रु

एवं सेण विमचे, वग्गेण निरुपिओ मेओ ॥ ३

१ कला गवाया एव वर्गाद्वरेः सप्तदशक्षेत्र इत्युच्यतेऽत्रार्थः । तं ।
ककारादीनां इकारांतानां उच्यते । आरंभोद्वरणेदेवं चतुरक्षिप्य इत्या उच्यते

जीव-घातु-मूलाक्षरैः पूर्वोक्तैर्जीवघातुमूलयोमिनिर्वेणकार्यैः(र्षी) मात्रामिर्द्वयम् । रूप
छं छ्यं पीव इत्यत्रि । छञ्ज्ण क्षीर्यमस्य वृत्त इति । जीव घातु-मूलाक्षराक्षरैः पञ्चमिर्भेवः
प्रमाक्षराणां निरूपयित्वा वर्गप्रतिबन्धः ॥ ३५१ ॥ [प २१० प २]

पठम-तइए य चरिमा, वग्गा पासंडिया तहा भणिया ।

सेसा य अपासंडी, णिहिट्टा पण्हइचोहिं ॥ ३५२ ॥

प्रथम-द्वितीय-पञ्चमवर्गाणां अन्यतमबहुले प्रमे पासडिनो ज्ञेयाः । के ते ? प्रप्रक्रियाः
अपण्णादयः आजीविकाव्यञ्ज । क्षेपाणां द्वितीय-चतुर्थ-वर्गाक्षराणां अन्यतमाधिके प्रमे अपा-
संडिनो ज्ञेयाः । [प २११ प १] अपापडिन इति गृहस्था मप्यन्ते ॥ ३५२ ॥

पठमो वग्गो पासदाहिण (दाहिणपास?) बिइ(ई)य एव चउत्थे य ।

रा(वा)म तइए मज्झ, दो पासे पञ्चम जाण ॥ ३५३ ॥

प्रथमवर्गाक्षरबहुले प्रमे तैरेव प्रथमवर्गाक्षरैरनभिहतेर्दक्षिणपार्श्वे पुरुषस्य छांछनं ज्ञेयम् ।
अनभिहतेः स(स)अप्रहार इति । द्वितीय चतुर्थवर्गाक्षराणामन्यतमबहुले [प २११ प २] प्रमे
तैरेव द्वितीय-चतुर्थवर्गाक्षरैरनभिहते वामपार्श्वे छांछनं प्रमेतव्यम् । अनभिहतेस्तैरेव क्षणैः
महापणिकम् ॥ ३५३ ॥

पठमसरे सिरमाग, णिडालय होइ तह कवग्गमि ।

धिधुर्य[ख] चवग्गमि, गिधप्पएसो टवग्गमि ॥ ३५४ ॥

प्रथमस्वरप्रहणेन अथर्गो गृह्यते । तेन सिरो ज्ञेयः । कवर्गे णिडालं । चवर्गे [प २१२ प १]
धिधुर्य । टवर्गे मीवाप्रवेसा(सः) ॥ ३५४ ॥

हियय च तवग्गमि, कडिय पवग्गमि होइ नायवा ।

ऊरु [य] यवग्गमि, जाणु पव(ए)सो सवग्गमि ॥ ३५५ ॥

तवर्गाक्षरबहुले प्रमे ह्ययं ज्ञेयम् । पवर्गाक्षरबहुले प्रमे कटी ज्ञेया । अ(य)वर्गाक्षरबहुले ऊरु
ज्ञेयो । आरु(ह)पासो सवर्गाक्षरबहुले ॥ एवं अष्टविभागांशकल्पना । [प २१२ प २] पव(एव)-
मरीचमागकल्पनार्थः(र्व्यमाही) ॥ ३५५ ॥

सीसो य अवग्गमि, णिडालदेसो तहा क्यग्गमि ।

अच्छी य चवग्गमि अ, णासा हु तहा टवग्गमि ॥ ३५६ ॥

परमिदित्तं अवर्गाक्षरबहुले प्रमे सिरो ज्ञेया, तस्मैदानीमवयवा[ख] तैरेव वर्गाक्षरैराह-
अवर्गाक्षरबहुले प्रमे मूर्द्धजाः प्रमेतव्याः । [प २१२, प १] कवर्गाक्षरबहुले प्रमे क्यार्त
ज्ञेयम् । चवर्गाक्षरबहुले प्रमे छोचने । टवर्गे नासिका ॥ ३५६ ॥

वक्क होइ तवग्गो, अहरोट्टा तह पवग्गए भणिया ।

धिधुर्य च [य]वग्गमि, होइ य गीवा शवग्गमि ॥ ३५७ ॥

तकार(वर्गा)धिके वक्त्रम् । पवर्गाधिके जोषो । चवर्गे धिधुर्यः । कवर्गे मीवा इति ॥ ३५७ ॥

तीस भायए सदा काल ।

ज सेस सा हु तिही, वोच्छ णक्खत्तकरण से ॥

लब्धो जा तिथीओ, या(हीणा) रूपेण कण्ण(ण्ह)पक्खस(स्स) ।

मुक्क पि वोहि भाए, माससनामादिरिक्खगण ॥

सर्वथा प्रभकाडिनी छाया राम(श)यो द्वादश होरेति पञ्चदशानां संज्ञा प्रभाक्षरम् । सर्वत्रेवै
कीदृश वृत्त(त्रिंश)त्पञ्चगुणाक्षेपः । वर्तमानतिथियुक्ते च कृत्वा क्षेपं गतार्थः ॥ अन्व(नार्)रक्षेनेववा

पढमो विसमो उ सरो, विसिओ य समो तइज्जओ सम्मो ।

विसमसमो य चउत्थो, सेसा एव सरचउच्छा ॥ ३४७ ॥

प्रभाक्षराणामाधिको गच्छरो विप[म] इति इक्षरयुक्त गकारमेव छन्दते । प्रभाक्षराधिको
॥ पकार स ईकारयुक्तो पकार एव छन्दते । दकारो विपम उकारयुक्तो रक्षर एव छन्दते ॥ ३४७ ॥

एव समवग्गाण, चउच्छ्या विसमवग्गयाण च ।

णायवा णतरओ, विसमा [५ २१५ प १] विसमाण सजोए ॥ ३४८ ॥

समक्षरे[ज] युक्तसमाक्षरमेव छन्दते । विस(प)मक्षरेण युक्ते विपमाक्षरो छन्दते ।
एव सर्वे ककारएवो इकाराद्याः समक्षरे(३)युक्ताः समाक्षराद्यमेव छन्दते । विपमक्षरैर्युक्त

॥ विपमाक्षराद्य एव छन्दते ॥ ३४८ ॥

समसजोएण समो, लभइ अ विसमो य विसमसजोए ।

वग्गे दिट्ठो एसो, मणिओ वग्गन्त्तरवि[५ २१५ प २]माओ ॥ ३४९ ॥

समक्षरयोगे व्यजनं समं छन्दते । सरं च विपमक्षरसंयोगे चत्तरत्वात् विपमाक्षरो
छन्दते । स्वल्प विपम एव प्राग्ब[र्]थः । ततोऽक्षरस्वरनिगो छिधिरिति ॥ ३४९ ॥

॥ संकट-विकट समाप्तम् ॥

वमाक्खरा तिपु(गु)णिया, खेवो पढमक्खरस्स वग्गामि ।

तिसु चउत्तु अधो अट्टे, तंमि य णा[म]क्खर वग्गे ॥ ३५० ॥

प्रभाक्षराः । एव वगोक्षराः । प्रभाक्षराणां विद्यमानक्षराणां वा संख्या दानेकीदृश
ए(त्रि)गुणां कृत्वा प्रभाक्षराणां ककारादीनां इकारांतानां अन्वतमारी दद्या पूर्वए(त्रि)गुनिठ-
॥ विहात् पंच मक्षिण्व वे ककारादीनां इकारांतानां [५ २२ प १] प्रभाक्षराणामन्वतमारी दद्या
तस्मिन्नेव संख्या विहाक्या चतुरक्षिण्वानामिमांशेऽपहृते क्षेपे ककारादिबर्गे छन्दते । छन्दार्थं
पुनः सप्तभिर्भागे वच(वच)त्वं यत्र क्षेपं तयोः ककारादिबर्गे छन्दते ॥ ३५० ॥

अक्खरसरिसा जोणी, मत्तासरिसं च जाणए ख्य ।

एधं सेण विमत्ते, वग्गेण निरूविओ भेओ ॥ ३५१ ॥

† अस्या गाथाया एव पूर्वार्धं कश्चिदक्षरेण उपछन्दतेऽन्वर्थं । परं तयो ८५ इति इति एवं यथा
ककारादीनां इत्यर्थेऽपि छन्दते । अन्वर्त्तव्यत्वेदेवेवं पुनश्चिदत्र व्याप्य छन्दते ।

जीव-भाटु-मूलाधरैः पूर्वोक्तैर्विधासुमुखयोनिनिर्वेषकार्यैः(र्षी) मात्रामिर्द्रष्टव्यम् । रूप
 छत्रं कृष्ण पीतं रूष्यति । छत्राण्य दीर्घमस्य वृत्त इति । जीव-भाटु-मूलाधरारैः पञ्चमिर्देशः
 प्रभाकराणां निरूपयितव्यो वर्गप्रतिपद्यः ॥ ३५१ ॥ [प ११० पा १]

पठम-तद्गु य चरिमा, दग्गा पासंढिया तहा मणिया ।

सेसा य अपासंढी, णिदिट्टा पण्हइत्तेहि ॥ ३५२ ॥

प्रथम-द्वितीय-पञ्चमवर्गाणां अस्यतमवहृले प्रभे पासंढिनो ज्ञेयाः । के ज्ञे ? प्रथमिताः
 अत्रस्तावयः अत्रात्रिकाश्चयम् । घोषाणां द्वितीय-चतुर्थ-वर्गाक्षराणां अस्यतमाधिके प्रभे अपा-
 संढिनो ज्ञेयाः । [प १११ पा १] अपापञ्चिन इति गृह्णत्वा मण्यन्ते ॥ ३५२ ॥

पठमो दग्गो पासंदाहिण (दाहिणपास?) विह(ई)य एव चउत्थे य ।

रा(वा)म तद्गु मञ्ज, वो पासे पचम जाण ॥ ३५३ ॥

प्रथमवर्गाक्षरवहृले प्रभे तैरेव प्रथमवर्गाक्षरैरन्तमिहैर्वक्षिणपार्श्वे पुत्रपञ्च अङ्गनं ज्ञेयम् ।
 अन्तमिहैः स(स)कप्रहार इति । द्वितीय-चतुर्थवर्गाक्षराणामस्यतमवहृले [प १११ पा २] प्रभे
 तैरेव द्वितीय-चतुर्थवर्गाक्षरैरन्तमिहैरेव नामपार्श्वे अङ्गनं प्रत्येतव्यम् । अन्तमिहैरेव अक्षरैः
 प्रहारयिष्यम् ॥ ३५३ ॥

पठमसरे सिरमाग, णिडालय होइ तह कवग्गमि ।

विधुय्यो[च] चवग्गमि, गिवप्पपसो टवग्गमि ॥ ३५४ ॥

प्रथमस्वरप्रहणेन अक्षरगो गृह्यते । तेन सिरो ज्ञेयः । कर्णो निडाळं । अक्षरगो[प ११२, पा १]
 विधुय्य । टवर्गे मीमापवैष्ठा(सः) ॥ ३५४ ॥

हियय च तवग्गमि, कडिअ पवग्गमि होइ नायसा ।

ऊरु [य] यवग्गमि, जाणु पव(ए)सो सवग्गमि ॥ ३५५ ॥

वर्गाक्षरवहृले प्रभे हृदयं ज्ञेयम् । पवर्गवहृले प्रभे कडी ज्ञेया । अ(प)वर्गवहृले ऊरु
 ज्ञेयो । जाणु(अ)पावो सवर्गवहृले ॥ एवं अष्टविभागोक्तत्वेना । [प ११२, पा १] पञ्च(पवर्ग)-
 प्रोक्षमागन्तव्यार्थः(न्वमाहरी) ॥ ३५५ ॥

सीसो य अवग्गमि, णिडालवेसो तहा कवग्गमि ।

अच्छी य चवग्गमि अ, णासा हु तहा टवग्गमि ॥ ३५६ ॥

पञ्चमिदितं अक्षरवहृले प्रभे शिरो ज्ञेयः, अक्षेदात्मीमवपवा[१] तैरेव वर्गाक्षरैराह-
 अक्षरवहृले प्रभे मूर्च्छताः प्रत्येतव्याः । [प ११२ पा १] अक्षरवहृले प्रभे अक्षर-
 ज्ञेयम् । अक्षरवहृले प्रभे अक्षरे । टवर्गे नासिका ॥ ३५६ ॥

वड्डं होइ तवग्गो, अहरोट्टा तह पवग्गए मणिया ।

विधुय्यं च [य]वग्गमि, होइ य गीना शवग्गमि ॥ ३५७ ॥

वकार(वर्ग)धिके वक्त्रम् । पवर्गाधिके ओष्ठो । पञ्चमे विधुय्यः । सवर्गे मीमा इति ॥ ३५७ ॥

एतेषु पशुषु ११२ अ० २३सेसु, एतेभिः अग्निहृद्गृहि वग्मोहि ।

मसय तिलयं सत्त्व-क्वचय च कमसो वियाणाहि ॥ ३५८ ॥

सिर(शिरः)प्रयुक्तयो वे प्रवेशा वेरुधरा(रै)रुध्याः वैरनि(म)मिहृतेः अचिके प्रने(मे) च प्रवेशो मिहृदप्रबो वचम्या । अग्निहृत्वरु(र)वयुक्तः । अचा(शिक्षा)मिभातत्(शि)मिषः । तत्र वैरगाँधरैराधिगितैः मस(म)क तिक्तं च वचम्यम् । अग्निहृत्वेत्राहाण्यं(गैर्गण्य) वग्मोसु स(म)क-प्रकारः तत्र प्रवेशे वचम्यः ॥ ३५८ ॥

भणिहृद्दि घयणवेसे, वग्मोहि य अग्निहृद्गृहि जाणिञ्जा ।

मसय तिलयाइ सध, चिण्ह गुरुप(अण्य)एसेसु ॥ ३५९ ॥

वग्मो-मानि[१ ११४ अ० १] विहालि अग्निहृ(दि)वानि वैरमिहृत्वरुधरैरानि मसकति-
कारिनि गुरुप्रवेशे ज्ञेयानीति ॥ ३५९ ॥

॥ अक्षरविभागप्रकरणमगत्य ॥

सत्त्वम-गवमो य रवी, चदो वि य ह्योइ पलम-तइपुण ।

मोमो धीय-चउटये, पचम-छट्टो य ससिसुओ मणिओ ॥ ३६० ॥

सत्त्वम-गवमो य रवी, चदो वि य ह्योइ पलम-तइपुण ।
मोमो धीय-चउटये, पचम-छट्टो य ससिसुओ मणिओ ॥ ३६० ॥

एकारस चरसुओ, जीवो वसमे य अट्टमे सुओ ।

घारसमो वि य राहू, एते सरसामिया भणिया ॥ ३६१ ॥

अं अतिः । ओ गुरुः । गुरु ये । अः [१ ११४ अ० १] राहुः । अरण्यं सा(स्य)वित्तं
महात्म्यां तन्नामप्रतिष्ठावस्तूपचपापचबोधय-वामन-त्रया जवोत्सावादिना ज्ञेयाः ॥ ३६१ ॥

॥ अक्षरक्षेत्रमचनम् ॥

रवि-भोम-सुद्ध-गुरु-सणि-य(च)दो राहु अट्टमो ष्टे ।

अ क च ट स प य इह वग्माण्य ह्योति खेत्ताहिवा णिययं ॥ ३६२ ॥

अ क च ट स प य इह वग्माण्य ह्योति खेत्ताहिवा णिययं ॥ ३६२ ॥
अ क च ट स प य इह वग्माण्य ह्योति खेत्ताहिवा णिययं ॥ ३६२ ॥

पण्हक्त्वरसचमु(मु)अ, तिहिसहिय उ(ओ)मरुचपरिसुद्ध ।

मच(सिच)ेहि भागसेसे, मुजा(आ)ह[१ ११५ अ० १] ग्राह्य मुण्येयवा ॥ ३६३ ॥

मुर्क छपुण वा (च)टरो, तिण्णि य दो सह य रूवमिह द्वा ।

सुरादीण एते, उमा(ऊसा?) सज्ञा तथा कमसो ॥ ३६४ ॥

तिरुत्तपनम् ॥ ३६३-३६४ ॥

छाया समी द्योग, पण्हक्त्वरस्य च ह्योइ तीमगुण ।

पमजो वा तिण्णि सया, सद्दासतिहि(?) स सध ॥ ३६५ ॥

सीसगुण काऊण, सीया(तीसा)ए हायए सया काल ।

ज सेस सा उ तिही, वोञ्च णक्खत्त-करण से ॥ ३६६ ॥

लद्धाइ(ओ) जा तिहीओ, हीणा रूवेण कण्हपक्खस्स ।

सु(सु)कमि(पि?) दोहिं च भवे, मासस्स नामरिक्खगण ॥ ३६७ ॥

सर्वथा प्रसकालिनी छाया रास्य(श)यो द्वावस । होरेति पचवक्षानां संज्ञा । प्रभाष्यरज्ज ।
[१ ११५, प १] [सर्व?]मेववेकीकृत्य एत्सत्या(त्रिशवा)गुणा छ्यस्यक्षेपः ३६० वर्तमानादिति
दुर्घं च कृत्वा । शेष गवार्यम् । अनादर्य(री?)मेवचिपी(यि)नक्षत्रकांडम् ॥ ३६५ - ३६७ ॥

गघद्याइ(इ) अवगो, दिट्ठे विज्जाहरा कवग्गमि ।

पमाहाहा(?) [च]वग्गमि, णागय(?) य(ट)वग्गमिति ॥ ३६८ ॥

[इवं गद्या अत्यधार्थ । न चास्या व्याख्यालेखो छम्यते । - संपादकः ।]

जक्खा य [स]वग्गमि, देवा भणिया तहा पवग्गमि ।

णागा य यवग्गमि, मूया जाणे सवग्गमि ॥ ३६९ ॥

ववर्गाधिके प्रभे यक्षा । पवर्गाधिके देवा । ववर्गाधिके माता । स(सि)वर्गाधिके
मूयाः ॥ ३६९ ॥

पेया य पवग्गमि, जाण सकारे य तह पिसाया य ।

कोह्खा य हकारे, एव जाणिज्जा[प० ३२६, प १]एुक(क)मसो ॥ ३७० ॥

अ(प)काराधिके प्रभे प्रेताः । सकाराधिके पिशाचाः । इकाराधिके कुम्भादाः ॥ ३७० ॥

अणुणासिएसु असुरा, णायघा य(अ)मि धीसए जमो ।

सविसग्गमि अकारे, जक्खा सुणया य सजोए ॥ ३७१ ॥

अनुनासिकबहुले असुरा । अ(अ)कारः सानुम्भारः, वदधिके प्रभे यमो शेषः । अकारा ॥
सविसर्गाः, वदधिके प्रभे यक्षा श्रेयाः । संयोगाक्षराधिके प्रभे स्वा(श्वा)नरूपिणो यक्षा
श्रेयाः ॥ ३७१ ॥

एएहि अक्खरेहि, जाणसु अभिघाइएसु मरण तु ।

जो(जा) जस्स देवया अक्ख[र]स्स तेणेव सा भणिया ॥ ३७२ ॥

यस्य यस्य श्रेयताविशेषस्य वेऽक्षराः पूजाभिहितस्त्रैरदि(रमिह)तेस्त्वाम्नात् तम्नात् श्रेयता-
विशेषान् सकारा(शा)-न्म[१ २२६ पा २]जमपि हयम् ॥ ३७२ ॥

पदमय-धीय(धि तिय)चउत्थो, पचमयग्गो य तह घ णायघो ।

घाइय-पित्थिय-सिभिय-सन्धियाइय अक्खरा कमसो ॥ ३७३ ॥

प्रथमवर्गाधिके प्रभे द्वात्रिंशद् व्याधिराश्रेया(इया) । द्वितीयवर्गे वैशिका । तृतीयवर्गे
श्रेया । चतुर्थवर्गाक्षराधिके प्रभे सामिपानः । पञ्चमवर्गाक्षराधिके प्रभे अतो व्याधिराश्रेयाः । ॥
प्रदुरम्यस्य वा यं व्याधिराश्रेयाः ॥ ३७३ ॥

पणयालसयं अहुत्तरं च दोढावग्गाहियुव(प?)रासी ।

अवसा(सि)साणं छण्ह, एकोत्तरिया हवइ विट्ठी(डी) ॥ ३७४ ॥

पूर्वादिस्वप्न प्रादुक्ष्यन्त बुधका(१)विन्ध्यस्य प्रभाकरसद्विषं कृत्वा गुणयेत् ॥ ३७४ ॥

पच य सत्त य णव तेरसे य अद्दादसमे य सोलसय ।

बचीसं तिचीस, जाणसु गुणकार रासीओ ॥ ३७५ ॥

पूर्वादिषः प्रभा सद्विषा बुधका(१) यथास्वित्तमत्तु[व]दिक्कं गुण्य सोचलिकं यथालं
विशोधयेत् ॥ ३७५ ॥

पचगतिगलसत्तद्धमा य ते ह्योति सोहणा कमसो ।

घय धूमे(म) सीह साणा, वंसहमि पुळितिया एते ॥ ३७६ ॥

णियव(णिगवय)क्खरमि आणे, सोहणय चोदसे तु वाणि(१) ।

पण्णरसगए भरिया, सोलसढके वियाणाहि ॥ ३७७ ॥

एसो [सो] सखेवो, भणिओ जिणमासिओ समासेण ।

आव य णिहृइ णाम, लामालामेसु सवेसु ॥ ३७८ ॥

एष सः ब्रह्मेण प्रकारेण चास्त्रिकाय पुरुषाय बुद्धिबलं ज्ञात्वा, ते(ने)वह्मम्याग्नि(व)
मासिके(का)धामदधानपा(पाप) अहुत्तपुत्राय वासादा(व)वात्मसंपन्नाय देवम् । गुह्यगुह्यपक्ष
ज्ञानवदे चास्त्रिकाय वैपसिति । मितमहणपरिहानार्थं कृतं यो यन्नामाहरैर्यरैः अमाजाभासि
स सर्वं वच्छन्नं प्रमे [इ]ति ॥ ३७६-३७८ ॥

॥ प्रश्नन्याकरणं समाप्तम् ॥

॥ संवत् १३३६ वर्षे चैत्र शु० १ ॥ इति संपूर्णम् ॥



ज्ञानदीपकारव्य

चूडामणिसारशास्त्रम् ।

नमिकण जिण सुरअणचूडामणिकिरणसोहिपयजुयल ।

इय चूडामणिसारं कहिय मए जा(ना)णदीवक्ख ॥ १ ॥

त्रिनमईत सुरअणचूडामणिकिरणसोमितपावयुगल नत्वा इव चूडामणिसारं ज्ञानप्रदी-
पान्तं मया कथ्यत इति ॥ १ ॥

पढम-तईय-सत्तम-रंघसरा पढम-तईयवग्गवण्णाइ ।

आलिगियाइ सुहया उत्तर-सकढअणामाइ ॥ २ ॥

अइएओ एते प्रथम-द्वितीय-सप्तम-नवमाभ्यन्तारः, तथा कथं च पचशा गजइ
इव च सा एते प्रथम-द्वितीय[वर्ग]चतुर्विंशत्तमोऽभिधूमिताः, सुमगाः, उत्तराः, संकटमयमाकां
भवन्तीति ॥ २ ॥

कुच-जुग-वसु विस-सरआ धीय-चउत्थाइ वग्गवण्णाइ ।

अहिधूमिआइ मज्झा ते उण अहराइ वियडाइ ॥ ३ ॥

आइयेओ एते द्वितीय-चतुर्विंशत्तम-दशमाभ्यन्तारः स्वराः, तथा कथं च करपाः पञ्च
इयमवहाः एते द्वितीय-चतुर्विंशत्तमोऽभिधूमिताः, मय्यात्तया उत्तरपरा
विद्वद्वा भवन्तीति ॥ ३ ॥

सर रिउ-रइ दिवाअर-सराइ वग्गाण पचमा वण्णा ।

वडाइ वियड-सकढ अहराहर-असुहणामाइ ॥ ४ ॥

अइअंअः एते पंचम-यष्टिका एकादशम-द्वादशमाभ्यन्तारः स्वराः, तथा कथं च ममा
इति वर्गोणां पंचमा वर्गोः दग्गाः विद्वत्संघटा अपरा अणुमनामाकां भवन्ति ॥ ४ ॥

सवाण होइ सिद्धी पण्हे आलिगिणहि सवेहिं ।

अहिधूमिणहिं मज्झा णासइ दइहेहिं सयलेहिं ॥ ५ ॥

प्रमे आधिगिदेः सर्वैः सर्वेणामेव सिद्धिभवति, [अभिधूमितैर्मय्या सिद्धिः] दग्गाः सर्वैः
सिद्धिर्भवति ॥ ५ ॥

उत्तरसरसंजुत्ता उत्तरआ उत्तरुत्तग हुति ।

अहरेहिं उत्तरत्तमा अहरा अहरेहिं णायवा ॥ ६ ॥

अणुमनाभ्यन्तारः स्वराः संयुक्ता अणुमनापरा पच वर्गो अणुमना भवन्ति । त एव अपरा
परासंघटेः स्वराः संयुक्ता अणुमनापरासंघटा भवन्तीति ॥ ६ ॥

अहरसरेहिं शुचा ते दृष्टा हुति अहरमहरतमा ।

कज्जाइ साहति सुअ(इ)र अघमा अघमाइ किं बहुणा ॥ ७ ॥

अपरसंशकैः स्रैः संयुक्ता इत्या वर्णा अघपपरतरसंशक्य भवति । ते च सुविरक्त-
हेन अघमापमानि कामानि साधयन्ति किं बहुनेति ॥ ७ ॥

वदुसरेहिं जुत्ता दृष्टतमा हुति दृष्टया वण्णा ।

ते णासयति कज्ज यलावल मीसयेसु सयलेसु ॥ ८ ॥

इत्थसंशकैः स्रैः संयुक्ता इत्थसंशका वर्णा इत्थससंशका भवन्ति तेषां वदुत्तानिः
सुत्ते भवति ॥ ८ ॥

आलिं गिएहिं पुरिसो महिला अहिधूमिएहिं सवेहिं ।

दुहेहिं होइ संढो जाणिज्जइ पण्हपडिएहिं ॥ ९ ॥

आलिं गितेर्बैः प्रभे पतिवैः पुरुषो भवति । अमिधूमितैः स्त्री । इत्थैर्नमुंसकमिति जानीतेति ॥ ९ ॥

अइ वग्गाण य वण्णा पढम-थीय-सीय-चउत्थ-यंचमया ।

तह थिप्प-राय-वयसा सुद्धो थिय संकरा य सयलाइं ॥ १० ॥

यदि वर्गाणां वर्णाः प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पंचमकाः, तथा थिप्प-राय-वयस्य विद् धृत्ताः,

अपि च संकरजायमाः सर्वे एव भवन्तीति ॥ १० ॥

एदेहिं चण्णेहिं कमेण षालो कुमारओ सरणो ।

मज्झिमवमो वि थविरो जाणिज्जइ पण्हपडिएहिं ॥ ११ ॥

तथा एतेरेव वर्णैः प्रभे पतिवैः कमेण षालः कुमारस्तरुषो मध्यमवया बुद्धयः सवतीति
जानीति ॥ ११ ॥

आलिं गिएहिं विट्ठी मज्जा अहिधूमिएहिं सा होइ ।

दुहेहिं णत्थि विट्ठी जिणवयण सन्धिय जाण ॥ १२ ॥

आलिं गितेर्दुष्टिः, अमिधूमितैर्मध्यमा इष्टिः, इत्थे नात्ति इष्टिपि विजवचने सलमेव
जानीति ॥ १२ ॥

अइउप्पज्जइ सत्सं पण्हे आलिं गिएहिं वण्णेहिं ।

अहिधूमिएहिं किंचण णासइ दुहेहिं णो वित्त ॥ १३ ॥

अत्रिप्रवेवेत्सपदे सत्सं प्रथम आलिं गितेर्बैः, अमिधूमितैः किंचित्तुत्सपदे, इत्थैर्मेववति,
अत्र नो चित्रमिति ॥ १३ ॥

संपदिफाल पण्हे वण्णो आलिं गिओ पयामेइ ।

अहिधूमिओ थि मूअं दृष्टो उण भाविय णूण ॥ १४ ॥

यत्ने आलिं गियो वर्णः संप्रतिपद्य प्रकटयति । अमिधूमितोऽपि मूत्त १ इत्थं पुनर्मा
विकाक मूत्तमिति ॥ १४ ॥

तद् पठम वीय तद्वा वण्णा बुध्ति तिणिण कालाद् ।

मा इत्य करद् मती जहसख सयलवग्गाण ॥ १५ ॥

तथा समस्तवर्णाणां प्रथम-द्वितीय-तृतीयवर्णाः यथासंख्यं त्रीम् कालान् भुवन्ति । अत्र मा
श्रुतिं प्रकृत्येति ॥ १५ ॥

आलिङ्गिण्णि मुक्कद् वाहिं अहिधूमिण्णि ण हु रोई ।

अह्वा विरेण कद्दु वड्ढो मरण पयासेद् ॥ १६ ॥

आलिङ्गितैर्व्याधिं रोगी भुवति, अभिधूमितैर्न भुवति, अथवा विरेण कष्टात् भुवति,
एवम् मरणमेव प्रकाशयति ॥ १६ ॥

विसमा दाहिणपासे वामे य वण समा य पयडति ।

वण्णा पण्हे पडिया पचमया वेधि पासमि ॥ १७ ॥

प्रमे पतिता विपमाः प्रथम-तृतीयवर्णा वक्षिणपार्श्वे तथा समाः द्वि चतुर्था वर्णाः वाम-
पार्श्वे पचमका वर्णाः उत्तरपार्श्वे व्रण प्रकाशयन्ति ॥ १७ ॥

अद्दु सिरो-मणि-वयण-हियय-कडि-उरु-जाणु-चरणजुयलेहिं ।

पण्हुविलग्गा वग्गा घणाद् वरिससि जहसख ॥ १८ ॥

अष्टौ वर्णाः प्रभविच्छ्रयाः यथासंख्यं शिरोऽङ्गटवर्णने[पु] तथा हृष्य-कटि ऊरु-जाणु
चरण-मुण्डेषु प्रणा निर्देशयन्ति ॥ १८ ॥

अणिलय-पित्तय-सेफय-ससग्गय-आहिघायय रोग ।

पयडति पचवग्गा जहसख पठम उदिट्ठा ॥ १९ ॥

प्रथमोरिष्टाः पचवर्णाः यथासंख्यं अलिङ्गज पित्तज स्लेष्मज संसर्गज अभिघातज रोगं
प्रकृत्यन्ति ॥ १९ ॥

अद्दुमद्-मज्झ-दारुणपीडाद् दिंति पण्हुपडिआद् ।

आलिङ्गियाहिधूमियद्दु वण्णा जह्साख ॥ २० ॥

आलिङ्गितामिधूमितवग्गा वर्णाः प्रभपतिता यथासंख्यं अत्यन्तमन्धमप्यदारुणां पीडां
प्रकृत्यन्तीति ॥ २० ॥

आलिङ्गिण्णि सधी ण हु सधी विग्गहे(हो) ण अहरेहिं ।

अहराहरेहिं कहिओ समरो सुहडाण णासयरो ॥ २१ ॥

आलिङ्गितैः संधिर्भवति, अपरेर्न च संधिर्न च विग्रहः, अथवापठे संशयः सुमदतां
मासकर इति ॥ २१ ॥

विजयं उत्तरवण्णो ण जय ण पराजय त्रि अहरेहिं ।

अहराहरो पयासद् पराजय णत्थि सदेहो ॥ २२ ॥

पठते वर्णो विजय प्रकाशयति, अपठे वर्णो न जय न पठत्यं, अथवापठ्य पठत्य
मेवेत्यत्र भाति संशयः ॥ २२ ॥

जह् पठमक्खरमहर अवसाणे उत्तरक्खर पण्हे ।

ता उत्तरो सुधलिओ विवरीओ ताण विवरीय ॥ २३ ॥

अथपराजयप्रभे एवा प्रथमाक्षरमपरं अक्षरान्ते च उत्तरमक्षरं भवति तथा उत्तरे षष्ठी भवति ॥ २३ ॥

पठमसरेण य जुत्ता पण्हे मत्ताविवज्जिया धण्णा ।

अणमिहिअणामआ दे पअढसि य जीवचित्ताइ ॥ २४ ॥

प्रथमसरेण पुच्छ अन्यमात्राविवर्जिता वर्णाश्च ते प्रभे अनमिहितानामका भवति ते च षष्ठीवर्जिता प्रकृत्यन्ति ॥ २४ ॥

ससि-तइअ-पच-सत्तम-नवमसरा रहसखसरसहिया ।

क-न्व-टा पचमहीणा सहिया य-स-हेहिं जीवक्खा ॥ २५ ॥

प्रथम तृतीय-पच-सप्तम-नवमाः खराः एकाक्षरसहितानि, तथा क्वर्ग-चर्ग-टवर्गः पचमहीनाः, एकार-शकार-हकारसहिता एते एकवर्जितवर्णाः प्रीवास्या भवन्तीति ॥ २५ ॥

धीओ छट्ठो सरओ सधिसग्गो तह् व-स-क्खरोपेओ ।

तह् उण पचमहीणा त-पयग्गा चाउणामा उ ॥ २६ ॥

द्वितीयः षष्ठः खराः, सधिसर्गः, एवा च्चर-सकारोपेता, तथा पुनःचर्गः पवर्गः पंचमहीन एते त्रयोवर्जवर्णा चातुनामका भवन्ति ॥ २६ ॥

ई ऐ औ सरजुत्ता र-ल-या ङ-अ-ण-न-माइ धण्णाइ ।

एआरह मूलक्खा पयासिया जिणवरीदेण ॥ २७ ॥

चतुर्षोडशसंज्ञसंज्ञासुख्य र-अ-एकारा ङ-अ-ण-न-माद्येतेकाक्षर वर्णा मूलाक्षरप्रकाशका भवन्तीति । एतेनैतदुक्तं भवति छामप्रभे चातुनामः, मूलाक्षरेर्बीजसामा, धात्वाक्षरेर्बीजाक्षरेर्मुं छाम इति मात्र कर्मा विचारणा ॥ २७ ॥

मुट्टीजीवक्खरए मूल जीध वि मूलअक्खरए ।

घाउ उण जाणिअह् घाउक्खरण किं षोअं ॥ २८ ॥

मुट्टी जीवाक्षरेर्मुं छं घाउप्यम्, जीध च मूलाक्षरैः, घाउ धात्वाक्षरेरेवेति किमिनाम्यैर्भू मिति ॥ २८ ॥

यहुपुमवग्गधण्णा अह् यहुधिइ विसग्गसजुत्ता ।

यहुवमा जह् पण्हे ता सुअं मुट्टिचित्ताइ ॥ २९ ॥

प्रभे परि बहवः प्रथमवर्गवर्णा भवन्तीति अथवा बहुवर्धुविसर्गसंयुक्ता भवन्ति, अथवा प्रभा एव बहवो भवन्ति तथा मुट्टिचित्तायां शून्य भवति ॥ २९ ॥

विसमसरा ऊआरो घग्गाण पढम-तइयवण्णाइ ।

दुप्पय-णाराण एसा एआहाराण णहु होइ ॥ ३० ॥

विषमसराः प्रथम-दृतीय-पञ्चम सप्तम-नवमेकादशमाः, तथा ऊकारश्च, तथा वर्णाणां प्रथम-दृतीयवर्णाश्च एते द्विपदैषु नराणां वर्णाः, एतद्वाहाराणां राश्रसानां न भवन्तीति ॥ ३० ॥

धीओ वसमो सरमो वग्गाण धीयवण्णया सयला ।

दिसंति जइअ पण्हे ता मुणह चउप्पय जीव ॥ ३१ ॥

यदि प्रभे चतुर्थाष्टदशशः स्मरो भवति, तथा युष्मिकादीनां चार्तिं दृष्टिं च न्यायाधिकं तं वर्णवर्णो भवति, तथा वर्णाणां चतुर्था वर्णाश्च तथा चतुष्पादा जीवा भवन्ति ॥ ३१ ॥

जइ वग्गाण य वण्णा पचमया हुति पण्हपडियाइ ।

ता मुणह णरअवासिय भूअपिसाचाइं सवाइ ॥ ३२ ॥

यदि वर्णाणां पचमा वर्णाः प्रभे पठन्ति भवन्ति, तथा नारकवासिनो मृतपिशाचाश्च सक्काम् जानीयेति ॥ ३२ ॥

मत्ता त-पवग्गेहिं य-शवग्गेहिं हुति सउणा य ।

सिद्धा सरेहिं भणिया देवा उण क-च-टवग्गेहिं ॥ ३३ ॥

तवर्ग-पचवर्गोभ्यां मत्ताः, पचवर्ग-शवर्गोभ्यां सक्कनाः, स्मरो सर्वैरेव सिद्धाः, देवाः पुनः ॥ चवर्ग-चवर्ग-टवर्गोभ्यां भवन्तीति ॥ ३३ ॥

चवइ कवग्गो पण्हे लद्धो थलचारिय विहग्गमय ।

त थिअ अइप्पहाणं तवग्गमो णतिय सदेहो ॥ ३४ ॥

प्रसङ्गः कवर्गः सलचारिय विहग्गमं भवति । तमेव सलचारिय विहग्गमं अतिप्रधानं मयुरधिकं तवर्गो भवतीति संदेहो नास्ति ॥ ३४ ॥

जइ अ चवग्गो लद्धो तह पक्खी^१ होइ जलयरो णूण ।

तं पि टवग्गे सिद्ध चवइ पवग्गो गुहसयच^२ ॥ ३५ ॥

यदि चवर्गो सङ्घः तथा अलचरः पक्षिणो भवन्ति । नूनं तमपि अलचरं पक्षिणं श्रेष्ठं ईसायिकं तवर्गो भवतीति । अथमं (अथं ?) च गुहाशयं कलुषाधिकं पचवर्गो भवतीति ॥ ३५ ॥

पण्हे कवग्गवण्णा कालोरय सिंगिणो पयासति ।

राजीवसप्पजाइं चवग्गवण्णा य दतत्थ ॥ ३६ ॥

प्रभे कवर्गवर्णाः काळोरगाश्च शृंगिवश्च रूपमाहीनि प्रकाशयन्ति । राजीवसर्वजातिं शंखचूडामिकं रंवासं च इत्थिप्रसूतिकं चवर्गवर्णैः प्रकाशयन्तीति ॥ ३६ ॥

गोणाससप्यजाई टवग्गवण्णा फुद्ध पयासति ।

लहुअविसाण जाई दिट्ठीण होई तवग्गवण्णेहिं ॥ ३७ ॥

गोनसो सर्पजातिं वृषभाश्रमाः स्फुटं प्रकाशयन्ति । सधुकवियाणां संज्ञां वृषिकलीकं
जातिं दृष्टिं च व्याप्राप्तिकं च तवर्गो वर्णो पदति ॥ ३७ ॥

विसमञ्च-वाहि(टि ?) दुदुहि-कीटविसेसाइ किं चुज्ज ।

अइ किर लब्धो पण्हे पवग्गओ पण्णचउरेण ॥ ३८ ॥

एषि प्रमथतुरेण प्रमे पवर्गो विच्छम्भलदा विपमत्तान् अंगिकामसूचीन् वदन् मकर
मत्स्यसूचीन् बुद्धिमिप्रभृतिक्षीतविशेषान् एषि अत्र किमाश्रयमिति ॥ ३८ ॥

ससि-अलण-याण-मुणि-गह् रुह-सरा वग्गाण दु-सीयवण्णा य ।

मुचति धम्मघाठ अभम चिय सेससरवण्णा ॥ ३९ ॥

प्रथम-सूचीप-पंचम-सप्तम-नवमेकदशमाः सराः, तथा कवर्गविसतवर्गीणां द्वितीयवर्गीणां
शाम्भवातुं वदन्तीति ॥ ३९ ॥

रवि-रुह-यक्खसरओ पचमहीणा कवग्गवण्णा य ।

कणय चवन्ति तार सत्तमवग्गो मुणिवुसरओ य ॥ ४० ॥

इत्यस्यैकादशमं द्वितीयसरः पचमहीनाः कवर्गवर्गीण्य कनकं वदन्ति । रजतं च सप्तमो
वर्गः तथा सप्तमः प्रथमः सरायेति ॥ ४० ॥

तव च तइओ सरओ पंचमहीणो चउत्थओ वग्गो ।

लोह वसमो सरओ अट्टमवग्गो मैकारो य ॥ ४१ ॥

तत्रं सूचीपसरः पचमहीनः चतुर्थो वर्गः, सोई वक्खल्लय तथाइमो वर्गो मकर
वदति पचमपरिणामेण पूर्वतो न वर्तत इति ॥ ४१ ॥

वग तइओ वग्गो पचमहीणो कवग्गपचमओ ।

अट्टम-पचमसरओ पण्हे लब्धो पयासेइ ॥ ४२ ॥

वंगे त्रय पंचमहीमरसूचीपो वर्गः, तथा कवर्गोपंचमो वर्गः, तथाऽष्टमः पंचमः सरा
प्रमे लब्धः प्रकथयतीति ॥ ४२ ॥

छट्ठसरो पूर्वतो पंचमवण्णो अ तईयवग्गस्त ।

अइ पाविज्जइ पण्हे ता णूण सीसमं मुणहै ॥ ४३ ॥

पञ्चसरं पञ्चमं तथा सूचीपवर्गस्य पंचमो वर्गः एषि प्रमे प्राप्यते तथा मूढ सीसकं
कथयन्ति ॥ ४३ ॥

न-प-क-म-भा ऊ वण्णा पण्हे लब्ध कुणति पिचलय ।

ण-स-या द-धा इ-आरा कंसं ण हु अत्यि संदेहो ॥ ४४ ॥

नकार-मकार-ऋकार [मकार]-मकारक्षया ऊकारश्च एते प्रभे छत्र्याः पितृलक्ष कव-
वन्ति । षकार-वकार-यकार-वृकार-घकार-इकारश्च एते कांस्य कथयन्ति । तथा अत्र न खलु
संशयोऽस्तीति ॥ ४४ ॥

कणयक्त्वर पयासइ मरगयमाणिक्यपहुईरयणाइ ।

मुत्ताहीरयपहुइ तारक्त्वरयं णै संदेहो ॥ ४५ ॥

कनकाक्षरं मरकतमाणिक्यप्रभृतिरमानि प्रकाशयति, धाराक्षरं च मुत्ताहीरकप्रभृतिर्कं
प्रकाशयति ॥ ४५ ॥

कक्करतालयपहुदिं [तं]क्त्वरय [च] मणइ णो चित्त ।

लोहक्त्वरैर्हिं जाणइ रयणाइ इदनील्पहुदीणि ॥ ४६ ॥

धाम्नाक्षरः ताळकप्रभृतिं भजति नात्र चित्रम्, सोडाक्षरैश्च इदनील्पप्रभृतीनि रज्जानि ॥
बानीतेति ॥ ४६ ॥

कसक्त्वर पयासइ रयणऽसेसाइ काचपहुदीणि ।

सेसं सीसयपहुदिं पित्तलसीसाइ अक्त्वरय ॥ ४७ ॥

कंसाक्षरं काचप्रभृतीनि रज्जविशेषानि प्रकाशयति । श्लेषं पित्तलसीसकाचक्षरं क्षीणकम-
भृतीनि रज्जविशेषं प्रकाशयति ॥ ४७ ॥

उत्तरवण्णपहाण पण्हे गठिय पयासए णिच्च ।

घाउमगठिअं अहर अक्त्वरय मणइ सैच्चमिय ॥ ४८ ॥

प्रभे उत्तरवर्णाः प्रथमक्षरं निर्वर्णं पठितं भाद्र प्रकाशयति । अक्षरमक्षरं अक्षरितं धातुं
भजतीति चक्षमितम् ॥ ४८ ॥

आलिं गिएर्हिं जाणइ ककणकेऊरपहुदि आहरणं ।

अहरक्त्वरैर्हिं गठिअं कञ्जोलयपहुति मायणय ॥ ४९ ॥

पठिते धातोर्बन्धे सति पुनरपि प्रभे आलिं गिताक्षरैः पठिते केमूत्रप्रभृतिरुत्तमामरणं
भवतीति । अक्षरक्षरैर्बन्धिते कञ्जोलकप्रभृति मात्मन भवति ॥ ४९ ॥

उत्तरवण्णपहाण पण्हे वरिसेइ अहिणवाहरण ।

अहरक्त्वर अपहाण उवमुत्तं णतिय सवेहो ॥ ५० ॥

धामरये प्राप्ते सति पुनरभ्यप्रभे उत्तरवर्णप्रधानं प्रथममिन्नामरणं दर्शयति । अक्षर-
क्षरेऽप्रधानं च धामरत्वं दर्शयतीति नास्ति संशयः ॥ ५० ॥

सबे उत्तरवण्णा भवति सुरलोअलोअणाहरण ।

अहरक्त्वरइ णूण माणवलोयस्स जतूण ॥ ५१ ॥

पुनरभ्यप्रभे सर्व एषोत्तरवर्णाः सुरलोकाणामामरणं भवन्ति । अपराक्षराणि सामवलोकाण
क्षिपद्वाप्युत्तरवर्णानामामरणं भवन्ति ॥ ५१ ॥

दुष्पयवण्णा पण्हे दुष्पअजतूण चवइ आहरणं ।

सौ वि णर-णारयाण विहगाण विहगवण्णेहिं ॥ ५२ ॥

पुनरुत्पन्ने द्विपवण्णां द्विपवजतूनाममरणं दुवन्तीति । विहगवण्णोश्च विहंगानाममरणं
दुवन्ति ॥ ५२ ॥

जइ य चउप्पयवण्णा पण्हे लउआइ हुति पउराइ ।

मा करहु इत्य भती जाणिज्ज चउप्पयाहरण ॥ ५३ ॥

पुनरुत्पन्ने यदि चउप्पवण्णाः प्रथमं कृत्वाः प्रचुरा भवन्ति तथा मा भवति कृत्वा चउ-
प्पयामरणं आसीतेति ॥ ५३ ॥

विस-कुच-वेयद्वमया सरथा वरिसंति उउआहरण ।

ससि-तिय-गह-सत्तमया मज्झंगे सेस अउआण ॥ ५४ ॥

विसम-द्वितीय चउप्यवण्णाः स्युः कृत्वा वेदामरणं वरिसंति । प्रथम-शुद्धि-वचन-
सप्तमकाश्च मध्यवेदामरणं वरिसंति ॥ ५४ ॥

आहरणाण य वण्णा संसिद्धा हुति जई य त-पउरा ।

ता त रयणणियउ भायणय ताण वण्णेहिं ॥ ५५ ॥

पद्यामरणानां वर्णाः संसिद्धाः संवदाः तवगप्रचुरा भवन्ति तथाऽऽमरणं रत्ननिबद्धं
भवति, मात्रनवर्णैश्च संवद्वैर्भाजनं रत्ननिबद्धं भवति ॥ ५५ ॥

जइ पउरउत्तरउ ता रयण मुउआइय मुणहु ।

त अहरक्खरयउ क्किचिमय मीसिए मिस्सं ॥ ५६ ॥

यदि तथा प्रचुरोत्तपरसंवे कृत्रिमजातिमितं च इतः प्रास्यतेति ॥ ५६ ॥

उत्तम-मज्झम-अघमा हुति य णाणा तथा जहासख ।

आलिगियाहिधूमियदद्वमपचेहिं पण्हेहिं ॥ ५७ ॥

तथा आलिगिताभिधूमितवण्णे प्राप्ते प्रथमे उत्तममध्यमापमानि माणकानि रंजकानि
शिवांशानि च्चसंस्वयं भवन्तीति ॥ ५७ ॥

पउम तरूण वण्णा सह ससि-गहसमिओ सरो चेव ।

फ-च-टादुआण(१ ण दुइय)वण्णा दसमओ दुज्जो सरो वेधि ॥ ५८ ॥

फ-च-टारिणामां सप्तमां प्रथमो वर्णस्तथा प्रथम-मज्झमवण्ण एते भवन्त्याः तरूणा
मापारीनां वाचकाः, कर्ग पचम-उवणामो च द्वितीयवणाः स-उ-वाचका इवम-द्वितीयो लरो
च एते रंज वणा कृतानां शार्दानीं वाचका इति ॥ ५८ ॥

रिउ-याण-उइसरओ पचमवण्णा तिणाइ जपति ।

सेसदुइज्जा वण्णा यही यग्गाण चचारि ॥ ५९ ॥

पञ्चमैकादशस्य, तथा वर्गोणां कर्गोणां सप्तानां पञ्चमाश्च वर्णोत्पत्तयानि पूर्वोदीनि
वसन्ति । शेषा द्वितीया वर्णोः अत्वारि तवर्ग-पवर्ग-यवर्ग-श्रवर्गणां चतुर्णां बह्वीनां मूलीप्रभृ
द्विभ्रं वसन्ति ॥ ५९ ॥

अट्टम-चउर्ध्वं तिसरा चउत्स्यवण्णेण ठाह्मा तिण्णि ।

जपति ख-छ-ठ-फाओ जाह्विसेसाह् गुम्माह् ॥ ६० ॥

कर्गोविसप्तवर्गोणां चतुर्थवर्णेन स्यापिताश्चतुर्थोष्टमांशिमाम्नाः स्वराः ख-छ-ठ-फा
आदिभिश्चेयान् गुम्मान् वसन्ति ॥ ६० ॥

ग-ज-डेहिं ह्योति य लया सालादि सचमसरेहिं गहिण्हिं ।

गहिण्हिं दबलसेहिं प(व ?)ण्णापहुदीनि जाणेह् ॥ ६१ ॥

कर्गं पवर्गं-उवर्गोणां एतीयवर्णेन भवन्ति एतीय-सप्तमाभ्यां स्वराभ्यां प्राञ्जलिकान् ॥
एवम्, तवर्गं-पवर्गं-यवर्गं शवर्गोणां चतुर्णां एतीये वर्णे गृहीते धाम्यकादीन् जानीतेति ॥ ६१ ॥

जल-साहारण-जगलदेसपभूय चवति भूरुह्य ।

आलिंणिय-अहिधूमिय-ददुयवण्णा जहासख ॥ ६२ ॥

अष्टसाधारणं आंगल्लेसप्रभूत भूरुह यथा अञ्ज क्मलोत्पत्तिकं आंगल्लं करिरकर-
मारीकं चानेयान् धमासंख्यं आलिंणिवामिधूमिवा वर्णो हुवन्तीति ॥ ६२ ॥

तरवो हुति असोया सणिहिया उत्तरेहिं वण्णेहिं ।

अधरसरेहिं अधमा पण्हे पडिण्हिं दूरुहा ॥ ६३ ॥

उत्तराक्षरैरशोकायास्वरैः प्रत्यासन्ना भवन्ति । अधराक्षरैरधमा वृद्धाः सर्वत्र आलोठ-
कारयो दूरुहा भवन्ति ॥ ६३ ॥

सजुत्त-असजुत्ता जहाकम लह्[पण्ह]वण्णेहिं ।

फलियाफलिया तरुणो केवल्लिनाणेण भासति ॥ ६४ ॥

संयुक्ता असंयुक्ता अस्याः प्रथमवर्णोः पञ्चमं फलियाफलियान् उरुन् केवल्लिकाज्ञानेन
भाषन्ति इति ॥ ६४ ॥

तह् दिवस-भास-पक्कय पुणो वि मासे वि तह् य वण्णरए ।

जहसखं लाहसुहं एसु य सयलेसु वगोसु ॥ ६५ ॥

एषु सर्वेषु वर्णेषु कर्गोविसप्तवर्णेषु वर्णेषु एकत्रिचतुःपञ्चमके वर्णे तस्मिन्नेव विभक्ते
कामसुत्पत्तिकं चिन्धितं भवति । सर्वैर्द्वितीयवर्णोमासे अद्भवति, सर्वे एतीयवर्णे पक्षे अद्भवति,
सर्वे चतुर्थवर्णे पुनर्मासे एव अद्भवति, सर्वे पञ्चमवर्णे संवत्सरे अद्भवति ॥ ६५ ॥

उत्तरवण्णपहाणो उत्तरअयण' पयासए पण्हे ।

अहरक्कसरेसु पण्हे दक्खिणअयण णं संदेहो ॥ ६६ ॥

उत्तरवर्णप्रधानप्रसः उत्तरायण प्रकाशयति । अथराक्षरप्रधानश्च दक्षिणायने प्रकाशयति
अत्र नास्ति सन्देहः ॥ ६६ ॥

पठमक्खरेण सिसिरो महु वि तहा वीयण्ण वण्णेण ।

तीयक्खरेण गिम्हो चउथेण य पाठसो होइ ॥ ६७ ॥

कवर्गाक्षिप्तवर्गाणां प्रथमाक्षरेण प्रसम्प्राप्तेन शिशिरः, तथा द्वितीयवर्षेण मधुर्षसंज्ञा,
दृतीयाक्षरेण भीष्मा, चतुर्थाक्षरेण प्रावृट् भवति ॥ ६७ ॥

सप्तमसरेहिं सरओ कहिओ अणुणासिण्हिं हेमतो ।

अं अ [१] इउ अक्खरय पयासिय जिणवरिंवेण ॥ ६८ ॥

सप्तमसरे क्षरत् कथितः, अणुनासिके हेमतः । इहं स्पष्टाक्षरं सिप्पवरेण्येण प्रकाशित

॥ सिति ॥ ६८ ॥

होइ च-टेहिं चित्तो वेसाहो होइ ग-ज-उवण्णेहिं ।

जिट्ठो वि व-अ-उ-त्तेहिं ईओ घ-अ-उ-हेहिं आसाढो ॥ ६९ ॥

पवर्ग-उवर्गयोः प्रथमाक्षरान्यां चैत्रो भवति । तथा कवर्ग-अवर्ग-उवर्गानां दृतीयाक्षरे
बैशाखो भवति । तवर्ग-पवर्ग-यवर्ग-श्रवर्गाणां दृतीयाक्षरेष्वेणो भवति । चतुर्थ-वृषमकरान्यां
तथा कवर्ग-अवर्ग-उवर्गानां चतुर्थाक्षरेणपाढो भवति ॥ ६९ ॥

णहु होइ घ-अ-उ-हेहिं सर रिउसर ऊ-अ-णेहिं मइवओ ।

ए ऊ थिन्दु विसग्गा सेसयवण्णेहिं आसिणओ ॥ ७० ॥

तवर्ग-पवर्ग-यवर्ग-श्रवर्गानां चतुर्थाक्षरेणमः आश्रयो भवति । पच-पइम्यां कराम्यां क-
वर्ग-अवर्ग-उवर्गानां पचमाक्षरेणोत्परो भवति । अनुस्वार-विसर्गान्यामाश्रितो भवतीति ॥ ७० ॥

तह त-य कच्चिकमासो कहिओ पढमेहिं दोहिं वण्णेहिं ।

य-शवण्णेहिं थि दोहिं मियसरणामो य मासो य ॥ ७१ ॥

तवर्ग-पवर्गयोः प्रथमाक्षरान्यां द्वाभ्यां तथा पुनः कार्तिके मासः कथितः, पवर्ग-श्रवर्गयोः
प्रथमवर्णान्यां द्वाभ्यां मार्गशीर्षे नामधेयो मासः कथितः इति ॥ ७१ ॥

आ ई ख-उ-हेहिं सहो थ फ-र पवण्णेहिं होइ तह माहो ।

फग्गुणमासो ससि मुणिसरण्हिं तह कथग्गेण ॥ ७२ ॥

द्वितीय-चतुर्थान्यां स्वराभ्यां तथा कवर्ग-अवर्ग-उवर्गानां द्वितीयाक्षरेः सह चोपो मासो
भवति । तवर्ग-पवर्ग-यवर्ग-श्रवर्गानां द्वितीयवर्षेणमा मापो भवति । प्रथम-सप्तमस्वराभ्यां
कवर्गस्य प्रथमाक्षरेण अस्त्युनमासो भवतीति ॥ ७२ ॥

दो सिञ्चि पच अट्टा पच य अट्टा य तह य दो तिसि ।

चारिछ सच छछा सच च्छछा य चारिछा ॥ ७३ ॥

॥ इति जिनेन्द्रकथितं प्रसफुडामणिसारशास्त्रं समाप्तम् ॥

११३८ प्रमाण किमित्याह—

कर्तृस्या प्रमाणम् ॥३६॥

११३९ कर्तृव्यापारम्वल्लिखन् बोध प्रमाणम् ॥३६॥

११४० कथमस्य प्रमाणत्वम् ? । करणं हि तत् साधकतम च करणमुच्यते ।

५ अम्यवहितफलं च तदित्याह—

तस्या सत्यामर्थप्रकाशसिद्धे ॥३७॥

११४१ 'तस्याम्' इति कर्तृस्यायां प्रमाणरूपायां क्रियायां 'तस्याम्' 'अथप्रकाशस्य' फलस्य 'सिद्धेः' म्यवस्थापनात् । एकज्ञानगतत्वेन प्रमाणफलयोरभेदो, म्यवस्थाप्यम्यवस्थापकमात्राद्यु भेद इति भेदाभेदरूपं स्याद्वाद्दमबाधितमनुपपत्ति प्रमाणफलमात्र

10 इतीदमखिलप्रमाणसाधारणमम्यवहितं फलमुक्तम् ॥ ३७ ॥

११४२ अम्यवहितमव फलान्तरमाह—

अज्ञाननिवृत्तिर्वा ॥३८॥

११४३ प्रमाणप्रवृत्तः पूर्वं प्रमातृविवक्षिते विषये यत् 'अज्ञानम्' तस्य 'निवृत्तिः' फलमित्यन्य । यदाहुः—

15 "प्रमाणस्य फलं साधोदज्ञानविनिर्बर्तनम् ।

केवलस्य सुखोपेक्षे शेषस्यादामहानधीः ॥" [प्याया २८] इति ॥३८॥

११४४ म्यवहितमाह—

अवग्रहादीनां वा क्रमोर्पजनधर्माणां पूर्वं पूर्वं प्रमाण
मुत्तरमुत्तर फलम् ॥३९॥

20 ११४५ अवग्रहेहानायधारणास्मृतिप्रत्यभिज्ञानोद्दानुमानानां क्रमेणोपजायमानानां यद्यत् पूर्वं तत्तत्प्रमाणं यद्यदुत्तरं तत्तत्फलरूपं प्रतिपद्यम्यम् । अवग्रहपरिणामवान् ज्ञात्मा ईहात्पफलतया परिणमति इतीहाफलापेक्षया अवग्रहः प्रमाणम् । ततोऽपीहा प्रमाणमन्वायं फलम् । पुनरन्वाय प्रमाण धारणा फलम् । ईहाधारणयोर्ज्ञानोर्पदानत्वात् ज्ञानरूपतो भया । ततो धारणा प्रमाणं स्मृति फलम् । ततोऽपि स्मृति प्रमाणं प्रत्यभिज्ञानं फलम् ।

१ कर्मत्वात् प्र - ता-म् । २ तच्चाह कर्मत्वा कर्तृत्वा चेत् (स्वा च) क्रिया प्रतीकते तया (१) ज्ञानत्वात् । त(च)च्चाहि बहिरस्ता तावत् कर्त्तृत्वाहिका अन्तरमुपेवा नवापारात् काश्चिद्दृग्वाग्नि भवन्ति तथा काश्चिद्वा हाहिकिना कश्चिद्वरित यत्वास्तानि मस्वीभवन्ति । एवमन्वग्रहप्रति ज्ञानार्थज्ञाननिर्बर्तनम् । ३ - फलं तदि - हे । ४ तत्तुत्त ऐक्येऽपि ज्ञानेऽनुसोऽर्पप्रमथ अर्धोऽनुपी व्यपवन्ति इति मेव । ५ अम्यवहितम् । ६ - परमवधर्म - त-म् । ७ - कर्मत्वम्-ता । ८ एकोऽन्वग्रहपरिणामे यत्तारिणतर्न च एवम्वयं ता- म् प्रती मेवकश्चिद् किना सहेव विहितं दत्तव-स्यम् । ९ ईहानायेहात्पत्वात् धारणावाध शरत्वारत्पत्वात् अन्वग्रहप्रति परत्वं अमिधमिधः । १० ज्ञानमुपादानं नवोद्दानत्वात्पत्नं वा ।

ततोऽपि प्रत्यभिज्ञा प्रमाणमूहः फलम् । ततोऽप्यूह प्रमाणमनुमान फलमिति प्रमाण फलविभाग इति ॥ ३९ ॥

११४६ फलान्तरमाह—

हानादिवुद्ध्यो वा ॥४०॥

११४७ हानोपादानोपक्षायुद्ध्यो वा प्रमाणस्य फलम् । फलबहुत्वप्रतिपादन मर्षेयां ५ फलत्वेन न विरोधो वैषष्टिकत्वात् फलस्येति प्रतिपादनार्थम् ॥ ४० ॥

११४८ एकान्तभिन्नाभिन्नफलवादिमतपरीक्षार्थमाह—

प्रमाणाद्भिन्नाभिन्नम् ॥४१॥

११४९ करणरूपत्वात् क्रियारूपत्वाच्च प्रमाणफलयोर्भेद । अमठ प्रमाणफलमेव व्यवहारानुपपत्तेः प्रमाणमेव वा फलमेव वा भवेत् । अप्रमाणाद्याहृत्या प्रमाणव्यवहारः, 10 अफलाद्याहृत्या च फलव्यवहारे भविष्यतीति चेत् ; नैषम् ; एवं सति प्रमाणान्तराद्या हृत्याऽप्रमाणव्यवहारः, फलान्तराद्याहृत्याऽफलव्यवहारोऽप्यस्तु, विजातीयविद्य मजा तीयादपि व्यावृत्तत्वाद्भस्तुन ।

११५० तथा, तस्यैवात्मनः प्रमाणाकारेण परिणतिस्तस्यैव फलरूपतया परिणाम इत्येकप्रमात्रपेक्षया प्रमाणफलयोरभेदः । भेदे स्वीत्मान्तरवचदनुपपत्ति । अथ यत्रैवात्मनि 15 प्रमाण समवेत फलमपि तत्रैव समवेतमिति समवायलक्षणया प्रत्यासत्त्या प्रमाणफल व्यवस्थितिरिति नात्मान्तरं तत्रमङ्ग इति चेत् ; न ; समवायस्य नित्यन्वाद्यापकत्वान्नि यत्वात्मवत्सर्वात्मस्वप्पविशेषान्न ततो नियतप्रमात्रसम्बन्धप्रतिनियमः सत् सिद्धमेतत् प्रमाणात्फलं कथञ्चिन्नन्मभिन्नं चेति ॥ ४१ ॥

११५१ प्रमातारं लक्षयति—

स्वपरामासी परिणाम्यारमा प्रमाता ॥४२॥

११५२ स्वम् आत्मानं पर चार्थमासासयितु क्षीलं यस्य स 'स्वपरामासी' स्वोन्मुख 20 तथाऽर्षोन्मुखतया चावमासनात् घटमहं जानामीति कर्मकर्तृक्रियाणां प्रतीतिः, अन्यतर प्रतीत्यपलापे प्रमाणाभावात् । न च परप्रकाशकत्वस्य स्वप्रकाशकत्वेन विरोधः प्रदीप पत् । नहि प्रदीपः स्वप्रकाशे परमपेक्षते । अनेनैकान्तस्वीमासिपगमासिवादिमतनिरास । 25 स्वपरामास्येव 'आत्मा प्रमाता' ।

१ - पेक्षबाहु - ता । २ - कथं प्रकाशयतीनाम् । ३ - क्षितित्वात् - ता । ४ - कान्ये प्रमाणात् । ५ - अत्यन्त - हे । ६ - प्रमाणात्तरात् । ७ - वचनान्तरात् प्रमाणस्य सम्बन्धे द्वितीयात्मनो कृत न भवति तत्र प्रमाणगतयो एषि मा मूहलक्षणेऽस्मिन्मवचनोपपत्तिरिति चेत् । ८ - तारं कथयति - हे । ९ - एतत्स्वोन्मुखं ता - न् प्रती मर्षं विभिनं वर्णते - "इत्याचार्योद्देशमकप्रतिरक्षितार्था प्रमाणमीमांसायां प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमभाषिणम् । न - न् प्रती तु - चावभाषाधिकम् । १० - शौचम् ।

१५३ तथा, परिणाम उक्तलक्षणं स विद्यते यस्य न 'परिणामी' । कृत्स्नत्वे
 आत्मनि ह्यविषादसुखदुःखभोगादयो विवर्ता प्रवृत्तिनिवृत्तिघर्माणो न वर्तन् । एकान्त-
 नाश्रिनि च कृतनाशाकृताभ्यागमौ स्याताम् , स्मृतिप्रत्यभिज्ञाननिहितप्रत्यन्मागणप्रमृ-
 तयश्च प्रतिप्राभिप्रतीता व्यसहारा विधीयेन् । परिणामिनि तूत्पादव्ययघौव्यघर्मभ्यात्मनि
 5 सर्वमुपपद्यते । यदाह—

“यथाहेः कुण्डलावस्था व्यपैति तद्वन्तरम् ।

सम्भवत्पार्जवावस्था सर्पस्य स्वनुवर्तते ॥

तथैव नित्यचैतन्यरूपस्यात्मनो हि न ।

निःशेषरूपविगमः सर्वस्थानुगमोऽपि वा ॥

10 किं स्वस्य विनिवर्तन्ते सुखदुःखादिखक्षणा ।

अथस्थास्ताश्च जायन्ते चैतन्यं त्वनुवर्तते ॥

स्यातामत्यन्तमाद्यो हि कृतनाशाकृतागमौ ।

सुखदुःखादिभोगश्च नैव स्यादेकस्वपिणः ॥

न च कर्तृत्वभोक्तृत्वे पुंसोऽवस्थां समाभिते ।

15 ततोऽवस्थाघतस्तत्कार्त्तुं कर्तृत्वाप्नोति तत्फलम् ॥” [तत्परं अ० १११ ११]

इति अननेकान्तनित्यानित्यवादन्युदास' । 'आत्मा'इत्यनात्ममादिनो व्युदस्यति ।

कापप्रमात्प्रता त्वात्मन' प्रकृतानुपयोगान्नोक्तेति सुस्मिर्तं प्रमातृलक्षणम् ॥४२॥

इत्याचार्यभ्रीहिसम्प्रविरचिताया' प्रमाणमीर्मासायास्तवृत्तेष्व

प्रथमस्याप्यापस्य प्रथममाह्निकम्

॥ अथ द्वितीयमाह्निकम् ॥

§ १ इदोदिष्टे प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणे प्रमाणद्वये लक्षित प्रत्यक्षम् । इदानीं परोक्ष लक्षणमाह—

अविशद परोक्षम् ॥ १ ॥

§ २ सामान्यलक्षणानुवादेन विश्लेषलक्षणविधानात् 'सम्पगर्थनिर्णय' इत्यनुवर्तते । तेनाविशद' सम्पगर्थनिर्णय' परोक्षप्रमाणमिति ॥१॥

5

§ ३ विमागमाह—

स्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानागमास्तद्विधय ॥ २ ॥

§ ४ 'तच्च' इति परोक्षस्य परामञ्जस्तेन परोक्षस्यैते प्रकारा न तु स्वतन्त्राणि प्रमा षान्तराणि प्रक्रान्तप्रमाणसङ्ख्याविधातप्रसङ्गात् ।

§ ५ ननु स्वतन्त्राप्यथ स्मृत्यादीनि प्रमाणानि किं नोच्यन्ते ? , किमनेन द्रविड मण्डकमक्षणन्यायेन ? । मैत्रं बोध , परोक्षलक्षणसङ्गृहीतानि परोक्षप्रमाणान् विभे दवर्तीनि; यथैव हि प्रत्यक्षलक्षणसङ्गृहीतानीन्द्रियज्ञान-मानस-स्वसवेदन-योगिज्ञानानि सौगतानां न प्रत्यक्षवदतिरिच्यन्ते, तथैव हि परोक्षलक्षणाधिष्ठानि स्मृत्यादीनि न मूलप्रमाणसङ्ख्यापरिपन्वीनीति । स्मृत्यादीनां पञ्चानां इन्द्र ॥२॥

10

§ ६ तत्र स्मृतिं लक्षयति—

वासनोद्बोधहेतुका तदित्याकारा स्मृति ॥३॥

15

§ ७ 'वासनौ' संस्कारस्तस्या 'उद्बोधे' प्रबोधस्तद्देतुका तन्निबन्धना,

"कालमसंख्यं सख्यं च धारणा होइ नायक्या" [विषेया अ २१२]

इति वचनादिरकालस्वाफिन्यपि वासनाऽनुभूदा न स्मृतिहेतुः, आधारमध्यपोपशम सङ्गदर्शनदिसामग्रीलम्बप्रबोधो तु स्मृतिं जनयतीति 'वासनोद्बोधहेतुका' इत्युक्तम् । अस्या उल्लेखमाह 'तदित्याकारा' सामान्योक्तौ नपुंसकनिर्देशस्तेन स धः, सा पटी, तत् कुण्डलमित्युल्लेखवती मति' स्मृतिः ।

20

§ ८ सा च प्रमाणम् अचिसवादित्वात् स्वय निहितप्रत्युन्मार्गणादिव्यवहाराणां दक्षनात् । नन्वनुभूयमानस्य विषयस्यामाभाभिरालम्बना स्मृति' कथं प्रमाणम् ? । नैवम्, अनुभूतेनार्थेन सात्त्विकत्वस्वोपपत्तेः, अन्यथा प्रत्यक्षस्याप्यनुभूतार्थविषयत्वादप्रामाण्य प्रसन्नेत । स्वविषयभावमासन स्मृतेरप्यविशिष्टम् । विनष्टो विषय' कथं स्मृतेजनकः ? , तथा

25

१ अत्र प्रथमं द्वितीयं च सूत्रद्वयं ता-न् प्रती मेरुमिदं विना सहेव विहिते दृश्यत-सम्भा । २ -- मित्रोहा -स-म् । ३ धारणा । ४ स्मृतिजनकामियुक्तम् । ५ -- वा अनुस्य -मु-या । ६ अन्ना धरणापवादां शुभनाहौ तदित्याकारमावात् प्रायिकमिदम् । ७ नुप्रमि -इ । ८ - वली स्प -दे । ९ अनिर्दिष्टावित्तमत्वा [अभिहितमिति चेत्त्याह । १० ननुभूतेनार्थेन सात्त्विकत्वस्वोपपत्तेः स्मृतेरप्रामाण्यमातिशये तथा प्रसङ्गस्यापि किं वाप्रामाण्यं मचेरिति एषोर्त्सेन तस्यापि निरुक्तत्वत्वात् । ११ अनुभूतविषय ।

चार्याञ्जन्यत्वात् प्रामाण्यमस्या इति चेत्; तत् किं प्रमाथान्तरेऽप्यर्षञ्जन्यत्वमविसर्वाद्
हेतुरिति विप्रलम्बोऽसि?। नैव मुदा, यथैव हि प्रदीपं स्वसामग्रीबललम्बजन्मा ष्यादि
मिरञ्जितोऽपि तान् प्रकाशयति तथैवावरणस्योपशमसम्यक्क्षेत्रियानिन्द्रियबललम्ब-
जन्म संवेदन विषयमवमासयति । “नामनुकृतान्धयऽप्यतिरेक कारणम् आकारण
6 विषयः” इति तु प्रलापमात्रम्, योगिज्ञानम्यातीतानागतार्थगोचरस्य तदञ्जन्यस्यापि
प्रामाण्य प्रति विप्रतिपत्तेरभावात् । किंच, स्मृतेरप्रामाण्येऽनुमानाय दृष्टो जलजलि,
तथा व्याप्तेरविषयीकरणे तदुत्थानायोगात्; लिङ्गग्रहण-सम्बन्धस्मरणपूर्वकमनुमानमिति
हि सर्वनादिसिद्धम् । तत्र च स्मृतिः प्रमाणम्, अनुमानप्रामाण्यान्यथानुपपत्तिरिति
सिद्धम् ॥ ३ ॥

10 § ९ अथ प्रत्यभिज्ञान लक्षयति-

दर्शनस्मरणसम्भव तदेवेद तत्सदृश तद्विलक्षण तत्प्रति

योगीत्यादिसङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम् ॥४॥

§ १० ‘दर्शनम्’ प्रत्यक्षम्, ‘स्मरणम्’ स्मृतिस्मृत्यां सम्भवो यस्य तद्यथा दर्शन
स्मरणकारणक सङ्कलनाद्वा ‘प्रत्यभिज्ञानम्’ । तस्योक्तेस्तथा-‘तदेवेदम्’, सामान्यनिर्दे
16 शेन नर्पुंसकत्वम्, स एवाय षटः, सैवेयं पत्नी, तदेवेदं कुण्डमिति । ‘तत्सदृशः’ गोस
दृष्टो गवयः, ‘तद्विलक्षणा’ गोविलक्षणो महिषः, ‘तत्प्रतियोगि’ इदमस्मादस्य महत्
दूरमासन्न वेत्यादि । ‘आदि’ग्रहणात्-

“रोमशो दन्तुरः रयामो वामनः पृषुलोचनः ।

यस्तत्र क्षिपिटप्राणस्त चैत्रमथभारयेः ॥” [म्यावम ४ १२]

20 “पयोम्बुमेदी हंसः स्यात्पदपूर्वैर्धर्मरः स्मृतः ।

सप्तपर्यस्तु विद्वद्भिर्बिज्ञेयो विषयमच्छद् ॥

पञ्चवर्णं भवेत्तर्जनं मेघकाशय पृथुस्तनी ।

युवतिश्चैकशृङ्गेऽपि गण्डकं परिक्षीर्तितः ॥”

इत्येवमादिशब्दप्रवृत्त्याघवाविधानेन चैत्रहसादीनयलोक्य तर्था सत्यापयति यदा, उदा
25 तदपि संकलेनाज्ञानशुक्तम्, दर्शनस्मरणसम्भवत्वाविशेषात् । यथा वा औदीच्येनें क्रमेत्तक

१ अर्षञ्जन्यत्वात् ज्ञानस्य प्रामाण्यानुपगमे मयमपीक्षितरी जलजन्मगवयर्षञ्जन्यत्वात् प्रमाणं स्यात् ।
अथ प्रतिभासमानार्षञ्जन्यं प्रमाथान्तरेऽप्यर्षञ्जन्यत्वमविसर्वाद् प्रमाणम् । अनुमानं ज्ञानवैधम्यान्वयप्रतिभासि त च
तेन जन्मम् भवन्मते सामान्यत्वात्सुखात् । अतः प्रमाथं तत्पूर्वजन्म(तत्पूर्वजन्म)मेवेति अतिव्याप्ति (वेति
व्याप्ति)रपि दुष्टा स्वसंवेदनप्रत्यक्षेण स्मृतिभावात् तद्वि स्थापयित्वा त च तेन जन्मम् । २ व्याप्तयेऽप्येऽप्यर्षञ्
त्वप्रमाणत्वात् । ३ इति ॥ अथ सु पा । ४ इति शब्दव्याख्यामपि तदेवेदमप्यभिज्ञानेऽपि प्रत्यभिज्ञानं दर्श
नादेव स्वरूपवृत्तितात् । तस्मात् मिथमप्यभिज्ञेयं कथञ्चिदेव स्मरणात् प्रत्यभिज्ञानम् । ५ यदीयेन दृष्टिरित्येन
गवा सरमोऽर्षं गवय इत्यादिभ्यः [अत्र टिप्पणकारेण ज्ञानकारणकत्वं उदाहरणम्-समा] । ६ एष्वत्वात्
स्वनेनदृष्टानाऽर्षञ्जन्यत्वं उदाहरणम् । ७ - परे -सु । ८ तथा वचनं कृत्वा-४-६ । ९ तदञ्जन्यसु -६ ।
१० अथ उदीच्येन इति युक्तात् ।

निन्दतोक्तम् 'विकरममतिदीर्घवक्रप्रीव' प्रलम्बोष्ठं कठोरतीक्ष्णकण्ठकश्चिन् कृत्सितावप-
वसन्निवेशमपशब्दं पञ्चनाम्' इति । तदुपप्लुत्य दाक्षिणात्य उत्तरापथ गतस्तादृशं वस्तूपलम्ब
'नूनमयमर्थोऽस्य करमशब्दस्य' इति [यद्वैवेति] तदपि दर्शनस्मरणकारणकत्वात् सङ्ग-
लनाज्ञान प्रत्यभिज्ञानम् ।

§ ११ येषां तु सादृश्यविषयस्युपमानाख्य प्रमाणान्तर तेषां वैलक्षण्यादिविषय ६
प्रमाणान्तरमनुपज्जेत । यदाहुः—

“उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साधर्म्यसाधनम् ।
तद्वैधर्म्यात् प्रमाणं किं स्यात् सञ्ज्ञिप्रतिपादनम् ॥” [अर्थम ११]

“इदमवयव महद्वृत्तं दूरमासन्नं प्राशुं नेति या ।
व्यपेक्षात् समक्षेऽर्थे विकल्पसाधनान्तरम् ॥” [अर्थम ११२] इति । 10

§ १२ अथ साधर्म्यस्युपलक्षणं योगैर्विभौगो वा करिष्यत इति चेत् ; तर्ह्यङ्गुल-
सूत्रकारः स्यात्, सूत्रस्य लक्षणरहितत्वात् । यदाहुः—

“अवयवस्य रससन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभमनवधय च सूत्रं सूत्राविदो विदुः ॥”

अस्तोभमनवधयम् ।

15

§ १३ ननु 'तत्' इति स्मरणम् 'इदम्' इति प्रत्ययमिति ज्ञानद्वयमथ, न ताभ्यां
मन्यत् प्रत्यभिज्ञानात्म्य प्रमाणस्युत्पत्त्याम् । नैतद्युक्तम्, स्मरणप्रत्ययसाध्यां प्रत्यभिज्ञा
विषयस्यार्थस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात् । पूर्वपराकारैकधुरीणं हि द्रव्यं प्रत्यभिज्ञानस्य
विषयम् । न च तत् स्मरणस्य गोचरस्तस्यानुभूतविषयत्वात् । यदाहुः—

“पूर्वमितिमात्रे हि जायते स इति स्मृतिः । 20

स एषायमितीयं तु प्रत्यभिज्ञातिरेकिणी ॥” [तत्त्वम वा ४५३]

नापि प्रत्ययस्य गोचरं, तस्यैव तत्मानविर्यत्तमाश्रुत्तित्वात् । न च दर्शनस्मरणाम्या
मन्यत् ज्ञानं नास्ति, दर्शनस्मरणोचरकालमाविनो ज्ञानान्तरस्यानुभूते । न चानु-
भूयमानस्वापलापो युक्तः अतिप्रमङ्गत् ।

§ १४ ननु प्रत्ययमेवेदं प्रत्यभिज्ञानम् इत्येके । नैवम्, तस्य सन्निहितवातमा 20
निरास्यविषयत्वात् ।

“सम्पद्वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना” [अर्थम एव ४५३]

इति मा स्म विस्मर । ततो नातीतवर्तमानयोरेकत्वमप्यज्ञानगोचरं । अथ स्मरणसह-

१- मीमांसा - ता । २- मनसर्-सु - मनसर्-हे । ३- मिदम् । ४- तावत् इ १५८ ।
५- वराह-ता । ६- वारतनापनम् । ७- एषम् । ८- अनेकस्य अन्वयमहाराजिम्भाषात् । ९- अतिप्रमङ्ग-
मानसं ज्ञानं विस्मरः । १०- प्रमाणात्तरं प्राप्नोति । ११- उदमत्वमिति सूत्रावयवबोधः । १२- उपमानं द्विधा
साधर्म्यतो वैधर्म्यतयेति विभागः । १३- पूर्वपराकारैकधुरीणमस्त्वाम् । १४- तद्वैधर्म्यसाध्यां विषयः
बोधोपलब्धिः यथा इत्यत्र तु तावत्त्वम् । १५- वराह-ता । १६- पूर्वपराकार-सु-ता । १७- पूर्वमितिमात्रात्प्रतिष्ठा ।
१८- स्य तस्य वि-हे । १९- तावति प्रत्ययस्य । २०- विदुः परिणाम-पयस इति वाच्यम् ।
२१- मय्य-हे । २२- वेदोपिवाच्यः । २३- वातुपलब्धिः । २४- वराहम् ।

कृतमिन्द्रिय तदेकत्वविषयं प्रत्यक्षमुपजनयतीति प्रत्यक्षरूपतास्य गीयत इति चेत्; न, स्वविषयविनियमितमूर्तेरिन्द्रियस्य विषयान्तरे सहकारिशतसमवधानेऽप्यप्रवृत्तेः । नहि परिमलस्मरणसहायमपि चक्षुरिन्द्रियमविषये गच्छादौ प्रवर्धते । अविषयप्रावीण्यवर्धमाना वस्त्राभ्याप्येक इव्यमिन्द्रियाणाम् । नाप्यदृष्टसहकारिसहितमिन्द्रियमेकत्वविषयमिति
 ५ वक्तुं युक्तम् उक्तादेव हेतोः । किंच, अदृष्टसम्पन्नत्वाद्वात्मनस्तद्विज्ञानं भवतीति वर वक्तुं युक्तम् । इत्यस्य हि स्वमविषयोदिसंस्कृतादात्मनो विषयान्तरेऽपि विशिष्टज्ञानोत्पत्तिः । ननु यथाज्ञानादिसंस्कृतं चक्षुः सातिष्ठत्य मवति तथा स्मरणसहकृतमेकत्वविषय मविष्यति । नैवम्, इन्द्रियस्य स्वविषयानतिरुद्धानेनैवातिष्ठयोपलम्भे, न विषयान्तरग्रहणरूपेण । यदाह मह-
 १०

“यस्याप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलक्ष्यमात् ।

दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यात् न रूपे भ्रोग्यसित ॥” [श्लोका सूत्र २ अ ११४]
 इति । उक्तं स्थितमेतत् विषयमेदात्प्रत्यक्षादन्यस्परोक्षान्तर्गतं प्रत्यभिज्ञानमिति ।

§ १५ न चैतदप्रमाणम् विसवादात्मात्रात् । कश्चिद्विसवादादप्रामाण्ये प्रत्यक्षस्यापि तथा प्रसङ्गो दुर्निवार । प्रत्यभिज्ञानपरिच्छिन्नस्य चात्मादीनमेकत्वस्याभावे बन्धनो
 १५ इत्यवस्था नोपपद्यते । एकस्यैव हि वदत्वे मुक्तत्वे च बद्धो दुःखितमात्मानं ज्ञानं मुक्तिमुद्यार्थी प्रयतत । मेदे त्वन्य एव दुःस्मन्य एव सुखीति कः किमर्थं वा प्रयतेत् ? । तस्मात्तत्फलस्यै दृष्टादृष्टव्यवहारस्यैकत्वमूलत्वादेकत्वस्य च प्रत्यभिज्ञायत्तजीवितत्वाद्भवति प्रत्यभिज्ञा प्रमाणमिति ॥ ४ ॥

§ १६ अथोदस्य लक्षणमाह-

२० उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानम् ऊह ॥ ५ ॥

§ १७ ‘उपलम्भः’ प्रमाणमात्रमत्र गृह्यते न प्रत्यक्षमेव अनुमेयस्यापि सौष नस्य सम्भवात्, प्रत्यक्षवदनुमेयेष्वपि व्याप्तेरविरोधात् । ‘व्याप्तिः’ वस्यमात्रा तस्या ‘ज्ञानम्’ तद्व्याप्तिं निर्णयविशेष ‘ऊहः’ ।

§ १८ न चायं व्याप्तिग्रहः प्रत्यक्षादेवेति वक्तव्यम् । नहि प्रत्यक्षं यावान् कश्चिद्
 २५ धूमः स देशान्तरे कालान्तरे वा पावकस्यैव क्षर्यं नार्थान्तरस्पर्शीपतो व्यापारान् कर्तुं समर्थः सभिहितविषयमलोत्पत्तेरविचारकत्वाच्च ।

§ १९ नाप्यनुमानात्, तस्यापि व्याप्तिग्रहणकाले योगीव प्रमाणा सम्पद्यत इत्ये-

१ स्वविषयवर्तमानिक्रमात् । २ विषयान्तरे गन्धार्थी । ३ अदृष्टं ज्ञानं कर्मेतरे । ४ विषयान्तरात् प्रतिक्रियादेवो । ५- धातु-ऊहः । ६ नहि संसृज्यमपि चक्षुरन्वादिग्रहणे शक्यम् । ७ स्वविषय । ८ दूरसूक्ष्मादिदृष्टेन चक्षुषोऽपि शयो भवति न भवत्येव रूपविषयैव व्यापारत्वात् । ९ नहि रूपे धीश्री इति संशयमिति । १० विषयभेदादित्यर्थं हेतुः । ११ तथा स एव शिरो ज्ञानते (१) । १२ स एवावमिति । १३-नैव सति च-इ । १४-एव दृष्टव्य-इ । १५ अदृष्टमिदमेव साधये कृतकत्व हि साधनम् प्रत्यक्षमेव हेतुः साधुमेवम् । १६ वाप्यादिनायैव इन्द्रियमाने नृमेऽन्तरानुभवस्यापि साधनत्वं वक्तव्यम् ।

यवच्चमपि न नास्ति । तस्मात् प्रमाणान्तरागृहीतव्याप्तिप्रहणप्रवणः प्रमाणान्तरमूहः ॥५॥

§ २३ व्याप्तिं लक्षयति-

व्याप्तिर्व्यापकस्य व्याप्ये सति भाव एव व्याप्यस्य

वा तत्रैव भाव ॥ ६ ॥

6 § २४ 'व्याप्ति' इति यो व्याप्नोति यं च व्याप्यते तयोः समयोर्धर्म' । तत्र यदा व्यापक-
धर्मतया विवक्ष्यते तदा 'व्यापकस्यै' गम्यस्य 'व्याप्ये' धर्मे 'सति', यत्र धर्मिणि व्याप्य
मस्ति तत्र सर्वत्र 'मात्र एव' व्यापकस्य स्वगतो धर्मो व्याप्तिः । तत्र च व्याप्यमाशयस्यै
व्याप्यस्यैव व्याप्तिप्रतीतिः । नत्ववमवभाषत-व्यापकस्यैव व्याप्ये सति भाव इति, हेतु
मात्रप्रसङ्गात् अव्यापकस्यापि मूर्त्विदेस्तत्र भावात् । नापि-व्याप्य सत्येवत्यवभाषयते,
10 प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद्देहेतुत्वापत्तौ, साधारण्य हेतु' स्याभित्यत्वस्य प्रमेयेष्वेव भावात् ।

§ २५ यदा तु व्याप्यधर्मतया व्याप्तिर्बिभक्ष्यते तदा 'व्याप्यस्य वा' गमकस्य 'तत्रैव'
व्यापक गम्ये सति यत्र धर्मिणि व्यापकोऽस्ति तत्रैव 'भावः' न तदभाषेऽपि व्याप्तिरिति ।
अत्रापि नैवमवभाषयते-व्याप्यस्यैव तत्र भाव इति, हेतुमात्रप्रसङ्गादव्याप्यस्यापि तत्र
15 हेतुत्वं स्यात्, प्रमेयत्वस्य नित्येष्ववश्यंभावादिति ।

§ २६ व्याप्यव्यापकसमतासङ्कीर्तनं तु व्याप्तेरुभयत्र तुल्यधर्मतयैकाकाग प्रती-
तिमा भूदिति प्रदर्शनार्थम् । तथाहि-पूर्वत्रोयोगव्यवच्छेदेनावधारणम् उच्यतेत्यानयो
व्यवच्छेदेनेति क्व उभयत्रैकाकारता व्याप्तः ? । तदुक्तम्-

"लिङ्गे लिङ्गी भवत्येव लिङ्गिन्येवेतरत् पुनः ।

20 नियमस्य विपर्यासश्चम्बन्धो लिङ्गलिङ्गिनो ॥" इति ॥ ६ ॥

§ २७ अथ क्रमप्राप्तमनुमान लक्षयति-

साधनास्साध्यविज्ञानम् अनुमानम् ॥७॥

१ अन्वयः । २ वृत्तिः । ३ पर्यन्त (१) । ४ अस्ति । ५ अस्तिरूपस्य तावत्त्व । ६ सूत्रे । ७ एव
तार्थ । ८ अन्वयः । ९ ननु व्याप्तेरुभयधर्मविच्छेदे क्व व्याप्तिप्रतीति हेतोरिव न व्यापकस्यापि हेतोरिव
हि व्याप्यस्य स्मरन्ति तथा वाङ्मा- "व्याप्तौ हेतुस्त्रियैव सा" [हेतु १] इत्यन्वय-वाच्य-उच्यते ।
१० --वेद्यया-हे । ११ व्याप्यत्वव्यवच्छिन्ना-ता । १२-स्वैव व्याप्यताप्रतीति-तु । १३ व्याप्येव
साधनत्व कर्त्तव्यं व्याप्यभाषो व्याप्यत्वं हेतुत्वत्वा(२)वेद्यते व्याप्यताप्रतीतिः । १४ अन्वयेऽनुमानं स्यात् (१) ।
१५ [अ] व्यापकस्यापि हेतोरिवत्वादेस्तत्र पर्यन्तं भावात् । १६ क्वचित्साधः अत्र हि व्याप्यत्व साधनेव मस्ति
विपुत्रादिना स्वमिवासात् । विपुत्रादी व्यापकत्वम् (कम्) क्वचित् प्रकृतानन्तरीयकत्वादिभिरान्वयित इति ।
१७ साधारण्यहेतुत्वानुमानस्य हेतु स्यादिति । १८ पर्यन्तार्थः । १९ व्याप्यत्व सूत्रेव हेतुत्व व स्यात् ।
व्याप्तौ साधनं हेतुत्वम् । व्याप्तिस्त्वोद्यमो वृत्तयः नास्ति । २० व्यापकस्यापि नैवेत्यत्र पर्यन्तं भावात् । २१ यत्र
व्याप्योऽस्ति तत्र । २२ अन्वयेति साधने तावत्त्व व । २३ मात्र एव । २४ व्यापकधर्मत्वे । २५ अत्र एव
लिङ्गी लिङ्गिणि तानि इतरव्यवच्छेदिति नियमः ।

§ २८ साधन साध्य च वक्ष्यमाणलक्षणम् । दृष्टादुपदिष्टाद्वा 'साधनात्' यत् 'साध्यस्य' 'विज्ञानम्' सम्यगर्थनिर्णयमात्मकं तदनुमीयतेऽनेनेति 'अनुमानम्' लिङ्गग्रहणं सम्बन्धस्मरणयोः पश्चात् परिच्छेदनम् ॥ ७ ॥

तत् द्विधा स्वार्थं परार्थं च ॥ ८ ॥

§ २९ 'तत्' अनुमान द्विप्रकारं स्वार्थ-परार्थमेदात् । स्वव्यामोहननिवर्तनक्षमम् ५ 'स्वार्थम्' । परव्यामोहननिवर्तनक्षमम् 'परार्थम्' ॥ ८ ॥

§ ३० तत्र स्वार्थं लक्षयति-

स्वार्थं स्वनिश्चितसाध्याधिनाभावैकलक्षणात् साधनात् साध्यज्ञानम् ॥ ९ ॥

§ ३१ साध्य विनाऽभवत् साध्याधिनाभावः स्वेनात्मना निश्चितं साध्याधिना 10 मानं एवैकं लक्षणं यस्य तत् 'स्वनिश्चितसाध्याधिनाभावैकलक्षणम्' तस्मात्साध्याधिनात् 'साधनात्' लिङ्गात् 'साध्यस्य' लिङ्गिनो 'ज्ञानम्' 'स्वार्थम्' अनुमानम् । इह च न योग्यतया लिङ्गं परोक्षार्थप्रतिपक्षेण, यथा धीजमङ्कुरस्य, अथवा धूमोदभोरप्रतिपक्षे; नापि स्वनिश्चितसाध्याधिनात्पश्चात् यथा प्रदीपो घटादेः, घटादप्यनिश्चिताधिनात्पश्चात्पक्षे । तस्मात्परोक्षार्थानन्तरीयकतया निश्चयनमेष लिङ्गस्य व्यापार इति 'निश्चित'ग्रहणम् । 15

§ ३२ ननु चासिद्धविरुद्धानैकान्तिकहेत्वाभासनिराकरणार्थं हेतोः सत्त्वमेवत्वम्, सपक्षे सत्त्वम्, विपक्षाद् व्याप्यविरिति त्रैलोक्यमाचक्षते 'सत्त्वम्' । तथाहि-अनुमेये धर्मिणि लिङ्गस्य सत्त्वमेव निश्चितमित्येकं रूपम् । अत्र सत्त्ववचनेनासिद्धं चाक्षुपत्वादि निरस्तम् । एवकारेण सत्त्ववचनेनासिद्धो निरन्वो यथा अनित्यानि श्रुतिव्यादीनि भूतानि गन्धवत्त्वात् । अत्र पक्षीकृतेषु श्रुतिव्यादिषु चतुर्षु भूतेषु श्रुतिव्यामेव गन्धवत्त्वम् । सत्त्ववचनस्य पश्चात् 20 स्तैतेनैवकारेणासाधारणो धर्मो निरस्तः । यदि अनुमेये एव सत्त्वमित्युच्येत भावमेत्वमेव इति स्यात् । निश्चितग्रहणेन सन्दिग्धासिद्धः सर्वो निरस्तः । सपक्ष एव सत्त्व निश्चितमिति द्वितीयं रूपम् । इहापि सत्त्वग्रहणेन विरुद्धो निरस्तः । स हि नास्ति सपक्षे । एवकारेण साधारणानैकान्तिकः, स हि न सपक्षे एव वर्तते किं तु विपक्षेऽपि । सत्त्वग्रहणात् पूर्वमवधारणकरणेन सपक्षव्यापिनोऽपि प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् हेतुत्ववृत्तम्, पश्चादवधारणे 20

१ इतिपक्षमाशङ्कतम् । २ परवानुमाने कथितात् । ३ अनेन अतः पश्चादर्थता । ४ स्वस्वामिर्देव्याय येन स्वयं प्रतिपद्यते । ५ परस्वामिर्देव्याय येन परः प्रतिपद्यते । ६- धर्मो वा -डे । ७- भावक-डे । ८- अस्तिज्ञानं प्रति धूमस्य वाग्मता एतद्विच्छेदोऽस्त्येव परं इत्ये हि धूमो धूमवत्त्वमवगमयति वाद इति । ९ एतेन धूमो धूमवत्त्वेन निश्चिताधिनाभावस्य धूमो वाग्मता इत्यादिदितम् । १० नवाऽनित्यः सपक्षः सत्त्ववत्त्वात् सद्वदित्यत्र सपक्षे साक्षुपत्त्वमितिदम् । ११ सत्त्वपराऽप्रगतः । १२- भाववचन-डे । १३ नवाऽनित्यः सपक्षः भाववत्त्वादिपक्षेनास्ये सपक्षे भाववत्त्वमेव हेतुवत्त्वमित्यवगमयति । १४ धूमो वाग्मो वा इति सत्त्ववदे धूमवदेतिनशावनम् । १५ अनेन सत्त्ववचनेन साधारण्येऽपि निरन्वते । १६ निरस्त इति संज्ञकः । १७ यथा अस्तिवः सपक्षः प्रवृत्तानन्तरीयकत्वात् परवत् । परे प्रवृत्तानन्तरीयकत्वं विपक्षे न विद्युति परम् तथापि प्रवृत्तानन्तरीयकत्वस्य हेतुत्वं सपक्षवदेऽशङ्कतम् ।

- हि अयमर्थः स्यात्—मपक्षे सत्त्वमेव यस्य स हेतुरिति प्रयत्नानन्तरीयकत्व न हेतुः स्यात् । निमित्तवचनेन सन्दिग्धान्वयोऽनैकान्तिको निरस्तः यथा मवग्रं कश्चिद्रूपत्वात्, वक्तृत्वं हि मपक्षे मवग्रं सन्दिग्धम् । विपक्ष त्वमेवमव निमित्तमिति तृतीय रूपम् । तत्रासत्त्वग्रहणेन विरुद्धस्य निगमः । विरुद्धो हि विपक्षस्तु । एतद्वारेण साधारणस्य विपक्षेण 5 दृष्टवृत्तनिगमः, प्रयत्नानन्तरीयकत्वे हि साध्यः नित्यत्व विपक्षेकत्वे विपुदात्वात्स्ति, आकाशदानो नास्ति । ततो नियमनास्य निगमोऽसत्त्वग्रहणात् । पूर्वस्मिन्नयभारणे हि अयमर्थः स्यात्—विपक्ष एव यो नास्ति स हेतुः, तथा च प्रयत्नानन्तरीयकत्व सपक्षेऽपि नास्ति ततो न हेतु स्यात्तत् पूव न कृतम् । निमित्तग्रहणेन सन्दिग्धविपक्षन्यायेति कोऽनैकान्तिको निरस्तः । तदव प्ररूप्यमेव हेतोरसिद्धादिदोषपरिहाश्रममिति तदवाम्युपगन्तु 10 युक्तमिति किमेकलक्षणकत्वेनति ? ।

- १ ३३ मत्पुक्तम्, अविनामावनिपमनिश्चयादव दोषप्रयपरिहारोपपत्तेः । अविनामावो धन्ययानुपपन्नम् । तथासिद्धस्य विरुद्धस्य व्यभिचारिणो वा न सम्भवति । प्ररूप्ये तु सम्यप्यविनामावाभावे हेतोरगमकत्वदर्शनात्, यथा स श्यामो मैत्रतनयत्वात् इतरमैत्रपुत्रवदित्यत्र । अथ विपक्षाभिपमवती व्याहृतिस्तत्र न दृश्यते ततो न गम 15 कत्वम्; तर्हि तस्या एवाविनामावरूपत्वादिसरसैपसङ्गाभेऽपि तदभावे हेतोः स्वसाध्य सिद्धिं प्रति गमकत्वानिष्टौ सर्व प्रचान लक्षणमस्तु । तत्सङ्गाभेऽपरूपद्वयनिरपेक्षतया गमकत्वोपपत्तेः, यथा सन्त्यद्वैतवैदिनोऽपि प्रमाणानि इष्टानिष्टसाधैर्नरूपणान्ययानुपपत्तः । न चात्र पक्षमत्वं सपक्ष सत्त्वास्ति, केवलमविनामावमात्रेण गमकत्वोपपत्तिः । ननु पक्षमताऽभावे श्वेतः प्रासादः काकस्य काष्ण्यादित्यादयोऽपि हेतवः 20 प्रसन्नेरतः; नैवम्, अविनामावबलेनैवापक्षमणामपि गमकत्वाम्युपगमात् । न चेह सोऽस्ति । ततोऽविनामाव एव हेतोः प्रचानं लक्षणमाम्युपगन्तव्यम्, सति तस्मिन्नसत्यपि त्रैलक्षण्ये हेतोरगमकत्वदर्शनात् । न तु प्ररूप्यं हेतुलक्षणम् अप्यापेक्षत्वात् । तथा च सर्वे लक्षणिक सत्त्वादित्यत्र मूढाभिपिके साधने सांगते सपक्षेऽसतोऽपि हेतोः सत्त्वस्य गमकत्वमित्यत एव । तदुक्तम्—

25 “अम्यपाऽमुपपन्नत्वं यत्र तत्र अयेण किम् ? ।

मान्ययानुपपन्नत्वं यत्र तत्र अयेष किम् ? ॥” इति ।

१ सपक्षे वामयमत्वम् । २ मीमांसर्ष प्रति अन्ये वक्ति । ३ सत्त्वस्य सर्वत्र सपक्षत्वात् । ४ अन्तिके वर इतदन्त्यात् सत्त्ववत् । इतदर्थं अन्तिकेऽस्ति मत्प्रधानी । ५ तथा प्रयत्नानन्तरीयक अन्तिके अन्तिकत्वात् परवत् । ६ मपक्षे तस्ति एव । ७ तथा मपक्षोऽनं वन्तुत्वात् । ८ अनेकान्तिकत्वम् । ९ पूर्वसिद्धवृत्तयेन । १० पक्षममैवमवग्रहणत्वेन सपक्षम् । ११ विपक्षाभिपमवती व्याहृतेरभावे । १२ विपक्षाभिपमवती व्याहृतेः । १३ अन्त्यवैतवाचिनः । १४ तस्यते प्रमाणसङ्गणः पक्षोऽपि नास्ति इत पक्षमता । १५ - पत्तेः सु-पा । १६ च इत्यामा मीमांसनवाक्यादित्यादी ।

§ ३४ एतेन पञ्चलक्षणकत्वमपि नैयायिकोक्तं प्रत्युक्तम्, तस्याप्यविनाभावप्रपञ्चत्वात् । तथाहि—त्रैरूप्य पूर्वोक्तम्, अनाधितविषयत्वम्, असत्प्रतिपक्षत्वं चेति पञ्च रूपाणि । तत्र प्रत्यक्षागमभाषाधित्वकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वं बाधितविषयत्वं यथाऽनुष्णास्तेजोवयवी कृतकत्वात् घटवत् । आशयेन सुरापेया [त्रय]द्रव्यत्वात् धीरवत् इति । तन्निषेधादबाधितविषयत्वम् । प्रतिपक्षहेतुबाधितत्व सत्प्रतिपक्षत्व यथाऽनित्य शब्दो नित्यधर्मानुपलम्बे । 5
अत्र प्रतिपक्षहेतुः—नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मानुपलम्बेरिति । तन्निषेधादसत्प्रतिपक्षत्वम् । तत्र बाधितविषयस्य सत्प्रतिपक्षस्य चाविनामावामावादविनाभावेनैव रूपद्वयमपि सत्सृष्टीतम् । यदाह—“बाधाविनाभावयोर्बिरोधात्” [हेट पर ४] इति । अपि च, स्वलक्षणलक्षितपक्षविषयत्वाभावात् तदोपेणैव दोषद्वयमिदं चरिताथ किं पुनवचनेन ? । तत् स्थितमेतत् साध्याविनामावैकल्यभावादिति ॥ ९ ॥ 10

§ ३५ तत्राविनामावं लक्ष्यति—

सहक्रमभाविनो सहक्रमभावानियमोऽविनाभाव ॥१०॥

§ ३६ ‘सहभाविनोः’ एकसामर्थ्यधीनयोः फलादिगतयो रूपरसयोः ध्याप्यम्यापकयोश्च द्विधपास्वहृत्त्वयोः, ‘क्रमभाविनो’ कृषिकोदयद्रफटोदययोः, कार्यकारणयोश्च धूमधूमपञ्जयोर्थासङ्गयः ‘सहक्रमभावानियम’—सहभाविनो सहभावानियम’ क्रमभाविनोः क्रमभावानियमः, साध्यसाधनयोरिति प्रकरणाच्छ्रम्यते सः ‘अविनाभाव’ ॥१०॥ 15

§ ३७ अथैवविधोऽविनाभावो निश्चितं साध्यप्रतिपक्ष्यङ्गमित्युक्तम् । तन्निश्चयस्य कृतः प्रमाणात् ? । न तावत् प्रत्यक्षात्, तस्यैन्द्रियकस्य सम्बिहितविषयविनियमितव्यापारत्वात् । मनस्तु यद्यपि सर्वविषयं तथोपीन्द्रियगृहीतार्थगोचरत्वेनैव तस्य प्रवृत्तिः । अन्यथा च-अभिरार्थभावप्रसङ्गः । सर्वविषयता तु सकलेन्द्रियगोचरार्थविषयत्वेनैवोच्यते । 20
न स्वातन्त्र्येण । योगिप्रत्यक्षेण त्वविनाभावग्रहणेऽनुमेयार्थप्रतिर्षिचिरेव ततोऽस्तु, किं तपस्विनाऽनुमानेन ? । अनुमानात्तन्निषेधात्तन्निषेधेऽनैवस्थेतरैराश्रयदोषप्रसङ्ग उक्त एव । न च प्रमाणान्तरमर्षविधविषयग्रहणप्रवणमस्तीत्याह—

ऊहात् तन्निश्चय ॥ ११ ॥

§ ३८ ‘ऊहात्’ तद्वदुक्तलक्षणावस्याविनाभावस्य ‘निश्चयः’ ॥ ११ ॥ 25

§ ३९ लक्षितं परीक्षितं च साधनम् । इदानीं तत् विमञ्जति—

१ साध्यमनुमेयमिति भावः । २-तत्कर्म -के । ३ तत्सर्वं पृ ३४ । ४-एव तत्त्व-के । ५ यथाऽनु-ता । ६ पक्षदोषावैक्यैः । ७ साध्यसाधनयोः । ८ अनिश्चित इत्यनेन निश्चितं सत् । ९ प्रसङ्गमात्रमात्राभावेऽपि कदा कदाचित् एवमथ एवमिति । १० मनसैव सर्वत्रिभार्षिग्रहणात् । ११ अत्र्यादि । १२-परीक्षितं ततो-के । १३ अनुमानतोऽविनाभावनिश्चये तस्याऽनुमानस्याविनाभावनिश्चये क्रममुमानात्परं निश्चयम्(?) । तस्मापि अन्यत्रिसाधनवत्त्वात् । इतरैस्तथाभवत्तु अनुमानात्तन्निषेधात्तन्निषेधोऽविनाभावे च निश्चिते अनुमानोत्पादमिति ।

स्वभाव कारणं कार्यमेकार्यसमवायि विरोधि
चेति पञ्चधा साधनम् ॥ १२ ॥

- १ ४० स्वभावादीनि चत्वारि विधे साधनानि, विरोधि तु निषेधस्वेति पञ्च विधौ 'साधनम्' । 'स्वभावः' यथा घृन्दानित्यत्वे साध्ये कृतकत्व भावगतत्वात् वा ।
- 5 ४१ ननु भावणत्वस्यासाधारणत्वात् कथं व्याप्तिसिद्धिः ? । विषयमेव साधक प्रमाणात् सत्त्वस्वेवेति ह्यम् । न चैवं सर्वमेव हेतुं तद्विशेषस्योत्पत्तिमन्-कृतकत्व प्रयत्नानन्तरीयकत्व-अत्ययमेव हेतुत्वादेरहेतुत्वापत्तेः । किञ्च, किमिदमसाधारणत्वं नाम ? । यदि पक्ष एव धर्ममानत्वम् ; तत् सर्वस्मिन् धार्मिके साध्ये सत्त्वस्यापि समानम् । साध्यधर्मवत् पक्षस्यापि सपक्षता चेत् ; इह कः प्रदेशः ? । पक्षादन्यस्यैव सपक्षत्वे लोह
- 10 लेख्यं ब्रह्म पार्थिवत्वात् काष्ठवदित्यत्र पार्थिवत्वमपि लोहलेख्यतां ब्रह्मे गमयेत् । अन्यवानुपपत्तेरभावात्वेति चेत् ; इदमेव तर्हि हेतुलक्षणमस्तु । अपक्षधर्मस्यापि साधनत्वापत्तिरिति चेत् ; अस्तु यद्यविनाभावोऽस्ति, अक्षरोदधे कृत्तिकोदयस्य, सर्वज्ञसद्भावे सत्त्वादिन उपदेक्षस्यै गमकत्वदर्शनात् । काकस्य काक्यं न प्रासादे भावस्यं विनानुपपद्यमानमित्यनेकान्तादगमकम् । तथा, घने बाहुपत्वं अक्ष्येऽनित्यतां विनाप्युपपद्यमानमिति ।
- 15 तत्र भाषणत्वादिरसाधनत्वोऽप्यनित्यतां व्यभिचरति । ननु कृतकत्वाच्छब्दस्यानित्यत्वे साध्ये पर्यायवद् ब्रह्मेऽप्यनित्यता प्राप्नोति । नैवम्, पर्यायाभावेनानित्यतायाः साध्यत्वात्, अनुक्रमपीड्याधिपयीकृतं साध्यं मन्वीति किं स्म प्रस्तरति मवान् ? । ननु कृतकत्वानित्यत्वयोस्तादात्म्ये साधनवत् साध्यस्य सिद्धत्वम्, साध्यवत् साधनस्य साध्यत्वं प्रसन्नति । सत्यमेतत्, किं तु मोहनिवर्तनार्थः प्रयोगः । यदाह-
- 20 "सादेरपि न सान्तरत्वं व्यामोहाद्योऽविगच्छति ।
साध्यसाधनतैकस्य तं प्रति स्यान्न दोषमाह ॥"
- १ ४२ 'कारणं' यथा वाष्पभावेन मर्द्धकवर्तिरूपतया वा सन्दिग्धमाने भूमेऽग्निः, विष्टिदमेधोर्धेतिर्वा इत्ये । कर्ममयमात्रस्यगोपलाविपाळाङ्गनादिप्रसिद्धोऽपि नोपलम्बघ्नमवर्धिन्यापि न्यायवादिना । कारणविशेषदर्शनादि सर्वं कार्यार्थी प्रवर्तते । स तु
- 25 विशेषो ज्ञातव्यो योज्यमित्यारी । कारणत्वनिश्चयादेव प्रवृत्तिरिति चेत् ; अस्तसौ

१ अग्निमात्रविपरीते अित्यन्ते अभाष्यस्यः पूर लम्बः पञ्चाद कर्षं उच्यते इत्येवमो ज्ञात इति वाक्य-
प्रकारं तस्माच्चित्तत्वेऽप्यनान्तर्कं भाष्यं [ल] अग्निमात्रं व्यक्तत्वात्पत्तिः । २ सत्यमर्थकिमाकारित्वम् । तथा-
चित्तपक्ष एव वदत इति भाववत्त्वमपि सत्यमावताम् । ३ - शुभोपपत्ते - ता । ४ अक्ष्ये (य) अक्ष्ये
वशाभावे इतिभेदपाद । ५ अक्षित उच्यते : सर्वमात्रसाक्षात्कारेऽस्ति अविशेषादित्योर्धेर्ज्ञानप्रवृत्तयुक्तौ ।
६ अक्ष्येऽनित्यत्वात् ननु उपपत्तिरिति ननु अन्तर्कं विनाऽपि वदतीं बाहुपत्त्वमुपपत्ते इत्यन्वयवत्त्व-
मर्थं अक्ष्येऽनित्यतां न साधयति । ७ स्म अित्य - ई । ८ अग्निमात्रम् । ९ कारणम्-सु-ता ।
१० मन्ववर्ति- ई । ११ अर्थं भूमेऽग्नेः । १२ इतिर्नामिदं विष्टिदमेधोवत्ते । १३ मन्वावा इति ।
१४ इतिपदम् । १५ अग्निमात्रकारणम् ।

लिङ्गविशेषनिश्चयः प्रत्यक्षकृतः, फले तु भाविनि नानुमानादन्यविषयबन्धनमुत्पश्यामः ।
 क्वचित् व्यभिचारात् सधस्य हेतोरहेतुत्वे कार्यस्यापि तथा प्रसङ्गः । बाष्पादेरकार्यत्वा-
 नेति चेत्; अत्रापि यत् यतो न भवति न तत् तस्य कारणमित्यदोषः । यथैव हि किञ्चित्
 कारणमुद्दिश्य किञ्चित्कार्यम्, तथैव किञ्चित् कार्यमुद्दिश्य किञ्चित् कारणम् । यद्देवाजनक
 प्रति न कार्यत्वम्, तद्देवाजन्य प्रति न कारणत्वमिति नानयो क्वचिद्विशेषः । अपि 5
 च रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छता न्यायवादिनेऽप्येव कारणस्य हेतुत्वम् ।
 यदार्हः—

“एकसामग्र्येषीनस्य रूपाद्दे रसतो गतिः ।

हेतुधर्मानुमानेन धूमेन्धमविकारवत् ॥” [प्रमाणवा १ १] इति ।

§ ४३ न च वयमपि यस्य कस्यचित् कारणस्य हेतुत्व धूमः । अपि तु यस्य 10
 न मन्त्रादिना शक्तिप्रतिबन्धो न वा कारणान्तरवैकल्यम् । उक्तकृतो विज्ञायत इति चेत्;
 अस्ति तावद्विगुणादितरस्य विशेषः । तत्परिज्ञानं तु प्रायः पांशुरपादानामप्यस्ति ।
 यदाहुः—

“गन्मीरगर्जितारम्भमिर्मिन्नगिरिगङ्गराः ।

स्वल्पतडिद्धतासङ्घपिद्युग्गोस्तुक्गाधिप्रहाः ॥” [स्यायम ४ १२१]

15

“रोक्तमगधस्यप्याकृतमाखमालिनात्वियः ।

वृष्टिं व्यभिचरन्तीह मैषं प्रायाः पयोमुखः ॥” [‘पक्ष २] इति ।

§ ४४ ‘कार्यम्’ यथा इष्टौ विशिष्टनदीपूरः, कृशानौ धूम, चैतन्ये ग्रांणादिः ।
 पूरस्य वैशिष्ट्यं कार्यं विज्ञायत इति चेत्; उक्तमत्र मैषापिचैः । यदाहुः—

“आवर्तवर्तनाशास्त्रिषासखकलुपोदकः ।

कङ्कोलबिकटास्फाकसुं टफेनप्यदाङ्कितः ॥

बहुतुबहुकशेषाकफसशास्त्रिसङ्कलः ।

मदीपूरविशेषोऽपि शक्यते न म वेदितुम् ? ॥” [स्यायम ४ १२]

20

इति धूमप्राणादीनामपि कार्यत्वनिश्चयो न दुष्करः । यदाहुः—

“कार्यं धूमो हुतभुजः कार्यधर्मानुवृत्तितः ।

स भवंस्तदभावेऽपि हेतुमत्तां बिलह्वयेत् ॥” [प्रमाणवा १ १५]

25

१ प्रमाणत —तु पा । २ वाचस्यं कारणानि कार्यवन्ति । ३ कार्यं यमार्हः । ४ बराहुः—ता ।
 ५ यथा धूमादिनिश्चयत तदास्मिरिच्छन् (१) विष्कारकता दाहघ्नेऽपि क्षमत् । भवं रतो विधिप्रसामरीणा(मा)
 वैशिष्ट्यसम्बन्धानुपपत्तिरिति कारण्य(कार्य) विशिष्टसामयीज्ञानं तस्याच स्थाविजनकत्वज्ञानम् । ६ हेतुः
 कारणं तस्य कार्यं स्थाविजनकत्वं तस्यानुमानं तस्य विज्ञात् परिच्छेदः । ७ धरम्परिकारणम् । ८ साकल्यम-
 प्रतिषेधत्वभावः । ९ इत्यपराधीनामपि । १० प्राणादि पू-ता । ११ कर्षं ज्ञान-हे । १२ यदाह —ता ।
 १३ —सुन्दर के । १४ साहस्य-हे । १५ दाहवते न निवे-हे । १६ यदाह —ता ।
 १७ वाचस्यैः कारणे तस्मिन् भवन्तु कारणान्यथै वाऽभ्यवन्तम् ।

§ ४५ कारणाभावेऽपि कार्यस्य भावे अहेतुत्वमन्यहेतुत्व वा भवेत् । अहेतुत्वे सदा सत्त्वमसत्त्वं वा भवेत् । अन्यहेतुत्वे दृष्टान्यतोऽपि भवतो न दृष्टान्यता अन्याभावेऽपि दृष्टान्यतो नान्यहेतुत्वमित्यहेतुत्वैव स्यात् । तत्र चोक्तम्—“यस्त्वन्यतोऽपि भवन्नुपलक्षणा न तस्य भूमत्त्व हेतुभेदात् । कारणं च बह्विधूमस्य इत्युक्तम् ।”

६ अपि च—

“अग्निस्वभावाः शकस्य मूर्धा यद्यग्निरेव स ।

अयानग्निस्वभाषोऽसौ भूमस्तत्र कथं भवेत् ॥” [प्रमाणम् १३] इति ।

§ ४६ तथा चेतनां विनानुपपद्यमानं कार्यं प्राणादिरनुमापयति तां भाववत्त्वमिवानित्यताम्, विपर्यये वाचकवशात्तत्त्वस्वेवास्यापि स्यादिति हेतुत्वोक्तप्राप्यम् । तत्र प्राणादिरसाधारणोऽपि चेतनां व्यभिचरति ।

§ ४७ किञ्च, नान्वयो हेतो रूप तदभावे हेत्वामासामावात् । विपक्ष एव सन् विरुद्धः, विपक्षोऽपि—अनैकान्तिकः, सर्वज्ञत्वे साध्ये वक्तृत्वस्यापि व्यतिरेकभाव एव हेत्वामासत्वे निमित्तम्, नान्वयसन्देह इति न्यायवादिनापि व्यतिरेकभावाद्व हेत्वामासाद्युक्तौ । असाधारणोऽपि यदि साध्याभावेऽस्तभिति निधीयेत तदा प्रकारान्तरा मावात्साध्यमपस्यापयमानैकान्तिकः स्यात् । अपि च यद्यन्यो रूप स्यात् तदा यथा विपक्षैकदेशवृत्तेः कथञ्चिद्व्यतिरेकद्वयगतत्वम्, एव सपक्षैकदेशवृत्तेरपि स्यात् क्वचिदनन्वयात् । यदाह—

“रूपं यद्यन्यो हेतोर्भ्यतिरेकवद्विप्यते ।

स सपक्षोभयो न स्यादसपक्षोभयो यथा ॥”

२० सपक्ष एव सत्त्वमन्ययो न सपक्षे सत्त्वमेवेति चेत्; अस्तु, स तु व्यतिरेक एवेत्यस्मन्मतेनाङ्गीकृतं स्यात् । ययमपि हि प्रत्यपीपदाम अन्यभानुपपक्षेकस्यो हेतुरिति ।

§ ४८ तथा, एकस्मिन्मर्षे दृष्टेऽदृष्टे वा समवाय्याभितं साधन साध्येन । तत्रैकस्य समवायित्वम् एककलादिगतयो रूपरसयोः, शक्योदय-कृषिकोदययोः, चन्द्रोदय-समुद्रच्छयोः, दृष्टि-साण्डपिपीलिकाद्योभयोः, नागबल्लीदाह-पत्रकोषयोः । तत्र ‘एकस्य समवायी’ रसो रूपस्य, रूप वा रसस्य; नहि समानकालमात्रिनो कार्यकारणभाव सम्भवति ।

§ ४९. ननु समानकालकथयनकं कारणमनुमास्यते इति चेत्; न तर्हि कार्यमनुमितं स्यात् । कारणानुमाने सामर्थ्यात् कार्यमनुमितमेव, अन्याभावे वनकत्वाभावा-

१ अहेतुत्वम् । २ जनैरन्यो हेतुरस्य । ३ वा अन्य—इ । वा भावयेत् अन्य—मुना । ४ अग्निस्वभावः । ५ न केवलं सपक्षे हेतुत्वमिति । ६ सपक्षे भवति साधनसत्त्वं वा सत्त्वं । ७ समवायि-मित्युक्तम्—ता । ८ एवं चर्कं किञ्चिद्व्यतिरेकं किञ्चिद्व्यतिरेकत्वात् । एवं तत्र चर्कं अग्निश्चन्द्रोदय-वृत्तिभेदवत्त्वात् । अन्यं वाक्यं समुद्रच्छिमाम् चन्द्रोदयवत्त्वात् । एवम् अनेकेषु कालेषु भवति । ९— मत्त्वम्—इ । १० कालस्याद्वयकारणं शक्यते । तत्र कीदृशम् । ११ समानकालं कालाय एवकार्यं तत्रकथमनुमीयते ।

दिति चेत्; इन्तैव कारण कार्यस्यानुमापकमित्यनिष्टमापद्यत । शक्योदयकृधिकोदयादीनां तु यथाऽविनाभाव साध्यसाधनभावः । यदाह—

“एकार्थसमवापस्तु यथा येषां तथैव ते ।

गमका गमकस्तन्न शकटः कृत्तिकोदितेः ॥”

एवमन्त्येष्वपि साधनेषु साध्यम् । ननु कृतकत्वानित्यत्वयोरेकार्थसमवायः कस्मात् 5
प्यते ?; न, तयोरेकत्वात् । यदाह—

“आद्यन्तापेक्षिणी सत्ता कृतकत्वमनित्यता ।

एकैव हेतुः साध्यं च द्वय मैकाभयं ततः ॥” इति ।

§ ५० स्वभावादीनां चतुर्णां साधनानां विधिसाधनता, निषेधसाधनत्व तु 10
विरोधिनः । स हि स्वमभिधानेनेतरस्य प्रतिषेध साधयति अन्यथा विरोधासिद्धेः ।

§ ५१ ‘श’शब्दो यत् एते स्वभावकारणकार्यभ्यापका मन्यथानुपपन्नाः स्वसाध्य 15
मुपस्थापयन्ति तत एव तदभावे स्वयं न भवन्ति, तेषामनुपलब्धिरप्यभावसाधनीत्याह ।
तत्र स्वभावाऽनुपलब्धिर्यथा नात्र घटः, द्रष्टु योग्यस्यानुपलब्धे । कारणानुपलब्धिर्यथा
नात्र घूमोऽन्यभावात् । कार्यानुपलब्धिर्यथा नात्राप्रतिषेधसामभ्यानि घूमकारणानि
सन्ति घूमोभावात् । व्यापकानुपलब्धिर्यथा नात्र श्लिष्टया वृक्षभावात् । 15

§ ५२ विरोधि तु प्रतिषेध्यस्य तत्कार्यकारणभ्यापकानां च विरुद्ध विरुद्ध 20
कार्यं च । यथा न शीतस्पर्शः, नाप्रतिषेधसामभ्यानि शीतकारणानि, न रोमहर्षविज्ञेयाः,
न तुषारस्पर्शः, अग्नेर्ध्माद्रेति प्रयोगनानात्वमिति ॥ १२ ॥

§ ५३ साधन लघयित्वा विमज्य च साध्यस्य लक्षणमाह—

सिपाधयिपितमसिद्धमद्याध्य साध्य पक्ष ॥१३॥ 20

§ ५४ साधयितुमिष्ट ‘सिपाधयिपितम्’ । अनेन साधयितुमनिष्टस्य साध्यत्वव्यव 25
च्छेदः, यथा वैशेषिकस्य नित्यः शब्द इति शास्त्रोक्तत्वाद्द्वेषिकाम्युपगतम्याप्याका
शुगुणत्वादर्न साध्यत्वम्, तदा साधयितुमनिष्टत्वात् । इष्टः पुनरनुक्तोऽपि पक्षो मयति,
यथा पराधाक्षरुदायः सहातत्वाच्छयनाशनाघञ्ज्वदित्यत्र पराया इत्यात्मार्याः । शुद्धि
मत्करणपूर्वक धित्यादि कार्यत्वादित्यत्राऽशरीरसवङ्गपूर्वकत्वमिति । 25

§ ५५ ‘असिद्धम्’ इत्यनेनानध्यवसाय-सन्नय-विपययधिपयस्य वस्तुनः साध्यत्वम्, 30
न सिद्धस्य यथा भाषणः शब्द इति । “नानुपलब्धे न निर्णीते न्यायः प्रवर्तते”
[भाषणा १ १ १] इति हि सर्वथापदम् ।

§ ५६ ‘असाध्यम्’ इत्यनेन प्रत्यक्षादिबाधितस्य साध्यत्व मा भूदित्याह । एतन् 30
साध्यस्य लक्षणम् । ‘पक्षः’ इति साध्यस्यैव नामान्तरमेतत् ॥१३॥

१ शब्दोदये प्रत्यक्षे सति इतिशेषेऽप्यपि प्रत्यक्षत्वात् वास्तुमानन्दवचनम् । २ एकार्थसमवायिने
प्यापका इति । ३ अन्वयानुपपन्नकारणम् । ४ घूमोभावात् सा -ता । ५ कार्यं यथा -हे ।
६ पराया शुद्धि -हे । ७ - एवं हि -हे । ८ इत्याह ।

१ ५७ अथाप्यग्रहणम्यत्रच्छेदां वाचां दक्षयति-

प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्त्रचनप्रतीतयो वाधा ॥१४॥

१ ५८ प्रत्यक्षादीनि वैदिकरुद्रार्थोपस्थापनेन बाधकत्वात् 'वाचा' । तत्र प्रत्यक्ष-
वाचा यथा अनुष्णोऽग्निः, न मधु मधुरम्, न सुगन्धि विदलन्मालतीसुकुलम्, अथासुपो
6 घटाः, अभावम् शब्दः, नास्ति बहिरर्ष इत्यादि । अनुमानवाचा यथा सीरुम इत्तलम्,
नित्यं शब्द इति वा । अत्रानुपलम्भेन कृतकत्वेन चानुमानवाचा । आगमवाचा यथा
प्रेस्याञ्जुस्रप्रदो धम इति । परलोक सुस्रप्रदत्त्व धमस्य सर्वागमसिद्धम् । लोकवाचा यथा
शुचि नरशिरःकपालमिति । लोक हि नरशिरःकपालादीनामशुचित्व सुप्रसिद्धम् । स्वप-
नवाचा यथा माता मे वञ्चेति । प्रतीतिवाचा यथा अचन्द्रः क्षतीति । अत्र क्षतिनम
10 न्द्रशब्दवाच्यत्वं प्रतीतिसिद्धमिति प्रतीतिवाचा ॥१४॥

१ ५९ अत्र सार्धं धर्मः, धर्मधर्मिसमुदायो वति संश्रयम्यत्रच्छेदायाह-

सार्धं साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी, कश्चित्तु धर्म ॥१५॥

१ ६० 'साध्यम्' साध्यशब्दवाच्यं पद्यशब्दामिधयमित्यर्थः । किमित्याह 'साध्य-
धर्मेण' अनित्यत्वादिना 'विशिष्टो धर्मी' शब्दादि । एतद् प्रयोगकालोपक्ष साध्यशब्दवा-
15 च्यत्वम् । 'कश्चित्तु' व्याप्तिग्रहणकाल 'धर्म' साध्यशब्देनोच्यते, अन्यथा व्याप्तेरपटनत् ।
नहि धूमदर्शनात् सप्त परितोऽग्निमानिति व्याप्तिः शक्या कर्तुं प्रमाणविरोधादिति ॥१५॥
धर्मिस्वरूपनिरूपणायाह-

धर्मी प्रमाणसिद्ध ॥१६॥

१ ६१ 'प्रमाणै' प्रत्यक्षादिभिः प्रसिद्धो 'धर्मी' भवति यथाप्रिमानयं देश इति । अत्र
20 हि दश प्रत्यक्षेण सिद्धः । एतेन-"सर्व एवानुमानानुमेयैष्यबह्वारो बुद्ध्यास्त्वेन
धर्मधर्मिम्यायेम, न षड्भिः सत्सकचमपेक्षते" इति मौगर्तं मत प्रतिक्षिपति । नहीय
विकल्पबुद्धिरन्तर्पदिवाग्नासादितात्मना धर्मिणं व्यनस्थापयति, तदेवास्तपरवे तदोषा
रसाध्यसाधनपोरपि वास्तवत्वानुपपद्यः तैवबुद्धः पारम्येणोपि वस्तुन्यवस्थापकत्वापो
गात् । ततो विकल्पेनान्यर्न वा व्यनस्थापितः पमतादिर्बिषयमाय मज्जभव धर्मिता प्रति
25 पयते । तथा च सति प्रमाणसिद्धस्य धर्मिता युक्तेः ॥१६॥

१ नाथ । २ कृत्वाद्यदिष्टि हेतुः । ३ विधिब्रह्मप्रमत्वात् अत्रकर्मयोगत्वात् । ४ कृत्वा
व्यवत्वात् कर्तव्यत् । ५ कर्मव्यवस्थापितिरिच्छत्वात् वाच्यत्वात् । ६ कथावरणेन स्वैवाप्यतिमानामत्वात् वरति
तथावापिकल्पयेवाप्यतिमानावभवमपि नास्ति यथा ज्ञानम् । ७ घटीयवदत्वात् वाच्यत्वात् । ८ कृत्वाजी-
वनात्वात् । ९ कर्मव्यवस्थाप्य घटी न भवति आकाशोर्गत्वात् स्वयत्वात् । १० - तपेयं - ता ।
११ नाथम् । १२ नाथम् । १३ - नभरत् इव - ता । १४ धर्मिणः । १५ न धर्मी आचार्य भयोः ।
१६ तदनुमेयैष्यबह्वारोऽव । १७ विधिब्रह्मं प्राप्तमिषयम् तद्विकल्पेनैव प्राप्तमिषय इति । सर्वथावस्थाप्येवमपि ।
१८ विधिब्रह्मेणः । १९ विकल्पस्य विषयत्वम् ।

§ ६३ अपवादमाह—

बुद्धिसिद्धोऽपि ॥१७॥

§ ६४ नैकान्तेन प्रमाणसिद्ध एव धर्मो किंतु विकल्पबुद्धिप्रसिद्धोऽपि धर्मो भवति । 'अपि' शब्दन प्रमाण-बुद्धिम्याप्तुमाम्यामपि सिद्धो धर्मो भवतीति दर्शयति । तत्र बुद्धिसिद्धे धर्मिणि साध्यधर्मः सत्त्वमसत्त्व च प्रमाणबलेन साध्यते यथा अस्ति ५ सर्वज्ञ, नास्ति पशु भूतमिति ।

§ ६५ ननु धर्मिणि साक्षादसति भावोभावोमयधर्माणामसिद्धविरुद्धनैकान्तिकत्वेनानुमानविषयत्वायोगात् कथं सत्त्वासत्त्वयो साध्यत्वम् ? । तदाह—

“नोसिद्धे भाषधर्मोऽस्ति व्याभिचार्युभयाश्रयः ।

विरुद्धो धर्मोऽभाषस्य सा रसता साध्यते कथम् ? ॥” [प्रमाणवा १ १९९ २] इति । 10

§ ६६ नैवेम्, मानसप्रत्यक्षे भाषरूपस्यैव धर्मिणः प्रतिपन्नत्वात् । न च तत्सिद्धौ तत्सम्बन्धस्यापि प्रतिपन्नत्वाद् व्यर्थमनुमानम्, तदन्वयेऽपि वैयात्याद्यो न प्रति पद्यते तं प्रत्यनुमानस्य साफल्यत् । न च मानसज्ञानात् स्वरषिषाणादेरपि सद्भाषस म्भावनातोऽतिप्रसङ्ग, तज्ज्ञानस्य भाषकप्रत्ययविष्ठावितसत्ताकथंस्तुविषयतया मानस 15 प्रत्यक्षामासत्वात् । कथं तर्हि पशुसादेर्धर्मिस्त्वमिति चेत्, धर्मिप्रयोगकाले भाषक-प्रत्ययानुदयात्सत्त्वसम्भावनोपपत्तेः । न च सर्वज्ञादौ साधकप्रमाणासत्त्वेन सर्वसंश्लेषिणि, सुनिश्चिताज्जन्मवद्भाषकप्रमाणत्वेन सुखादीविव सत्त्वनिश्चयात्तत्र सश्रययोगात् ।

§ ६७ उभयसिद्धो धर्मो यथा अनित्यः शब्द इति । नहि प्रत्यक्षेणार्थादक्षि भिरनिर्णयतद्विन्देऽप्यकालावच्छिन्नाः सर्वे शब्दाः शब्दस्या निमित्तमिति शब्दस्य प्रमाणबुद्ध्यु 20 मयसिद्धता तेषानित्यत्वादिधर्मः प्रसार्थ्यत इति ॥ १७ ॥

§ ६८ ननु दृष्टान्तोऽप्यनुमानाङ्गत्वात् प्रतीत । तत् कथं साध्यसाधने एवानुमा नाङ्गमुक्ते न दृष्टान्तः ? , इत्याह—

नै वृष्टान्तोऽनुमानाङ्गम् ॥ १८ ॥

§ ६९ 'दृष्टान्त' वस्यमाणलक्षणो नानुमानस्य 'अङ्गम्' कारणम् ॥ १८ ॥ 25

§ ७० क्त इत्याह—

साधनमात्रात् तत्सिद्धे ॥ १९ ॥

§ ७१ दृष्टान्तरहितात्साध्यान्वयानुपपत्तिलक्षणाद् 'साधनात्' अनुमानस्य साध्य प्रतिपत्तिलक्षणस्य भाषाश्च दृष्टान्तोऽनुमानाङ्गमिति ।

१ धर्मो भवति किं-के । २ व्यभिचार्युभयाश्रयः । ३ तत्त्वमित्यत्र साक्षात्साक्षात्कारकाले । ४ हेतुत्वम् । ५ धर्मिणि । ६ हेतुत्वमयधर्मो । ७ विकल्पधर्मो -सु । ८ सिद्धोऽधर्मो -के । ९ सत्त्व साधकज्ञो । १० धर्मिणि । ११ सत्त्वम् । १२ विषयभावम् । १३ सत्त्वः । १४ सुखादिविव साध-यु-या । १५ प्रमातृनि । १६ -तन्निवृत्तमित्यदिनिश्चितमित्येव -के । १७ किं सिद्धम् ? । १८ प्रमाण इति-ता । १९ अद्यत्वेनेत्येवविद्यमानं च सत्त्वमं ता-त् प्रती मेवकथितं विना सदेव सिद्धिर्भवत्येव । यत्रास्याङ्गमपि इतिरेकत्वमुक्त्वात् भाषि सत्या ।

१ ७२ सं हि साध्यप्रतिपत्तौ वा, अविनाभावग्रहणे वा, व्याप्तिस्मरणे षोपयुज्येत ? । न सावत् प्रथमं पञ्च, यथोक्ताइव हतो साध्यप्रतिपत्तरूपपक्षे । नापि द्वितीयं, विपक्ष वाच्यदेवाविनाभावग्रहणात् । किञ्च, व्यक्तिरूपो दृष्टान्तः । स कथं साकल्येन व्याप्तिं गमयत् ? । व्यक्त्यन्तरेषु व्याप्त्यर्थं दृष्टान्तान्तरं मृग्यम् । तस्यापि व्यक्तिरूपत्वेन

5 साकल्येन व्याप्तिरवधारयितुमशक्यत्वात्परापरदृष्टान्तापेक्षायामनवस्था स्यात् । नापि तृतीयः, गृहीतसम्बन्धस्य साधनदक्षनादव व्याप्तिस्मृतः । अगृहीतसम्बन्धस्य दृष्टान्ते ऽप्यस्मरणात् उर्ध्वलम्बिपूर्वकत्वात् स्मरणस्मेति ॥ १९ ॥

१ ७३ दृष्टान्तस्य लक्षणमाह—

स व्याप्तिदर्शनभूमि ॥२०॥

10 १ ७४ 'स' इति दृष्टान्तो लस्य 'व्याप्तिः' लक्षितरूपा 'दर्शनम्' परस्मै प्रतिपादनं तस्य 'भूमि' आश्रय इति लक्षणम् ।

१ ७५ ननु यदि दृष्टान्तोऽनुमानाङ्गं न भवति तर्हि किमथ लक्ष्यते ? । उच्यते । पराधानुमाने षोडशानुरोधादापनादिकस्योद्गाहरणस्यानुमान्यमानत्वात् । तस्य च दृष्टान्ताभिधानरूपत्वादुपपन्नं दृष्टान्तस्य लक्षणम् । प्रमातरापि कस्यचित् दृष्टान्तदृष्टपदि

15 व्याप्तिपलनान्तव्याप्तिप्रतिपत्तिर्मन्वतीति स्वाधानुमानपक्षेष्वपि दृष्टान्तलक्षणं नानुपपन्नम् ॥ २० ॥

१ ७६ तद्विभागमाह—

सै साधर्म्यबंधम्याभ्या द्बेधा ॥२१॥

१ ७७ स दृष्टान्तः 'साधर्म्येण' अन्वयन 'बंधम्येण' च व्यतिरिक्तं भवतीति

20 द्विप्रकारः ॥२१॥

१ ७८ साधर्म्यदृष्टान्तं विभजत—

साधनधर्मप्रयुक्तसाध्यधर्मयोगी साधर्म्यदृष्टान्त ॥२२॥

१ ७९ साधनधर्मेषु प्रयुक्तो न तु साकलासीयो यः साधर्म्यमस्तद्वान् 'साधर्म्यं दृष्टान्तः' । यथा कृत्कत्वेनानियं द्रव्यं साध्यं भास्वादिदिति ॥२२॥

25 १ ८० वैधर्म्यदृष्टान्तं व्याचष्ट—

साध्यधर्मनिवृत्तिप्रयुक्तसाधनधर्मनिवृत्तियोगी

वैधर्म्यदृष्टान्ते ॥२३॥

१ ८१ साध्यधर्मनिवृत्तया प्रयुक्तं न पथाश्रयश्चित् यः साधनधर्मनिवृत्तिं तद्वान् 'वैधर्म्यदृष्टान्तः' । यथा कृत्कत्वेनानिये द्रव्यं साध्यं भास्वादिदिति ॥२३॥

30 इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां प्रमाणादीनां साध्यास्तद्वृत्तेश्च

अथमस्याप्याचार्य द्वितीयमादिशम् ॥

१ लक्षणः । २ वर्तमानवचनम् । ३ पुंल । ४ पुंल । ५ त्रिवि । ६ वाक्यम् । ७ द्विवि । ८ अनुसंधानं वाच्यम् । ९ उक्तप्रकारम् । १० प्रमाणादि । ११ सा-न्- -न-न् अन्ते लक्ष्मिद्वयव्यतिरेकस्य च गं कर्तव्यः । १२ साध्यधर्मधर्म । १३ इत्यं । १४ गान्तो परमं हे । १५ इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां प्रमाणादीनां साध्यास्तद्वृत्तेश्च । १६ अथमस्याप्याचार्य द्वितीयमादिशम् । १७ इत्या द्वितीयादिशम् । अथमस्याप्याचार्य द्वितीयमादिशम् ।

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

१ लक्षितं स्वार्थमनुमानमिदानीं क्रमप्राप्तं परार्थमनुमानं लक्षयति—

यथोक्तसाधनाभिधानज परार्थम् ॥ १ ॥

१२ 'यथोक्तम्' स्वनिमित्तसाध्याविनाभावैकलक्षणं यत् 'साधनम्' तस्याभिधानम् ।
अभिधीयते परस्मै प्रतिपाद्यते अनेनेति 'अभिधानम्' वचनम्, तस्माज्जातं सम्पत्कार्यं
निर्णयः 'परार्थम्' अनुमानं परोपदेशापेक्ष साध्यविज्ञानमित्यर्थः ॥१॥

5

१३ ननु वचनं परार्थमनुमानमित्याहुस्तत्कथमित्याह—

वचनमुपचारात् ॥ २ ॥

१४ अथेतन्नं हि वचनं न साक्षात्प्रमितिकलहेतुरिति न निरुपचरितप्रमाणं
भावभाजनम्, मुख्यानुमानहेतुत्वेन तूपचरितानुमानाभिधानपार्श्वतां प्रतिपद्यते । उपचार
श्चात्र कारणे कार्यस्य । यथोक्तसाधनाभिधानात् तद्विषया स्मृतिरुत्पद्यते, स्मृतेश्चानुमा
नम्, तस्मादनुमानस्य परम्परया यथोक्तसाधनाभिधानं स्मरणम्, तस्मिन् स्मरणे वचने
कार्यस्यानुमानस्योपचारः समारोपः क्रियते । ततः समारोपात् कारणं वचनमनुमानं
शब्देनोच्यते । कार्यं वा प्रतिपादकानुमानजन्ये वचने कारणस्यानुमानस्योपचारः ।
वचनमौपचारिकमनुमानं न मुख्यमित्यर्थः ।

10

१५ इह च मुख्यार्थयाधे प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते । तत्र मुख्यो
ऽर्थः साक्षात्प्रमितिकलः सम्पत्कार्यनिर्णयः प्रमाणाद्येवमनुमानाधिकरणस्य परार्थानुमान
शब्दस्य, तस्य भाषा, वचनस्य निर्णयत्वानुपपत्तेः । प्रयोजनम् अनुमानावयवा प्रति
ष्ठादय इति शब्दे व्यवहार एव, निर्णयार्थमन्यत्रो तद्व्यवहारानुपपत्तेः । निमित्तं तु निर्ण-
यार्थमनुमानहेतुत्वं वचनस्येति ॥ २ ॥

15

तद् द्वेषा ॥ ३ ॥

20

१६ 'तद्' वचनात्मकं परार्थानुमानं 'द्वेषा' द्विप्रकारम् ॥ ३ ॥

१७ प्रकारमेदमाह—

तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिमेदात् ॥ ४ ॥

१ प्रथमं द्वितीयं च लक्षणं ता-म् । २ प्रती मेरुचिह्नं विना तद्वैक निमित्तं इत्यर्थः । ३ यथा वचनम् ।
४ अनुमानव्यवहारानुपपत्तम् । ५ मुख्यार्थस्योपचारः । ६ - तस्यः नामा - ६ । ७ अन्वित्वावयव इव
इत्यत्र अनुपपत्तेः शब्दस्य च वचनव्यवहार इति प्रयोजनम् । ८ अन्वित्वावयव इति निमित्तानुपपत्तम् । ९ परार्थानुमाने ।
८ पूर्वोक्तः । ९ प्रती ।

§ ८ 'तथा' साध्ये सत्त्वेव 'उपपत्तिः' साधनस्थेत्येकः प्रकारः । 'अन्यथा' साध्या-
मावे 'अनुपपत्तिः' चेति द्वितीयः प्रकारः । यथा अधिमानय पर्वतः तथैव धूमवक्रोपपत्तेः,
अन्यथा धूमवक्रानुपपत्तेर्वा । एतावन्मात्रकृत परार्थानुमानस्य भेदो न पारमार्थिक-
म इति भेदपदेन दर्शयति ॥ ४ ॥

5 § ९ एतदेवाह—

नानयोस्तात्पर्ये भेद ॥ ५ ॥

§ १० 'ने' 'अनयोः' तद्योपपत्त्यन्यथानुपपत्तिरूपयोः प्रयोगप्रकारयोः 'तात्पर्ये'
'पितृपर' शब्दः स 'शब्दार्थः' इत्येव लक्षणे तत्परत्वे, 'भेद' विज्ञेयः । एतदुक्तं भवति
अन्यदेभिधेयं शब्दस्यान्यस्यकार्यं प्रयोजनम् । तत्रामिधेयापेक्षया वाचकत्व मिश्रते,
10 प्रकाश्यं त्वमिधम्, अन्ये कश्चित् व्यतिरेकगतिर्भ्यतिरके चान्वयगतिरित्युभयत्रापि
साधनस्य साध्याविनाभाव' प्रकाश्यते । न च यत्रामिधेयभेदस्तत्र तात्पर्यभेदोऽपि ।
नहि पीनो देवदधो दिवा न सुक्ते, पीनो देवदधो रात्रौ सुक्ते इत्यनयोर्वाच्ययोर
मिधेयभेदोऽस्तीति तात्पर्येणापि मेर्षभ्यमिति भावः ॥५॥

§ ११ तात्पर्याभेदस्यैव फलमाह—

15 अत एव नोभयो प्रयोग ॥ ६ ॥

§ १२ यत एव नानयोस्तात्पर्ये भेद 'अत एव नोभयोः' तद्योपपत्त्यन्यथानुपप-
त्त्योर्भुगपत् 'प्रयोग' युक्तः । स्यात्सुपदर्शनाय हि तद्योपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्यां हेतोः
प्रयोगः क्लिपते । स्यात्सुपदर्शनं चैकपैव सिद्धमिति विकलोऽप्यो' प्रयोगः । पश्याह—

"हेतोस्तद्योपपत्त्या वा स्यात्प्रयोगोऽन्यथापि वा ।

20 द्विविधोऽन्यतरेणापि साध्यसिद्धिर्भवेदिति ॥" [श्याया १]

§ १३ ननु यद्यकनेव प्रयोगण ह्योर्न्यात्सुपदर्शनं कृतमिति कृतं विकलेन
द्वितीयप्रयोगेण; तर्हि प्रतिज्ञाया अपि मा भूत् प्रयोगो विकलत्वात् । नहि प्रतिज्ञामात्रात्
कैमिदर्थं प्रतिपद्यते, तथा सति हि विप्रतिपत्तिरेव न स्यादित्याह—

विपर्ययोपदर्शनार्थं तु प्रतिज्ञा ॥७॥

25 § १४ 'विपर्यः' यत्र तद्योपपत्त्यान्यथानुपपत्त्या वा हेतु' स्वसाध्यभाषनाय
प्राप्स्यते, तस्य 'उपदर्शनम्' परप्रतीताकारोपणं तदथ पुनः 'प्रतिज्ञा' प्रयोक्तव्येति शेषः ।

१ अतिवचनं तत्रैव । २ - इ इति - इ । ३ इ प्रती नं वासि । ४ च वाच्यत्वं वतादस्तात् ता-
त्पर्यमिति भावः । ५ न वाः प्रत्ययोऽर्थोऽस्ति । ६ उपपत्त्यर्थं -ता । ७ (१) वस्तुवशात्तदा विधिष्व
अन्यथाप्युक्तता तु भिन्नेन । ८ मिति (१) छत्र । ९ एतावन्मात्रं । १० कश्चित् -ता । ११ प्रतिज्ञाकृतत्वं
न प्रतिपत्त । १२ विप्रतिपत्त -ता-म् । १३ एतावत् इ ।

§ १५ अयमर्थः—परप्रत्यायनाय वचनमुच्चारयता प्रेक्षावता तदेव परे योषयि तस्या यद्बुद्धत्वं न्ते । तथासत्यनेन बुद्धत्सितामिषायिना परे बोधिता भवन्ति । न स्वत्वधान् पृष्टो गवयान् भुवाणं प्रन्दुरवधेयवचनो भवति । अनवधेयवचनम् फय प्रति पादको नाम ? । यथा च श्रेष्ठो मिथुणाचचञ्जे—भोः श्रेष्ठ, पिण्डपातमाहरति । स—एषमाच रौमीत्यनभिधाय यदा तदर्थं प्रयतते तदाऽस्मै कृष्यति मिथुः—आः शिष्यामास मिथुस्ते 5
 न, अस्मानवधीरयसीति विभुर्षाणः । एवमनित्य शब्दं पुद्गलमानाय अनित्यः शब्द इति विपर्ययमनुपदर्श्य यदथ किञ्चिदुच्यते—कृतकत्वादिति वा, यत् कृतकं तदनित्यमिति वा, कृतकत्वस्य तथैवोपपत्तेरिति वा, कृतकत्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति वा, तत् सर्वमस्मानपक्षि तमापाततोऽसम्भ्रामिधानपुष्पाः तथा चानवहितो न बोद्धुमर्हतीति ।

§ १६ यत् कृतकं तत् सर्वमनित्यं यथा घटाः, कृतकश्च शब्द इति वचनमर्थसामर्थ्ये 10
 नैवापक्षितशब्दानित्यत्वनिश्चयकमित्यवधानमप्रेति चेत् ; न, परस्परभवात् । अवधाने हि सत्यतोऽर्थनिश्चयः, तस्माच्चावधानमिति । न च पपत्प्रतिषादिनौ प्रमाणीकृतयोर्दिनौ यत्तद्वचनमस्य भाय प्रयतिष्येते । तथासति न हेत्वाद्यपेक्ष्योक्त्याम्, तद्वचननादथ तदर्थनिश्चयात् । अनित्यं शब्द इति त्वपक्षिते उक्ते कृत इत्याशङ्क्यायां कृतकत्वस्य तथैवोपपत्तेः कृतकत्वस्यान्यथानुपपत्तेर्वैतुपतिष्ठत, तदिदं विपर्ययोपदर्शनार्थत्वं प्रतिज्ञाया इति ॥७॥ 15

§ १७ ननु यत् कृतकं तदनित्यं यथा घटाः, कृतकश्च शब्द इत्युक्ते गम्यत एतद् अनित्यं शब्द इति, तस्य सामर्थ्यलक्षत्वात्, तथापि तद्वचने पुनरुक्तत्वप्रसङ्गात्, “अर्थावापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्यश्चन पुनरुक्तम्” [म्याय ५. २. १५] । आह च— विपिण्डकैराग परित्यज्याक्षिणी निमीषय चिन्तय तावत् किमिषतोऽप्रतीतिः स्यात्सचेति, “मोक्षे किं प्रपन्नमालया” [देव परे १] इत्याह— 20

गम्यमानस्वेऽपि साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय धर्मिणि
 पक्षधर्मोपसंहारवत् तदुपपत्ति ॥ ८ ॥

§ १८ साध्यमव धर्मस्तस्याधारस्तस्य सन्देहस्तदपनोदाय—यं कृतकं सोऽनित्य इत्युक्तोऽपि धर्मिविपपसन्देह एव—किमनित्यः शब्दो पत्रो वति ?, तभिराकरणाय गम्य मानस्यापि साध्यम्य निर्देशो युक्तः, साध्यधर्मिणि साधनधर्मावबोधनाय पक्षधर्मोप- 25

१ मेधाधर्मः । २ - पानमा -दे । ३ कथमि । ४ निष्कपानार्थम् । ५ - ति भुवा-ता । ६ पिण्डुर । ७ शब्दप्रकाशम् । ८ प्रतिपादकम् । ९ प्रयमन । १० अयावधानः । ११ वचनम् । १२ - नच नि-हे । १३ अर्थनिश्चयम् । १४ प्रमाणीकृतो वाटी यथास्याम् । १५ वा । १६ प्रमाणीकृतवादिष्वेऽपि मति । १७ वचनप्रतिषादिनी । १८ तद्वचनं वाटी । १९ तद्वचनम् -ता । २० साध्यम् । २१ शिष्यो माय एवमो मूढ इति चेत् । तद्वत् राग रजितमानं न प्रपन्नं परित्यज्य धर्मं विमतीकृत्येव च -मु-दि । शिष्यश्च हि प्रयमनामङ्गल विषादं पुरुषिन्ति । २२ निश्चयं च । २३ यथा मनुजानं च -दे । २४ अनित्यत्वस्य । २५ धर्मिणिमाये । २६ शिष्याविति चर्चोऽपि उक्तं चर्चितम् ।

संहारवचनवत् । यथा हि साध्यव्याप्तमाधनदर्शनेन तदाधारावगतावपि नियतधर्मिसम्बन्धिताप्रदर्शनार्थम्—कृतकम् शब्द इति पञ्चमोपसंहारवचन तथा साध्यस्य विशिष्टधर्मिसम्बन्धितावधोघनाय प्रतिघ्नावचनमप्युपपद्यत एवेति ॥ ८ ॥

१९ ननु प्रयोगं प्रति विप्रतिपद्यन्ते वादिनः, तथाहि—प्रतिघ्नाहेतुदाहरणानीति ६ श्ववपवमनुमानमिति साङ्ग्या । सहोपनयेन चतुरवयवमिति मीमांसका । सह निगमनेन पञ्चावयवमिति नैयायिकाः । तद्व विप्रतिपद्यौ कीदृशोऽनुमानप्रयोग इत्याह—

एतावान् प्रेक्षप्रयोग ॥ ९ ॥

२० 'एतावान्' एव यदुत तद्योपपत्त्यान्यथातुपपत्त्या वा युक्तं साधनं प्रतिघ्ना च । 'प्रियाय' प्रेक्षावते प्रतिपाद्याय तदवधोघनार्थः 'प्रयोगः' न स्वधिको यथाहुः साहस्य्यादया, नापि हीनो यथाहुः सीगतोः—“विदुषां पाप्यो हेतुरेव हि केवला” [प्रमाणा १ २८] इति ॥ ९ ॥

२१ ननु परार्थप्रवृत्तेः कारुणिकैर्यथाकथञ्चित् परे प्रतिबोधयित्वा नासम्बन्धोपपत्त्यासैरमीषां प्रतिमामङ्ग करणीयाः, तत्किञ्चन्यते एतावान् प्रेक्षप्रयोगः ? इत्या १६ शङ्क्य द्वितीयमपि प्रयोगक्रममुपदर्शयति—

धोष्यानुरोधाध्रप्रतिज्ञाहेतुदाहरणोपनयनिगमनानि पञ्चापि ॥१०॥

२२ 'धोष्या' क्षिप्यस्तस्य 'अनुरोधः' तदवबोधनप्रतिज्ञापातरन्म्यं तस्मात्, प्रतिघ्नादीनि पञ्चापि प्रयोक्तव्यानि । एतानि चावयवसम्बन्ध्या प्रोच्यन्ते । यदक्षपाद्—“प्रतिज्ञाहेतुदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवबाः” [भाष्य १ १ २२] इति । 'अपि' शब्दात् प्रति २० शब्दीनां छुदयम् पञ्च धोष्यानुरोधात् प्रयोक्तव्याः । यच्छ्रीमद्राहुस्वामिपून्यपादाः—
“कस्यह पञ्चावयवं वसहा वा सम्बहा ण पञ्चिहुत्तं ति ॥”

[वच नि ५]

२३ तत्र प्रतिज्ञाया लक्षणाह—

साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा ॥११॥

२४ साध्यं सिपाचयिपितधर्मविशिष्टो धर्मी, निर्विद्यते अनेनेति निर्देशो बचनम्, साध्यस्य निर्देशः 'साध्यनिर्देशः' 'प्रतिज्ञा' प्रतिज्ञायतेऽनयेति कृत्वा, यथा अयं प्रदेशोऽधिमानिति ॥ ११ ॥

२५ इतु सम्भवति—

साधनस्वामिष्यअकविभक्त्यन्तं साधनवचन हेतु ॥ १२ ॥

१ तथाहि—के । २ साध्यन्तं साधनधर्माधारावधोघनाय । ३—असम्बन्ध—के । ४ यथाहुः—के ।

५ "तत्रावधोघनावधो हि वदन्ते तदवधेदिनाः । ज्यातयेत" । ६ परे बोध—के । ७ परेषाम् ।

८ प्रतिमङ्ग—के । प्रतीतिमङ्ग—सु । ९—वाच प्रयो—ता ।

§ २६ साधनत्वामिव्यञ्जिक विभक्तिः पञ्चमी तृतीया वा तदन्तम्, 'साधनस्य' उक्तलक्षणस्य 'वचनम्' हेतुः । धूम इत्यादिरूपस्य हेतुत्वनिराकरणाय प्रथम पदम् । अब्याप्तवचने हेतुत्वनिराकरणाय द्वितीयमिति । न द्विविधस्तयोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्याम्, तथा धूमस्य तथैवोपपत्तेर्धूमस्यान्यथानुपपत्तेर्वेति ॥ १२ ॥

§ २७ उदाहरण लक्षयति-

दृष्टान्तवचनमुदाहरणम् ॥१३॥

5

§ २८ 'दृष्टान्तः' उक्तलक्षणस्तत्रप्रतिपादक 'वचनम्' 'उदाहरणम्' तदपि द्विविध दृष्टान्तमेदात् । साधनधर्मप्रयुक्तमाध्यधर्मयोगी साधर्म्यदृष्टान्तस्तस्य वचन माधर्म्यो-
दाहरणम्, यथा यो धूमवान् सोऽग्निमान् यथा महानस्रप्रदेशः । साध्यधर्मनिश्चि-
प्रयुक्तसाधनधर्मनिश्चिद्योगी वैधर्म्यदृष्टान्तस्तस्य वचन वैधर्म्योदाहरणम्, यथा 10
योऽग्निनिश्चिद्यमान् स धूमनिश्चिद्यमान् यथा जलाशयप्रदेश इति ॥१३॥

§ २९ उपनयलक्षणमाह-

धर्मिणि साधनस्योपसहार उपनय ॥१४॥

§ ३० दृष्टान्तधर्मिणि भिस्तुतस्य साधनधर्मस्य साध्यधर्मिणि यः 'उपसहार' सः
'उपनयः' उर्ध्वव्यतिरेकेनेनोपनीयतेऽनेनेति वचनरूपः, यथा धूमनांशपमिति ॥१४॥ 15

§ ३१ निगमन लक्षयति-

साध्यस्य निगमनम् ॥१५॥

§ ३२ साध्यधर्मस्य धर्मिण्युपसहारो निर्गम्यते पूर्वोपामवयवानामेषोऽनेनेति
'निगमनम्', यथा तस्मादग्निमानिति ।

§ ३३ एते नान्तरीयकैस्त्वप्रतिपादका वाक्यैकदेशरूपाः पञ्चावयवा । एतेषामेव
शुद्धयः पञ्च । यतो न शक्यतसमारोपितदोषाः पञ्चाप्यवयवा स्वां स्वामनादीनवामर्ष
विपर्यां नियमाभावात्तर्हीमिति प्रतिष्ठादीनां च त दोषमाशङ्क्य तैस्त्वरिहाररूपाः पञ्चैव
शुद्धयः प्रयोक्तव्या इति दशावयवभिदमनुमानवाक्यं बोध्याजुरोषात् प्रयोक्तव्यमिति ॥१५॥

§ ३४ इह शक्यं येषां लक्षणमुक्तं ते लक्षणभावात् तदामासाः सुप्रसिद्धा एव ।
यथा प्रमाणसामान्यलक्षणभावात् सञ्चयविपर्ययानध्यवसायाः प्रमाणाभासाः, सञ्चयादिल
क्षणभावात् सञ्चयाद्याभासाः, प्रत्यक्षलक्षणभावात् प्रत्यक्षाभार्सम्, परोक्षान्तर्गतानां स्मृत्या
दीनां स्वस्वलक्षणभावात् तत्तदामासत्वेत्यादि । एव हेतूनामपि स्वलक्षणभावात् हेत्वामासता 25

१ तदन्तया - हे । २ अब्याप्तस्य हेतुत्ववचने तस्य हेतुत्वम् । ३ - वने हे - हे । ४ भिस्तुतस्य ।
५ भिप्रयुक्तस्य - हे । ६ प्रस्तुते धर्मिणि वीक्ष्यते साधनधर्म । ७ उपसहारम् (धु) व्यतिरेकनयन्यमु-
त्पत्तिः । ८ निश्चीनत् । ९ प्रमेयधर्मम् । १० वा(ना)न्तरीयकेश्चिन्मिमांसायां साधनधर्म्योऽव । ११ - अथ
प्रति - हे । १२ अद्विष्टाः सम्बन्धाः समाहृतिताश्च दोषा एषाम् । १३ समर्थाः । १४ तत्स्य - हे ।
१५ - च तत्र - हे । १६ - माय परो - नृ ।

सुभ्रानैव । फल इत्वामासानां सत्त्वस्यानियमः प्रतिभ्यक्तनियतं लक्षणं च नेपत्करप्रति-
पचीति सङ्ख्यपार्यमाह-

असिद्धविरुद्धानैकान्तिकास्त्रयो हेत्वाभासा ॥१६॥

१३५ अहेतवो हेतुषदामासमाना 'हेत्वामासा' असिद्धादयः । यद्यपि साधनदोषा
6 एतैरे अदुष्ट साधने तदभावात् तथापि साधनाभिधायक इताद्युपचारात् पूर्वाधारपरमि-
हितास्तवस्तत्प्रसिद्धिबाधामनाभयङ्गिरस्माभिरपि हेतुदोषत्वेनैवोच्यन्त इति ।

१३६ 'त्रयः' इति सत्त्वस्यान्तरभ्यवच्छेदार्थम् । तेन फलार्तीत-प्रकरणसमयोर्भ्यश्च
च्छेदः । तत्र फलार्तीतस्य पक्षदोषवन्तर्माषः । "प्रत्यक्षागमबाधितकर्मनिर्वैशान
न्तरप्रयुक्तः कालास्पयापदिष्टः" इति हि तस्य लक्षणमिति, यथा अनुष्णस्तेजोऽवपरी
10 कृतकत्वाद् घटश्चदिति । प्रकरणसमस्तु न सम्भवत्येव; नद्यस्ति सम्भवो यथोक्तलक्षणे-
ऽनुमाने प्रयुक्तेऽपि वै अनुमानान्तरस्य । यत्प्राहरणम्-अनित्यः शब्दः पक्षपक्षयोरन्य-
तरत्वात् इत्येकलोके द्वितीय आह-नित्यः शब्दः पक्षपक्षयोरन्यतरत्वादिति । तदती
वासाम्प्रतम् । को हि चतुरङ्गसमायां वादी प्रतिवादी वैवैविधमसम्बद्धमनुन्मत्तोऽमि
दधीवेति ? ॥ १६ ॥

15 १३७ तत्रासिद्धस्य लक्षणमाह-

नासन्ननिश्चितसत्त्वो घाऽन्यधानुपपन्न इति सत्त्वस्यासिद्धौ
सन्देहे वाऽसिद्ध ॥ १७ ॥

१३८ 'असन्' अधिघमानो 'नान्यधानुपपन्नः' इति सत्त्वस्यासिद्धौ 'असिद्ध'
हेत्वामासः स्वरूपासिद्ध इत्यर्थः । यथा अनित्यः शब्दबाहुपत्वादिति । अपक्षधर्मत्वा
20 द्यमसिद्ध इति न मन्तव्यमित्याह-'नान्यधानुपपन्नः' इति । अन्यधानुपपत्तिरूपहेतु
लक्षणविरहाद्यमसिद्धो नापक्षधर्मत्वात् । नहि पक्षधर्मत्वं हेतोरलक्षणं तदभावेऽप्यन्य
धानुपपत्तिरसाद्हेतुत्वोपपत्तेरित्युक्तप्रायम् । मङ्गोऽप्याह-

"विश्रोत्र्य ब्राह्मणस्थन पुत्रब्राह्मणतामुर्मा ।

सर्बलोकप्रसिद्धा म पक्षधर्ममपेक्षते ॥" इति ।

25 १३९ तथा 'अनिश्चितसत्त्वः' सन्दिग्धमत्त्वः 'नान्यधानुपपन्नः' इति सत्त्वस्य सन्देहे
प्यसिद्धो हेत्वामासः सन्दिग्धासिद्ध इत्यर्थः । यथा बाष्पादिभावेन सन्दिग्धमाना धूम

१ ईश्वरपुत्र इत्यत्र प्रतीतिर्यस्य । २ पूर्वाधारः । ३ कालमत्तोऽभिप्रेक्ष्यत । ४- कित्तवर्मिनि-के ।

५- विवे बाहु-ता । ६-ती धर्म-के । ७- स्वादिद्यापि मिथो हे-ता । ८-पक्षधर्मता विनाप्यन्यधानु-
पपत्तत्वेनव हेतुमपत्ति । यथा परैतस्त्वोरि इयं मेधे नरीपुत्रमबाहुपत्तेरित्यादिभिरुक्तमाह । ८ अर्थ
पुत्रो ब्राह्मणः विश्रोत्र्य ब्राह्मणमिति पुत्रे ब्राह्मणताया अनुमानम् ।

लताभिसिद्धाद्युपदिश्यमाना, यथा चात्मनः सिद्धावपि सर्वगतत्वे साध्ये सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वम्, प्रमाणाभावादििति ॥ १७ ॥

§ ४० असिद्धप्रमेदानाह-

वादिप्रतिवाद्युभयभेदाच्चैतन्नेद ॥ १८ ॥

§ ४१ 'वादी' पूर्वपक्षस्थित 'प्रतिवादी' उत्तरपक्षस्थितः उभय द्वावेव वादिप्रतिवा- 5
दिनौ । तत्रेदादमिदस्य 'भेदः' । तत्र वाद्यसिद्धो यथा परिष्णामी शब्द उत्पत्तिमत्त्वात् ।
अयं साक्ष्यस्य स्वयं वादिनोऽसिद्धः, तन्मते उत्पत्तिमत्त्वस्यानभ्युपेतत्वात्, नामद्वय
घतं नापि सद्भिन्नस्यत्युत्पादविनाशयोराधिर्भावतिरोभावरूपत्वादििति तत्सिद्धान्तात् ।
षेतनास्तरवः सर्वत्वगवहरणे मरणात् । अत्र मरण विज्ञानेन्द्रियापुर्निरोधलक्षणं तरुषु
षोडशस्य प्रतिवादिनोऽमिदम् । उभयासिद्धस्तु चाद्युपत्वमुक्तमेव । एव सन्दिग्धासिद्धो 10
ऽपि वादिप्रतिवाद्युभयभेदात् त्रिविधो षोडशस्य ॥ १८ ॥

§ ४२ नन्वनेऽपि विशेष्यामिद्वात्यो इत्वाभामाः कैश्चिदिप्यन्ते ते कस्माद्भोक्ता इत्याह-

विशेष्यासिद्धादीनामेष्वेवान्तर्भावः ॥ १९ ॥

§ ४३ 'एष्वेव' वादिप्रतिवाद्युभयासिद्धेष्वेव । तत्र विशेष्यासिद्धादय उदाह्रियन्ते । 15
विशेष्यासिद्धो यथा अनित्यः शब्दः सामान्यवश्वे सति चाद्युपत्वात् । विशेष्यासिद्धो
यथा अनित्यः शब्दश्चाद्युपत्वे सति सामान्यविशेषवत्त्वात् । मार्गासिद्धो यथा अनित्यः
शब्दः प्रयत्नानन्वरीयकत्वात् । आश्रयासिद्धो यथा अस्ति प्रधान विश्वपरिणामित्वात् ।
आभयैकदेशसिद्धी यथा नित्याः प्रधानपुरुषेश्वराः अकृतकत्वात् । व्यर्थविशेष्यासिद्धो
यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वे सति सामान्यवत्त्वात् । व्यर्थविशेष्यासिद्धो यथा अनित्यः 20
शब्दः सामान्यवश्वे सति कृतकत्वात् । सन्दिग्धविशेष्यासिद्धो यथा अद्यापि रागादियुक्तः
कपिलः पुरुषत्वे सत्यद्याप्यनुत्पन्नतत्त्वज्ञानत्वात् । सन्दिग्धविशेष्यासिद्धो यथा अद्यापि
रागादियुक्तः कपिलः सर्वदा तत्त्वज्ञानरहितत्वे सति पुरुषत्वादित्यादि । एतेऽसिद्धमेवा
यदान्यतरवाद्यसिद्धत्वेन विवक्ष्यन्ते तदा वाद्यसिद्धाः प्रतिवाद्यसिद्धा वा भवन्ति । यदौ
मयनाद्यसिद्धत्वेन विवक्ष्यन्ते तदोभयासिद्धा भवन्ति ॥ १९ ॥ 25

§ ४४ विरुद्धस्य लक्षणमाह-

विपरीतनियमोऽन्यथैवोपपद्यमानो विरुद्ध ॥ २० ॥

१ यथा वायु -इ । २ आत्मा सर्वगत सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वात् । ३ - युक्तं सन्दिग्धम् ।
४ - न्ताव । शेत -इ । ५ न केवलं स्वव्यापिदो । ६ "वादिप्रतिवाद्यु" [हिमस १ १ १५३]
७ आत्मा स्वव्यपिदः । ८ मार्गे एकदेश अस्ति । प्रयत्नात्परीयकत्वस्य यस्मिन्ने आभावात् । ९ सामान्य
स्वव्यपिदम् । १० वैवायिकस्य । ११ तत्र सामान्यवश्वे सतीति विशेषणं प्रत्यक्षामावश्यकत्वेनात्र मन्विष्य
तीति वैभम्, श्रीराममीमांसकौ वादिप्रतिवादिनी स्वस्तयोश्च मतेऽन्माह एव नास्तीति । १२ इत्यस्यैववश्वेनात्र
पुरुषत्वे सतीत्युक्तम् । १३ सार्थं विनैवोपपद्यमानो विपरीतनियमत्वात् ।

१४५ 'विपरीता' येषोक्ताद्विपर्यस्तो 'नियमः' अविनाभावो यस्य म तथा, तस्यैवो-
पदशून्यम् 'अन्यथैवोपपद्यमानः' इति । यथा नित्यं शब्दः कार्यत्वात्, परीक्षावधुरादयः
सहातस्याच्छयनेनाश्रनाश्रयदित्यत्रासंहृतपाराभ्ये साध्ये चधुरादीनां संहृतत्व विरुद्धम् ।
शुद्धिमत्पूर्वकं सिंस्यादि कार्यत्वादित्यत्राश्ररीरसवद्वर्तृपूर्वकस्ये साध्ये फापत्व विरुद्ध
६ साधनादिरुद्धम् ।

१४६ अनेन येऽन्येरन्य विरुद्धा उदाहृतास्तेऽपि मह्यगृहीताः । यथा सति सपक्षे
चत्वारो मेवाः । पद्यविषयभ्यापको यथा नित्यः शब्दः कार्यत्वात् । पद्यभ्यापको विप
क्षैकशब्दवृत्तिर्यथा नित्यः शब्दः मामा-यवस्वे सत्यस्मदादिबाधेन्द्रियप्राप्तत्वात् । पक्षे
कदशब्दवृत्तिविषयभ्यापको यथा अनित्या पृथ्वी कृतकत्वात् । पद्यविषयैकदशब्दवृत्तिर्यथा
१० नित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् । अगति मपक्षे चत्वारो विरुद्धाः । पद्यविषय-
भ्यापको यथा आकाशविशेषगुणः शब्दः प्रमेयत्वात् । पद्यभ्यापको विषयैकदशब्दवृत्ति
र्यथा आकाशविशेषगुणः शब्दो बाधेन्द्रियप्राप्तत्वात् । पक्षेकदशब्दवृत्तिविषयभ्यापको यथा
आकाशविशेषगुणः शब्दोऽर्पदात्मकत्वात् । पद्यविषयैकदशब्दवृत्तिर्यथा आकाशविशेषगुणः
शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् । एषु च चतसृ विरुद्धता, पक्षैकदशब्दवृत्तिषु चतसृ पुनर
१५ सिद्धता विरुद्धता चेत्युभयसमापेक्षं इति ॥ २० ॥

१४७ अनेकान्तिकस्य उच्यतेमाह—

नियमस्यासिद्धौ सन्देहे वाऽन्यथाप्युपर्यधमानोऽनेकान्तिक ॥२१॥

१४८ 'नियमः' अविनाभावस्तस्य 'असिद्धौ' 'अनेकान्तिकः' यथा अनित्यः शब्दः
प्रमेयत्वोक्त, प्रमेयत्वं नित्यऽप्याकाशस्येति । सन्देहे यथा असर्षभः कश्चिद् रागादिमान्
२० वा वक्तृत्वात् । स्वभाषविप्रकृत्याम्ना हि मर्षभत्ववीतरागात्वात्मां न वक्तृत्वस्य विरोधः
सिद्धः, न च रागादिकार्यं मन्त्रमिति सन्दिग्धोऽन्यथ । ये चान्येऽन्यैरनेकान्तिकमेवा
उदाहृतास्त उक्तस्य एवान्तर्भवन्ति । पद्यत्रयभ्यापको यथा अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्

१ साधनादिनाश्रयत्वात् । २ साध्यविरुद्धताविनाभावात् । ३ आत्मत्वा । ४ --भाषणा -- ५ ।
५ उदाहरणत्वात् । ६ संवत्पर्यवस्य साधकत्वात् । ७ कार्यत्वं हि पक्षे कदरे निपक्षे चान्तिपे चरती
इत्यम् । ८ अनित्येषु चरतिषु हेतुसिद्धि इत्युक्तमित्यु मुक्तु चरतिषु चरति इति । ८ परमाश्रयत्वात्
प्रतिष्ठां हतकर्म चास्ति कार्यवत्त्वात् चास्ति इति पक्षैकदशवृत्तिता । १० वेदसप्त्यो (वे)ऽऽन्यत्वात्परी
यकमित्युक्ति प्रयत्नानन्तरीयकत्वं चास्ति इति पक्षैकदशः । ११ साध्यमन्तरीयत्वस्य विषयगुणस्य
ऽप्यभ्यापनं उपलभ्यते । १२ संयोगस्य सामान्यगुणाः । आकाशसंयोगस्यैषु चतसृ प्रयत्नस्य
चास्ति न महत्त्वात् । १३ यथादिग्दर्शनाद्यत्नस्येति पक्षैकदशवृत्तिता संयोगस्यैषु चतसृ प्रयत्नस्येव ।
१४ विपक्षे संयोगस्यै प्रयत्नस्येव चतसृ चास्ति । १५ पक्षैकदशे विषयमात्रत्वात् । १६ --ता
केषु --ता । १७ -- मारेष --ता । १८ न कर्मत्वं चास्ति तां विनाऽप्यिवाचरत्वं (विधापि इत्येवैव) ।
१९ साध्येव च । २० प्रमापपरिच्छेदात् ।

पञ्चसपञ्चव्यापको विपैक्षैकदेशश्चिरीया गौरय विपाणित्वात् । पञ्चविपञ्चव्यापकः सप
 षैकदेशश्चिरीया नायं गौ विपाणित्वात् । पञ्चव्यापकः सपञ्चविपैक्षैकदेशश्चिरीया अनित्यः
 शब्दः प्रत्यक्षत्वात् । पञ्चैकदेशश्चिरीया सपञ्चविपञ्चव्यापको यथा न द्रव्याण्याकाश
 कालदिगात्मनांसि क्षणिकविशेषणरहितत्वात् । पञ्चविपैक्षैकदेशश्चिरीया सपञ्चव्यापी
 यथा न द्रव्याणि दिक्कालमनांसि अमूर्तत्वात् । पञ्चसपञ्चैकदेशश्चिरीया अनित्या पृथ्वी प्रत्यक्षत्वा
 दिति ॥ २१ ॥

§ ४९ उदाहरणदोषानाह—

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामष्टावष्टौ वृष्टान्तामासा ॥२२॥

§ ५० परार्थानुमानप्रस्तावाद् उदाहरणदोषा एवैते दृष्टान्तप्रभवत्वात् तु दृष्टान्तदोषा 10
 इत्युच्यन्ते । दृष्टान्तस्य च साधर्म्यवैधर्म्यभेदेन द्विविधत्वात् प्रत्येकम् 'अष्टावष्टौ' दृष्टान्त
 वदामासमानाः 'दृष्टान्तामासाः' भवन्ति ॥ २२ ॥

§ ५१ तानेवोदाहरति विमञ्चति च—

अमूर्तत्वेन नित्ये शब्दे साध्ये कर्म-परमाणु घटा-

साध्यसाधनोभयविकला ॥२३॥

15

§ ५२. नित्यः शब्दः अमूर्तत्वादित्यस्मिन् प्रयोगे कर्मादयो यथासङ्ग्य साध्यादि
 विकलाः । तत्र कर्मवदिति साध्यविकलः, अनित्यत्वात् कर्मणः । परमाणुवदिति साधन
 विकलः, मूर्तत्वात् परमाणूनाम् । घटवदिति साध्यसाधनोभयविकलः, अनित्यत्वान्मूर्त
 त्वाच्च घटत्वेति । इति त्रय साधर्म्यदृष्टान्तामासाः ॥२३॥

वैधर्म्येण परमाणुकर्माकाशा साध्याद्यव्यतिरेकिण ॥ २४ ॥

20

§ ५३ नित्यः शब्दः अमूर्तत्वादित्यस्मिन्नेव प्रयोगे 'परमाणुकर्माकाशाः' साध्यसा
 धनोभयव्यतिरेकिणो दृष्टान्तामासा भवन्ति । पञ्चित्यं न भवति तदमूर्तमपि न भवति
 यथा परमाणुरिति साध्याव्यतिरेकी, नित्यत्वात् परमाणूनाम् । यथा कर्मेति साधनाभ्या
 ष्टयः, अमूर्तत्वात् कर्मणः । यथाकर्ममित्युभयान्याष्टयः, नित्यत्वात् अमूर्तत्वाच्चाकाशस्येति
 त्रय एव वैधर्म्यदृष्टान्तामासाः ॥ २४ ॥

25

१ अष्टौ विपाणित्वा नास्ति मक्षिपारी तस्ति इति विपैक्षैकदेशश्चिरीयात् । २ गृह्यत्वात् । ३ अर्धं दृष्टा
 वधि । मक्षिपारावस्ति अष्टौ तु नास्ति । ४ यानुकादि न प्रसङ्गं पठामि तु प्रसङ्गम् । ५ नित्यं सामान्यं
 प्रत्यक्षमाकारं तु न । ६ आरणाकाशी प्रकृत्यादिद्वन्द्विकविशेषणशुद्धौ [विपक्षाः] इति म्याहयः । सुतो
 गन्धः अथा स्नेहोऽस्मिन्विशेषणशुद्धौ । ७ आकाशोऽमूर्तः पृथिवी मूर्ता । ८ परमाणुना दृषिषी न प्रत्यक्षा
 कर्मरूपा तु प्रकृतति परिक [वृषः], अनेनायत्तुक्तु सपञ्चु प्रत्यक्षत्वात्तः नित्ये तु सामान्यादिषु
 प्रत्यक्षत्वात् वे तु न । ९ अत्रोऽपि सा —मु—या ।



§ ५४ तथा—

वचनात्रागे रागान्मरणधर्मकिञ्चिज्ज्ञत्वयो सन्दिग्धसाध्यान्वय
व्यतिरेका रथ्यापुरुषादय ॥ २५ ॥

§ ५५ सन्दिग्धसाध्यमाघनोमयान्वयाः सन्दिग्धसाध्यमाघनोमयव्यतिरेकाश्च त्रय

६ ख्यो दृष्टान्तामासा भवन्ति । के इत्याह—‘रथ्यापुरुषादय’ । कस्मिन् साध्यः ? । ‘रागे’
‘मरणधर्मकिञ्चिज्ज्ञत्वयो’ च । कस्मादित्याह—‘वर्चनात्’ ‘रागात्’ च । तत्र सन्दिग्ध
साध्यधर्मान्वयो यथा विषयित’ पुरुषविद्येपो रागी वचनाद् रथ्यापुरुषवत् । सन्दिग्ध-
साधनधर्मान्वयो यथा मरणधर्माज्य रागात् रथ्यापुरुषवत् । सन्दिग्धोमयधर्मान्वयो
यथा किञ्चिज्ज्ञोऽयं रागात् रथ्यापुरुषवदिति । एषु परपेठोद्घृष्टीनां दुरभिगमत्वेन साध
१० म्यदृष्टान्ते रथ्यापुरुषे रागकिञ्चिज्ज्ञत्वयो सत्त्वं सन्दिग्धम् । तथा सन्दिग्धसाध्य-
व्यतिरेको यथा रागी वचनात् रथ्यापुरुषवत् । सन्दिग्धसाधनव्यतिरेको यथा मरणे
धर्माज्यं रागात् रथ्यापुरुषवत् । सन्दिग्धोमयव्यतिरेको यथा किञ्चिज्ज्ञोऽयं रागात् रथ्या
पुरुषवत् । एषु पूर्ववत् परपेठोद्घृष्टेर्दुरन्वयस्वाह्वयवर्षदृष्टान्ते रथ्यापुरुषे रागकिञ्चिज्ज्ञत्व
योरसत्त्वं सन्दिग्धमिति ॥ २५ ॥

१५ § ५६ तथा—

विपरीतान्वयव्यतिरेको ॥ २६ ॥

§ ५७ ‘विपरीतान्वयः’ ‘विपरीतव्यतिरेका’ च दृष्टान्तामासौ भवताः । तत्र

विपरीतान्वयो यथा यत् कृतकं तदनिस्त्यमिति वक्तव्ये यदित्य उक्तं कृतकं यथा घट
इत्याह । विपरीतव्यतिरेको यथा अनिस्त्यत्वामावे न भवत्येव कृतकत्वमिति वक्तव्ये
२० कृतकत्वामावे न भवत्येवानित्यस्यं यथाकालं इत्याह । साधनधर्मानुभावेन साध्यधर्मस्य
विधानमित्यन्वयः । साध्यधर्मव्याहृत्पनुभावेन साधनधर्मव्याहृत्विधानमिति व्यति
रेकः । तयोरन्यथामावे विपरीतत्वम् । यदाह—

“साध्यामुवादाह्विस्य विपरीतान्वयो विधिः ।

हेत्वभावे त्यसत्साध्य व्यतिरेकविपर्यये ॥” इति ॥२६॥

२५ अप्रदर्शितान्वयव्यतिरेको ॥ २७ ॥

§ ५८ ‘अप्रदर्शितान्वयः’ ‘अप्रदर्शितव्यतिरेकः’ च दृष्टान्तामासौ । एतौ च

१- धर्मवर्षि-के । २- साध्यो । ३- वचनार्थकत्वेन । ४- यो यो एतौ न भवति च स वक्ष्यति न भवति । रथ्यात्
केनाऽपि प्रकारेण नृत्वादिना वचनमावे विहिते एतिसं सन्दिग्धते । ५- मरणधर्मादिषु साध्यधर्म इति हेतु
वक्ति । ६- प्रयोगेण । ७- माथो वि -के । ८- म्ये वि -ता । ९- कथयति । १०- पूर्ववत् १०-के ।

प्रमार्थस्यानुपदर्शनाद्भवतो न तु वीप्सोसषावर्धोरणपदानामप्रयोगात्, सत्त्वपि तेष्व
सति प्रमाणे तेषोरसिद्धेरिति । साध्यविकलसाधनविक्रलोमयविकलाः, सन्दिग्धसाध्या
न्वयसन्दिग्धसाधनान्वयसन्दिग्धोमयान्वयाः, विपरीतान्वयः, अप्रदर्शितान्वयश्चेत्यष्टौ
साधर्म्यदृष्टान्तामासाः । साध्याध्यावृत्तसाधनाध्यावृत्तोमयाध्यावृत्ताः, सन्दिग्धसाध्यध्या-
वृत्तिसन्दिग्धसाधनध्यावृत्तिसन्दिग्धोमयध्यावृत्तयः, विपरीतान्वयतिरेकः, अप्रदर्शितम्य 6
तिरेकश्चेत्यष्टावैधर्म्यदृष्टान्तामासा भवन्ति ।

§ ५९ नन्वनन्वयान्यतिरेकावपि कैश्चिद् दृष्टान्तामासाङ्कुतौ, यथा रागादिमानय
वचनान् । अत्र साधर्म्यदृष्टान्ते आत्मनि रागवचनयोः सत्यपि साहित्ये, वैधर्म्यदृष्टान्ते
शोषलक्षणे सत्यामपि सह निवृत्तौ प्रतिवैधामाधेनान्वयव्यतिरेकयोरभाव इत्यनन्व
याव्यतिरेकौ । तौ कस्मादिह नोक्तौ ? उच्यते- ताम्यां पूर्वे न मिथन्त इति साध 10
र्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्येकमष्टाधेन दृष्टान्तामासा भवन्ति । यदाहु -

“लिङ्गस्यानन्वया अष्टावष्टावव्यतिरेकिणः ।

नान्यथानुपपन्नत्वं कथञ्चित् कथापमन्त्यमी ॥” इति ॥२७॥

§ ६० अवसित परार्थानुमानमिदानीं तन्मान्तर्रीयक दूषणं लक्षयति-

साधनदोषोद्भावन दूषणम् ॥२८॥

15

§ ६१ ‘साधनस्य’ परार्थानुमानस्य ये अस्तिद्विविद्धादयो ‘दोषाः’ पूर्वमुक्तास्ते
पामुद्भाव्यत प्रकाशयतेऽनेनेति ‘उद्भावनम्’ साधनदोषोद्भावक वचनं ‘दूषणम्’ । उत्तर
श्रासूतप्रवृत्तादिह भूतदोषोद्भावना दूषणेति सिद्धम् ॥२८॥

§ ६२ दूषणलक्षणे दूषणामासलक्षणं सुज्ञानमेव मेदप्रतिपादनार्थं तु लक्षणमाह-

अभूतदोषोद्भावनानि दूषणाभासा जास्युत्तराणि ॥२९॥

20

§ ६३ अधिद्यमानानां साधनदोषाणां प्रतिपादनान्यदूषणान्यपि दूषणवदाभास
मानानि ‘दूषणोभासाः’ । तानि च ‘जास्युत्तराणि’ । जातिशब्दः सादृश्यवचनः । उत्तर
सदृशानि जात्युत्तराणि उत्तरस्थानप्रयुक्तत्वात् । उत्तरसदृशानि जात्युत्तराणि । जात्या
सादृश्येनोत्तराणि जात्युत्तराणि । तानि च सम्पृग्धर्तौ हेत्वाभासे वा वादिना प्रयुक्ते ऋटिति
तदोपपत्त्याप्रतिभासे हेतुप्रतिभिम्बनप्रायाणि प्रत्यवस्थानान्यनन्तत्वात्परिसम्प्यात् न 25
शक्यन्ते, तथाप्यध्यावृत्तदृष्टितदिशा साधर्म्यादिप्रत्यवस्थानमेवेन साधर्म्यवैधर्म्यो
त्कर्षापेक्षपवप्यावर्धविकल्पसाध्यप्राप्तिसप्तप्रतिदृष्टान्तानुत्पत्तिसंशयप्रकरणाद्देत्व -
र्थापर्यविक्षेपोपपत्त्युपलब्धनुपलब्धिनित्यानित्यकर्मपरमरूपतया चतुर्भिश्चतुरूपदर्शयन्ते ।

१ स्वातिमाहकस्य अहम्यस्य । २ मत् अत् इत्यम् । ३ नत्कर्म तत्त्वम् । ४ मत् कर्म
तत्त्वमेव । ५ अन्वयव्यतिरेकयोः । ६- कस्मादिह-हे । ७ तादात्म्यतदुत्पत्तिप्रमाणसम्बन्धाभास[न]
न मूलाद्यो -हे । ८ दृष्टान्तोद्भवम् । ९- -अप्यवस्थ -ता ।

वस्थानात् १२ । अनुत्पत्त्या प्रत्यवस्थानमनुत्पत्तिसमाप्तातिः । यथा अनुत्पत्तौ शब्दास्त्व
घर्मिणि कृतकत्व घर्मं क वर्धते ? । तदेव हेत्वभावादसिद्धिरनित्यत्वमेति १३ । साध
र्म्यसमा वैधर्म्यसमा वा या जातिः पूर्वमुदाहृता सैव संशयेनोपसर्हियमाणा संशयसमा
जातिर्मवति । यथा किं घटसाधर्म्यात् कृतकत्वादनित्यः शब्द उत तद्वैधर्म्यादाकाश
साधर्म्याद्वा निरवयवत्वाभित्य इति ? १४ । द्वितीयपक्षोरत्यापनमुद्रणा प्रयुज्यमाना 6
सैव साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा वा जातिः प्रकरणसमा भवति । तत्रैव अनित्यः शब्दः कृत
कत्वाद् घटवदिति प्रयोगे-नित्यः शब्दः भावणत्वाच्छब्दत्ववदिति उद्भावनप्रकारमेद
मात्रे सति नानात्व द्रष्टव्यम् १५ । त्रैकाल्यानुपपत्त्या हेतोः प्रत्यवस्थानमहेतुसमा
जातिः । यथा इतु साधनम् । तत् साध्यात्पूर्व पश्चात् सद् वा भवेत् ? । यदि पूर्वम् ; असति
साध्ने तत् कस्य साधनम् ? । अथ पश्चात्साधनम् ; पूर्वं तर्हि साध्यम्, तस्मिन्न पूर्वसिद्धे 10
किं साधनेन ? । अथ युगपत्साध्यसाधने; तर्हि तयोः सम्पत्तोरगोचिपाणयोरिव साध्यसाध
नमाद्य एव न भवेदिति १६ । अर्थापत्त्या प्रत्यवस्थानमर्थापत्तिसमा जाति । यद्यनि
त्यसाधर्म्यात्कृतकत्वादनित्यः शब्दः, अर्थादापद्यते नित्यसाधर्म्याभित्य इति । अस्ति
चास्य निश्चेनाकाशादिना साधर्म्यं निरवयवत्वमित्युद्भावनप्रकारमेद एवापमिति १७ ।
अविश्लेषापादानेन प्रत्यवस्थानमविश्लेषसमा जातिः । यथा यदि शब्दघटयोरेको घर्मः 15
कृतकत्वमित्येते तर्हि समानघर्मयोगात्तयोरविश्लेषे तद्वदेव सर्वपदार्थानामविश्लेषः प्रस
न्यत इति १८ । उपपत्त्या प्रत्यवस्थानमुपपत्तिसमा जातिः । यथा यदि कृतकत्वोप
पत्त्या शब्दस्यानित्यत्वम्, निरवयवत्वोपपत्त्या नित्यत्वमपि कस्मान्न भवति ? । पञ्चदशोप
पत्त्याऽनध्यवसायपर्यवसानत्व विवक्षितमित्युद्भावनप्रकारमेद एवायम् १९ । उपल
ब्ध्या प्रत्यवस्थानमुपलम्बिसमा जातिः । यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वा 20
दिति प्रयुक्ते प्रत्यवतिष्ठते-न खलु प्रयत्नानन्तरीयकत्वमनित्यत्वे साधनम् ; साधनं हि
तदुच्यते येन विना न साध्यमुपलभ्यते । उपलभ्यते च प्रयत्नानन्तरीयकत्वेन विनाऽपि
विद्युदादाशनित्यत्वम् । शब्देऽपि कश्चिद्वाधुषेगमन्यमानवनस्पत्यादिजन्ये तथैवेति २० ।
अनुपलम्ब्या प्रत्यवस्थानमनुपलम्बिसमा जातिः । यथा तत्रैव प्रयत्नानन्तरीयक
त्वहेतावुपन्यस्ते सत्याद् जातिवादी-न प्रयत्नकार्यं शब्दः प्रागुच्चारणादस्मिन्वात्तावाव 25
रणयोगात् नोपलभ्यते । आवरणानुपलम्बेऽप्यनुपलम्भाभास्तथैव शब्द इति चेत् ; न,
आवरणानुपलम्बेऽप्यनुपलम्बसद्भावात् । आवरणानुपलम्बेऽनुपलम्भादभावात् । तदभावे
चावरणोपलम्बभावात् भवति । ततश्च मृदन्तरितमूलकीलोदकादिदाधारणोपलम्बिकृत
मेव शब्दस्य प्रागुच्चारणादग्रहणमिति प्रयत्नकार्यत्वाभावाभित्य शब्द इति २१ । साध्य

१ तथैवेति - इ । २ किं प्रति दृष्टान्त साध्यविकल्पेन हि शब्दत्वस्य नित्यानित्यत्वाभ्युपेतत्वात्
व्याप्तिरप्यसिद्धा । ३ उद्भावेन प्र - ता । ४ तस्मिन् पूर्व सिद्धे - इ । ५ - उद्भावेन प्र - इ । ६ अत्र
पूर्वोच्येनोत्तरम् । ७ - तस्मिन्वाव - इ । ८ अत्र वा - इ । ९ अत्रोत्तरम् - प्रत्यवयवमहेतुत्वात् अ(१)-
प्रयत्नानन्तरीयकत्वं विवक्षितमध्यम्यं सिद्धमेव इत्यतः(१)प्रयत्नेन शब्दो विवक्षितो जन्यत एव न तु व्यज्यत ।

धर्मनित्यानित्यत्वविकल्पेन ध्वन्दनित्यत्वापादनं नित्यसमा ज्ञातिः । यथा अनित्यं ध्वन्द
इति प्रतिज्ञाते ज्ञातिवादी विकल्पयति—येयमनित्यता ध्वन्दस्योन्यत सा किमनित्या
नित्या वेति ? । यद्यनित्या ; तदियमवश्यमपायिनीत्यनित्यताया अपायाभित्यः ध्वन्द ।
अथानित्यता नित्यैव ; तथापि धर्मस्य नित्यत्वात्तस्य च निराश्रयस्यानुपपत्तेस्तदाभय
6 मृतः ध्वन्दोऽपि नित्यो भवेत्, उदनित्यत्वे तद्धर्मनित्यत्वायोगादित्युभयथापि नित्य
ध्वन्द इति २२ । सर्वमाथानित्यत्वोपपादनेन प्रत्यवस्थानमनित्यसमा ज्ञातिः । यथा घटेन
साधर्म्यमनित्येन ध्वन्दस्यास्तीति तस्यानित्यत्वं यदि प्रतिपाद्यते, तद् घटन सर्वपदार्था
नामस्त्येव किमपि साधर्म्यमिति तेषामप्यनित्यत्व स्यात् । अत्र पदाद्यन्तराणां तथा
भावेऽपि नानित्यत्वम् ; तर्हि ध्वन्दस्यापि तन्मा भूदिति । अनित्यत्वमात्रापादनपूर्वकविश्ले
10 पोद्भावनान्नाविश्लेषसमातो र्भिर्भयं ज्ञातिः २३ । प्रयत्नकार्यनानात्वोपन्यासेन प्रत्यवस्थानं
कार्यसमा ज्ञातिः । यथा अनित्यः ध्वन्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वादित्युक्ते ज्ञातिवाद्याह—
प्रयत्नस्य द्वैरूप्य दृष्टम्—किञ्चिदसदेव तेन अन्यते यथा घटादि, किञ्चित्सदेवावरणभ्युदा
सादिनाऽभिव्यज्यते यथा मृदन्तरितमूलकीलादि, एवं प्रयत्नकार्यनानात्वादेव प्रयत्नेन
ध्वन्दो व्यज्यत अन्यते वेति संशय इति । संशयापादनप्रकारमेदाच्च संशयसमात् कार्य
15 समा ज्ञातिर्भिद्यते २४ ।

§ ६५ तदेवमुद्भावनविषयविकल्पमेदेन ज्ञातीनामानन्त्येऽप्यसङ्गीर्णोदाहरणविष
यथा चतुर्विंशतिर्भातिमेदा एते वक्षिताः । प्रतिसमाधानं तु सर्वज्ञातीनामन्यथानुप-
पत्तिलक्षणानुमानलक्षणपरिषण्णमेव । न अविप्लुतलक्षणे हेतावेवप्रायाः पांशुपाताः
प्रमदन्ति । कृतकत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वयोश्च दृष्टप्रतिबन्धत्वात्तावरणादिकृतं ध्वन्दानुपल-
20 म्भनमपि त्वनित्यत्वकृतमेव । ज्ञातिप्रयोगे च परेण कृते सम्यगुत्तरमेव वक्तव्यं न
प्रतीर्य ज्ञात्युत्तरेरेव प्रत्यवस्थेयमासमञ्जस्य प्रसङ्गादिति ।

§ ६६ छलमपि च सम्यगुत्तरत्वामात्राज्ञात्युत्तरमेवै । उक्तं हेतुद्भावनप्रकार
मेदेनानन्तानि ज्ञात्युत्तरापीति । तत्र परस्य वदतोऽर्धविकल्पोपपादनेन वचनविषात
च्छलम् । तन्निष्ठा वाक्छलं सामान्यच्छलगुपचारच्छलं वेति । तत्र साधारणे ध्वन्दे प्रयुक्ते
25 वक्त्रभिर्प्रेतादर्थादन्तरकल्पनया तन्निषेधो वाक्छलम् । यथा नवकम्बलोऽयं माष
वक्त्र इति मूतनविषयमा कथिते परः सङ्घामारोप्य निषेधति—कुतोऽस्य नव कम्बला
इति ? । सम्भावनयातिप्रसङ्गिनोऽपि सामान्यस्योपन्यासे हेतुत्वारोपणेन तन्निषेधः सामा-
न्यच्छलम् । यथा अहो नु खस्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसम्पन्न इति ब्राह्मणस्तुतिप्रसङ्गं
कथिद्भदिति—सम्भवति ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पदिति । तत् छलवादी ब्राह्मणत्वस्य हेतुत्वा-
80 मारोप्य निराकर्ष्यमपि युक्ते—यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पद् भवति, त्रात्येऽपि सा भवेत्

१ - त्येव न तथा - हे । २- विन्यतरत्वमात्राज्ञातिज्ञातीनां निस्वाभिन्तविकल्पना न घटा एव
वचनया कृतकत्वस्याऽपि कृतकत्वं दृष्टव्यताम् । ३- केव प्रति(१)जायता वैवायिकं प्रत्यवस्थानस्य सम्प्रकृतत्वेन
व्याप्तिरथा त्वनिष्ठात्(१) । ४- वचनेनपरी-हे । ५- मेव च ; - हे । ६- प्रेतावर्धन्तर-हे ।

प्रात्योऽपि प्राज्ञान एवेति । औपचारिके प्रयोगे मूल्यप्रतिषेधेन प्रत्ययस्थानमुपचार
 च्छलम् । यथा मञ्जाः क्रोशन्तीति उक्ते परः प्रत्ययविद्यते-कथमचेतना मञ्जाः क्रोशन्ति
 मञ्जस्वास्तु पुरुषाः क्रोशन्तीति । तदत्र छलत्रयेऽपि बृहस्प्यवहारप्रसिद्धशब्दसामर्थ्य
 परीक्षणमेव समाधानं वेदितव्यमिति ॥२९॥

§ ६७ साधनदूषणाद्यभिधानं च प्रायो वादे भवतीति वादस्य लक्षणमाह-

5

तत्त्वसरक्षणार्थं प्राश्निकादिसमक्ष साधनदूषणवदन
 वादः ॥ ३० ॥

§ ६८ स्वपक्षसिद्धये वादिनः 'साधनम्' तत्प्रतिषेधाय प्रतिवादिनो 'दूषणम्' ।
 प्रतिवादिनोऽपि स्वपक्षसिद्धये 'साधनम्' तत्प्रतिषेधाय वादिनो 'दूषणम्' । तत्रैव वादिनः
 साधनदूषणे प्रतिवादिनोऽपि साधनदूषणे द्वयोर्वादिप्रतिवादिभ्याम् 'वदनम्' अभिधानम् 10
 'वादः' । कथमित्याह-'प्राश्निकादिसमक्षम्' । प्राश्निका सन्ध्याः-

“स्वसमयपरसमयज्ञाः कुञ्जजा पक्षद्वयेऽपिस्ताः क्षमिणाः ।

बाहपयेष्वभिपुक्तास्तुलासमाः प्राश्निका प्रोक्ताः ॥”

इत्येवंलक्षणाः । 'आदि'ग्रहणेन समापतिवादिप्रतिवादिपरिग्रहः, सेय चतुरङ्गा कथा,
 एकस्याप्यङ्गस्य वैकल्ये कथात्वानुपपत्तेः । नहि षणाश्रमपालनक्षम न्यायान्यायव्य 15
 मस्यापकं पक्षपातरहितत्वेन समर्थाऽपि समापति ययोकलक्षणांश्च प्राश्निकान् विना
 वादिप्रतिवादिनौ स्वामिमतसाधनदूषणसरणिमाराधयितु क्षमौ । नापि दुःशिक्षि
 तद्वृत्तकलेऽशवाघालबालिश्रजनविप्रावितो गठानुगतिको जनः सन्मार्गं प्रतिपद्येति ।
 तस्य फलमाह-'तत्त्वसरक्षणार्थम्' । 'तत्त्व'शब्देन तत्त्वनिश्चयः साधुजनहृदयविपरिवर्ती
 गृह्यते, तस्य रक्षणं दुर्विदग्धजनजनितविकल्पकल्पनात् इति । 20

§ ६९ ननु तत्त्वसरक्षणं अल्पस्य वितण्डाया वा प्रयोजनम् । यदाह—“तस्वा
 प्यवसायसरक्षणार्थं जल्पवितण्डे षीजप्ररोहसरक्षणार्थे कष्टकशाखा
 परिचरणवत्” [न्यायम् ४ ५] इति; न, वादस्यापि निग्रहस्थानवत्त्वेन
 तत्त्वसरक्षणार्थत्वात् । न चास्य निग्रहस्थानवत्त्वमसिद्धम् । “प्रमाणतर्कमाधनो
 पाठस्मः सिद्धान्ताधिकृत्य पक्षभावयवोपपन्न पक्षप्रातिपक्षपरिग्रहो वादः” 25
 [न्यायम् १ १ १] इति वादलक्षणे सिद्धान्ताधिकृत्य इत्यनेनापसिद्धान्तस्य, पञ्चावयवोप
 पन्न इत्यनेन न्यूनाधिकयोर्हेत्वाभासपञ्चकस्य धेत्यष्टानां निग्रहस्थानानामनुमानात्, तेषां
 च निग्रहस्थानान्तरोपलक्षणत्वात् । अत एव न अल्पवितण्डे कथं, वादस्यैव तत्त्वसर
 क्षणार्थत्वात् ।

§ ७० ननु “यथोक्तोपपन्नच्छलजातिमिग्रहस्थानसाधनोपाठस्मो जल्पः” 30

- [म्या १ १ १], "स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा" [म्या १ १ १] इति लक्षणे
 मेढाक्षर्यवितण्डे अपि कथे विद्येते एष; न; प्रतिपक्षस्थापनाहीनाया वितण्डाया
 कथात्वायोगात् । वैतण्डिको हि स्वपक्षमभ्युपगम्यास्थापयन् योत्किञ्चिद्वादन परपक्ष
 मेव दूषयन् कथमवधेयवचनः ? । अल्पस्तु यद्यपि द्वयोरपि वादिप्रतिवादिनो साधनो
 5 पालम्भसम्भावनाया कथात्वं लभते तथापि न वादादर्शान्तरम्, वादेनैव चरितार्थत्वात् ।
 छलजातिनिग्रहस्थानभूयस्त्वयोगादचरितार्थ इति चेत्; न, छलजातिप्रयोगस्य दूषणा-
 मासत्वेनाप्रयोज्यत्वात्, निग्रहस्थानानां च वादेऽप्यविरुद्धत्वात् । न खलु खटवपेण-
 मुखपादादयोऽनुपिता निग्रहा अल्पेऽप्युपयुज्यन्ते । उचितानां च निग्रहस्थानानां
 वादेऽपि न विरोधोऽस्ति । तत्र वादात् अल्पस्य कश्चिद् विज्ञेपोऽस्ति । तामपूजा
 10 म्पातिक्कामितादीनि तु प्रयोजनानि तस्वाप्यवसायसंरक्षणलक्षणप्रधानफलात्पूर्वानी
 पुरुषधर्मत्वाद्वादेऽपि न निवारयितुं पार्यन्ते ।

§ ७१ ननु छलजातिप्रयोगोऽसदुचरत्वाद्वादे न भवति, अल्पे तु तस्यानु
 ज्ञानादस्ति वादअल्पयोर्विशेषः । यदाह—

"बुधिशिक्षितकृतकर्तृशालेशाखाखिताननाः ।

शक्याः किमन्यथा जेतुं वितण्डाटोपपण्डिताः ॥

गतानुगतिक्ये खोक्य कुमार्गे तत्प्रतारिताः ।

मा गादिति ष्छलादीनि प्राह कारुणिको भूमि" ॥ इति ।

- नेषम् । अमदुचरैः परप्रतिक्षेपस्य कर्तृमशुक्तत्वात्; न ज्ञान्यायेन जप यथो धनं
 वा महात्मानः समीहन्ते । अथ प्रमत्प्रतिवादिदर्शनात् तज्ये धर्मध्वंससम्भावनात्,
 20 प्रतिमाधुषेण सम्यगुचरस्याप्रतिमासादसदुचरैरपि पांशुमिरिबाक्किरभेक्षन्तपराजयाइरं
 सन्देह इति भिया न दोषमावहतीति चेत्; न, अस्यापवादिकस्य ज्ञात्युचरप्रयोगस्य
 कथान्तरसमर्धनसामर्थ्याभावात् । वाद एव द्रव्यक्षेत्रकालमानानुसारेण यद्यसदुचरं कथ-
 धनं प्रयुज्जीत किमेतावता कथान्तरं प्रसज्येत ? । तस्मात्क्षर्यवितण्डानिराकरणेन वाद
 एवकः कथाप्रधानं लभत इति स्थितम् ॥ ३० ॥

- 25 § ७२ वादत्र अयपराधयावसानो भवतीति अयपराधययोर्लक्षणमाह—

स्वपक्षस्य सिद्धिर्जयः ॥ ३१ ॥

§ ७३ वादिना प्रतिवादिनो वा या स्वपक्षस्य सिद्धिः सा जयः । सा च स्वपक्षसा
 धनदोषपरिहारेण परपक्षसाधनदोषोद्घातनेन च भवति । स्वपक्षे साधनमभ्युपगम्य प्रति

वादी वादिसाधनस्य विरुद्धतामुद्भावयन् वादिन जयति, विरुद्धतोद्भावनेनैव स्वपक्ष साधनस्योक्तत्वात् । यदाह—“धिरेन्द्रं हेतुमुद्भाव्य वादिन जयतीतरः” इति ॥३१॥

असिद्धि पराजय ॥ ३२ ॥

§ ७४ वादिनः प्रतिवादिनो वा या स्वपक्षस्य ‘असिद्धिः’ सा ‘पराजयः’ । सा च साधनामासाभिधानात्, सम्यक्साधनेऽपि वा परोक्तदूषणानुद्धरणाम्भवति ॥ ३२ ॥ - 5

§ ७५ ननु यद्यसिद्धिः पराजयः, स तर्हि कीदृशो निग्रहः?, निग्रहान्ता हि कथा भवतीत्याह—

स निग्रहो वादिप्रतिवादिनो ॥ ३३ ॥

§ ७६ ‘स’ पराजय एव ‘वादिप्रतिवादिनोः’ ‘निग्रहः’ न घघच-घौदिः । अथवा स एव स्वपक्षसिद्धिरूपं पराजयो निग्रहहेतुत्वाभिग्रहो नोन्यो यथाहुः परे—“विप्रति 10 पक्षिप्रतिपक्षिश्च निग्रहस्थानम्” [म्बन्ध १ २ १५] इति ॥ ३३ ॥

§ ७७ उप्राह—

न विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्तिमात्रम् ॥ ३४ ॥

§ ७८ विपरीता कृत्सिता विगर्हणीया प्रतिपत्तिः ‘विप्रतिपत्तिः’—साधनामासे साधनशुद्धिदूषणमासे च दूषणशुद्धिः । अप्रतिपत्तिस्त्वारम्भविषयेऽनारम्भः । स च साधने 15 दूषण दूषणे चोद्धरण तयोरकारणम् ‘अप्रतिपत्तिः’ । द्विधा हि वादी पराजीयते—यथाकृतव्य मप्रतिपद्यमानो विपरीत वा प्रतिपद्यमान इति । विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्ती एव ‘विप्रतिपत्त्य प्रतिपत्तिमात्रम्’ ‘न’ पराजयहेतुः किन्तु स्वपक्षस्यासिद्धिरेवेति । विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्त्योश्च निग्रहस्थानत्वनिरासात् तद्भेदानामपि निग्रहस्थानत्व निरस्तम् ।

§ ७९ ते च द्वाविंशतिर्भवन्ति । तद्यथा—१ प्रतिज्ञाहानिः, २ प्रतिज्ञान्तरम्, 20 ३ प्रतिज्ञाविरोधः, ४ प्रतिज्ञासंन्यासः, ५ हेत्वन्तरम्, ६ अर्थान्तरम्, ७ निरर्थकम्, ८ अविज्ञातार्थम्, ९ अपार्थक्यम्, १० अप्राप्तकालम्, ११ न्यूनम्, १२ अधिकम्, १३ पुनरुक्तम्, १४ अननुभाषणम्, १५ अज्ञानम्, १६ अप्रतिभा, १७ विज्ञेयः, १८ मतानुज्ञा, १९ पर्यनुयोज्योपेक्षणम्, २० निरनुयोज्यानुयोगः, २१ अपसिद्धान्तः, 25 २२ हेत्वामामाभेति । अप्राननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विज्ञेयः पर्यनुयोज्योपेक्षणमित्य प्रतिपत्तिप्रकारा । श्रेषा विप्रतिपत्तिभेदाः ।

§ ८० तत्र प्रतिज्ञाहानेर्लक्षणम्—“प्रतिदृष्टान्तधर्मानुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञा

१ विरुद्धे - हे । २ प्रयत्नित्तमं अनुचित्तमं च स्वदृष्टं तद्वैव निमित्तं सं-म् प्रती ।

३ - म्बन्धि । अ - हे । ४ - रूप - हे । ५ दृष्टताद्वयम् । ६ परो - हे । ७ आरम्भान् ।

८ प्रतिदृष्टान्तत्वं सामान्यत्वं धर्मो निवृत्त्यम् । ९ - धर्मानुयोज्य-म् ।

सर्वगतमसवगतस्तु शब्द इति । सोऽयम् 'अनित्य शब्द' इति पूर्वप्रतिज्ञात प्रतिज्ञान्तरम् 'असर्वगतः शब्दः' इति कुञ्चन प्रतिज्ञान्तरेण निगृहीतो भवति । एतदपि प्रतिज्ञाहानिवन्धयुक्तम्, तस्याप्यनेकनिमित्तत्वोपर्येषे । प्रतिज्ञाहानितन्मास्य कथं भेदः, पक्षत्यागस्योभयप्राविशेषात् ? । यथैव हि प्रतिदृष्टान्तघर्मस्य स्वदृष्टान्तेऽस्यनुष्ठानात् पक्षत्यागस्तथा प्रतिज्ञान्तरादपि । यथा च स्वपक्षसिद्धयर्थं प्रतिज्ञान्तरं विधीयते तथा शब्दानित्यत्वसिद्धयर्थं आन्तिर्वशात् 'तद्वच्छब्दोऽपि नित्योऽस्तु' इत्यनुष्ठानम्, यथा चात्रान्तस्येद विरुद्धते तथा प्रतिज्ञान्तरमपि । निमित्तभेदाच्च तद्वेदे अनिष्टनिग्रहस्थानान्तराणामप्यनुपपन्नं स्यात् । तेषां च सत्रान्तमपि प्रतिज्ञान्तरस्यापि प्रतिज्ञाहानावन्तर्मात्रं स्यादिति २ ।

§ ८२ "प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाभिरोधः" [प्याख्य ५. २. ४] नाम निग्रहस्थानं भवति । यथा गुणव्यतिरिक्त द्रव्य रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धेरिति । सोऽयं प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः—यदि गुणव्यतिरिक्त द्रव्य कथं रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिः ?, अथ रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिः कथं गुणव्यतिरिक्त द्रव्यमिति ?, तदथ प्रतिज्ञाविरुद्धामिधानात् पराजीयते । तदतदसङ्गतम् । यतो हेतुना प्रतिज्ञायाः प्रतिज्ञात्वे निरस्ते प्रकारान्तरत प्रतिज्ञाहानिरवेषयमुक्ता स्यात्, हेतुदोषो वा विरुद्धतालक्षणा, न प्रतिज्ञादोष इति ३ ।

§ ८३ पक्षसाधने परेण रूपिते तदुद्धरणाद्यक्त्या प्रतिज्ञामेव निह्वानस्य प्रतिज्ञासंन्यासो नाम निग्रहस्थानं भवति । यथा अनित्य शब्द ऐन्द्रियकत्वादित्युक्ते तथैव सामान्यनानैकान्तिक्रतापामुद्धावितायां यदि घृणात्—क एवमाह—अनित्यः शब्द इति—स प्रतिज्ञासंन्यासात् पराजितो भवतीति । एतदपि प्रतिज्ञाहानितो न भिद्यते, हेतोरनैकान्तिकत्वोपलम्भेनाप्रापि प्रतिज्ञायाः परित्यागाविशेषात् ४ ।

§ ८४ अविशेषामिहिते हेतौ प्रतिपिद्धे तद्विशेषणमभिदधतो हेत्वन्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति । तस्मिन्नेव प्रयोगे तथैव सामान्यस्य व्यभिचारेण रूपिते—'जातिमत्त्वे सति' इत्यादिविशेषणमुपादानो हेत्वन्तरेण निगृहीतो भवति । इदमप्यतिप्रसृतम्, यतोऽविशेषोक्त दृष्टान्ते उपनये निगमने वा प्रतिपिद्धे विशेषमिच्छतो दृष्टान्ताद्यन्तरमपि निग्रहस्थानान्तरमनुपज्येत, सत्राप्याक्षेपसमाधानानां समानत्वादिति ५ ।

§ ८५ प्रकृतादर्थादर्थान्तरं तदनौपयिकमभिदधतोऽर्थान्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति । यथा अनित्यः शब्दः । कृतकत्वादिति इतुः । इतुरिति हिनोतेर्घातोस्तुप्रत्यये कृदन्त पदम् । यद् च नामास्यावनिपातोपसर्गा इति प्रैस्तुत्य नामादीनि व्याचक्षणाणोऽर्थान्तरेण निगृह्यते । एतदप्यर्थान्तरं निग्रहस्थानं समर्थे साधने रूप्ये वा प्रोक्तं

१ पूर्व प्रति - ३ । २ - लोप - ८ । ३ यथा प्रतिज्ञायाः अङ्गत्वेऽपि प्रतिज्ञा[या]त्प्रतिज्ञाये काण्यकम्(वि)शेष्यत्वेऽसर्वगतस्तु शब्द इति तथा अन्यनिमित्तकत्वं प्रतिज्ञान्तरेण । ४ यथात्तच्छब्दो - ३ । ५ - गुणव्यतिरिक्त - ३ । ६ इति प्रति - ३ । ७ - ०-मम्य - ४ । ८ इति हेत्वन्तरम् । ९ महात्ताकव्य-स्तरम् - ३ । १० पक्ष नाम - ४ । ११ प्रत्ययनामा - ३ ।

निग्रहाय कल्पत, असमर्थे वा ? । न तावत्समर्थे; स्वसाध्य प्रसाध्य नृत्यतोऽपि दोषामावा-
 ल्लोकवत् । असमर्थेऽपि प्रतिवादिनः पक्षसिद्धौ तैत् निग्रहाय स्यादसिद्धौ वा ? ।
 प्रथमपक्षे तत्पक्षसिद्धेरभास्य निग्रहो न त्यतो निग्रहस्थानात् । द्वितीयपक्षेऽप्यतो न
 निग्रहः, पक्षसिद्धेरुभयोरप्यभावादिति ६ ।

- 5 § ८६ अमिषेपरहितवर्णानुपूर्वीप्रयोगमात्र निरर्थकं नाम निग्रहस्थान भवति ।
 यथा अनित्यं द्रव्यं कञ्चनतपानां गवहदवत्वाद् पक्षद्वयभवति । एतदपि सर्वपार्थ-
 शून्यत्वाभिग्रहाय कल्पत, साध्यानुपयोगाद्वा ? । तत्रापि कल्प्योऽयुक्तः, सर्वपार्थशून्य
 द्रव्यस्यैवाऽसम्भवात्, षण्क्रमनिर्देशस्याप्यनुकार्येणानाभवत्तोपपत्तेः । द्वितीयपक्षेऽप्य-
 तु मयमव निग्रहस्थान निरर्थकं स्यात् साध्यसिद्धावनुपयोगित्वाभिग्रहात् । किञ्चि
 10 द्विष्टेपमात्रेण मद् वा खान्द्रुत-इस्तास्फालन-कक्षापिहित्वादर्पि साध्यानुपयोगिनो निग्रह-
 स्थानान्तरत्वानुपपन्न इति ७ ।

- § ८७ यत् साधनवाक्य रूपणवाक्य वा त्रिरभिहितमपि परिपत्रतिवादिभ्यां षोड-
 न कल्प्यत तत् अविज्ञातार्थं नाम निग्रहस्थानं भवति । अत्रद्वयस्यैव-वादिना त्रिरभि-
 हितमपि वाक्यं परिपत्रतिवादिभ्यां मन्दमतित्वात्प्रविज्ञातम्, गूढोपिधानतो वा, द्रुतो वा
 15 राज्ञा ? । प्रथमपक्षे सत्साधनवादिनोऽप्येतभिग्रहस्थानं स्यात्, तत्राप्यनयोर्मन्दमतित्वना-
 विज्ञातत्वसम्भवात् । द्वितीयपक्षे तु पत्रवाक्यप्रयोगेऽपि तैत्सङ्गः, गूढमिधानतया
 परिपत्रतिवादिनोमहाप्राज्ञयोरप्यविज्ञातत्वोपलम्भात् । अप्याभ्यामविज्ञातमप्यतद् वादी
 भ्याश्चटः गूढोपन्यासेनप्यात्मनः स एव भ्याश्चटाम्, अप्याभ्याने तु ज्ञयामाव एवास्य,
 न पुननिग्रहः, परस्य पक्षसिद्धेरभावात् । द्रुतोच्चारणनयोः कथञ्चित् ज्ञान सम्भवेऽप्येव,
 20 सिद्धान्तद्वयवदित्वात् । साध्यानुपयोगिनि तु वादिनः प्रसापमात्रे तैत्पौरविज्ञानं नावि-
 ज्ञातार्थं वर्णक्रमनिर्देशयत् । सतो नेदमविज्ञाताय निरर्थक्यङ्गिषत इति ८ ।

- § ८८ पूनापगसङ्गसपदसमूहप्रयोगादप्रतिष्ठितवाक्यावयवपार्थक्यं नाम निग्रहस्थान
 भवति । यथा द्रव्य दाडिमानि पङ्कपा इत्यादि । एतदपि निरर्थक्यम भिद्यत । यथैव
 हि गत्रद्वयवादी वर्णानां निरर्थक्यं तथैत्र पदानामिति । यदि पुन पदनैरर्थक्यं वर्ण
 25 निरर्थक्यादन्यत्वाभिग्रहस्थानान्तरं तर्हि वाक्यनैरर्थक्यस्याप्याभ्यामन्यत्वाभिग्रहस्थान-
 न्तरत्व स्यात् पदनत्वौषापयेणाऽप्रयुज्यमानानां वाक्यानामप्यनेकषोपलम्भात्-

“शङ्खः कदम्बार्थं कदली च भेर्यो तस्यार्थं च भर्षो शुभहृदिमामम् ।
 तच्छङ्खभेरीकदलीचिमामशुन्मस्तगाङ्गप्रतिर्भ वन्वृष ॥”

इत्यादिचत् ।

१ पञ्चमैरम् (१) अथन्तरम् । २ --विहितेव - हे । ३ अथन्तरम् । ४ भवेव तार - हे
 भवे वा वदतन - सु-ना । ५ गूढार्थं अत्रावामिधानम् । ६ सताकनेति । ७ अविज्ञातत्वम् ।
 ८ प्रहेनिकादिभ्यम् । ९ पत्रवारवम् । १ माथवारवम् । ११ निज्ञान्तवैदि - हे । १२ अथ निग्रहवापी
 एवं ज्ञान् वाचित प्रभवत्तम् । मविज्ञानत्व कथयम् इत्याद्यद्वायाम् (१) । १३ कर्त्तव्यं पत्रे व (१) ।
 १४ --इतं वा वा । १५ साध्यानुपयोगित्वात् । १६ वनेवनेरर्थस्थानाम् ।

§ ८९ यदि पुनः पदनैरर्थकमेव वाक्यनैरर्थक्य पदसमुदायात्मकत्वात् तस्य; तर्हि वर्णनैरर्थक्यमेव पदनैरर्थक्य स्यात् वर्णसमुदायात्मकत्वात् तस्य । वर्णानां सर्वत्र निरर्थकत्वात् पदस्यापि तत्रसङ्गमेव; तर्हि पदस्यापि निरर्थकत्वात् तत्समुदायात्मनो वाक्यस्यापि नैरर्थक्यानुपङ्गः । पदस्यार्थवत्त्वेन (वर्णवै च) पदार्थापेक्षया; [वर्णाधीपेक्षया] वर्णस्यापि तदस्तु प्रकृतिप्रत्ययादिवत्; न खलु प्रकृतिः केवला पद प्रत्ययो वा । नाप्यनयोरनर्थकत्वम् । अमिष्यकार्यामावाहनर्थकत्वः; पदस्यापि तत् स्यात् । यथैव हि प्रकृत्यर्थप्रत्ययेनामिष्यज्यते प्रत्ययार्थम् प्रकृत्या तयोः केवलयोरप्रयोगात् तथा देवदत्तस्तिष्ठतीत्यादिप्रयोगेऽस्याघन्तपदार्थस्य त्याघन्तपदार्थस्य च स्त्याघन्तपदेनामिष्यके केवलस्याप्रयोगः । पदान्तरापेक्षस्य पदस्य सार्थकत्व प्रकृत्यपेक्षस्य प्रत्ययस्य तदपेक्षस्य च प्रकृत्यादिवर्णस्य समानमिति ९ ।

§ ९० प्रतिज्ञाहेतुदाहरणोपनयनिगमनवचनक्रमसुष्ठुत्वावयवविपर्ययेन प्रयुज्यमानमनुमानवाक्यमप्राप्तकालं नाम निग्रहस्थानं भवति, स्वप्रतिपक्षिवत् परप्रतिपक्षवर्जने परार्थानुमाने क्रमस्याप्यङ्गत्वात् । एतदप्यपेक्षलम्, प्रेक्षावर्तां प्रतिपक्षानामवयवक्रमनियमविनाप्यर्थप्रतिपक्षुपलम्भात् । ननु यथापञ्चदशश्रुताच्छब्दस्मरणं ततोऽर्थप्रत्यय इति शब्दादेवार्थप्रत्ययः परम्परया तथा प्रतिज्ञावयवव्युत्क्रमात् तत्क्रमस्मरणं ततो वाक्यार्थप्रत्ययो न पुनस्त्वङ्गुत्क्रमात्; इत्यप्यसारम्, एवविषप्रतीत्यभावात् । यस्मादि शब्दादुच्चरितात् यथार्थं प्रतीति स एव तस्य वाचको नान्य, अन्यथा शब्दात्क्रमाद्यापश्चदत्वात्तिक्रमे च स्मरणं ततोऽर्थप्रतीतिरित्यपि वक्तुं शक्येत । एव शब्दान्वास्यानवैयर्थ्यमिति चेत्; नैवम्, बाँदिनोऽनिष्टमात्रापादनात् अपश्चदोऽपि चान्वाख्या नस्योपलम्भात् । संसृष्टाच्छब्दात्मत्वात् धर्मोऽन्यस्मादधर्म इति नियमे चान्यधर्मा धर्मोपायानुष्ठानवैयर्थ्यं धर्माधर्मयोश्चाप्रतिनियमप्रसङ्गः, अधार्मिके च धार्मिके च तच्छब्दोपलम्भात् । भवतु वा तत्क्रमादर्थप्रतीतिस्तथाप्यर्थप्रत्ययः क्रमेण स्थितो येन वाक्येन व्युत्क्रम्यत तभिरर्थकं न त्वप्राप्तकालमिति १० ।

§ ९१ पञ्चावयवे वाक्ये प्रयोक्तव्यं तदन्यतमनाप्यवयवेन हीनं न्यूनं नाम निग्रहस्थानं भवति, साधनाभावे साध्यसिद्धेरभावात्, प्रतिज्ञाहीनां च पञ्चानामपि साधनत्वात्; इत्यप्यसमीचीनम्, पञ्चावयवप्रयोगमन्तरेणापि साध्यसिद्धेरभिधानात् प्रतिज्ञाहेतुप्रयोगमन्तरेणैव तत्सिद्धेरभावात् । अतस्त्वहीनमव न्यूनं निग्रहस्थानमिति ११ ।

§ ९२ एकेनैव हेतुनोदाहरणेन वा प्रतिपादितेऽर्थे हेत्वन्तरमुदाहरणान्तरं वा धेतोऽधिकं नाम निग्रहस्थानं भवति निष्प्रयोधनाभिधानात् । एतदप्युक्तम्, तथा

१ एष वाक्यानि पञ्चपदा इत्यत्र द्व पदामात्रेण शेरबन्धम् न वाक्यस्य क्रियात्वा अध्यायत्वात् (अध्यायत्वात्) । २ - क्षया तत्त्वापि - हे । ३ धर्मवचनम् । ४ प्रकृतिप्रत्यययोः । ५ च स्तुःप्रत्यय - ता । ६ चकारि शब्दा - हे । ७ क्रमवाचिनः । ८ सत्त्वाधर्मो - हे । ९ अधार्मिके धार्मिके - हे ।

विषादात्म्यात् पक्षसिद्धा फाजयायोगात् । कथं चैव प्रमाणसंशुभोऽभ्युपैगम्यते ? । अभ्युपगम
 बाऽभिकभिप्रहाय चायेत । प्रतिपक्षिदात्मसमाप्तिप्रयोजनसद्भावात् निग्रहः; इत्यन्य
 प्रापि समानम्, इतूनोदाहरणेन च(र्ष)कन प्रसाधितऽप्यर्थे द्वितीयस्य हेतोर्दाहरणस्य वा
 नानथक्यम्, तत्रयोजनसद्भावात् । न चैवमनवस्या, कस्यचित् क्वचिभिरात्मज्ञतोपपत्त
 6 प्रमाणान्तरवत् । कथं चास्य कृतकत्वाद्दौ स्वार्थिकप्रत्ययस्य वचनम्, यत्कृतकं तद्
 नित्यमिति श्याप्तौ यद्यद्वर्चनम्, द्वेषिपदप्रयोगाद्बन्धार्थप्रतिपक्षौ धात्म्यप्रयोगः अधिकत्वा
 भिप्रहास्यान न स्यात् ? । तथाविधस्याप्यन्य प्रतिपक्षिविशेषोपायत्वात्तमेति चेत्; कथ
 मनेकस्य हेतोर्दाहरणस्य वा तदुपायभूतस्य वचन निग्रहाधिकरणम् ? । निरथक्यम् तु
 पचन निरर्थकत्वाद्बन्ध निग्रहस्यानं नाधिकत्वादिति ? २ ।

- 10 § ९३ शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तं नाम निग्रहस्यानं भवत्यन्यत्रानुवादात् ।
 शब्दपुनरुक्तं नाम यत्र स एव शब्दः पुनरुच्यते । यथा अनित्यं शब्दः अनित्यं शब्द
 इति । अर्थपुनरुक्तं तु यत्र सोऽयः प्रथममन्येन शब्देनोक्तं पुनः पर्यायान्तरेणोच्यते ।
 यथा अनित्यं शब्दो विनाशी च्चनिरिति । अनुवादे तु पौनरुक्त्यमदोषो यथा-
 “हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्” [आत्म १११] इति ।
 15 अप्राथपुनरुक्तमेवानुपपन्नं न शब्दपुनरुक्तम्, अर्थमदेन शब्दसाम्येऽप्यस्यासम्भवात् यथा-

“इसति इसति स्वामिन्पुत्रैरुत्पत्तिरादिति,
 कृतपरिफर स्वैदोद्गारे प्रधायति चायति ।
 गुणसमुदित क्षोपापेक्षं प्रणिन्दति निन्दति,
 धनलवपरिष्कीत यन्त्रं प्रवृत्त्यति कृत्यति ॥” -[वाचनार्थः ४ ११]

- 20 इत्यादि । ततः स्वार्थार्थवाचकैरेवान्येषां शब्दैः सम्याः प्रतिपादनीयाः । तदप्रतिपादक
 शब्दानां तु सकृत् पुनः पुनर्वाभिधानं निरर्थकं न तु पुनरुक्तमिति । यद्यपि अपा-
 दापक्षस्य स्वशब्देन पुनर्वचनं पुनरुक्तमुक्तं यथा असत्सु भवत्पु इति न भवतीत्युक्तं अथा
 दापक्षत सत्सु भवतीति तत् फल्येन कथ्यमानं पुनरुक्तं भवति, अर्थगत्यर्थे हि शब्दप्रयोग
 प्रतीतये किं तदिति ? । एतदपि प्रतिपक्षार्थप्रतिपादकत्वेन धैर्यार्थाभिप्रहास्यानं
 25 नान्यथा । तथा चेद् निरथक्यम् विशिष्येति ? ३ ।

- § ९४ पपदा विदितस्य घाटिना त्रिरभिहितस्यापि यदप्रत्युच्चारणं तदनुभाषणं
 नाम निग्रहस्यानं भवति, अत्रत्युच्चारयत्(न्) किमाभयं दूषणमभिदधतीति(दधीतति) ।
 अप्रापि किं भवस्य वादिनोक्तस्याननुभाषणम् उर्ध्वं यन्मान्तराधिक्यं साध्यसिद्धिस्तत्स्येति ? ।
 तत्रापि पक्षोऽयुक्तः, परोक्तमक्षेपमप्रत्युच्चारयतोऽपि दूषणवचनाभ्यापातात् । यथा सयम
 30 नित्यं सप्रादित्युक्ते-सप्रादित्यय हेतुर्विरुद्ध इति हेतुमन्वोच्चार्य विरुद्धोद्गाम्यत-क्षण

१- विद्यावाक्या - ता । २- हेतुमन्वोद्गाम्यत् । ३- पाम्भतवापिभ्यश्चि - हे । ४- पवत् - हे ।

५- इत्यभिधानमिति इतिरत्तम् । ६- चं वत् - च । ७- इत्यम् - हे । ८- स्वसम् - हे ।

९- क्षोपापेक्षम् - हे । १०- विशिष्य - हे । ११- उत नलम्परिष्कीता - ता । उत प्रवृत्तान्तराधिक्यं - हे ।

ध्यायकान्ते सर्ववार्थक्रियाविरोधात् सत्त्वानुपपत्तेरिति च समर्प्यते । तावता च परोक्त
हृदोदूपणात्किमन्योच्चारणेन ? अतो यन्नान्तरीयिका साध्यसिद्धिस्तस्यैवाप्रत्युच्चारणमन
नुभाषण प्रतिपक्ष्यम् । अथैव दूपक्तुमसमर्थं शास्त्रार्थपरिज्ञानविशेषविकलत्वात् ;
तदायमूचराप्रतिपक्षेण तिरस्क्रियते न पुनरनुभाषणादिति १४ ।

§ ९५ पर्पटा विज्ञातस्यापि धादिषाक्ष्यार्थस्य प्रतिवादिनो यदज्ञान तदज्ञानं नाम 5
निग्रहस्थान मवति । अधिदितोत्तरविषयो हि कोचरं श्रूयात् ? । न चाननुभाषणमेवेदम्,
ज्ञातेऽपि वस्तुन्यनुभाषणासामर्थ्यदर्शनात् । एतदप्यसाम्प्रतम्, प्रतिज्ञाहान्यादिनिग्रहस्था
नानां मेदामावाणुपपत्तात्, तत्राप्यज्ञानस्यैव सम्भवात् । तेषां सत्प्रमेदत्वे धा निग्रहस्थान
प्रतिनियममावप्रसङ्ग, परोक्तस्याऽच्चाऽज्ञानादिमेदन निग्रहस्थानानेकत्वप्रसङ्गात् १५ ।

§ ९६ परपक्षे गृहीतेऽप्यनुमापितेऽपि तस्मिन्नुचराप्रतिपक्षिप्रतिमा नाम निग्रह 10
स्थान मवति । एषाप्यज्ञानाच्च मिथते १६ ।

§ ९७ “कार्यव्यासङ्गात् कथाविक्रष्टे दो विच्छेपः” [भावश्च ५ १ १५] नाम
निग्रहस्थान मवति । सिपाधयिपितस्यार्थस्याप्रक्यसाधनतामवमाय कथां विच्छिनत्ति—
‘इदं मे करणीय परिशीयत, पीनसेन कण्ठ उपरुद्ध’ इत्याद्यभिधाय कथां विच्छिन्दन्
विशेषण पराजीयते । एतदप्यज्ञानैवो नार्थान्तरमिति १७ । 15

§ ९८ स्वपक्ष परापादितदोषमनुच्यते तमेव परपक्षे प्रतीपमापादयतो मतानुज्ञा
नाम निग्रहस्थान मवति । चौरो मवान् पुरुषत्वात् प्रसिद्धचौरवदित्युक्ते—मवानपि चोरः
पुरुषत्वादिति द्रुषभात्मनः परापादित चौरत्वदोषमभ्युपगमवान् भवतीति मतानुज्ञया
निगृह्यते । इदमप्यज्ञानाच्च मिथते । अनैकान्तिकता वाच्य हेतोः ; स ह्यात्मीयहृदोरात्मनैवा
नैकान्तिकता दृष्ट्या प्राह—मवत्यस्येऽप्यय दोषः समानस्त्वमपि पुरुषोऽस्तीत्यनैकान्तिकत्व 20
मेवोच्चारयतीति १८ ।

§ ९९ निग्रहप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणं नाम निग्रहस्थान मवति । पर्य
नुयोज्यो नाम निग्रहोपपत्त्यावश्य नोदनीयः ‘इदं ते निग्रहस्थानमुपनतमतो निगृहीतो
ऽसि’ इत्येवं वचनीयस्तमुपेक्ष्य न निगृह्णाति यः स पर्यनुयोज्योपेक्षणेन निगृह्यते । एतच्च
‘कस्य निग्रहः’ इत्यनुपुक्त्या परिपदोच्चारणीय न त्वसावात्मनो दोष विज्ञप्नुयात् ‘अह 25
निग्राहस्त्वयोपेक्षिता’ इति । एतदप्यज्ञानाच्च मिथते १९ ।

§ १०० “अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानानुयोगो निरनुयोज्यानुयोगः”
[भावश्च ५ १ १६] नाम निग्रहस्थान मवति । उपपन्नधादिनमप्रमादिनमनिग्रहाहमपि
‘निगृहीतोऽसि’ इति यो श्रूयात् एवाभूतदोषोच्चारणाभिगृह्यते । एतदपि नामानाद्यति
रिच्यते २० ।

१०१ "सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात्कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तः" [न्यायम् ५
१ ११] नाम निग्रहस्थान भवति । यं प्रथमं कञ्चित् सिद्धान्तमभ्युपगम्य कथामुप
क्रमते । तत्र च सिपाद्यपिपितामसाधनाय परोपालम्माय वा सिद्धान्तविरुद्धमभिषे
सोऽपसिद्धान्तेन निगृह्यत । एतदपि प्रतिवादिना प्रतिपक्षसाधनं सत्यं निग्रहस्थानं
५ नान्यथेति २१ ।

१०२ "हेत्वाभासात्तद्यथोक्ता" [न्यायम् ५ १ १४] असिद्धविरुद्धादयो
निग्रहस्थानम् । अप्रापि विरुद्धहेतुकावनेन प्रतिपक्षसिद्धेर्निग्रहाधिकरणत्वं युक्तम्, असि
द्धाद्युक्तावने तु प्रतिवादिना प्रतिपक्षसाधने कृते तद्युक्तं नान्यथेति २२ ॥ ३४ ॥

१०३ तदेवमप्यदोषदिष्टं पराजयाधिकरणं परीक्ष्य सौगततामिति' तत् परीक्ष्यत-
नाप्यसाधनाङ्गवचनादोपोद्गावने ॥ ३५ ॥

१०४ स्वपक्षस्यासिद्धिरेव पराजयो 'न' 'असाधनाङ्गवचनम्' 'अदोपोद्गावनम्'
च । यथाह धर्मकीर्ति-
"असाधनाङ्गवचनमदोपोद्गावनं द्वयोः ।
निग्रहस्थानमन्यच्च न युक्तमिति मेप्यते ॥" -[शारदावः भा १]

१०५ अत्र हि स्वपक्षं साधयन् असाधयन् वा वादिप्रतिवादिनोरन्यतरोऽसाध-
नाङ्गवचनाददोपोद्गावनाद्वा परं निगृह्णाति ? । प्रथमपक्षे स्वपक्षसिद्धेर्भास्य पराजया-
दन्त्योद्गावनं स्पर्धम् । द्वितीयपक्षे असाधनाङ्गवचनाद्युद्गावनेपि न कस्यचिद्वयः, पक्ष
सिद्धेरुभयोरभावात् ।

१०६ यथास्य न्यायस्थानम्-साधनं सिद्धिस्तदङ्गं त्रिरूपं लिङ्गं तस्यावचनम्-
तृष्णीम्मासो यत्किञ्चिद्भाषणं वा, साधनस्य वा त्रिरूपलिङ्गस्याङ्गं समर्थनं
विषये भाषणप्रमाणोपदर्शनरूपं तस्यावचनं वादिनो निग्रहस्थानमिति-तत् पञ्चावयव
प्रयोगवादिनोऽपि समानम् । अथ हि तेनाप्येव बर्णुः सिद्धाङ्गस्य पञ्चावयवप्रयोग
स्यावचनात् सौगतस्य वादिनो निग्रहः । ननु चास्य तदवचनेऽपि न निग्रहः,
प्रतिष्ठानिगमनयोः पक्षधर्मोपसंहारसामर्थ्येन गम्यमानत्वात्, गम्यमानयोश्च वचने
पुनरुक्तत्वानुपपन्नत्, तत्प्रयोगोऽपि हर्तुप्रयोगमन्तरेण साध्याद्यप्रसिद्धेः; इत्यन्यसत्,
पक्षधर्मोपसंहारस्याप्येवमवचनानुपपन्नत् । अथ सामर्थ्याद्गम्यमानस्यापि यत् सत् तत् सर्वं
द्विगुणं यथा षट्, संख्यं शब्द इति पक्षधर्मोपसंहारस्य वचनं हतोरपक्षधर्मत्वेना

१- निर्णयौ - ता । २ वासाव - ता-म् । ३ इत्याचार्यभीहेमचन्द्रविरचितानां प्रमाणी-
यसादीं द्वितीयस्तावत्वात् विद्यति धृष्टप्रि ॥ भीष्मात्मनवात् नम ॥ धर्मं भवतु कैवल्यपाठकात्
एतत् ॥ ३ - सं-म् । ४- पि क्वत् -ता । ५ - पि लिपि -के । ६ पक्षधर्मोपसंहारोपसंहार-के
पक्षधर्मोपसंहारोपसंहार-सु । ७ हेतुवा प्रो - ता । ८ -त्वेनं वच - के । ९ वचनहे - के ।
१० - -वचनहे त्वमि - के ।

सिद्धत्वव्यवच्छेदार्थम्; तर्हि साध्याधारसन्देहापनोदार्थं गम्यमानाया अपि
 प्रतिज्ञायाः, प्रतिज्ञाहेतुदाहरणोपनयानामेकार्थत्वप्रदर्शनार्थं निगमनस्य वचनं किं
 न स्यात् ? । नहि प्रतिज्ञादीनामेकार्थत्वोपदर्शनमन्तरेण सङ्गतत्व घटते, मिश्रविषय
 प्रतिज्ञादिवत् । ननु प्रतिज्ञातः साध्यसिद्धौ हेत्वाटिवचनमनर्थकमेव स्यात्, अन्यथा
 नास्या साधनाङ्गतेति चेत्; तर्हि भवतोऽपि हेतुतः साध्यसिद्धौ दृष्टान्तोऽनर्थकः 5
 स्यात्, अन्यथा नास्य साधनाङ्गतेति समानम् । ननु साध्यसाधनयोर्व्याप्तिप्रदर्शनार्थं
 त्वात् नानर्थको दृष्टान्तः, तत्र तदप्रदर्शने हेतोरगमकत्वात्; इत्यप्ययुक्तम्, सवानित्यत्व
 साधने सत्त्वादेर्दृष्टान्तासम्भवतोऽगमकत्वानुपपन्नात् । विषयव्याप्यत्वात् सत्त्वादेर्गमकत्वे
 वा सर्वत्रापि हेतौ तथैव गमकत्वप्रसङ्गात् दृष्टान्तोऽनर्थक एव स्यात् । विषयव्याप्यत्वात्
 च हेतु समर्थयन् कथं प्रतिज्ञां प्रतिक्षिपेत् ? । तस्याभानमिधाने क्व हेतु साध्य वा 10
 वर्तते ? । गम्यमाने प्रतिज्ञाविषय एवेति चेत्; तर्हि गम्यमानस्यैव हेतोरपि समर्थनं
 स्यात् तूक्तस्य । अथ गम्यमानस्यापि हेतोर्मन्दमतिप्रतिषेधपर्यर्थं वचनम्; तथा प्रतिज्ञा-
 वचने कोऽपरितोषः ? ।

§ १०७ यथेदमसाधनाङ्गमित्यस्य व्याख्यानान्तरम्—साधर्म्येण हेतोवचने वैधर्म्यं
 वचनम्, वैधर्म्येण च प्रयोगे साधर्म्यवचनं गम्यमानत्वात् पुनरुक्तमतो न साधनाङ्गम्; 15
 इत्यप्यसाम्प्रतम्, यतः सम्यक्साधनसामर्थ्येन स्वपक्ष साधयतो वादिनो निग्रहः
 स्यात्, असाधयतो वा ? । प्रथमपक्षे न साध्यसिद्धप्रतिषेधवचनाधिक्योपालम्भमात्रे
 णास्य निग्रहः, अविरोधात् । नन्वेव नाटकप्रदियोपणतोऽप्यस्य निग्रहो न स्यात्; सत्य
 मेतत्, स्वसाध्य प्रसाध्य नृत्यतोऽपि दोषाभाषास्योक्तवत्, अन्यथा ताम्बूलमक्षण-
 ष्ट्येषुप-स्नादकृत-इस्तास्फालनादिभ्योऽपि सत्यसाधनवादिनोऽपि निग्रहः स्यात् । अथ 20
 स्वपक्षमप्रसाधयतोऽस्य ततो निग्रहः; नन्वत्रापि किं प्रतिवादिना स्वपक्षे साधिते
 वादिनो वचनाधिक्योपालम्भो निग्रहो लभ्येत, असाधिते वा ? । प्रथमपक्षे स्वपक्षसिद्धि-
 वास्य निग्रहाद्वचनाधिक्योद्भावनमनर्थकम्, तस्मिन् सत्यपि पक्षसिद्धिमन्तरेण जया-
 योगात् । द्वितीयपक्षे तु युगपद्वादिप्रतिवादिनोः पराजयप्रसङ्गो जयप्रसङ्गो वा स्यात्,
 स्वपक्षसिद्धेरमाषाभिधेपात् । 25

§ १०८ ननु न स्वपक्षसिद्धिसिद्धिनिषेधनौ जयपराजयौ, तयोर्ज्ञानाज्ञाननिषेधन
 त्वात् । साधनवादिना हि साधुमाधनं ज्ञात्वा वक्तव्यम्, दूषणवादिना च दूषणम् । तत्र
 साधर्म्यवचनाद्वैधर्म्यवचनाद्वाऽर्थस्य प्रतिपत्तौ तदुभयवचने वादिनः प्रतिवादिना समा-
 यामसाधनाङ्गवचनस्योद्भावनत्वात् साधुसाधनाज्ञानमिद्रे पराजयः । प्रतिपादिनस्तु तद्
 पणज्ञाननिर्णयाजयः स्यात्; इत्यप्यत्रिचरितरमणीयम्, यतः स प्रतिवादी सत्साधन 30
 वादिनः साधनाममवादिनो वा वचनाधिक्यदोषोद्भावनयेत् ? । तत्राप्यप्ये वादिनः कथं
 साधुमाधनाज्ञानम्, तद्वचनेयत्वाज्ञानस्यैवामावात् ? । द्वितीयपक्षे तु न प्रतिवादिनो
 दूषणज्ञानमयतिष्ठन् साधनाममस्यानुद्भावनत्वात् । तद्वचनाधिक्यदोषस्य ज्ञानात् दूषणज्ञो

ज्याविति चेत्; साधनामासाधानावदूषणशोऽपीति नैकान्ततो घादिन जयेत्, तददोषो
 ज्ञावनलक्षणस्य पराजयस्यापि निवारकितुमशक्तः । अथ वचनाधिक्यदोषोऽज्ञावनादेव
 प्रतिवादिनो जयसिद्धौ साधनामासोऽज्ञावनमनर्थकम्; नन्वेवं साधनामासानुज्ञावना-
 तस्य पराजयसिद्धौ वचनाधिक्योऽज्ञावन कथं जयाय प्रकल्पेत ? । अथ वचनाधिक्य
 5 साधनामास योऽज्ञावतः प्रतिवादिनो जयः; कथमेव साधर्म्यवचने वैधर्म्यवचनं
 वैधर्म्यवचने वा साधर्म्यवचनं पराजयाय प्रभवेत् ? । कथं चैव वादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रति
 पक्षपरिग्रहवैयर्थ्यं न स्यात्, कश्चिदेकत्रापि पक्षे साधनसामर्थ्यज्ञानाज्ञानयोः सम्भवात् ?
 न खलु शब्दादौ नित्यत्वस्यानित्यत्वस्य वा परीक्षापानेकस्य साधनसामर्थ्ये ज्ञानमन्यस्य
 चाज्ञानं जयस्य पराजयस्य वा निबन्धनं न भवति । युगपत्साधनासामर्थ्यज्ञाने च
 10 वादिप्रतिवादिनोः कस्य जयः पराजयो वा स्याद्विशेषात् ? । न कस्यचिदिति चेत्; तर्हि
 साधनवादिनो वचनाधिक्यकारिणः साधनसामर्थ्यज्ञानसिद्धेः प्रतिवादिनश्च वचना-
 विक्यदोषोऽज्ञावनाचक्षोपमोऽज्ञानसिद्धेर्न कस्यचिजयः पराजयो वा स्यात् । नहि यो
 यदोषं वेत्ति स तदगुणमपि, कुतश्चिन्मारणशक्तौ वेदनेऽपि विपद्भ्यस्य कृष्टापनपन
 शक्तौ संवेदानुदधात् । एव तत्सामर्थ्यज्ञानाज्ञाननिबन्धनौ जयपराजयौ भ्यवस्थाप-
 15 यितुं शक्यौ, यथोक्तदोषानुपपन्नात् । स्वपक्षसिद्धयसिद्धिनिबन्धनौ तु तौ निरवधौ पक्ष
 प्रतिपक्षपरिग्रहवैयर्थ्याभावात् । कस्यचिद् कुतश्चि स्वपक्षसिद्धौ युनिभितायां परस्य
 तत्सिद्धयभावतः सकृजयपराजयप्रसङ्गात् ।

§ १०९ यथेदमदोषोऽज्ञावनमित्यस्य व्याख्यानम्—प्रसन्नप्रतिपक्षे दोषोऽज्ञावनाभाव
 मात्रम्—अदोषोऽज्ञावनम्, पर्युदासे तु दोषाभासानामन्यदोषाणां चोऽज्ञावनं प्रतिवादिनो निग्रह
 20 स्थानमिति—एत् वादिनाऽदोषवति साधने प्रयुक्ते सत्यनुमतमेव यदि वादी स्वपक्षं साध
 नेऽन्यथा । वचनाधिक्य तु दोषः प्रागेव प्रतिविहितः । यथैव हि पञ्चावयवप्रयोगे
 वचनाधिक्यं निग्रहस्वानं तथा भ्यवयवप्रयोगे न्यूनतापि स्याद्विशेषाभावात् । प्रतिज्ञा
 दीनि हि पञ्चाप्यनुमानाङ्गम्—“मतिज्ञाहेतुदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः”
 [श्याम १११] इत्यभिधानात् । तेषां मध्येऽन्यतमस्याप्यनभिधाने न्यूनतास्यो दोषो
 25 अनुपन्यत एव “हीनमन्यतमेमापि म्युमम्” [श्याम ५.२.१२] इति वचनात् ।
 ततो जयेतरभ्यवस्थायां नान्यभिमिधमुक्ताभिमिधौचित्यल प्रसङ्गान् ॥ ३५ ॥

§ ११ अथ च प्रागुक्तमतुरहो वादाः कदाचित्प्रालम्बनमप्यपेक्षतेऽतस्तल्लम्बन-
 मत्रावदयामिषातव्यं यतो नाविज्ञातस्वरूपस्यास्यालम्बनं जयाय प्रभवति न चावि
 ज्ञातस्वरूपं परपत्रं मेतुं शक्यमित्यादि—

१ नैकान्ततो जयेत् - के । २ - भाषं योऽज्ञा - के । ३ जयति कथम् - के ।
 ४ - स्व निव - ता । ५ - मात्रे इ - ता । ६ विषय - ता । ७ - यिक्ते विधि - के । ८ - कर्त्त
 नयानि - के । ९ - मानं प्र - के । १० पक्षो भी पक्ष मप्रकम् म महाधीः ॥ ७ ॥ भी ॥ - ता ।
 -- मीमाणा । इत्याचार्ययो ५ भीहेमचन्द्रविरचिताया प्रमायमीमाणावास्तदुपरोच शितीवस्वाभावस्य प्रवयादिर्
 समाहम् ॥ भी ० संन १ ० यं यार्थोपमाते ज्ञानवृत्तीनामी पुनश्चिती विभावेरी भीजवद्विहप्रपत्तमनी
 पुस्तके विधितमिर् ॥ ७ ० सुमे मवतु ० भीम्भावनस्तु ० ॥ भी ० २ ० ७ ० ७ ० ० - के ।

प्रमाणमीमांसायाः
॥ भाषाटिप्पणानि ॥

॥ भाषाटिप्पणानि ॥

हेमी प्रमाणमीमांसा विशयतेज्य टिप्पणै ।
एतिष्ठ-तुलनास्पृग्मी राष्ट्रभाषापजीविमि ॥

पृ० १ पं० २ 'वायिने'-तुलना-"प्रबन्ध शास्त्रे सुगवाय वायिने"-प्रमाण १ १
"वायिनामिति स्वाभिगपमार्गदेशकानाम् । यदुक्तम्-'वाय स्वदृष्टमार्गोक्तिः' (प्रमाण २
१२५) इति तत् विद्यते वेपामिति । अथवा वाय संवतानाय ।"-बोधिका पृ ७३ 5

पृ० १ पं० ६ 'पाणिनि'-पाणिनि का सूत्रात्मक अष्टाध्यायी शब्दानुशासन प्रसिद्ध
है । पिङ्गल का छन्दशास्त्र प्रसिद्ध है । कणाद भीर अष्टपाद क्रम में दशाध्यायी वैशेषिक
सूत्र भीर पञ्चाध्यायी न्यायसूत्र का प्रयोवा है ।

पृ० १ पं० ७ 'वाचकमुत्सव'-उमास्वाति भीर उनके वरवार्यसूत्र के बारे में देखो
मेरा सिका गुजराती वरवार्यविबचन का परिचय । 10

पृ० १ पं० ११ 'अकखड्ड'-अकखड्ड से प्रसिद्ध विगम्बराचार्य हैं । इनका प्रमाण
संग्रह, न्यायविनिरचय, सिद्धिपिनिरचय क्षुधोयक्षर्या आदि जैनन्यायविषयक अनेक प्रकरणा
ग्रन्थ हैं । इनका समय इसकीय अष्टम शताब्दी है ।

पृ० १ पं० ११ 'धर्मकीर्ति'-धर्मकीर्ति (ई प १२५) बौद्ध चार्किट्ट है । इनके
प्रमाणवार्थिक, हेतुबिन्दु, न्यायबिन्दु, वादन्याय आदि प्रकरणाग्रन्थ हैं । 15

पृ० १ पं० १२ 'नास्य स्वच्छा'-तुलना-'बधन राजकीय वा वैदिक वापि विद्यते ।'
रत्नोक्ता पृ ४ श्लो २१५ ।

पृ० १ पं० १४ 'षण्णसमूहा'-तुलना- शास्त्र पुन प्रमाणादिवाचकपदसमूहो व्युद
विशितः पदं पुनर्वर्णसमूहः, पदसमूह सूत्रम्, सूत्रसमूह प्रकरणाग्रम्, प्रकरणाग्रसमूह आदिग्रम्,
आदिग्रसमूहाऽध्यायः, पञ्चाध्यायी शास्त्रम् ।"-न्यायवा पृ १ 20

पृ० १ पं० १७ 'अय प्रमाण'-भारतीय शास्त्र-रचना में यह प्रमाणी बहुत पदिष्टे
स पनी आती है-कि सूत्ररचना में पदिष्टा सूत्र एसा बनाया जाय जिनमें ग्रन्थ का

विषय सूचित हो धीर जिसमें प्रन्ध का नामकरण भी आ जाय । जैसे पाठ्यक्रम योगशास्त्र का प्रथम सूत्र है 'अथ योगानुशासनम्', जैसे अकलंक न 'प्रमादसंग्रह' प्रन्ध के प्रारम्भ में 'प्रमाद्ये इति संग्रह' दिया है, जैसे विद्यानन्द ने 'अथ प्रमादपरीक्षा' इस वाक्य से ही 'प्रमादपरीक्षा' का प्रारम्भ किया है । भा० हेमचन्द्र ने वही प्रमादो की अनुसरण करके यह सूत्र रचा है ।

'अथ' शब्द में शास्त्रप्रारम्भ करने की परम्परा प्राचीन धीर विविध विषयक शास्त्र-गामिनी है । जैसे "अथातो दर्शपूर्वमासौ व्याख्यास्यामः" (भाषा भी ५ १ १ १), 'अथ शब्दानुशासनम्' (पाठ मता), 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (अर्थ ५ १ १ १) इत्यादि । भा० हेमचन्द्र न अपने व्याख्यानुशासन, छन्दोनुशासन की तरह इस प्रन्ध में भी वही परम्परा रखी है ।

५० १ पं० १८ 'अथ-इत्यस्य'—अथ शब्द का 'अधिकार' अर्थ प्राचीन समय से ही प्रसिद्ध है धीर उसे प्रसिद्ध भाषाओं में लिया भी है जैसा कि हम व्याकरणशास्त्र के प्रारम्भ में "अथेतरस्य शब्दोऽधिकारार्थः" (१ १ १ ५ १) तथा योगसूत्रभाष्य में (१ १) पाठ है । इसके सिवाय उसका 'आन्तर्य' अर्थ भी प्रसिद्ध है जैसा कि शबर ने अपने मीमांसाभाष्य^१ में लिया है । शङ्कराचार्य^२ ने 'आन्तर्य' अर्थ तो लिया पर 'अधिकार' अर्थ को असङ्गत् समझकर स्वीकृत नहीं किया । शङ्कराचार्य को अथ शब्द का 'मङ्गल' अर्थ लेना इष्ट था पर एक साथ हीने धीर स दो अर्थ लेना शास्त्रीय युक्ति क विरुद्ध होने से उन्होंने आन्तर्यार्थक 'अथ' शब्द क अर्थ को ही मङ्गल मानकर 'मङ्गल' अर्थ लिखे बिना ही, 'मङ्गल' का प्रयोजन सिद्ध किया है । योगशास्त्र के धीर शाङ्करभाष्य के प्रसिद्ध टीकाकार वाचस्पति^३ ने तत्त्ववैशारदी धीर भाष्यी में शङ्करोक्त 'अथ'शब्दश्रुति की मङ्गलप्रयोग-व्यवस्था — मृदङ्ग शङ्ख आदि ध्वनि के मांगलिक मयक की उपमा के द्वारा — पुष्ट की है धीर साथ ही शङ्खादि ध्वन्य प्रयोगजन के बाले साथे जानेवाले पूर्ण मङ्गलकर्म के मांगलिक दर्शन की उपमा लेकर एक अर्थ में प्रयुक्त 'अथ' शब्द का अर्थान्तर बिना किये ही उसका अर्थ की मांगलिकता दर्शाई है ।

१ 'तत्र लोकेऽन्यत्राद्यो वृत्तादन्तर्य प्रक्रियायो इत्य'—शाबरसा० १ १ १

२ वशाशब्दः आन्तर्यार्थः परिपन्नते नाधिकारार्थः इत्यभिज्ञानवा अनधिकारत्वात् मङ्गलस्य च शास्त्रार्थे समन्वयमाभावात् । अथात्पर्युक्त एव अथशब्दः भूत्वा मङ्गलमप्राप्तो भवति"—प्र० शाङ्करसा १ १ १

३ अधिकारार्थस्य चाथशब्दस्याप्याथ नीवमानतदुन्मरशनिव अथस्य मङ्गलावात्कल्पत इति मन्तव्यम्"—तत्त्ववै० १ १ न च तद मङ्गलमथशब्दस्य वाच्यं वा लक्ष्यं वा, किन्तु मृदङ्गशङ्खनिबद्ध मङ्गलमथशब्दमात्रमात्रम् । तथा च 'अथोऽथवाथशब्दश्च हाथेते इत्यत्र' पुष्ट । कर्षट मित्वा विनिवर्ती दरमागमाद्विनिवर्तयै इ अर्थान्तरेऽप्यान्तर्यपरिपु प्रयुक्तोऽथशब्दः भूत्वा अथशब्दस्य केतुषीचाप्यनि क्यमदृशं बुधन्, मङ्गलप्रयोगेनो भवति अर्थान्तरेऽप्यान्तर्यपरिपु — मामती १ १ १

भा० इमचन्द्र ने उपर्युक्त सभी परम्पराओं का उपयोग करके अपनी व्याख्या में 'अथ' शब्द का अधिकारार्थक, आनन्दव्यार्थक और मंगलप्रयोजनवाला बतलाया है। उनकी अपेक्षा भी शब्दशः बड़ा है जो वाचस्पति के कुछ ग्रन्थों में है।

पृ० २ पं० ३ 'आयुष्म'-जुमना—“मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथम्ये वीरपुरुषाणि च भवन्ति, आयुष्मत्पुरुषाणि चाभ्येवाररत्न सिद्धार्था यथा सुरिति”—वात महा १११

पृ० २ पं० ४ 'परमष्टि'—जैन परम्परा में अर्हत्, भिक्षु, आचार्य, उपाध्याय आदि आधु ऐसे आत्मा के पाँच विभाग श्लोकांतर विकास के अनुसार किये गये हैं, जो पंचपरमणो कहलाते हैं। इनका नमस्कार परम मंगल समझा जाता है—

“एष पञ्चनमस्कार सर्वपापक्षयकुर” ।

मङ्गलानां च सर्वेषां प्रथमं भवति मङ्गलम् ॥”

पृ० २ पं० ५ 'मकर्षेण'—वात्स्यायन ने अपने व्याख्यान में (११३) 'प्रमाद्य' शब्द को करधार्यक मानकर इसकी निरुक्ति के द्वारा 'प्रमाद्य' का लक्ष्य सूचित किया है। वाचस्पति मित्र ने भी सार्वभारिकी की (तन्त्रको का ४) अपनी व्याख्या में 'प्रमाद्य' का लक्ष्य करने में इसी निर्बचनपद्धति का प्रयोजन किया है। भा० इमचन्द्र भी 'प्रमाद्य' शब्द की उसी तरह निरुक्ति करते हैं। एसी ही निरुक्ति शब्दशः 'परीक्षासूत्र' की व्याख्या प्रथमपरत्नमाला (११) में देखी जाती है।

पृ० २ पं० ६ 'प्रयीहि'—उपलब्ध ग्रन्थों में मय से पहिले वात्स्यायनभाष्य में ही शास्त्रप्रवृत्ति के त्रैविध्य का वर्णन है और तीनों विधाओं का स्वरूप भी बतलाया है। श्रीपर ने अपनी कदली^१ में उस प्राचीन त्रैविध्य के कथन का प्रतिवाद करके शास्त्रप्रवृत्ति का बहुश्लक्ष्यरूप में द्विविध व्यापित किया है और परीक्षा का अनियत कहकर उसे त्रैविध्य में म कम किया है। श्रीपर ने नियतरूप से द्विविध शास्त्रप्रवृत्ति का और वात्स्यायन ने त्रिविध शास्त्रप्रवृत्ति का कथन किया इसका सबब स्पष्ट है। श्रीपर कणादसूत्रों में प्रशस्तपान्थाभ्याम्

१ 'त्रिविधा वास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः—उद्देशः लक्ष्यं परीक्षा चति । तत्र नामधेयन पदाध्याय रथाभिधानं उद्देशः । तत्रप्रवृत्तस्य तत्त्वव्यवच्छेदको यमो लक्ष्यम् । तद्विनश्य क्वालकालमुपगतं न वेति प्रमाणीरववाच्यं परीक्षा'—व्याख्यान० ११२

२ “अनुद्विष्टेषु पदार्थेषु न तथा लक्ष्यानि प्रथम्य निवृत्तित्वात् । अतद्विद्येतेषु च तत्त्वप्रतीत्य भाषा कारणाभावात् । अतः पदाध्यायान्तरात् प्रवृत्तस्य शास्त्रप्रथमपदा प्रवृत्तिः—उद्देशो लक्ष्यं च परीक्षा वास्तु न नियमः । यत्राभिहिते लक्ष्ये प्रवृत्तान्तरात्प्राप्तत्वात् तद्विनिरवया न भवति तत्र पदध्यायुरात्माय परीक्षाविधिरितिपठ्यते । यत्र तु लक्ष्याभिधानात्प्रतीत्येव तद्विनिरवयव स्यात् तथापि व्यर्था नाप्यन्ते । याद्वि हि त्रिविधा शास्त्रस्य प्रवृत्तिरिति तद्वानि प्रयोगान्तरानि नास्ति परीक्षा । तद् इत्येव हेतुलक्ष्यमात्रादेव नै प्रतीयन्ते इति । यत्र चैतद्व्यवच्छेदेषु शास्त्रस्य प्रवृत्तिरिति विधेयं । नामधेयन पदाध्यायमपि यान्तरात् । उद्देशश्च स्वरत्नमालावत्तथा यथा लक्ष्यम् । तद्विनश्य यथा लक्ष्यं विचारः परीक्षा” — कदली पृ० २१.

कं व्याख्याकार है। यह मान्य तथा उसके आधारमूल सूत्र, पदार्थों के उद्देश्य पर लक्ष्यसात्मक है। उनमें परीक्षा का कहीं भी स्थान नहीं है जब कि वास्तव्यायन के व्याख्येय मूल न्यायसूत्र ही स्वयं उद्देश्य, लक्ष्य और परीक्षाक्रम में प्रवृत्त है। त्रिविध प्रवृत्तिवाले शास्त्रों में तर्कप्रधान लण्डन-मण्डन प्रख्याली धारण्य हावी है—जैसे न्यायसूत्र इसका माध्यम आदि में। त्रिविध प्रवृत्तिवाले शास्त्रों में बुद्धिप्रधान रथापनप्रख्याली मुख्यतया होती है जैसे कथादसूत्र प्रशस्तपादभाष्य, तत्त्वार्थसूत्र, इसका माध्यम आदि। कुछ ग्रन्थ ऐसे भी हैं जो कबल उद्देश्यमात्र हैं जैसे जैनागम स्थानांग धर्मसंग्रह आदि। अज्ञाप्रधान होने से उन्हें मात्र धारणायोग्य समझना चाहिये।

भा० हेमचन्द्र ने वास्तव्यायन का ही पदानुगमन कृतीव-कृतीव उन्हीं के शब्दों में किया है।

शास्त्रप्रवृत्ति के चतुर्थ प्रकार विभाग का प्रश्न उठाकर अन्ध में उद्योतकर ने न्याय बार्तिक में और अच्युत ने न्यायमञ्जरी में विभाग का समावेश उद्देश्य में ही किया है। और त्रिविध प्रवृत्ति का हा पक्ष गिहर किया है। भा० हेमचन्द्र ने भी विभाग के बारे में बड़ी प्रश्न उठाया है और समाधान भी बही किया है।

पृ० २. पं० ७ 'उद्दिष्टस्य'—'लक्ष्य' का लक्ष्य करत समय भा हेमचन्द्र ने 'असा धारण्यधर्म' शब्द का प्रयोग किया है। उसका स्पष्टीकरण नभ्यन्यायप्रधान तर्कसंग्रह की टीका दीपिका में इस प्रकार है—

“एतद्वृत्तप्रवृत्त (अध्याप्यवतिव्याप्यसंभव) उद्दिष्टो धर्मो लक्ष्यम् । तथा गो सास्ताविसर्वम् । न एवाऽसाधारण्यधर्म इत्युच्यते । लक्ष्यतावच्छेदकसमनिपतरत्नमसा धारण्यधर्मः पृ १२ ।

पृ० २ पं० १२ 'पूजितविचार'—वाचस्पति मित्र ने 'मीमांसा' शब्द को पूजित-विचारवाचक कहकर विचार की पूजितता स्पष्ट करने को भागती में लिखा है कि—जिस विचार का फल परम पुरुषार्थ का कारणमूल सूक्ष्मतम धर्मनिर्णय हा बही विचार पूजित है। भा हेमचन्द्र ने वाचस्पति के उसी भाव को विलुप्त शब्दों में पञ्चवित करके अपनी 'मीमांसा' शब्द की व्याख्या में उतारा है और उसके द्वारा प्रमाद्यमीमांसा' ग्रन्थ के समय मुख्य प्रतिपाद्य विषय का सूचित किया है और यह भी कहा है कि—'प्रमाद्यमीमांसा' ग्रन्थ का उद्देश्य कबल प्रमाद्यों की रथा करना नहीं है किन्तु प्रमाद्य तय और मीमांसा नभ्य-मीमांसा इत्यादि परमपुरुषार्थोपयोगी विषयों की भी रथा करना है।

१ त्रिविध वास्तव शास्त्रस्य प्रवृत्तिरित्युक्तम्, उद्दिष्टविभागस्य न त्रिविधावा शास्त्रप्रवृत्तान्ध-मरतीति । तस्माद्बुद्धिप्रविभागा मुक्तः न; उद्दिष्टविभागस्योद्देश्य एव प्रारम्भप्रकारः । अन्धत्वनामा स्थानः । समानं लक्ष्य नामकेन पदार्थानिश्चयनपुर ए इति ।—न्यायशा० १ १ ३ न्यायम० पृ १२-१३
२ “पूजितविचारवचना मीमांसातत्त्वः । परमपुरुषार्थोद्देश्यस्यैव परमधर्मनिर्णयकतया च विचारस्य पूजितता”—आमती पृ० २७

पृ० २ पं० २० 'सम्यगर्थ'—प्रमाणसामान्यलक्षण की तार्किक परम्परा के षष्ठस्य इतिहास में कशाद का स्थान प्रथम है। उन्होंने "अनुष्टं विद्या" (१२ १२) कहकर प्रमाणसामान्य का लक्षण कारखयुद्धिमूलक सूचित किया है। अक्षपाद के सूत्रों में लक्षणरूप में प्रमाणसामान्यलक्षण के अभाव की त्रुटि का वास्त्यायन^१ ने 'प्रमाद्य' शब्द के निर्बचन द्वारा पूरा किया। उक्त निर्बचन में उन्होंने कशाद की तरह कारखयुद्धि की वरफ ध्यान नहीं रखकर पर मात्र षष्ठस्यिधिरूप फल की ओर नजर रखकर "उपलम्बिहेतुत्वं" को प्रमाणसामान्य का लक्षण बतलाया है। वास्त्यायन के इस निर्बचनमूलक लक्षण में धानेबाह्ये दोषों का परिहार करते हुए वाचस्पति मिश्र^२ ने 'अद्य' पद का सम्बन्ध जोड़कर और 'अपनधि' पद को ज्ञानसामान्यबोधक नहीं पर प्रमाद्यरूपज्ञानविशेषबोधक मानकर प्रमाणसामान्य के लक्षण को परिपूख बनाया, जिस उदयनाचार्य^३ ने कुसुमाञ्जलि में 'गीतम मयसम्मत' कहकर अपनी भाषा में परिपूर्ण रूप स मान्य रखता जो पिछले सभी न्याय वैशेषिक शास्त्रों में समानरूप स साम्य है। इस न्याय-वैशेषिक की परम्परा क अनुसार प्रमाणसामान्यलक्षण में मुख्यतया तीन बात ध्यान देने योग्य हैं—

१—कारखदोष के निवारण द्वारा कारखयुद्धि की सूचना ।

२—विषयबोधक अर्थ पद का लक्षण में प्रवेश ।

३—लक्षण में स्व-परप्रकाशत्व की चर्चा का अभाव तथा विषय की अपूर्वता—अनधिगतता के निर्देश का अभाव ।

यद्यपि प्रमाकर^४ और उनके अनुगामी मीमांसक विद्वानों ने 'अनुमृति' मात्र को ही प्रमाद्यरूप स निर्दिष्ट किया है तथापि कुमारिल एवं उनकी परम्परावाले अन्य मीमांसकों ने न्याय-वैशेषिक तथा बौद्ध दोनों परम्पराओं का समाहक एसा प्रमाद्य का लक्षण रचा^५ है, जिसमें 'अनुष्टकारखारम्भ' विशेषण स कशादकथित कारखदोष का निवारण सूचित किया और 'निर्बाधत्व' तथा 'अपूर्वाधत्व' विशेषण के द्वारा बौद्ध^६ परम्परा का भी समावेश किया ।

१ 'उपलम्बिजापनानि प्रमाद्यानि इति समाख्यानिर्बचनसाम्प्रदायत् बोद्धव्यं प्रमीयते मनेन इति चर्यापामिधाना हि प्रमाद्यशब्दः—न्यायमा० १ १ ३.

२ 'उपलम्बिमात्रस्य अद्याम्बिधिरस्य स्मृतस्यैव प्रमाद्यश्चेन अमिधानात्"—तात्पर्य० पृ० २१.

३ "अद्यायानुमते मानमनपेक्षतेत्यपते ॥ मिथिः सम्बन्ध परिच्छिद्यति तद्वत्ता च प्रमाद्यता । तद्वैतान्यवच्छेदः प्रामाद्येन गीतम मते ॥"—न्यायकु० ५ १ ५.

४ 'अनुमृतिरय नः प्रमाद्यम्"—शुद्धनी १ १ ५.

५ "श्रीलक्ष्मिणियेन वेण कारखरत्वं निवारणे । अवाचोऽप्यतिरेकेण स्वतन्त्रेण प्रमाद्यता ॥ यथा स्वातन्त्र्यस्यै प्रामाद्येन सूचितिरन्या ॥—सूत्रोक्त्या० औत्प० सू० १० ११ "एतच्च विशेषयत्तत्र युगावदानेन स्वकारेश कारखदोषबाधकजनरहितम् अद्यलक्ष्यमि ज्ञान प्रमाद्यम् इति प्रमाद्यलक्षणं सूचितम्"—शास्त्रदी० पृ० १२३. 'अनधिगतार्थगत्व प्रमाद्यम् इति मञ्जुमीमांसका आहुः"—सि० चन्द्रो० पृ० २०.

६ "अज्ञातार्थज्ञापक प्रमाद्यम् इति प्रमाद्यसामान्यलक्षणम् ।"—प्रमाणस० टी० पृ० ११.

“तथापूर्वायविज्ञानं निश्चितं चापवर्जितम् ।
अदुष्टकारणारम्भं प्रमाणं लोकसम्मतम् ॥”

यह श्लोक कुमारिष्ठकर्तृक माना जाता है । इसमें दो बातें ज्ञास ध्याय देने की हैं—
१-लक्ष्य में अनभिगतबोधक ‘अपूर्व’ पद का अर्थविशेषरूप से प्रवेश ।

२-स्व-परप्रकाशत्व की सूचना का प्रमाण ।

बौद्ध परम्परा में ‘दिङ्माग’ ने प्रमाद्यसामान्य के लक्ष्य में ‘स्वसंविधि’ पद का फल के विशेषरूप से निवेश किया है । धर्मकीर्ति^२ के प्रमाद्यवार्तिकवाले लक्ष्य में वास्तव्यत के ‘प्रवृत्तिधामर्भ’ का सूचक तथा कुमारिष्ठ आदि के निर्वातत्व का पर्याय ‘अविसंवादि’ विशेषण देखा जाता है और इनके स्वावबिन्दुवाले लक्ष्य में दिङ्माग के अर्थसारूप्य का ही निर्देश है (न्यायि १ २) । शान्तरचित्त के लक्ष्य में दिङ्माग और धर्मकीर्ति दोनों के भाष्य का संग्रह देखा जाता है—

“विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते ।

स्वविधिषा प्रमाणं तु सारूप्य योग्यतापि वा ॥”-तत्त्व अ ११४

इसमें भी दो बातें ज्ञास ध्याय देने की हैं—

१-अभी तक अर्थ परम्पराओं में स्वान नहीं प्राप्त ‘स्वसंवेदनविचार का प्रवेश और तद्वृत्ता ज्ञानसामान्य में स्व-परप्रकाशत्व की सूचना ।

असतु और असुबन्धु ने विज्ञानवाद स्थापित किया । पर दिङ्माग ने उसका समर्थन बड़े जोरों से किया । इस विज्ञानवाद की स्थापना और समर्थनपद्धति में ही स्वसंवेदितत्व या स्वप्रकाशत्व का सिद्धान्त स्पष्टतर हुआ जिसका एक या दूसरे रूप में अर्थ दार्शनिकों पर
२० की प्रमाण पड़ा—बेसो Buddhist Logic I I P 12

२-मीर्मासक की तरह स्पष्ट रूप से ‘अनभियवार्थक ज्ञान का ही प्रमाण्य ।

शंभाम्बर विगम्बर बोधो जैन परम्पराओं के प्रथम दार्शनिक सिद्धसैन और समन्वयत्र ने अपने-अपने लक्ष्य में स्व-परप्रकाशार्थक स्व-परावभासक विशेषण का समाग रूप से निवेश किया है । सिद्धसैन के लक्ष्य में ‘आवविबर्जित’ पद उसी अर्थ में है जिस अर्थ में मीर्मासक
२६ का ‘वाक्यवर्जित’ या धर्मकीर्ति का ‘अविसंवादि’ पद है । जैन ध्याय के प्रत्यापक अर्थार्थक

१ ‘स्वसंविधिः फलं चात्र तद्वृत्तावर्धनिरन्वव । विषयाधर एवास्व प्रमाणं तेन मीरते ॥”-प्रमाद्यसं० १ १०

२ प्रमाद्यमवित्तवादि ज्ञानमवकियास्थिति । अवित्तवादनं शान्तेष्वभिप्रायनिवेदनात् ॥ प्रमाद्यवा २ १

३ “प्रमाद्य स्वपराम्यति ज्ञानं वाचविबर्जितम् ॥”-न्याया १ ‘तत्त्वज्ञानं प्रमाद्यं ते युक्ततर्कमनम् ॥”-आत्मी० १०१ “स्वपराम्यतकं च वा प्रमाद्यं युधि बुद्धिलक्ष्यम्”-पृ० स्वर्ण ३३

४ “प्रमाद्यमवित्तवादि ज्ञानम् अनभिगतावाभिगमलक्ष्यत्वात् ॥”-अद्यत० अद्यत ५० १७२ तदुक्तम्—“विदं च यदपेक्षं विद्वै स्वपरकयोः । तत् प्रमाद्यं ततो मान्दविकल्पमवेतनम् ॥” न्यायविदी० सि० ५० ३०. उक्त कारण विद्विनिन्वव की है जो अर्थार्थक की ही कृति है ।

ने कहीं 'अनभिगतार्थक' और 'अभिसंवादि' दोनों विशेषणों का प्रवेश किया और कहीं 'स्वपरावभासक' विशेषण का भी समर्पण किया है । अकलंक के अनुगामी माणिक्यनन्दी ने एक ही वाक्य में 'त्व' तथा 'अपूर्वार्थ' पद दाक्षिण्य करके सिद्धसेन-समन्वय का स्थापित और अकलंक के द्वारा विकसित जैन परम्परा का संग्रह कर दिया । विद्यानन्द ने अकलंक तथा माणिक्यनन्दी की उस परंपरा से अलग होकर केवल सिद्धसेन और समन्वय की व्याख्या का अपने 'स्वार्थव्यवसायात्मक' जैसे शब्द में संगृहीत किया और 'अनभिगत' या 'अपूर्व' पद जो अकलंक और माणिक्यनन्दी की व्याख्या में हैं, उन्हें छोड़ दिया । विद्यानन्द का 'व्यवसायात्मक' पद जैन परम्परा के प्रमाणाच्छब्द में प्रथम ही देला जाता है पर वह अक्षपाद के प्रत्याच्छब्द में तो पहिले ही स प्रसिद्ध रहा है । सम्प्रति के टोकाकार भ्रमयदेव ने विद्यानन्द का ही अनुसरण किया पर 'व्यवसाय' के स्थान में 'निर्वाण' पद रक्खा । बादी वेबसुरि ने तो विद्यानन्द को ही शब्दों को दोहराया है । भा० इमचन्द्र ने उपर्युक्त जैन-जैनेतर मित्र मित्र परंपराओं का औचित्य अनीचित्य विचार कर अपने लच्छ में केवल 'सम्यक्', 'अर्थ' और 'निर्वय' ये तीन पद रक्खे । उपर्युक्त जैन परंपराओं को एकत्र हुए यह कहना पड़ता है कि भा० हेमचन्द्र ने अपने लच्छ में काट-छाँट के द्वारा संशोधन किया है । उन्होंने 'त्व' पद जो पूर्ववर्ती सभी जैमाचार्यों ने लच्छ में सन्निविष्ट किया था, निकाल दिया । 'अवभास', 'व्यवसाय' आदि पदों को स्थान न देकर भ्रमयदेव के 'निर्वाण' पद के स्थान में 'निर्वय' पद दाक्षिण्य किया और उमास्वादि धर्मकीर्ति तथा भासबंद्य के सम्यक् पद को अपनाकर अपना 'अर्थनिर्वय' लच्छ निर्मित किया है ।

आर्थिक तार्क्य में कोई खाम मजबूत न होना पर भी सभी दिगम्बर-उपेताम्बर भाषाया के प्रमाणाच्छब्द में शब्दिक भेद है जो किसी अंग में विचारविकास का सूचक और किसी अंग में तत्कालीन मित्र मित्र साहित्य के अभ्यास का परिचय दे । यह भेद संक्षेप में चार विभागों में समा जाता है । पहिले विभाग में 'स्व-परावभास' शब्दवाला सिद्धसेन-समन्वय का लच्छ आता है जो संभवतः बौद्ध विद्यानन्द के स्व परसेवन की विचार धारा से खाली नहीं है क्योंकि इमक पहिले भागम ग्रन्थों में यह विचार नहीं देला जाता । दूसरे विभाग में अकलंक-माणिक्यनन्दी का लच्छ आता है जिसमें 'अभिसंवादि', 'अनभिगत' और 'अपूर्व' शब्द आते हैं जो अस्विकार रूप से बौद्ध और मीमांसक ग्रन्थों को दी हैं । तीसरे

१ 'स्वपरावभासक' ज्ञान प्रमाणम् ।"-पृ० १ १

२ तत्स्वार्थव्यवसायात्मकान् मानयिष्येति । लच्छेन गवापरात् व्यवसायनिरोधम् ॥"-तत्त्वार्थ

सू० १ १० ७७ प्रमाणप० पृ० २३

३ 'इन्द्रिार्थविक्रमोत्थम् ज्ञानमपरिवेयमप्यनिवारि स्वार्थात्मकं प्रत्यम् ।"-न्याय सू० १ १४

४ "प्रमाणं स्वायनिर्वाणित्वमात्रं ज्ञानम् ।"-अम्मतिटी० पृ० ३१८

५ "स्वपरावभासि ज्ञान प्रमाणम् ।"-प्रमाणप० १ २

६ "अस्विकारज्ञानविरिणाभि भावभागाः । -तत्त्वार्थे १ १ "अस्विकारज्ञानविरिणा तत्रुत्थार्थ

विशिः ।"-न्यायदि १ १ तत्त्वानुभवतात्पर्यं प्रमाणम् ।"-न्यायसार पृ० १.

विभाग में विद्यानम्ब, अममदेव और देवसूरि के लक्षण का स्थान है जो वस्तुतः सिद्धसेन समन्वय के लक्षण का शब्दान्तर मात्र है पर जिसमें अममम के स्थान में 'अममसाव' का 'निर्वापि' पद रक्षकर विशेष अर्थ समाविष्ट किया है। अन्तिम विभाग में मात्र भा० हेमचन्द्र का लक्षण है जिसमें 'स्व', 'अपूर्व', 'अनभिगत' आदि सब उड़ाकर परिष्कार किया गया है।

पृ० २ पं० २१ 'प्रसिद्धानुवादेन'—लक्षण के प्रयोगन की विभिन्न वर्णियों के अन्तिम वाच्य में कोई भेद नहीं जान पड़ता तथापि उनके अंग जुड़े जुड़े और बोधप्रद हैं। एक और स्वाच-वैशेषिक शास्त्र है और दूसरी ओर बाह्य जैनशास्त्र हैं। सभी स्वाच-वैशेषिक ग्रन्थों में लक्षण का प्रयोगन 'इतरभेदज्ञापन' बतलाकर लक्षण को 'अतिरिक्तेषु' माना है और साथ ही 'अवधार' का भी प्रयोगक बतलाया है।

बौद्ध विद्वान् धर्मोत्तर में प्रसिद्ध का अनुवात् करके अप्रसिद्ध के विधाव को लक्षण का प्रयोगन विस्तार से प्रतिपादित किया है जिसका देवसूरि ने बड़े विस्तार तथा आटोप के साथ निरसन किया है। अकारक के का मुक्ताव व्यावृत्ति का प्रयोगन मानने की ओर है परन्तु भा० हेमचन्द्र ने धर्मोत्तर के कथन का आदर करके अप्रसिद्ध के विधान को लक्षणार्थ बतलाया है।

पृ० २ पं० २३ 'भयति हि'—हेमचन्द्र ने इस अगह आ 'लक्ष्य' को पक्ष बना कर 'लक्ष्य' सिद्ध करनेवाला 'हेतुप्रयोग' किया है वह बाह्य-जैन ग्रन्थों में एक सा है।

१ तत्रोपेक्ष्यत् तत्कर्मव्यवहारेण यथा लक्षणम्—स्वायमा० १ १ २ "लक्षणत्वं इतरव्यवधारहेतुत्वात्"—स्वायमा० १ १ ३ "लक्षणं नाम अतिरिक्तेषुवचनम्। तद्धि समानात्मानव्यतीपम्यो विनिय लक्ष्य व्यवस्थापयति"—तात्पर्य १ १ ३. "समानात्मानव्यतीपम्यव्यवहारे लक्षणम्"—स्वायमा० पृ ३३. "लक्षणत्वं व्यवहारमात्रसाध्यता समानात्मानव्यतीपम्यव्यवहारमात्रावस्थेन चास्याम्यव्यतिपादनात् मर्यात्"—कण्वसी० पृ० ८. "व्यावर्तकत्वेन लक्षणत्वे व्यावृत्ती अभिव्यक्तारी य अतिव्याप्तिवारणाय तत्रि प्रत्य वचनविशेषणं देवम्। व्यवहारस्यापि लक्षणप्रयोजनत्वे तु न देवम्, व्यावृत्तेऽपि व्यवहारतावन्त्वात्।"—दीपिका पृ० ३३. "व्यावृत्तिव्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्।"—तच्छरी० शंया पृ० ३३. "ननु लक्षणमिह अतिरिक्तमित्येतरैरुक्तं व्यवहारतावत् वा।"—श्री० उप० २ १ १.

२ तत्र प्रत्यक्षमन्य कल्पनापोदत्वमप्राप्तत्वं च विधीयत। वचनव्यवहारमात्रं चात्रैषु साक्षात् रिक्तान् प्रतिष्ठ तत्कल्पनापोदाप्राप्तत्वं इत्यम्यम्। न येतन्मन्त्रं कल्पनापोदाप्राप्तत्वं चेदप्रतिष्ठ किम म्यत् प्रत्यक्षत्वं ज्ञानत्वं रूपमवशिष्यते कल्पनापोदत्वमात्रं तदनुपपेति ?। वरमादिदिग्ब्रह्मत्वमपिरेकानुविषा म्येषु साक्षात्प्रतिष्ठान् प्रत्यक्षत्वमात्रं तत्रैषा तिष्ठं तदनुवादेन कल्पनापोदाप्राप्तत्वविधिः।" स्वायमि टी० १ ४ "अत्राह धर्मोत्तरः—लक्षणलक्षणमव्यवहारमात्रं लक्षणमन्य लक्षणमेव विधीयत। लक्ष्यं हि प्रसिद्ध भवति तदनुवाच्यम्, लक्षणं तु अप्रसिद्धमिति तद्विषेयम्। अत्राहवाच्यं विधिरित्यभिप्रेतम्। तिष्ठं तु लक्षणलक्षणमात्रं लक्षणमन्य लक्षणमेव विधीयत इति; तदेतदनुपपत्तम्; लक्षणलक्षणस्य प्रतिष्ठिर्न हि न तिष्ठति नुत्तरत्वात्प्रज्ञानत्वनिवृत्तयो विधिप्रतिष्ठः।" स्वयमा० पृ० २

३ "परतरम्यदिहरे तत्रि यनाम्बं लक्ष्यते तत्कल्पम्।" लक्षणार्थेण पृ० ८२

धीर 'विशेष' को 'पक्ष' बनाकर 'सामान्य' को 'हेतु' बनाने की युक्ति भी एक जैसी है ।

पृ० ३ पं० १ 'तत्र निर्णय'—शुक्लना—“विश्वस्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः”-

न्याय १ १ ४१ ।

पृ० ३ पं० ३ 'अप्यते अर्थ्यते'—प्रमेय—अर्थ के प्रकार के विषय में दार्शनिकों का मत- 5
 भेद है । न्याय-वैशेषिक परम्परा के सभी प्रधान आचार्यों २ का मत हेय-उपादेय उपेक्षणीय
 रूप से तीन प्रकार के अर्थ मानने का है । बाह्य धर्मोत्तर^१ उपेक्षणीय को हेय में अन्तर्भावित
 करके दो ही प्रकार का अर्थ मानता है जिसका शब्दश अनुसूत्र्य दिगम्बर तार्किक प्रभाषण
 ने मायिकमन्वी के सूत्र का यथाशुत अर्थ करके किया है । वैश्वसुरि को सूत्ररचना में
 दो मायिकमन्वी के सूत्र की यथाशुत व्याख्या में वैश्वसुरि ने धर्मो 10
 उत्तर के मत को प्रभाषण की तरह स्वीकार न करके त्रिविध अर्थ माननेवाले न्याय-वैशेषिक
 पक्ष का ही स्वीकार किया है^४ जैसा कि सम्मतिटीकाकार (४ ४६) ने किया है ।

१ 'सम्बन्धानं प्रमाणं प्रमाद्यत्वात्प्रमाणत्वे'—प्रमाद्यप० पृ० १ न्यायकुमु० लि० पृ० ३६
 प्रमेयक० १ १ 'तस्मिन्मन्त्राधिक्यस्य प्रमायात्प्राप्तस्य हेतो' सङ्गात् । ननु यद्येव प्रमायां धर्मित्वेनात्र निर-
 वेष्टि कथं तस्यैव हेतुत्वमुपपन्नमिति चेत् ननु किमस्य हेतुत्वानुपपत्तौ निमित्तम्—किं धर्मित्वद्वयत्वमे-
 विशेषः ? किं वा प्रतिज्ञार्थकदेशत्वम् ? यथाऽऽत्मनस्तत्त्वं ? तथाचपक्षेऽयमभिप्रायः—धर्माद्यामभि-
 करणं धर्मो तदधिकरश्चतुर्धर्मः । ततो यत्र प्रमायां धर्मि कथं हेतुः ? उ चेत् कथं धर्मि, हेतोर्धर्मत्वात्
 धर्मधर्मिखोरेवैस्यानुपपत्तौ ? तदनुक्तम् । विशेषं धर्मियां विशदय सामान्यं हेतुमभिव्यक्तौ देयात्सम्भवात् ।
 प्रमायां हि प्रत्यक्षपरोक्षमन्त्रिकाद्यत्र धर्मि । प्रमाद्यत्वात्सामान्यं हेतुः । ततो नात्र धर्मवैयर्थ्यम् । कथञ्चि-
 दैक्यं तु भवत्यपि न धर्मधर्मिमात्र विवक्ष्यते । प्रत्युत तद्व्यवहारकमेव, तदन्तरेण धर्मधर्मिमात्रेऽतिप्रसङ्गात् । —
 स्याद्वाच्यं० पृ० ४१ ४२ प्रमेयक० १ १ 'ननु प्रत्ययविशेषो धर्मो सामान्यं साधनमिति न प्रतिज्ञार्थ-
 कदेशता'—प्रमाद्यत्वात्तिकाकार ४ ६२ ।

२ अप्रतीयमानमर्थं करणाधिक्यवाते । तं तत्त्वतो ज्ञातं हास्यामि नोपादास्य उपेक्षिष्ये चेति । ता
 एता हानोपदायोपेक्षादुद्भवस्तत्त्वज्ञानस्वार्थस्तदर्थमर्थं विज्ञाते'—न्यायभा० १ १ ३२, "पुरुषापेक्षया तु
 प्रामाण्ये चन्द्रतारकादिबिहानस्य पुरुषानपेक्षितस्य अप्रामाण्यप्रवृत्तः । न चातिदलीलतया तदस्य
 हेतवता तदपि पुरुषस्यापेक्षितम् तस्योपेक्षणीयविषयत्वात् । न चोपेक्षणीयमपि अनुपादेयत्वात् हेयमिति
 निवर्धयिष्यते" । १ १ १ ४ १ १)—तात्पर्य० पृ० २१ न्यायम० पृ० २४ प्रमितियां चोपेक्षणीय-
 स्त्वदर्शनम् । सुखदर्शनमुपादेयत्वज्ञानम्, दोषदर्शनं हेयत्वज्ञानम्, माय्यस्पर्शं न हेयं नोपादेयमिति ज्ञानं
 प्रमिति ।"—कल्पलती पृ० १६६ ।

३ 'पुरुषस्यापि अस्मत् इत्याया काम्यत इति वाच्यं । हेतोऽय उपेक्षणीयं वा । हेतो अर्थो हाद्य
 मियते उपादेयोपादात्तम् । न च हेतोपादेयत्वान्मन्वी यदित्युक्तिः । उपेक्षणीयो अनुपादेयत्वात् हेय
 एव"—न्यायशि० टी० १ १ ।

४ द्वितीयतत्त्वप्रतिपक्षारतमर्थं हि प्रमायां ततो ज्ञानमेव तत्"—पटी० १ २ 'अप्यते अमि
 लप्यते प्रयोक्तव्यमिति धर्मयो हेय उपादेयत्वम् । उपेक्षणीयस्यापि परिष्वजनीयत्वात् हेयत्वम् । उपादानमिषां प्रति
 अर्थमभावात् नोपादेयत्वम् ज्ञानक्रियां प्रति विपर्ययात् तदर्थम् । तथा च लोको बहति—महामनेन उपेक्षणीय-
 त्वेन परित्यक्त इति —प्रमेयक० पृ० २ A 'अस्मिन्तानमिदं तदस्वीकारितरकारणं हि प्रमाद्यम् अतो

ध्या० इमचम्प्रे ने भी वसी त्रिविध अर्थ के पक्ष को ही लिया है पर ठमके रचापन में नई युक्ति का उपयोग किया है ।

५० ३ पं० ४ 'न चानुपादेय'—उलना—“अनु कोचमुपेक्षणीयो नाम विषयः । स हि उपेक्षणीयत्वादेव नोपादीयते चेत्, न तर्हि हेम एव, अनुपादेयत्वादिति । नैतद् युक्तम्, अपेक्षणीयविषयस्य स्वसंवेद्यत्वेन अप्रत्याख्येयत्वात् ।

हेयोपादययोरस्ति दुःख-मीतिनिमित्तता ।
यत्नेन हानोपादाने भवतस्तत्र दहिनाम् ॥
यत्नसाध्यद्वयभावाद्बुभयस्यापि साधनात् ।
ताभ्यां विसदृशं भस्तु स्वसंविदितमस्ति नः ॥
उपादेये च विषये हृष्टे रागः प्रवर्तते ।
इतरत्र तु विद्वेषस्तत्रोभासपि दुर्लभौ ॥

यद्यु अनुपादेयत्वात् हेय एवेति उदप्रयोगकम्, न ह्य बं भवति यदेतद् नपुंसकं स पुमान् अकारत्वात् । स्त्री वा नपुंसकं अपुरस्त्विति । औपुंसाम्यामम्यदेव नपुंसकम्, तत्रोपलभ्यमानत्वात् । एवमुपेक्षणीयोऽपि विषयो हेयोपादेयाभ्यामर्थास्तरम्, तत्रोपलभ्यमानत्वात् ।

यदेतत् सृणुपणादि चक्रास्ति पथि गच्छतः ।

न पीरुद्रादिसत् तत्र न च काकौदरादिसत् ॥”—न्यायम ५ २४ २५.

५० ३ पं० ६ 'सम्पग्'—उलना—'तत्र सम्पगिति प्रशंसार्थो निपाठः सम्पत्तेर्वा भावः'—वसार्थम् १ १

५ ३ पं० ११ 'समव'—उलना—

“समवस्यमिधाराभ्यां स्पाद्विशेषणमर्थवत् ।

न ह्येतेन न औप्येन च द्विः क्वापि विशिष्यते ॥”—उप्यवा ५ २ ८

“समवस्यमिधाराभ्यां विशिष्यणविशेष्ययोः ।

हृष्टं विशिष्यणं लोके यथेहापि तथस्यताम् ॥”—हृष्टा वा ५ २ १२

“समवे स्यमिधारे च विशिष्यं युक्तम्—”हृष्टि टी ति ५ ११

५० ३ पं० १६ 'न चासावसन्'—ध्या० इमचम्प्रे ने 'एवप्रकाशत्वा' के रचापन धीर ऐकान्तिक परप्रकाशकत्वा' के लक्ष्म में बंध प्रमाकर वेदान्त आदि सभी 'स्वप्रकाश'वादियों को युक्तियों का संघाटक उपयोग किया है ।

वानमेवेदम् प्रमाशक्त १ ३ । “अभिमानमिमतकोदरतदुदत्वारमिमतामिमतामनाम्यवस्वम्भ्र उपेक्षणीयत्वात्तत्रोपेक्षणीयम् । रागगोचरः स्मृतमिमतः । ह्यविषयोऽनभिमतः । रागहेयप्रितवानात्मनं दृष्टादिदोषधीनः । तस्य चारेद्वयं प्रमाशक्तुपकाया तमर्पमिधाय ॥ —स्वप्रकाशत्वात् १ २ ।

पृ० ३ पं० १६ 'घटमह जानामि'—दुलना—'घटमहमात्मना वेधि । कर्मवत् कर्तृकण्य क्रियाप्रतीते ।" परी १ ८, ९

पृ० ३ पं० १७ 'न च अप्रत्यक्षोपलम्बस्य'—दुलना—'तदाह—धर्मकीर्ति 'अप्रत्यक्षो' न्यायति टी नि पृ १ ९ B पृ ५४२ B "अप्रमिथोपलम्बस्य नार्थविति प्रसिद्धयति" तत्त्वतः का २००४

पृ० ३ पं० २२ 'तस्मादर्थोन्मुख'—दुलना—'स्वोन्मुखतया प्रतिभासने स्वस्य व्यवसाय । धर्मस्यैव तदुन्मुखतया ।" परी १ १ ७

पृ० ४ पं० १० 'स्वनिर्णय'—भा० हेमचन्द्र ने अपने लच्छ में 'स्व' पद का पूर्ववर्ती समी जेनाचार्यो क लच्छ में बतैमान है उसे अब नहीं रखता जब इनके सामने प्रश्न उपस्थित हुआ कि क्या प्राचीनभाषार्यसंगठ 'स्वप्रकाशत्व' इष्ट न होने से 'स्व'पद का त्याग करते 10 हो या अन्य किसी दृष्टि से ? । इसका उत्तर उन्होंने इस सूत्र में दिया कि ज्ञान वा 'स्वप्रकाश' ही है पर व्यावर्तक न होने से लच्छ में इसका प्रवेश अनावश्यक है । ऐसा करने अपना विचारस्वार्तम उन्होंने दिखाया और साथ ही बुद्धों का खण्डन न करके 'स्व'पदप्रयोग की उनकी दृष्टि दिखाकर उनके प्रति आदर भी व्यक्त किया ।

पृ० ४ पं० १५ 'अनु च परिच्छिन्नधर्मम्'—दुलना—'अभिगत चार्थमभिगतमवता प्रमाद्येन 15 पिष्टं पिष्टं स्वात् ।" न्यायवा ४ ५.

पृ० ४ पं० १६ 'धारावाहिकज्ञानानाम्'—भारतीय प्रमाद्यशास्त्रों में 'सृष्टि' को प्रामाण्य अप्रामाण्य की चर्चा प्रथम सं ही चली जाती देखी जाती है पर धारावाहिक ज्ञानों 20 के प्रामाण्य अप्रामाण्य की चर्चा संभवतः बौद्ध परम्परा से धर्मकीर्ति के बाद शालिल हुई । एक बार प्रमाद्यशास्त्रों में प्रवेश होने के बाद तो फिर वह सर्वदर्शनम्पापी हो गई और इसके पक्ष-प्रतिपक्ष में युक्तियाँ तथा वाद स्थिर हो गये और खास-खास परम्परार्य बन गई ।

वाचस्पति शीघ्र अथन्त उद्यन आदि समी? म्याय-वैशेषिक दर्शन के विद्वानों ने धारावाहिक ज्ञानों को अभिगतार्थक कहकर भी प्रमाद्य ही माना है और इनमें सूत्रमाला 25 कक्षा के भाग का निवेद्य ही किया है । अतएव उन्होंने प्रमाद्य लच्छ में 'अमभिगत' आदि पद नहीं रखे ।

१ अनभिगतार्थगुण्यं च धारावाहिकविज्ञानानामभिगतार्थयोग्यत्वात् लोकठिक्प्रमाद्यम्भानां प्रामाण्यं विद्वन्तीति नास्तिनामहे । न च काशमेवेनामभिगतगोचरस्य धारावाहिकानामिति दुष्कम् । परम लक्षणात् काशकलाविज्ञानां पिथितलोचनैररमाद्यैरनाकलनात् । न चाद्येनैव विज्ञानेनोपस्थितत्वादस्य प्रवर्तितत्वात् पुण्यस्य प्रासित्वाच्चोपदेश्यमप्रामाण्यमेव ज्ञानानामिति वाच्यम् । नहि विज्ञानस्यानं प्राण्यं मर्त्यनादस्यत् । न च प्रवर्तनमर्थावर्तनादस्यत् । तस्मात्प्रवर्तनमात्रम्यापारमेव ज्ञानं प्रवचनं प्राण्यं च । प्रवर्तनं च पूर्ववृत्तेशामपि विज्ञानानामभिलमिति क्यं पूर्वमेव प्रमाद्यं मोक्षपयसवि ? । -तात्पर्य० पृ० २१ कम्बुडी पृ० ११ म्यायम० पृ० २२. म्यायकु० ४ १ ।

मीमांसक की प्रमाकरीय और कुमारिणीय दोनों परम्पराओं में भी धारावाहिक ज्ञानों का प्रामाण्य ही स्वीकार किया है। पर दोनों ने उसका समर्थन भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। प्रमाकरानुगामी शास्त्रिकभाष्य 'कालकक्षा' का मान बिना माने ही 'अनुमृति' होने मात्र से उन्हें प्रमात्र कहते हैं, जिस पर न्याय-वैशेषिक परम्परा की छाप स्पष्ट है।

- 5 कुमारिणानुगामी पार्ष्णसारथि, 'सूत्रमकालकक्षा' का भाम भामकर ही इनमें प्रामाण्य का उपपादन करते हैं क्योंकि कुमारिणपरम्परा में प्रमात्रलक्षण में 'अपूर्व' पद होने से ऐसी कल्पना बिना किये 'धारावाहिक' ज्ञानों के प्रामाण्य का समर्थन किया नहीं जा सकता। इस पर बौद्ध और जैन कल्पना की छाप आम पड़ती है।

- 10 बौद्ध परम्परा में अथपि अर्थोत्तर^१ ने स्पष्टतया 'धारावाहिक' का उल्लेख करते ही कुछ नहीं कहा है, फिर भी उसके सामान्य कथन से उसका मुकाम 'धारावाहिक' का अप्रमात्र मानने का ही ज्ञान पड़ता है। हेतुमिन्द्रु की टीका में अर्चट^२ ने 'धारावाहिक' के विषय में अपना मन्वन्व्य प्रसंगवश स्पष्ट पल्लवावा है। उसने योगिवत् 'धारावाहिक' ज्ञानों को दो 'सूत्रमकालकक्षा' का भाम भामकर प्रमात्र कहा है। पर साम्राज्य प्रमावाओं के धारावाहिकों को सूत्रमकालमेवमाहक न होने से अप्रमात्र ही कहा है। इस तरह बौद्ध पर
15 म्परा में प्रमात्रा के भेद से 'धारावाहिक' के प्रामाण्य-अप्रामाण्य का स्वीकार है।

१ 'अथवाहिकेयु उद्गु चरुविकानानि स्मृतिप्रमेतावविधिज्ञानि कर्म प्रमायानि । तत्राह-अन्योन्य निरपेक्षात् धारावाहिकमुद्गुम् । स्याद्विनाये हि पूर्वविकानकारणकलाप उच्यतेपामनुपचितिर्नि न प्रवृत्तिरुत्पत्तिता वा धारावाहिकविकानानि परस्परव्यतिरेक इति बुद्धा सर्वेषामपि प्रमात्रात् ।'-अक्षररूप पृ० ४२-४३, इहतीप० पृ० १०३

२ 'अन्येन धारावाहिकेयुत्तरेया पूर्वप्रवृत्तार्थविषयकत्वात्प्रामाद्यनं स्यात् । तस्मात् 'अनुमृतिः प्रमाद्यम्' इति प्रमात्रलक्षणम् । तस्मात् स्वार्थमण्डितभावि ज्ञान प्रमाद्यमिति कथ्यम् । धारावाहिकेयु चरुत्तरेया कालान्तरसम्बन्धसाध्यैस्वरर प्रवृत्तत्वं बुद्धं प्रामाद्यम् । तद्यपि कालमेवोपतिष्ठन्मत्वाप पपमृष्यत इति चेत् ; महो एकादशी वेदानाधिक । दो हि समानविषयता विज्ञानधारया चिरमवस्थापो फलः सौजन्यद्वयव्यवस्थित्यर्थे स्वरति । तथाहि-किमत्र पदोऽवतिष्ठत इति पृष्ठः कथयति-अस्मिन् ज्ञेये मनेत्यत्र इति । तथा प्रादुर्भावमेतत्काल मयेपलक्ष्य इति । कालमेवेत्यप्येति कथमेव ब्रूते । तस्मादिति कालमेवत्येव प्रामाद्यम् । तदाभिकथ्य विद्युत्तरेया प्रामाद्यम् ।'-शास्त्रदी० पृ० १२४-१२६

३ अत एव अनविकारविषय प्रमाद्यम् । नैवैव हि ज्ञानेन प्रथमविकारोऽर्थं तेनैव प्रवर्तितः पुन्यः प्रामिद्वयार्थं तत्रैवार्थे किमन्येन ज्ञानेन अविद्य कर्मम् । ततोऽविद्यतविक्रमप्रमाद्यम् ।'-न्यायवि ही० पृ० ३

४ 'परैकस्मिन्नेव नीत्यादिकल्पति धारावाहीनीमित्तज्ञानानुपपत्त्ये तथा पूर्वोक्तानिभोगाद्येभवात् उच्यतेपामिद्वयज्ञानानामप्राप्त्यवप्रसङ्गः । न चैवम अतोऽनेकान्त इति प्रमात्रलक्षणवशात् इत्येवमाह-पूर्वं प्रत्यक्षज्ञेयेन इत्यादि । एतत् परिहरति-उक्तं यदि प्रतिकल्पं स्वविकल्पवर्षिषोऽपि कुलोप्यते तथा अन्येन योगितया बुद्धं प्रामाद्यत्वात् नानेकान्तः । अत्र सर्वप्रकारैरेकसाध्यवशात्पि सम्भवशारिकान् उपपान्तिभ्योऽप्यते तथा एककमेव नीत्याद्यनानेकमर्थं स्वररूपं तत्ताप्या चार्थविज्ञानेकात्मिकामप्यवत्कल्पति प्रामाद्यमनुत्तरेयामनिप्रमेवेति कुतोऽनेकान्तः ।'-हेतु० टी० सि० पृ० ३३B-४१A

जैन तर्कग्रन्थों में 'धारावाहिक' ज्ञानों को प्रामाण्य अप्रामाण्य को विषय में दो परम्पराएँ हैं—दिगम्बरीय और श्वेताम्बरीय । दिगम्बर परम्परा के अनुसार 'धारावाहिक' ज्ञान धर्म प्रमाद्य हैं जब व चरममदादि विशेष का भान करते हैं और विशिष्टप्रमाणक होते हैं । जब व ऐसा न करते हैं तब प्रमाद्य नहीं हैं । इसी तरह उस परम्परा के अनुसार वह भी समझना चाहिये कि विशिष्टप्रमाणक होते हुए भी 'धारावाहिक' ज्ञान जिस द्रव्यांश में विशिष्टप्रमाणक नहीं हैं उस अंश में व अप्रमाद्य और विरार्पांश में विशिष्टप्रमाणक होने के कारण प्रमाद्य हैं अर्थात् एक ज्ञान व्यक्ति में भी विषय भेद की अपेक्षा में प्रामाण्या प्रामाण्य है । अकलङ्क के अनुगामी विद्यानन्द और माखिक्यनन्दी के अनुगामी प्रभाषण्ट्र क टीकाग्रन्थों का पूर्वापर अवलोकन उक्त नदीमें पर पहुँचाया है । क्योंकि अन्य सभी जैनग्रन्थों की तरह निर्विवाद रूप से 'स्मृतिप्रामाण्य' का समर्थन करनेवाले अकलङ्क और माखिक्यनन्दी अपने-अपने प्रमाद्य लक्षण में जब बीहू और मीमांसक के समान 'अनभिगत' और 'अपूर्व' पद रखते हैं तब उन पदों की सार्थकता उक्त तात्पर्य के सिवाय और किसी प्रकार से बतलाई ही नहीं जा सकती चाहे विद्यानन्द और प्रभाषण्ट्र का स्वतन्त्र मत कुछ भी रहा हो ।

बीहू? विद्वान् विकल्प और स्मृति दोनों में, मीमांसक स्मृति मात्र में स्वतन्त्र प्रामाण्य नहीं मानते । इसलिये उनके मत में वे 'अनभिगत' और 'अपूर्व' पद का प्रयोजन स्पष्ट है । पर जैन परम्परा के अनुसार वह प्रयोजन नहीं है ।

श्वेताम्बर परम्परा के सभी विद्वान् एक मत से धारावाहिकज्ञान को स्मृति की तरह प्रमाद्य मानने का ही पक्ष में हैं । अतएव किसी ने अपने प्रमाद्यलक्षण में 'अनभिगत' 'अपूर्व' आदि जैसे पद को स्थान ही नहीं दिया । इतना ही नहीं, बल्कि उन्होंने स्पष्टरूपेण यह कह दिया कि चाहे ज्ञान गृहीतमाही हो तब भी वह अगृहीतमाही के समान ही प्रमाद्य है । उनके विचारानुसार गृहीतमाहित्व प्रामाण्य का विधातक नहीं, अतएव उनके मत से एक धारावाहिक ज्ञानव्यक्ति में विषयभेद की अपेक्षा से प्रामाण्य अप्रामाण्य मानने की कल्पना नहीं और न ही कभी किसी का अप्रमाद्य मानन की कल्पना है ।

१ 'गृहीतमाहीत वा स्वार्थे परि ध्यवस्वति । तस्य लोके न शास्त्रेषु विनिराति प्रमाद्यताम् ॥'—
 तत्त्वार्थसू० १ १० ७८ । 'प्रमाण्यव्यप्यतिवापप्रकाशित्वं प्रपञ्चयः । प्रामाण्यं च गृहीतार्थमाहित्वेपि क्वं
 धन ॥'—तत्त्वार्थसू० १ १३ १४ । 'गृहीतमाहात् तत्र न स्मृतेरनेप्रमाद्यता । धारावाहिकविज्ञानस्यैवं
 ध्येते केन वा ॥'—तत्त्वार्थसू० १ १३ १५ । 'अन्वेषमपि प्रमाद्यर्षत्तपकारिताभ्यांभाव प्रमाद्य
 प्रतिफलमे'मे प्रमाद्यान्तवप्रतिपत्तिरित्यभेद्यम् । अर्धपरिच्छिन्नविशेषकत्वात् तत्त्वहृत्तेरन्वेष्युपगमात् । प्रथम
 प्रमाद्यप्रतिफलमे हि बन्धुव्याकार्यविशेषं प्रतिफलमानं प्रमाद्यान्तरमपूर्वाभेदेन ह्येव स्वयमेव शब्दादिषु ।—
 प्रमेयक० पृ० १६ ।

२ 'अद् गृहीतमादि ज्ञानं न तद्व्यमाद्यं, तथा स्मृतिः, गृहीतमाही च प्रमाद्यगृह्यमाही विकल्प इति
 व्यापकविज्ञानोपलब्धिम्'—तत्त्वसू० प० का० १२१८ ।

श्वेताम्बर आचार्यों में भी भा० हेमचन्द्र की कास विरोधता है क्योंकि उन्होंने यही तर्क माही और प्रहोष्यमाह माही दोषों का समर्थन दिखाकर सभी चाराबाहिकानों में प्रामाण्य का जो समर्थन किया है वह कास मार्ग का है।

४० ४ पं० १८ 'तत्रापूर्वार्थ'—प्रस्ताव-वेदादि टी लि ४ ८०

- ४० ४ पं० १६ 'प्रहोष्यमाण'—'अनभिगत' वा 'अपूर्व' पद जो अर्थोत्तर अक्षरार्थक, मायिकन्यूनन्वी आदि कं छच्छब्रह्मण्य में है उसको भा० हेमचन्द्र ने अपने छच्छ में सब रवान नहीं किया वह इनके सामने यह प्रश्न आया कि 'चाराबाहिक' और 'सृष्टि' भादि ज्ञान जो अनभिगतार्थक वा पूर्वार्थक हैं और जिन्हें अप्रमाद्य समझा जाता है उनका प्रमाद्य मानते हो या अप्रमाद्य ?। यदि अप्रमाद्य मानत हो तो सम्बन्धनिर्णयरूप छच्छ अतिव्याप्त हो जाता है।
- १० अतएव 'अनभिगत' वा 'अपूर्व' पद छच्छ में रखकर 'अतिव्याप्ति' का निरास क्यों नहीं करते ?। इस प्रश्न का उत्तर इस सूत्र में भा० हेमचन्द्र ने एक ज्ञानों का प्रामाण्य स्वीकार करके ही दिया है। इस सूत्र की प्रासादिक और अर्धपूर्व रचना हेमचन्द्र की प्रतिभा और विचारविद्यता की द्योतिका है। प्रस्तुत अर्थ में इतना संक्षिप्त, प्रसन्न और समुचित वाक्य अभी तक अन्यत्र देखा नहीं गया।

- १५ ४० ४ पं० २० 'द्रव्यापत्तया'—अथपि न्यायावधार की टीका में सिद्धि ने^१ भी अनभिगत विरोध का उल्लेख करते हुए द्रव्यपर्याय रूप से यहाँ जैसे ही विकल्प ठाठे हैं तथापि यहाँ आठ विकल्प ज्ञाने से एक तरह की गठिखवा भा गई है। भा० हेमचन्द्र ने अपनी प्रसन्न और संक्षिप्त शैली में दो विकल्पों के द्वारा ही सब कुछ कह दिया है। तत्त्वोपपन्न मन्त्र के अक्षरार्थक से और भा० हेमचन्द्र के द्वारा किये गये इसके अन्वय के अनुमान से एक बात २० कल्पना में आती है। वह यह कि प्रस्तुत सूत्रगत युक्ति और शब्दरचना दोनों के स्वरूप का निमित्त शायद भा० हेमचन्द्र पर पड़ा हुआ तत्त्वोपपन्न का प्रभाव ही हो।

४ १ पं० • 'अनुमयत्र'—संज्ञा के उपपन्न्य छच्छों को देखने से जान पड़ता है कि कुछ तो कारखमूलक हैं और कुछ स्वरूपमूलक। अथाव, अक्षपाद और किसी भी विरोध के

१. 'तत्रापि लोप्यमन्त्रोर्ध्वः किं इत्यम्, उत परमि वा इत्यविद्युत्सर्वाः परमविद्युत् वा इत्यमिति तथा किं तामन्त्रम्, उत विरोधः आदासिकम् तामन्त्रविद्यो विरोधः, विरोधविद्युत् वा तामन्त्रम् इत्यपी प्याः।' न्याया० सि० टी० ४ १३

२. 'अन्ये तु अनभिगतार्थगन्तुत्वेन प्रमाद्यस्य अन्वयमिति, ते तन्मुक्तवादिनो इत्यम् । अन्वयमुक्त वादिता योगमिति अतः उच्यते—विनिश्चयकारकप्रार्थित्वादिवाक्यविज्ञानानां यथास्यवसिधैतान्यार्थगद्गीतिकृतावादिनेषु पूर्वाप्रतिज्ञानस्य प्रामाण्य नात्तरत्वं इत्यत्र निवामर्कं ब्रह्मण्यम् । अथ यथासिधैतान्यार्थगद्गीतिकृतावादिनेषु पूर्वाप्रतिज्ञानस्य प्रामाण्यपुनरुक्तं न प्रवामात्तरत्वात्तन्वयः, तथा अनेनैव स्वामेन प्रथमरथात्प्रामाण्यं प्रथमम्, यदीतार्थमाहित्वाविरोधत्'—तत्त्वो० सि० ४ २०

लक्षण कारकमूलक' हैं। देवसुरि का लक्षण कारक धीर स्वरूप उभयमूलक है जब कि
आ० हमचन्द्र का इस लक्षण में केवल स्वरूप का निर्दर्शन है, कारक का नहीं।

पृ० ४ पं० ८ 'सापकबाधक'-गुलना-"सापकबाधकप्रमाद्याभावात् तत्र संशोधि-
लपी स्वभि १ ४ अष्टय का १ "सैयं सापकबाधकप्रमाद्यानुपपत्ता सत्या समानधर्मोपल
प्यिभिरव्यदवस्थाविशेषस्मृत्या सहाविनरपदव्ययैकस्मिन् ख्ये मती संशयज्ञानस्य हेतुरिति ४
सिद्धम् ।"-नात्यं १ १ २३ "न हि सापकबाधकप्रमाद्याभावमवबुध्य समानधर्मादिदर्शना
वेवासा"-न्यायकृ ४ ८.

पृ० ४ पं० १३ 'विशुपा'-प्रत्यक्ष अनुमान उभय विषय में अनभ्यवसाय का स्वरूप
बतलाते हुए प्रशस्तपाद न लिखा है कि-

"अनभ्यवसायोपि प्रत्यक्षानुमानविषय एव सञ्जायत। तत्र प्रत्यक्षविषये तावत् 10
प्रसिद्धार्थेष्वप्रसिद्धार्थेषु वा ध्यामज्जादनधिर्वाद्वा किमित्याहोषनमात्रमनभ्यवसाय । यथा
वाहीकस्य पमसादिप्वनभ्यवसायो भवति । तत्र सत्ताद्रभ्यत्वपूर्वमितीत्ववृत्तस्वरूपवत्त्वादिशा
यापयेद्योऽभ्यवसायो भवति । पमसरत्नमपि पममप्वनुवृत्तमात्रादिभ्यां ध्यावृत्त प्रत्यक्षमं
केवलं त्वदशामावाद्दिशेषमज्ञाप्रतिपत्तिर्न भवति । अनुमानविषयेऽपि नारिकेलद्वीपवासिन
सात्तामात्रदर्शनात् को नु सखर्वं प्रायी स्यादित्यनभ्यवसायो भवति ।"-प्रशस्त ४ १८२ 15

इसी के विवरण में भीपर ने कहा है कि-"सैयं संज्ञाविशेषानवधारणारिक्तता प्रतीति
रनभ्यवसाय ॥"-चन्द्रली ४ १८२

आ० हमचन्द्र का लक्षण में वही भाव सन्निहित है।

पृ० ४ पं० १४-'परपाम्'-गुलना-"प्रत्यक्षं कल्पनापाठं नामजात्याद्यर्थयुक्तम्" प्रमाय
तनु १ १ "तत्र प्रत्यक्षं कल्पनापोह यच्छाममर्थे रूपायै नामजात्यादिकल्पनारहितं तद्वत्तमर्षं 20
प्रति बलत् इति प्रत्यक्षम्"-न्यायप्र ४ ७ 'कल्पनापोहमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्"-न्यायवि १ ४

पृ० ४ पं० १७ 'अतस्मिन्'-आ० हमचन्द्र का प्रस्तुत लक्षण कयाद^१ के लक्षण
की तरह कारकमूलक नहीं है पर यागसूत्र धीर प्रमाद्यनयतत्वाश्लोक क लक्षण की तरह
स्वरूपमूलक^२ है ।

१ 'नामान्तरप्रत्यक्षविशेषाप्रत्यक्षविशेषरमुत्तरं संशयः" "एवं च इत्ययम्" "यथाहमपयाहव्याय"
"विद्याडिद्यानर्य नशयः"-धैर्य० मू० २ २. १७-२० "अमानादनेकभारतत्तपित्तित्तकपानस्यनुन
सम्पन्नवत्त्वानर्य विशेषापेत्ती किमय नशय -न्यायमू० १ १ २३ "अन्य तु लक्षणवद्यं
मन्यया ध्यावृत्त-नापम्यदशनादिशोभारित्ताविमय- संशय इति"-न्यायशा०-१ १ २३ "पीडानिमन
लक्षणवद्यंनुत्तरव्यति । अन्यं विधि ।" नारदय० १ १ २३

२ 'नापकबाधकप्रमाद्याभावादनविवर्तनेकेरितिसंशयि जान संशयः । -प्रमाणम० १ १२.
३ इति-यनात् नरकारदोषाभाविष्य" धैर्य० मू० १ २ १०.
४ "विरयना निम्नाज्ञानमत्तु-रूप्यदिश्य ।"-यागमू० १ ८ प्रमाणम० १ १० ११

पृ० ५ पं० १६ 'विमिरादिद्रापात्'-शुक्लना-“तथा रदित विमिराशुभ्रमबनौबान-
 मचोभाघनादित्विभ्रमं ज्ञानं प्रत्यक्षम्”-श्यावति १ ६ “विमिरम् अण्णाविंशुब इन्द्रियगत-
 मित् विभ्रमकारणम् । आशुभ्रमणमलावाद् । मन् अन्वयमाय अलावादी न अकभ्रान्तिरुत्पद्यते
 ५ तन्माशुभ्रमद्वयेन विशेषतः भ्रमणम् । एतच्च विभ्रमगतं विभ्रमकारणम् । भावा गमनं
 बाध्याभयस्थित विभ्रमकारणम् । संज्ञोभा वातपित्तसंभ्रमणम् । वातादिषु हि चार्मं गतषु
 अश्लितमन्भाविभ्रान्तिरुत्पद्यते, एतच्च अन्वयात्मगतं विभ्रमकारणम् ।”-श्यावति टी १ ६

पृ० ५ पं० २० 'तस्यामाप्यं तु'-शुक्लना-“तथाहि विज्ञानस्य वाकप्रामाण्यं स्वतो वा

10 निरखीयत परता वा ? । न वास्तु पूब कल्प न खलु विज्ञानममारसंवेत्नमात्मानमपि शुद्धाति
 प्रागत्र तस्यामाप्यम् । नापि विज्ञानान्तरम् तत् विज्ञानमिरयेव शुद्धीयाम पुनरस्याभ्यभिचारि
 त्वम् । ज्ञानत्वमात्रं च तदाभाससाधारणमिति न स्वतः प्रामाण्यावधारणम् । एतन् स्वसंवे
 दननयेऽपि अभ्यभिचारमद्वयं प्रत्युक्तम् । नापि परतः । पर हि तद्गोचरं वा ज्ञानमभ्यु-
 15 प्यत अर्थाक्रियानिभासं वा ज्ञानान्तरम्, तद्गोचरानन्तरीयकार्थान्तरदशनं वा ? । तत्र मत्र
 स्वताऽनवधारितप्रामाण्यमाकुलं मत् कथं पूर्वं प्रवक्तुं ज्ञानमनाकुलमेव ? । स्वता वाऽम्ब
 प्रामाण्यं किमपराद्धं प्रवक्तुं ज्ञानन, येन तस्मिन्नपि तन्न स्यात् ? । न च प्रामाण्यं ज्ञापते स्वत
 इत्यावहितम् । -तायन १ १ १

पृ० ६ पं० १ 'प्रामाण्यं'-दर्शनशास्त्रो में प्रामाण्य और अप्रामाण्य के 'स्वत'
 'परत' की चर्चा बहुत प्रसिद्ध है । एतिहासिक दृष्टि से ज्ञान पड़ता है कि इस चर्चा का
 20 मूल बर्दा के प्रामाण्य मानने न माननेबाबे दो पक्षों में है । जब जैन, बौद्ध आदि विद्वानों
 न बर्दा के प्रामाण्य का विरोध किया तब वेदप्रामाण्यवादी न्याय-वैशेषिक-मीमांसक विद्वानों
 ने बर्दा के प्रामाण्य का समर्थन करना शुरू किया । प्रारम्भ में यह चर्चा 'शब्दप्रामाण्य'
 तक ही परिमित रही ज्ञान पड़ती है पर एक बार उसका तार्किक प्रदर्शन में आने पर फिर वह
 व्यापक बन गई और सब ज्ञान के विषय में प्रामाण्य किवा अप्रामाण्य के 'स्वत' 'परत'
 25 का विचार शुरू हो गया ? ।

इस चर्चा में पदिन्ने मुख्यतया दो पक्ष पड़े गये । एक तो वेद अप्रामाण्यवादी जैन
 बौद्ध और ब्रूमरा बर्दाप्रामाण्यवादी नैयायिक, मीमांसक आदि । वेद प्रामाण्यवादियों में
 भी कमका समयन मित्र मित्रन रीति न शुरू हुआ । इधरवाणी न्याय-वैशेषिक दर्शन में बर्दा
 का प्रामाण्य ईधरमूलक स्थापित किया । जब उसमें बर्दाप्रामाण्य परतः स्थापित किया

१ 'श्रीमन्निरुक्तं शब्दस्वायेन मन्वन्वन्तरय ज्ञानमुरवेत्ता-मन्विरक्यपाये-मुपलभ्ये तत् प्रामाण्यं
 वादगवणस्वानयेऽप्यन्तम्' जैमि० सू० १ १ ५, तस्मान् तत् प्रामाण्यं भवतस्तथात् । न ह्यत्र कति प्राय
 ज्ञानमपेक्षितमन्वयं पुराणान्तरं वापि, इत्यं प्रवक्तुं शक्यम् । -शाबरभा० १ १ ५ सू० टी० १ १ ५
 'अर्थाज्ञानरिपयमिदं तान्त्रयीवचनम् । प्रामाण्यप्रामाण्यं इत्यं हि परतोऽप्यत्र ॥' इत्याकवा
 चौ० श्या० ३३.

गया तब बाकी के प्रत्यक्ष आदि सब प्रमादों का प्रामाण्य भी 'परत' हा सिद्ध किया गया और समान युक्ति म हममें अप्रामाण्य का भी 'परत' ही निरिष्यत किया । इस तरह प्रामाण्य अप्रामाण्य दोनों परत ही न्याय-वैशेषिक सम्मत^१ हुए ।

मीमांसक इतरवादी न होने से वह तन्मूलक प्रामाण्य तो वेद में कह हा नहीं सकता था । अतएव इमन वेदप्रामाण्य स्वत मान लिया और उसके समर्थन के वास्तु प्रत्यक्ष आदि ममी ज्ञानों का प्रामाण्य 'स्वत' ही स्थापित किया^२ । पर उसन अप्रामाण्य का तो 'परत' ही माना^३ है ।

यद्यपि इस घटा में सांख्यदशन का क्या मन्तव्य है इसका कोई इस्तेख उसके उपलब्ध ग्रन्थों में नहीं मिलता फिर भी कुमारिल, शान्तरचित और माधवाचार्य के कथनों में जान पड़ता है कि सांख्यदशन प्रामाण्य अप्रामाण्य दोनों का 'स्वत' ही माननबाता रहा^४ है । शायद उसका द्वािपयक प्राचीन साहित्य मटप्राय हुआ हो । एक आचार्यों क ग्रंथों में ही एक एमें पक्ष का भी निर्देश है या ठाक मीमांसक म लुटा है अर्थात् वह अप्रामाण्य का 'स्वत' हा और प्रामाण्य का 'परत' ही मानता है । सबदशन संग्रह में-सांगतारधरसे स्वत (उपर पृ २७६) इस पक्ष का बौद्धपक्ष रूप में बणित किया है मही, पर लखसंग्रह में या बाद पक्ष है वह विपक्षुत मुता है । समब है सबदशनसंग्रहनिर्मिट बौद्धपक्ष किसी ग्रन्थ बौद्धविरोध का रहा हा ।

शान्तरचित ने अपने बाद मन्तव्य का स्पष्ट करत हुए कहा है कि-१-प्रामाण्य अप्रामाण्य कमप 'स्वत', २-उमप 'परत', ३-ज्ञानों में स प्रामाण्य स्वत और अप्रामाण्य परत, तथा ४-अप्रामाण्य स्वत प्रामाण्य परत-इन चार पक्षों में से कोई भी बौद्धपक्ष नहीं है क्योंकि व चारों पक्ष नियमबाधे हैं । बौद्धपक्ष अनियमबादी है अर्थात् प्रामाण्य हो या अप्रामाण्य दोनों में काह 'स्वत' वा कोई 'परत' अनियम म है । अम्यामदशा में तो 'स्वत' समझना वाहिप चाह प्रामाण्य हा या अप्रामाण्य । पर अनम्यासदशा में 'परत' समझना वाहिप^५ ।

१ 'प्रामाण्यताऽपमत्तितो प्रवृत्तिशामप्यादयन् प्रामाण्यम्'-न्यायभा० पृ० १ । तात्पर्य० १ ।
 कि विज्ञानानां प्रामाण्यमप्रामाण्यं चति इवमपि स्वतः उत उमपमपि परतः आदासिखप्रामाण्यं स्वतः प्रामाण्यं तु परत उमसिखत् प्रामाण्यं स्वत अप्रामाण्यं तु परत इति । तत्र परत एव वेदरय प्रामाण्यमिति ब्रह्मसम । सिधमनस्यक्रियाकानात् प्रामाण्यनिश्चय इति । तदिरमुक्तम् । प्रामाण्यताऽपमत्तितो प्रवृत्ति शामप्यादयन् प्रामाण्यमिति । तस्मादप्रामाण्यमपि फाकमित्यत्र इवमपि परत इत्येव एव पक्ष भवान् । न्यायम० पृ० १६०-१७४ । कम्पुकी पृ० २१७-२२० । 'प्रमाणाः फलशक्तान् लक्षणपयम्भान् । तस्मात्किमनान्नागाप विधान्तरममब' -न्यायबु० २ । तत्पर्ययि० प्रत्यक्ष० पृ० १२३-१३३ ।

२ "एतत् त्वप्रमाणाता प्रामाण्यमिति गम्यताम् । म हि एवमाऽन्यो यत्किं कतु मग्देन उच्यते ॥"-सूत्रोक्त्या० मू० २ । सूत्रा० ४७ ।

३ सूत्रोक्त्या० मू० ३ । सूत्रा० ८२ ।

४ "वेदविद्यादुर्ध्वं एतत्" -सूत्रोक्त्या० मू० २ । सूत्रा० ३४३ । तत्पर्यम० प० का० २=१६ ।

५ "प्रामाण्यप्रामाण्य एतत् समता समविधा ।"-स्वयं० उक्ति० पृ० २३१ ।

६ "नहि वेदवैशेषिकेण बहुलांशकृतोऽपि पक्षाऽन्येऽनियमरयस्त्वह्यन्तः । तपहि-उमपमत्तन् इति एतत् किटिपु एत इति पूरुवरत्तियम् । अत एव पक्षवन्तयोऽन्त्यानाऽप्यमुक्तः । पक्षमन्त्याऽ नियम-उरय मन्तान् ।"-तत्पर्यम० प० का० ३१९३ ।

जैन परम्परा ठीक शास्त्ररचितकथित बौद्धपक्ष के समान हो दे। बह प्रामाण्य अप्रामाण्य दोनों का अप्यामदशा में रहत। धार अनप्यामदशा में 'परतः' मासती है। यह अन्वय प्रमाणवत्परबाधोक्त के सूत्र में ही स्पष्टतया निर्दिष्ट है। यद्यपि भा० दमपत्र में प्रस्तुत सूत्र में प्रामाण्य अप्रामाण्य दोनों का निर्देश न करके परीक्षासुत्र की तरह केवल प्रामाण्य के रहत परत का ही निर्देश किया है तथापि दक्षमूरि का सूत्र पूर्णतया जैन परम्परा का शीतक है। जैम—'तथाप्यामप्यं रतः परतरपेति।'—नये १ २३। तदुभय-मुत्पत्त्या परत एव ज्ञाता तु रतः परतरपेति—प्रमाण १ ११।

इस रहत-परत की यथा क्रमशः यहाँ तक विकसित हुई है कि इसमें उत्पत्ति, प्रति धीर प्रवृत्ति दोनों का अकर रहत परत का विचार बहु विचार से समी दशनों में आ गया है और यह विचार प्रत्यक्ष ज्ञान की अनिवाय यथा का विषय बन गया है। धीर इस पर परिष्कारपूर्ण उत्पत्तिस्वामिबि गादाप्रामाण्यज्ञान आदि जैम जटिल ग्रन्थ बन गये हैं।

५० ६ पै० १४ 'अदृष्टार्थे तु'—आगम के प्रामाण्य का जब प्रश्न आता है तब उभय का समयन गम गम प्रकार से किया जाता है। आगम का जो भाग पराधायक नहीं है उसके प्रामाण्य का समयन वा संबाद आदि द्वारा सुरूर है पर तमका जा भाग पराधायक, विगत पराधायक है जिसमें धर्मज्ञों की पक्षों में नहीं, उसके प्रामाण्य का समयन कैम किया जाय। यदि समर्थन में हा मक तब तो मार आगम का प्रामाण्य दूबने लगता है। इस प्रश्न का उत्तर मधी माप्रदायिक बिद्धानों से दिया है धीर अपन अपन आगमों का प्रामाण्य स्थापित किया है। मीमांसक म बों का ही प्रामाण्य स्थापित किया है पर बह अपान्यपरत' युक्ति में जब कि बन्दी बेशों का प्रामाण्य स्थाप-वैरोधिक से अन्य प्रकार से स्थापित किया है।

अप्यामप्यं बन्ने का प्रामाण्य अप्याप्रामाण्य में बनपात है धीर उसके दृष्टान्त में से कहते हैं कि जैसे ये के एक रंग मन्त्र आयुर्वेद आदि यथाय दाने से प्रमाद है वैसे ही बाका के अन्य रंग भी समान अप्याप्रामाण्य दाने से प्रमाद है— मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवाच तत्रप्रामाण्यं अप्याप्रामाण्यवात्।—नये ३ ११।

भा० दमपत्र में आगमप्रामाण्य के समर्थन में अक्षरों की ही युक्ति का अनुगमन किया है पर बन्दीय मन्त्र आयुर्वेद का दृष्टान्त से बनाकर विधिपूर्वकारणयक उद्योगिक-मार्गिक गम्य का ही दृष्टान्त रक्ता है। जैन आचार्यों का मन्त्र आयुर्वेद की अपवा स्थापित गम्य का धार विगत भूकाव इतिहास में हा दगा जाता है तमक भा० दमपत्र अपवा मदी है।

यह भूकाव शरीर समय से भी कीता या इमका एक ममूना हमें धर्मकीर्ति के लक्ष्य से भी प्राप्त है। धर्मकीर्ति के पूर्वकारणों या समकालीन जैन आचार्य अपने पूरे जीवनकाल में मन्त्रायुर्वेद का समर्थन स्थापितगम्य के परदगकावद्दुग म करने से इस जगत के अन्तर्गत यथाय नि म जैन परम्परा से म अकर मण्डित वा दूचित किया है— अत्र

वैषम्यादाहरणम्—यं सर्वज्ञं भाष्या वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपविष्टवाम् तद्यथा मृगभवंतं
मामात्रिरिति ।”-अथपि १ १११ । इसका एतिहासिक अर्थ अनेक दृष्टि से जैन परम्परा और
भारतीय दशमों की परम्परा पर प्रकाश डालनेवाला है ।

पृ० ६ पं० १६ ‘अथापलम्बिहेतु’-भा० हेमचन्द्र ने प्रमाणसामान्य के लक्षण का
विचार समाप्त करते हुए दशमप्रसिद्ध लण्डनप्रवासी क अनुमार केवल श्याम बौद्ध परम्परा के
वीन ही लक्षणवाक्यों का निरास किया है । पहिले और दूसरे में श्याममठगरी और श्याम
सार के मन्थक्य की समीक्षा है । तीसरे में घमकीर्त्तिके मत की समीक्षा है जिसमें श्याम
रचित के विचार की समीक्षा भी आ जाती है । गुलना-‘तुल्यम्बिहेतुरथ प्रमाणम् ।’-
न्यायमा २ १ १२ । अरुण पृ २३६ ।

पृ० ६ पं० १८ ‘अथ कर्तृकर्मादि’-गुलना-‘अपर पुनरापन्न-सामान्य नाम समुदि
तानि कारकाणि तेषां द्वैरूप्यमद्दयत्तुमम्, अथ च तानि पृथगवस्थितानि कर्मादिमात्रं भजन्ते ।
अथ च तान्यथ समुदितानि करयोमन्थोति काऽप्यं नम । तस्मात् कर्तृकर्मव्यतिरिक्तमन्थमि
धारादिविशेषणकायप्रमाणजनकं कारकं करणमुच्यते । तदेकं च तृतीयया व्यपदिशन्ति ।
तस्मात् कर्तृकर्मविलक्षणया संशयविषयपरद्विधार्थवाचविधायिनी वाभाबोधरभावा नाममा प्रमाण
मिति युक्तम् ।” न्यायम पृ १४ १५ ।

पृ० ६ पं० २० ‘सांख्यबहारिक’-गुलना-‘सांख्यबहारिकस्येदं प्रमाणस्य लक्षणम्,
‘प्रमाणमभिसंबाधि ज्ञानम्’ इति ।”-अथर्व प का २६८, २६८२ ।

पृ० ६ पं० २८ ‘उत्तरकालमाधिना’-गुलना-‘ननु च अथविकल्पक प्रत्यक्षं कथं तत्र
व्यवहारः, तथाहि इदं सुम्बताधनं इदं तुल्यस्येति यत्ति निरिवनेति तत्र तयो प्राप्ति-
परिहाराय प्रवृत्त-’

“अविकल्पमपि ज्ञान विफलतात्पक्षिच्छक्तिम् ।

निःसुपव्यवहाराङ्ग तद्द्वारण भवत्यतः ॥

तद्द्वारणमिति । विकल्पद्वारणाविकल्पकमपि निरवयवद्वारेण सकलव्यवहाराङ्ग भवति ।
तथाहि प्रत्यक्षं कल्पमाधेयमपि मज्जाधीयविजातीयस्याद्भुतमनसादिकमथ तन्कारनिर्मासात्
चित्त परिच्छिन्नददुत्पद्यते । तत्र नियतरूपव्यवहारेणतदनुमाहिरवाट्टिजातीयव्यावृत्तवर्तवाका २,
रानुगतत्वाच्च तत्रैव वस्तुनि विधिप्रतिपदावाचिभाषयति-अनभोऽयं मार्मा कुमुमत्तवकाधिरिति ।
तयोश्च विकल्पया पारम्पर्येण वस्तुनि प्रतिव्यप्या[वि]मंवादिस्वेऽपि न प्रमाण्यमिष्टम् ।
एतदविकल्पव्यपारकरवाच्यत्वात्तत्र प्रवृत्तेरभिव्यक्तवस्तुत्वापिगमाभावात् ।”-अथर्व प का ११ ६ ।

अ० १ भा० १ सू० ६-१० पृ० ७ जैन परम्परा में ज्ञान तथा दो प्रकार स है-पहली
भागमिकविभागमित और दूसरी वाकिकविभागमित । जिसमें मति भूत आदि रूप छ
विभाग करके चर्चा है वह भागमिकविभागमित और जिसमें प्रत्यक्ष आदिरूप स प्रमाणों का

विभाग करने चर्चा है वह तार्किकविभागाभित । पहली चर्चा का अभिहित उदाहरण है आचर्यक नियुक्ति और दूसरी चर्चा का अभिहित उदाहरण है न्यायावधार ।

जैन परंपरा में प्राचीन और मौखिक चर्चा तो आगमिकविभागाभित ही है । तार्किक विभागाभित चर्चा जैन परंपरा में कब और किसने सर्वप्रथम दालिज की इसे निरिचयरूप से

कहना अभी संभव नहीं । स्वानाहु और भगवती व दोनों गणपरकृत समस्त ज्ञानवाले ग्यारह

अनुओं में से हैं और प्राचीन भी आचर्य हैं । उनमें यद्यपि तार्किक विभाग का निर्देश स्पष्ट है तथापि यह मानने में कात्र विरोध नहीं दीकता कि स्वानाहु-भगवती में वह तार्किक विभाग

नियुक्तिहार भद्रबाहु क बाह ही कभी दालिज हुआ है क्योंकि आचर्यकनियुक्ति का मद्र

बाहुकृत मानी जाती है और जिसका आरम्भ ही ज्ञानचर्चा से होता है उसमें आगमिक विभाग

ही पर तार्किक विभाग का सुचन तक नहीं है । मान पड़ता है नियुक्ति के समय तक

जैन आचार्य यद्यपि ज्ञानचर्चा करते तो वे आगमिक विभाग क द्वारा ही, फिर भी वे दशमन्तर

प्रतिष्ठित प्रमाद्यचर्चा से विरक्त हुए अनभिज्ञ न थे । इतना ही नहीं बरिज प्रसङ्ग देखकर वे

दर्शनान्तरीय प्रमाद्यरीक्षी का उपयोग एवं उसमें संशोधन भी कर लेते थे । अतएव उसी

भद्रबाहु की कृति मानी जानेवाली दशमैकालिक नियुक्ति में हम परार्थानुमान की चर्चा पाते हैं

जो आचर्यशोध में (गा १) दर्शनान्तर की परार्थानुमानरीक्षी से अनालो है ।

मान पड़ता है सबसे पहिले आचर्यचित ने, जो अम्म से ज्ञाद्यय वे और वैदिक शास्त्रों

का अभ्यास करने के बाद ही जैन साधु हुए वे अपने मन्त्र अनुयोगद्वार (पृ २११)

में प्रत्यक्ष, अनुमानादि चार प्रमाद्यों का विभाग को गीतमदर्शन (न्याय १११) में प्रसिद्ध

है, उसको दालिज किया । उमास्वादि न अपने उत्सवसूत्र (११ - १२) में प्रत्यक्ष-परोक्ष

रूप से जिन प्रमाद्यद्वयविभाग का निर्देश किया है वह सुद उमास्वाधिकर्षक है या किसी

अन्य आचार्य क द्वारा निर्मित हुआ है इन विषय में कुछ भी निश्चित कहा नहीं जा

सकता । मान पड़ता है आगम की संकलना के समय प्रमाद्यचतुष्टय और प्रमाद्यद्वयवाले

दोनों विभाग स्वानाहु तथा भगवती में दालिज हो गये । आगम में दोनों विभागों के

संनिहित हा मान पर भी जैन आचार्यों की मुख्य विचारदिया प्रमाद्यद्वयविभाग की भार

ही रही है । इसका कारण स्पष्ट है और यह यह कि प्रमाद्यचतुष्टयविभाग अस्तव्य में न्याय

दर्शन का ही है अतएव उमास्वादि ने इसे नयवादान्तरेण (उत्सवार्थमा ११) कहा है

नब कि प्रमाद्यद्वयविभाग जीनाचार्यों का स्वापन्न है । इसी से सभी जैन तर्कज्ञानों में इसी

विभाग का लेकर प्रमाद्य चर्चा व ज्ञान चर्चा की गई है । भा इसचन्द्र ने भी इसी उचय

से इसी प्रमाद्यद्वयविभाग को अपनाया है ।

१ बुद्धिदे नाथ पण्यसे-उम्हा-पद्यन्ते च परिक्रमे पद्य ।" इत्या २. पृ० ७३ A "अहवा
 हेतु चतुष्टयं तं पद्यन्ते भगुमाये आचर्ये भागमे । -इत्या ७ पृ० २४४ A 'तं कि तं
 पमाये । पमाये चतुष्टये पद्यन्ते तं उम्हा-पद्यन्ते ... उम्हा अमुधाधारं तथा उच्यते । -
 भाग ४० ४. उ० ३ भाग ६ पृ २११।

न्याय-वैशेषिक आदि एकप्रमाण वैदिक दर्शनों के प्रभाव के कारण बौद्ध भिक्षु वा पहिले ही स अपनी पिंटकाशित मूल मर्यादा के बाहर वादभूमि भार तदुचित एक-प्रमाद्यवाद की ओर झुक ही गये थे । क्रमश जैन भिक्षु भी वैदिक और बौद्धदर्शन के तर्कवाद के असर से बरी न रह सके अतएव जैन आचार्यों ने जैन परम्परा में ज्ञानविभाग की भूमिका के ऊपर प्रमाद्यविभाग की रथापना की और प्रतिवादी विद्वानों के साथ उसी प्रमाद्यविभाग को छुकर गाछो या चर्चा करने लगे । आर्यरचित ने प्रत्यक्ष अनुमान आदिरूप से चतुर्विध प्रमाद्यविभाग दर्शाते समय प्रत्यक्ष के बर्णन में (५ २११) इन्द्रियप्रत्यक्षरूप मतिज्ञान का और आगमप्रमाण के बर्णन में भूतज्ञान का स्पष्ट समावेश सूचित कर ही दिया था फिर भी भागमिक-शार्किक जैन आचार्यों के सामने बराबर एक प्रश्न आया ही करता था कि अनुमान, उपमान अर्थापत्ति आदि दर्शनान्तरप्रसिद्ध प्रमाद्यों को जैनज्ञानप्रक्रिया मानती है या नहीं ? । अगर मानती है तो इनका स्वतन्त्र निरूपण या समावेश उसमें स्पष्ट क्यों नहीं पाया जाता ? । इसका जबाब तर्दी तक माक्ष्म दे सबसे पहिले उमास्वाति ने दिया है (तत्त्वामना १ १२) कि वे अनुमानादि दर्शनान्तरीय सभी प्रमाद्य मति, भूत जिन्हें हम परोक्ष प्रमाद्य कहते हैं उसी में अन्तर्भूत हैं । उमास्वाति के इसी जबाब का अचरय अनुसरण पूष्यपाद ने (चर्चापति १ १२) किया है । पर उसमें कोई नया विचार या विरोध स्पष्टवा नहीं की ।

चतुर्विध प्रमाद्यविभाग की अपेक्षा द्विविध प्रमाद्यविभाग जैन प्रक्रिया में विशय प्रविष्टा या श्रुता या और यह हुआ भी योग्य । अतएव नन्दीसूत्र में उसी द्विविध प्रमाद्य विभाग को छुकर ज्ञानचर्चा विरोध विस्तार से हुई । नन्दाकार ने अपनी ज्ञानचर्चा की भूमिका तो रची द्विविध प्रमाद्यविभाग पर फिर भी उन्होंने आर्यरचित के चतुर्विध प्रमाद्य विभागामित वयन में स मुख्यतया दो तर्क छेकर अपनी चर्चा की । इनमें स पहिली तर्क वा यह है कि लोक मित इन्द्रियजन्य ज्ञान का प्रत्यक्ष समझते व कहते हैं और जिस जैनतर सभी वाकिका ने प्रत्यक्ष प्रमाद्य ही माना है, इसका जैन प्रक्रिया में भी प्रत्यक्ष प्रमाद्य कहकर प्रत्यक्ष प्रमाद्य के दो अं कर दिये (नदी १) जिसमें एक में उमास्वातिकथित अथपि आदि मुख्य प्रमाद्य रह और दूसरे में इन्द्रियजन्य ज्ञान भी प्रत्यक्षरूप स रहे । दूसरा तर्क यह है कि जिसे दर्शनान्तर आगम प्रमाद्य कहते हैं वह वस्तुतः भूतज्ञान ही है भार पराक्ष प्रमाद्य में समाविष्ट है ।

अथपि भागमिक ज्ञानचर्चा पलती रही फिर भी जैन विचारप्रक्रिया में वाकिकता ब्य पकड़ने लगी । इसी का फल न्यायावतार है । हममें द्विविध प्रमाद्यविभाग छेकर वाकिक शक्ती से ज्ञान का निरूपण है । इसका मुख्य उद्देश्य जैन प्रक्रियानुसारी अनुमान-न्याय का ब्यञ्जना—यह है । हम दम्यत हैं कि न्यायावतार में पदाक्षप्रमाण के अर्थ के बयन न ही मुख्य जगह रोकी है फिर भी हममें यह नहीं कदा है कि जैन प्रक्रिया पदाक्षप्रमाण के अमुख और इतने ही मंद मानती है जैसा कि भाग जा कर अन्य आचार्यों ने कदा है ।

जिनमत्र चामात्रमद्य नै ध्रुपने ध्रुपि विस्तृत भाष्य में द्विविध प्रमाद्य विभाग में आगमिक पञ्च ज्ञानविभाग का तर्कपुर सर ममावेश वदज्ञाया और धार्यरचितरथापित तथा मन्बोकार द्वारा स्वीकृत इन्द्रियकर्म्य-नोइन्द्रियकर्म्य रूप से द्विविध प्रत्यक्ष के बर्णन में धानेबासे इस विरोध का सांख्यवहारिक और पारमाधिक प्रत्यक्ष पेमा नाम लेकर सबसे पहले परिहार किया—“इदियमयोमर्षं अं त संबवहारपक्षकं ।”-विरोधा० भा० गा० ६५-जिस प्रतिबासी धार्मिक जैन धार्मिकों के सामने उपस्थित किया करते थे। विरोध इस तरह बतझाया जाता था कि जब जैनदर्शन अथ-आत्माभित ज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहता है तब हमकी प्रक्रिया में इन्द्रियभित ज्ञान का प्रत्यक्षरूप से त्याग पाना विकृत है। चामात्रमद्यजी ने यह सब कुछ किया फिर भी उन्होंने कहाँ यह महीं बतझाया कि जैन प्रक्रिया परोक्ष प्रमाद्य के इतने में मानता है और वे अमुक हैं।

इस तरह अभी तक जैन परंपरा में आगमिक ज्ञानवर्षा के साथ ही साथ पर कुछ प्रथानता से प्रमाद्यवर्षा हो रही थी, फिर भी जैन धार्मिकों के सामने दूसरे प्रतिबादियों की ओर से यह प्रश्न बारबार आता ही था कि जैन प्रक्रिया अगर अनुमान आगम आदि दशानन्तर प्रसिद्ध प्रमाद्यों का परोक्ष प्रमाद्यरूप से स्वीकार करती है तो इसे यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि वह परोक्ष प्रमाद्य के किन्तने भेद मानती है, और हरपक्ष भेद का सुनिश्चित लक्षण क्या है ?।

महीं तक देखा है इसका आधार से नि संवेह कहा जा सकता है कि एक प्रश्न का जबाब सबसे पहिले भ्रूणरूप अकल्प ने दिया है। और वह बहुत ही स्पष्ट तथा सुनिश्चित है। अकल्प ने अपनी छपोपखरी में बतझाया कि परोक्ष प्रमाद्य के अनुमान प्रत्यक्षिज्ञान, स्वयं एक और आगम ऐसे पाँच भेद हैं। उन्होंने इन भेदों का लक्षण भी स्पष्ट बाँप दिया। हम देखते हैं कि अकल्प के इन स्वरोक्तय में जैन प्रक्रिया में आगमिक और धार्मिक दाम चचा में बारबार रक्ता जैनवासी सब समस्याओं का सुलझा दिया। हमका फल यह हुआ कि अकल्प के चत्तरवर्षी दिगम्बर श्वेताम्बर सभी धार्मिक इसी अकल्पदृशित रास्ते पर ही चलन लगे। और इन्हीं के शब्दों का एक या दूसरे रूप से लेकर पत्र पत्र विकसित कर अपने अपने छोटे और बृहदकाय ग्रन्थों को लिखने लग गये। जैन धार्मिकग्रन्थम्य पद्ये बिजय नै भी इसी मार्ग का अवलम्बन किया है। यहाँ एक बात मान लेनी चाहिए कि जिन अकल्प में परोक्ष प्रमाद्य के भेद और उनके लक्षणों के द्वारा श्वेताम्बरप्रसिद्ध अनुमान, धर्षावपति धपमान आदि सब प्रमाद्यों का जैन प्रक्रियानुमारी निरूपण किया है वही अकल्प राजवा र्णकारों भी हैं पर उन्होंने अपने धार्मिक में दशानन्तरप्रसिद्ध इन प्रमाद्यों का ममावेश छपोपखरी के अनुमान महीं पर वरबाधभाष्य और सर्वाथसिद्धि के अनुसार किया है एमा कहना होगा। फिर भी एक भाष्य और सिद्धि की अपेक्षा अकल्प ने अपना

१ ज्ञानमाद्यं धार्मिकज्ञानं पिता धार्मिकविशेषणम्। प्रादन्वामवाभ्यान्पद्येपं मून वधानुवाक्यन्तार।”-मयो० ३ १ २५पि० ३ १। २ दृष्टिवा अकल्पेन धार्मिकद्वारं”-मिथिलिपि टी० ५० २५ B

समावेशप्रकार कुछ दूसरा ही बतलाया है (यथा पृ २४) । अकसल ने परोक्ष प्रमाद्य के बीच में वदत समय यह ध्यान रखकर रक्खा है कि जिससे उमास्वाति आदि पूर्वाचार्यों का समन्वय विरुद्ध न हो जाय और भागम तथा निर्युक्ति आदि में अविज्ञान के पर्यायरूप से प्रसिद्ध सृष्टि सञ्ज्ञा चिन्ता, अभिनिवेश इम शब्दों की सार्थकता भी सिद्ध हो जाय । मही कारण है कि अकसल का यह परोक्ष प्रमाद्य के बीच प्रकार तथा इनके छल्लत कथन का प्रयत्न अद्यापि सफल जैन तार्किकमाम्य रहा । आ० हेमचन्द्र भी अपनी मीमांसा में परोक्ष के इन्हीं मीमांसकों को मानकर निरूपण करते हैं ।

पृ० ७ पं० १० 'वैशेषिका'—प्रशस्तवादा ने शास्त्र उपमान आदि प्रमाद्यों को अनुमान में ही समाविष्ट किया है । अतएव उत्तरकाश्रीम तार्किकों ने वैशेषिकमतरूप से प्रत्यक्ष अनुमान का ही प्रमाद्यों का निर्देश किया है । स्वयं कथादा का भी 'पतेन शब्दं म्याख्यातम्'— 10
 शेषे स ए २ १—इस सूत्र से वही अभिप्राय है जो प्रशस्तवादा, शङ्करमिश्र आदि न निकाला है । विद्यानन्द आदि जैनाचार्यों ने भी वैशेषिकसम्मत प्रमाद्यद्वित्व का ही निर्देश (यथाप
 पृ ६९) किया है वह प्रश्न होता है कि—आ० हेमचन्द्र वैशेषिकमत से प्रमाद्यत्रय का कथन क्यों करते हैं ? । इसका उत्तर यही जान पड़ता है कि—वैशेषिकसम्मत प्रमाद्यद्वित्व की परम्परा भी रही है जिसे आ० हेमचन्द्र ने लिया और प्रमाद्यद्वित्ववाली परम्परा का निर्देश 15
 नहीं किया । सिद्धार्थिकृत म्यायावतारवृत्ति में (पृ ६) इस उस प्रमाद्यत्रित्ववाला वैशेषिक परम्परा का निर्देश पात है । बादिवेब ने तो अपने ररमाकर (पृ १११ १ १) में वैशेषिक-सम्मतवृत्त से द्वित्व और त्रित्व दोनों प्रमाद्यसंख्या का निर्देश किया है ।

पृ० ७ पं० ११ 'साङ्ख्य'—उल्लना—शास्त्रका ४ ।

पृ० ७ पं० ११ 'न्यायिका'—उल्लना—न्याय १ १ १ ।

20

पृ० ७ पं० १२ 'मायाकारा'—उल्लना—'तत्र पञ्चविधं मानम् इति गुरोर्मतम्'—

प्रकरण पृ ४४ ।

पृ० ७ पं० १२ 'माया'—उल्लना—'अथ पदेव प्रमाद्यानि'—शास्त्रो पृ २६१ ।

पृ० ७ पं० १३ 'अश्रुते'—प्रत्यक्ष शब्द की व्युत्पत्ति में 'अश्रु' पद का 'इन्द्रिय' अथ मानन की परम्परा सभी वैदिक दर्शनों तथा बाद दर्शनों में एक ही है । इनमें से किसी दर्शन 20
 में 'अश्रु' शब्द का धारणा अथ मानकर व्युत्पत्ति नहीं की गई है । अतएव वैदिक-बाह्य दर्शनों के अनुसार इन्द्रियाभित्व ज्ञान ही प्रत्यक्षरूप से फलित होता है । और तदनुसार इनका इन्द्रियाभित्व प्रत्यक्ष माने जानेवाले ईश्वरीय ज्ञान आदि के विषय में प्रत्यक्ष का प्रयाग रूपरित ही मानना पड़ता है ।

जैन परम्परा में 'अक्ष' शब्द का 'आत्मा' अर्थ मानकर व्युत्पत्ति की गई है। तदनुसार इसमें इन्द्रियनिरपेक्ष बोधस्य भास्माभित्त माने जानेवाले ज्ञानों को ही प्रत्यक्ष पद का मुख्य अर्थ माना है और इन्द्रियाभित्त ज्ञान को वस्तुतः परोक्ष ही माना है। हममें अक्ष पद का इन्द्रिय अर्थ लेकर भी व्युत्पत्ति का भावमय किया है पर वह अभ्यन्तरीनप्रसिद्ध ४ परम्परा तथा लोकम्बबह्वार के संमत्त की दृष्टि से। अतएव जैन परम्परा के अनुसार इन्द्रियाभित्त ज्ञान में प्रत्यक्ष पद का प्रयोग मुख्य मर्हों पर गीय है।

इन्द्रियसापेक्ष ज्ञान को मुख्य प्रत्यक्ष माननेवाले हों या आत्ममात्र सापेक्ष को पर वे सभी प्रत्यक्ष को साक्षात्कारकारमक ही मानते व कहते हैं।

पृ० ७ पं० १८ 'अक्षं प्रतिगतम्'-गुणना- अक्षस्याऽक्षस्य प्रतिविपर्यं वृत्तिः प्रत्यक्षम्'-

10 न्यायभा १ १ ३। 'प्रत्यक्षमिति। प्रतिगतमाभित्तमक्षम्'।-न्यायि टी १ ३।

पृ० ७ पं० २१ 'अकार'-गुणना-'अकार' प्रत्यक्षानुमानयोस्तुल्यबह्वारं सद्युचिनीति' न्यायि टी १ ३ न्याया नि टी ५ १६।

पृ० ७ पं० २३ 'अपेक्षतेति'-प्रमाणों में अपेक्षत्व अपेक्षत्व के विषय में तीन परम्पराय हैं। न्याय और सांख्य परम्परा में प्रत्यक्ष का अपेक्षत्व और अनुमानादि का उसकी अपेक्षा 10 अपेक्षत्व स्थापित किया है। पूर्व उचरामीमांसा^१ में अपेक्षतेय आगमबाध होने से प्रत्यक्ष की अपेक्षा भी आगम का अपेक्षत्व स्वीकार किया गया है। बौद्ध परम्परा^४ में प्रत्यक्ष-अनुमान दोनों का समबलत्व बतलाया है।

जैन परम्परा में दो पक्ष देखे जाते हैं। अक्षरूप और तदनुगामी विद्यामन्द न प्रत्यक्ष का ही अपेक्षत्व न्यायपरम्परा की तरह माना और स्थापित किया^५ है, जब कि सभी

१ 'अक्षवृत्तिरिति ज्ञानवृत्तिवत् आत्मा तनेव प्राप्यज्ञानेपक्षं प्रदीयावगच्छ वा प्रतिनिर्णय वा प्रत्यक्षम्'।-सर्वाथ० १ १२। 'जीवो अक्षो अत्यन्मात्रमोयथागुणवृत्तिवदो जेव। तं परं बह्वार नाय' वं पक्षस्त त्वं तिदि'।-विशेषा० भा शा० ८३। 'तथा व म्माकान् मत्रवाटु-जीवा अक्षो तं परं व बह्वार तं द्व होर पक्षस्त। परमो पुत्र अक्षस्त बह्वारं होर पराक्षत ॥ -न्याया० ति पृ० १५।

२ 'आरो मन्वत्प्रदय मावात्मात् तत्र कि शम्पत्वावापुपरेयो मन्वत् आहासित् प्रत्यक्षेति ?। प्रत्यक्षस्तेति दुष्कम्। कि कारयाम् ?। सर्वप्रमाचाना मन्वत्पूर्वकत्वात् इति। -न्यायभा १ १ ३। न्यायव्यत० का० ५। न्यायम पृ ३५, १०६।

३ 'न व अपेक्षप्रमात्रप्रत्यक्षविरिनावाग्नाकस्यैव तदपेक्षस्याप्यामात्रकमुपवृत्तितानत् वेति दुष्कम्। तस्यापैदपेक्षता निरस्तमत्तरोपाद्युक्त बोधकतवा त्वतःतिदप्रमात्रमावत्त्व स्कार्ये प्रतिपादनपेक्षया'।-मायती पृ० ९।

४ 'अर्धतकारकत्वे च तमाने अपेक्षताऽत्र का ?। तदमाने द्व नैव स्वात् प्रमात्रमनुमादिष्कम्'।-तत्त्वसं का० ४६०। न्यायि० टी १ ३।

५ अक्षरूप अक्षरूप० पृ ८०।

श्वेताम्बर आचार्यों ? ने प्रत्यक्ष-परोक्ष दोनों का समबलत्व बौद्ध परम्परा की तरह स्वीकार किया है ।

पृ० ७ पं० २६ 'व्यवस्था'—इस सूत्र में चार्वाक के प्रति प्रमाद्याम्बर की सिद्धि करते हुए तीन युक्तियों का प्रयोग भा० हेमचन्द्र ने किया है जो धर्मकीर्ति के नाम से बद्धूत कारिका में स्पष्ट है । यह कारिका धर्मकीर्ति के चत्तरवर्ती सभी बौद्ध, वैदिक और जैन 5 ग्रन्थों में पाई जाती है २ ।

दुष्टि में तीनों युक्तियों का जो विवेचन है यह सिद्धि की न्यायावधारणों के साथ सम्बन्ध मिलाता है । पर तात्पर्यटीका और सांख्यवचनकौमुदी के विवेचन के साथ इसका सम्बन्ध होना पर भी अर्थसादर्य ही मुख्य है ।

"न हि कारिणत् प्रत्यक्षव्यक्तीरर्थात्मसाधनार्थप्रपञ्चकत्वेनाव्यभिचारिणीरूपसाम्यात् 10 स्वप्तिपरीतवशा व्यभिचारिणीरथ, तत्त काष्ठांस्तरं पुनरपि तादृशोत्तरायां प्रत्यक्षव्यक्तोनां प्रमाद्य तवरे समाचक्षोत् ।"—न्याया वि दी पृ १८ ।

"दृष्टप्रामाण्याप्रामाण्यविक्षामव्यक्तिसामर्थ्येण हि कासाभिव्यक्तीनां प्रामाण्यम 15 प्रामाण्यं वा विदधीत् । दृष्टसामर्थ्यं चानुमानमेवेति कथं तेनैव तस्याप्रामाण्यम् । अपि चानुमानमप्रमाद्यमिति वाच्यप्रयोगोऽत्र विप्रतिपन्नं सन्दिग्धं वा पुरुषं प्रत्यक्षवाद्, न च पर पुरुषवर्तिना वेदुषमां अपि संदेहाज्ञानविपर्ययांसा गौरवादिवात् प्रत्यक्षा बोध्यन्ते, न च तद्वचनात् 15 प्रतीच्यते, त्वमस्यापि प्रत्यक्षादस्यत्वाप्रामाण्योपगमात् । पुरुषविशेषमनधिकृत्य तु त्वममन र्थं प्रयुज्यामी मायं शैक्तिको न परीच्यत इत्युक्तवचनवधेयवचन स्थात् ।"—तात्पर्यं ११५ ।

"मानुमानं प्रमाद्यमिति वदता लोकावधिकेमाऽप्रतिपन्नं सन्दिग्धो विपर्ययो वा पुरुष 20 कथं प्रविष्येत् ? । न च पुरुषान्तरगता अज्ञानसन्देशविपर्यया शक्या अर्थागत्या प्रत्यक्षेण प्रविष्येत् । अपि मामान्तरेश, अन्त्युपगमात् । अतश्चतुर्वाज्ञानसंशयविपर्ययास्तु यं कश्चि सुदुर्गं प्रति प्रवर्तमानोऽनवधेयवचनवशा प्रेषाद्विदुष्यत्वात्तदुपेक्षेत् । तदनेनाज्ञानादय पर पुरुषवर्तिनाऽभिप्रायमेवाज्ञानमेवाद्वा सिद्धावनुमातव्याः, इत्यकामेताप्यनुमानं प्रमाद्यमन्यु- 25 पेयम् ।"—तात्पर्यं का ५ ।

पृ० ८ पं० २० 'अर्थस्याऽसौमे'—इलना-तत्त्वत्तं पृ ७०५ । विधिभि स्यात्क पृ १६१ । 25 विधिभि दी लि पृ १५५ A. अथतह पृ ११५ । सम्मतिदी पृ १० ७१ ५५५ । स्यापि दी लि पृ १ A

१ न्याया० सि० टी० पृ० १९ । स्याद्वात्० पृ० २६० ।

२ कम्बुली पृ० २२५ । प्रमाद्यप० पृ० ६४ । प्रमेयक० पृ० ४९ । स्याद्वात्० पृ०

२११ । स्यायसारता० पृ० ८८ ।

५० ८, पं० ३० 'माद्यमाद्य'—अभावप्रमाद्य के पृथक् अस्तित्व का बाद बहुत पुराना ज्ञान पड़ता है क्योंकि न्यायसूत्र^१ और उसके बाद के सभी दार्शनिक ग्रन्थों में तो इसका लण्डन पाया ही जाता है पर अधिक प्राधान्य माने जानेवाले कबादसूत्र में भी प्रयत्नपाद की व्याख्या के अनुसार^२ इसके लण्डन की सूचना है।

विचार करने से ज्ञान पड़ता है कि यह पृथक् अभावप्रमाद्यवाद मूल में मीमांसक परम्परा का ही होना चाहिये। अन्ध सभी दार्शनिक परम्परायें इस बाद के विरुद्ध हैं। शायद इस विरोध का मीमांसक परम्परा पर भी असर पड़ा और प्रमाद्यर उस बाद से सम्मत न रहे^३। ऐसी स्थिति में भी कुमारिल ने इस बाद के समर्थन में बहुत ऊपर उगाया और सभी उत्कालीन विरोधियों का सामना किया^४।

10 प्रस्तुत सूत्र के विवेचन का न्यायाभाववारठीका (५ २१) के साथ बहुत कुछ सम्बन्ध है।

अ० १ भा० १ सू० १३ १४ ५०-६ प्रत्यय के स्वरूप के विषय में सामान्यरूप से तीन परम्परायें हैं। बौद्ध परम्परा^१ निर्बिकल्पक को ही प्रत्यय मानती है। न्याय वैशेषिक^२ आदि वैदिक परम्परायें निर्बिकल्पक—सबिकल्पक दोनों को प्रत्यय मानती हैं। जैन^३ तार्किक परम्परा सांख्य-योग^४ ब्रह्म की तरह प्रत्ययप्रमाद्यरूप में सबिकल्पक को ही स्वीकार करती है। भा० जैनग्रन्थ ने इसी परम्परा के अनुसार निर्बिकल्पक को अनन्यवसाय कहकर प्रमाद्यसामान्य की कोटि से ही बहिर्भूत रक्खा है।

15 यद्यपि प्रत्यय के लक्षण में विद्यत् या लुप्त शब्द का प्रयोग करनेवाले जैन तार्किकों में सबसे पहिले भक्तलक्ष्मी ही जाय पड़ते हैं तथापि इस शब्द का मूल बौद्ध तर्कग्रन्थों में

१ न्यायसू० २ २, २।

२ 'अभावोऽपि अनुमानस्य यद्यत्पक्ष काय कार्याकर्मापे तिष्ठत् एवमनुत्पद्य' काय कार्या कर्मापे तिष्ठत्।"—प्रश्न ५ २२५। वै सू ६ २, ५।

३ शाबरभा० १ १, ५।

४ अलि नेप प्रतिबिम्बिमात्कानां पण्ड किलेर्द प्रमाद्यमिति केयं तर्हि प्रतिबिः ?। प्रतिबि र्दन्तकप्रतिबिन्त् ?—बृहती ५० १२०। "यदि तात् केविन्मीमांसका प्रमाद्यान्त्य म्पये तदप्य वदं किं कुर्म ?" बृहतीप० ५ १२३। प्रकरणाप० ५ ११८-१२५।

५ 'अभावो वा प्रमाद्येन स्वातुरूपेण भिद्यते। प्रमेयत्वात्तथा मानस्यमात्रात्तथात्पृथक्' इत्येकवा अभाव० इत्नी ५५।

६ "प्रत्ययं कल्पनापोर्द नामजात्वाद्यतनुत्तम्।"—प्रमाद्यसं० १ ३। न्यायप्र० ५० ७। न्यायवि० १ ५।

७ "इह इयी मत्पद्यमितिः अतिकल्पितम् तदतिकल्पिता वेति। तत्र उभयी इतिप्रयार्थगतिनकपोत्पन्न ज्ञानमन्मिमांसापीति लक्षणेन तदप्यौतानि स्वतन्त्रेण उवाचा तत्र विप्रतिपत्तेः। तत्र अतिकल्पितत्वात्तथा परम् अन्वयरेरवमिति तदतिकल्पितत्वात्तस्य स्वतन्त्रात्तदमिति।"—तात्पर्य० ५० १२५। प्रश्न० ५ १८९-१८८।

८ प्रमेयक० १ ३। स्याद्भाष्य० १ ७।

९ सांप्यत० का० ५। योगमा १ ७।

है क्योंकि अकलङ्क के पूर्ववर्ती धर्मकीर्षा आदि बीज तार्किकों ने इसका प्रयोग प्रत्यक्षस्वरूप निरूपण में किया है। अकलङ्क के बाद तो जैन परम्परा में भी इसका प्रयोग रूढ़ हो गया। वैशेष किंवा स्पष्टत्व का निर्वचन हीम प्रकार से पाया जाता है। अकलङ्क के—“अनुमानाद्यपि रेकेय विशेषप्रतिमासनम्” (तमी १४)—निर्वचन का देवसूरि और यशोविजयजी ने अनुगमन किया है। जैनतकबार्चिक में (पृ १५) ‘इदन्तया’ अथवा ‘विशेषवचनया’ प्रतिमास ६ वाले एक ही निर्वचन का सूचन है। भाषिकथयन्त्री में (पर्याय म २४) ‘प्रतीत्यन्तरा म्यवधाम्’ और विशेषप्रतिमास’ दोनों प्रकार से वैशेष का निर्वचन किया है जिसे आ० हेमचन्द्र ने अपनाया है।

पृ० ६ पं० २६ ‘प्रत्यक्ष धर्मि’—शुभना—“विश्वज्ञानात्मक प्रत्यक्ष प्रत्यक्षत्वात् धर्मिणो हेतुत्वेऽनन्वयप्रसङ्ग इति चेत् न, विशय धर्मिण्य कृत्वा सामान्यं हेतु बुधतां बापाऽ- 10
संभवात्”—ममाद्य पृ ३७ प्रमेय २१

अ० १ आ० १ सु० १५ १७ पृ० १० शोक और शास्त्र में सर्वज्ञ शब्द का उपयोग, योगसिद्ध विधिष्ट अतीन्द्रिय ज्ञान के सम्बन्ध में विद्वानों और साधारण लोगों की अज्ञा, अज्ञान, अज्ञान के द्वारा अपन अपने मन्तव्यानुसार भिन्न भिन्न प्रकार के विधिष्ट ज्ञानरूप धर्म में सर्वज्ञ जैसे पदों को लागू करने का प्रयत्न और सर्वज्ञरूप न माने माने 15
वाले किसी व्यक्ति के द्वारा ही मुख्यतया अपदेश किये गये धर्म या सिद्धान्त की अनुगामियों में वास्तविक प्रतिष्ठा—इतना बात मगबाम् महावीर और बुद्ध क पहिले भी थी—इसके प्रमाण मौजूद हैं। मगबाम् महावीर और बुद्ध के समय से लेकर आज तक के करीब ढाई हजार वर्ष के भारतीय साहित्य में तो सर्वज्ञत्व के अरिष्ट-नास्तिपक्षों की, इसके विविध स्वरूप तथा समर्थक और विरोधी युक्तिवादों की, अथवा बिकसित सूत्रम और सूत्रमत्तर स्पष्ट एवं मनी 20
रञ्जक चर्चाएँ पाई जाती हैं।

सर्वज्ञत्व के नास्तिपक्षकार मुख्यतया तीन हैं—धार्मिक अज्ञानवादी और पूर्वमीमां-
सक। इनके अस्तिपक्षकार तो अनेक दर्शन हैं जिनमें न्याय-वैशेषिक, सांख्य योग, ब्रह्मण्ड,
बौद्ध और जैन दर्शन मुख्य हैं।

धार्मिक इन्द्रियगम्य भौतिक साकमात्र का मानना है इसलिये उसके अर्थ में अतीन्द्रिय 25
धारणा तथा उसकी अतिरूप सर्वज्ञत्व आदि के लिये कोई ध्यान ही नहीं है। अज्ञानवादी का अभिप्राय आधुनिक वैज्ञानिकों की तरह ऐसा मान पड़ता है कि ज्ञान और अतीन्द्रिय ज्ञान की भी एक अन्तम सीमा होती है। ज्ञान कितना ही अच्छे कच्चा का क्या न हो पर वह वैज्ञानिक सभी स्थूल-सूक्ष्म आदों का पूर्ण रूप से जानने में तबमात्र स ही असमर्थ है।

१ “न विद्वाननुबद्धस्य स्वभावाप्रतिमातिवा ।”—प्रमाणवा० ३ २८३ । “प्रत्यक्ष कथनानो”
अपने-विनिरिच्छम् ।”—तरयस० का० १२३४

धर्मात् अथ्य में कुछ न कुछ अज्ञेय रह ही जाता है। क्योंकि ज्ञान की शक्ति ही स्वभाव से परिमित है। वेदवादी पूर्वमीमांसक आत्मा, पुनश्चम्य, परलोक आदि अतीन्द्रिय पदार्थ मानता है। किसी प्रकार का अतीन्द्रिय ज्ञान होने में भी उसे कोई प्रापत्ति नहीं फिर भी वह अपौरुषेयवेदवादी होने के कारण वेद के अपौरुषेयत्व में बाधक ऐसे किसी भी प्रकार के अतीन्द्रिय ज्ञान का मान नहीं सकता। इसी एकमात्र अभिप्राय से उसने वेद-निरपेक्ष साक्षात् धर्मज्ञ या सर्वज्ञ के अस्तित्व का विरोध किया है। वेद द्वारा धर्माधर्म या सर्व पदार्थ जाननेवाले का निषेध नहीं किया।

बल्कि श्रीर जैम दर्शनसम्मत साक्षात् धर्मज्ञवाद या साक्षात् सर्वज्ञवाद से वेद के अपौरुषेयत्व का केवल निरास ही अभिप्रेत नहीं है बल्कि उसके द्वारा वेदां में अप्रामाण्य बल्ल्याकर वेदमित्र धार्मिकों का प्रामाण्य स्थापित करना भी अभिप्रेत है। इसके विरुद्ध या न्याय-वैरोधिक आदि वैदिक दर्शन सर्वज्ञवादी हैं उनका वात्स्य सर्वज्ञवाद के द्वारा वेद के अपौरुषेयत्ववाद का निरास करना अवश्य है, पर साथ ही उसी वाद के द्वारा वेद का पौरुषेयत्व बल्ल्याकर उसीका प्रामाण्यस्थापन करना भी है।

न्याय-वैरोधिक दर्शन ईश्वरवादी हैं। वे ईश्वर के ज्ञान को नित्य—व्याप्त-विशाल-रहित श्रीर पूर्व-त्रैकाक्षिक सूक्ष्म-सूक्ष्म समग्र भाषों को युगपत् ज्ञानमेवासाक्षात्-मानकर तबुद्धात् बस सर्वज्ञ मानते हैं। ईश्वरमित्र आत्माओं में ब सर्वज्ञत्व मानते हैं सही, पर सभी आत्माओं में नहीं किन्तु योगी आत्माओं में। योगियों में भी सभी योगियों को वे सर्वज्ञ नहीं मानते किन्तु जिन्होंने योग द्वारा वैसा सामर्थ्य प्राप्त किया हो सिर्फ इन्हीं को। न्याय-वैरोधिक मतानुसार यह नियम नहीं कि सभी योगियों का वैसा सामर्थ्य अवश्य प्राप्त हो। इस मत में जैसे मोक्ष के बाले सर्वज्ञत्वप्राप्ति अनिवार्य बात नहीं है वैसे यह भी सिद्धान्त है कि मोक्ष

१ 'बोवना हि मृतं भवन्तं अविप्यन्तं एतन्नं अविदितं विप्रहृष्टमित्येवंजातीयकमर्षं यस्मिन्त्वचमम विदुम नान्यत् किञ्चमिद्वचम्"—शाबरभा० १ १२। 'नामेन वचनेनेह सर्वज्ञत्वनिष्पत्तिः। वचनात्तद इत्येवमपवादो हि लभितः ॥ यदि पठमिः प्रमादी स्यात् सर्वज्ञः केन वार्यते। एकेन तु प्रमायेन लवको येन वचनेते ॥ मृतं च पञ्चुया सर्वान् रणादीन् प्रतिपद्यते ॥ इत्योक्तवा० बोव० इत्थं ११-२। 'धर्मज्ञत्वनिपत्तरश्च केवलाऽज्ञेयवचनेते। तत्रमन्वदितानन्तु पुरुष केन वार्यते ॥ -तत्त्वसं का० ३१२८। यह श्लोक तत्त्वसंग्रह में कुमारिल का कहा गया है पू० ८८४।

२ 'न च बुद्धिप्राप्त्यपनाना निरूपणे कश्चिद्विरोधः। इहा हि गुणानामात्मनेदेन इवी गतिः नित्या अनिश्चिता च तथा बुद्ध्यादीनामपि अविप्यन्ति ॥'—कर्मव्या० पू० २०। "एतादृशानुमितौ साक्ष्यज्ञान तदकारण ज्ञानेप्राप्त्यपि नित्यत्वमेकत्वं च मसते इति नित्यैकत्वमिति ॥"—द्विचकटी पू० २६।

३ पू० २५ ६ १११-१३। "अस्मद्विशिष्यता तु योगिना युक्ताना योगवचमनुपपत्तेन मनसा स्वात्मान्तराकारादिरुक्तप्रमाणबाहुयस्यस्तु तस्मिन्नेतदुक्तमर्थात्मात्प्रतिरोधेषु समवाये पामित्तं स्वस्व-रक्षणमुपपत्ते। विदुक्तानां पुनश्चतुष्पदमिद्वयायोगवचमानुपपत्तिसम्पत्त्वात् एवमन्वदितविप्रहृष्टेषु प्रत्य-क्षमुपपत्ते ॥"—प्रश० पू० १८३। पू० २५ ६ १ ११ १३।

४ 'तदेव विप्रहृष्टानां वचनानामपि मूलत्वं। गुणानामात्मनो चैतं सांप्रयया प्रवर्तितं ॥' न्यायस पू २०८।

प्राप्ति के बाद सर्वज्ञ योगियों की आत्मा में भी पूर्ण ज्ञान शेष नहीं रहता, क्योंकि वह ज्ञान ईश्वरज्ञान की तरह निरूप नहीं पर योगसम्बन्ध होने से अभित्य है ।

सांख्य, योग' और वेदान्त दर्शनसम्मत सर्वज्ञत्व का स्वरूप वैसा ही है जैसा न्याय वैशेषिकसम्मत सर्वज्ञत्व का । यद्यपि योगदर्शन न्याय-वैशेषिक की तरह ईश्वर मानना है तथापि वह न्याय-वैशेषिक की तरह घेचन आत्मा में सर्वज्ञत्व का समर्पण न कर सकने के कारण विशिष्ट बुद्धितत्त्व में ही ईश्वरीय सर्वज्ञत्व का समर्पण कर पाता है । सांख्य, योग और वेदान्त में बौद्धिक सर्वज्ञत्व की प्राप्ति भी मोक्ष के वास्ते अभिवार्य है वस्तु नहीं है, जैसा कि जैन दर्शन में माना जाता है । किन्तु न्याय-वैशेषिक दर्शन की तरह वह एक योग विभूति मात्र होने से किसी किसी सामक को होती है ।

सर्वज्ञवाद से सम्बन्ध रखनेवाले दृढ़ारों वर्ष के भारतीय दर्शनशास्त्र देखने पर भी यह पता स्पष्टरूप से नहीं चलता कि भगुक्त दर्शन ही सर्वज्ञवाद का प्रस्थापक है । यह भी निरपेक्षरूप से कहना कठिन है कि सर्वज्ञत्व की चर्चा शुद्ध तत्त्वचिन्तन में से फलित हुई है या साम्प्रदायिक भाव से धार्मिक क्षण्डन-मण्डन में से फलित हुई है ? । यह भी सप्रमाय बतझाना सम्भव नहीं कि ईश्वर, ब्रह्मा आदि दिव्य आत्माओं में माने जानेवाले सर्वज्ञत्व के विचार से मानुषिक सर्वज्ञत्व का विचार प्रस्तुत हुआ, या बुद्ध-महावीरसदृश मनुष्य में माने जानेवाले सर्वज्ञत्व के विचार आम्प्रदायिक ईश्वर, ब्रह्मा आदि में सर्वज्ञत्व का समर्पण किया जाने लगा या देव-मनुष्य वचय में सर्वज्ञत्व माने जाने का विचारप्रवाह परस्पर निरपेक्ष रूप से प्रचलित हुआ ? । यह सब छुड़ होते हुए भी सामान्यरूप से इतना कहा जा सकता है कि यह चर्चा धर्म-सम्प्रदायों के क्षण्डन-मण्डन में से फलित हुई है और पीछे से बसने तत्त्वज्ञान का रूप धारण करके वास्तविक चिन्तन में भी स्थान पाया है । और वह तदर्थ २० तत्त्वचिन्तकों का विचारबीज विषय बन गई है । क्योंकि नीमांसक जैसे पुरातन और प्रबल वैदिक दर्शन के सर्वज्ञत्व सम्बन्धी अस्वीकार और शेष सभी वैदिक दर्शनों के सर्वज्ञत्व सम्बन्धी स्वीकार का एक मात्र मुख्य उद्देश्य यही है कि वेद का प्रामाण्य स्थापित करना जब कि जैन, बौद्ध आदि मनुष्य-सर्वज्ञत्ववादी दर्शनों का एक पट्टा उद्देश्य है कि परम्परा से माने जानेवाले वेदप्रामाण्य के स्थान में इतर शास्त्रों का प्रामाण्य स्थापित करना और वेदों का अप्रामाण्य । २५ जब कि वेद का प्रामाण्य अप्रामाण्य ही असर्वज्ञवाद देव सर्वज्ञवाद और मनुष्य-सर्वज्ञवाद की चर्चा और इसकी दसोड़ों का एकमात्र मुख्य विषय है तब धर्म-संप्रदाय को इस तरह चर्चा का उरघानबीज मानने में सन्देह को कम से कम अवकाश है ।

१ 'तारक तत्त्वचिन्तयं तर्कया विचरमन्मं चेति विवेकज्ञं ज्ञानम् ॥ —योगसू० ३ ५४ ।

२ "निष्कलमोपसत्य बुद्धितत्त्वत्वे परस्वा बशोकार्त्तंकायां पक्षमानस्य तत्त्वपुरुषा म्पञ्चात्म्यादिनात्कल्पितच्छेद तत्त्वज्ञातृत्वं, तत्वात्मना गुणानां शान्तादिताम्पर्यैश्वर्यमर्पितेन व्यवस्थितानाम कर्माकारुद विवेकज्ञं ज्ञानमित्यर्थ । —योगमा० ३ ५३ ।

३ प्रायःविवेकज्ञानस्य अप्रायःविवेकज्ञानस्य वा तत्त्वपुरयो बुद्धिस्थान्मे कैवल्पमिति ।"— योगसू० ३ ५५ ।

मीमांसकपुरीष कुमारिल्ल न प्रमद्य और सर्वज्ञ दोनों बादों का निराकरण बड़े धावेष्ट और युक्तिवाद से किया है (मीमांसरत्ना वृ २ रत्ना ११ से १४३) जैसे ही बौद्धपर शास्त्ररचित ने उसका जबाब उक्त दोनों बादों के समर्थन के द्वारा बड़ी गम्भीरता और स्पष्टता से दिया है (वचन ५ वृ ८४१ से) । इसलिये यहाँ पर एक ऐतिहासिक प्रश्न होता है कि क्या प्रमद्य और सर्वज्ञ दोनों बाद अलग अलग सम्प्रदायों में अपने अपने युक्तिवाद पर स्थिर होंगे या किमी एक बाद में से दूसरे बाद का जन्म हुआ है ? । अभी तक के विम्वम से यह जान पड़ता है कि धर्मत आर सर्वज्ञ दोनों बादों की परम्परा मूल में अलग-अलग ही है । बौद्ध सम्प्रदाय प्रमद्यवाद की परम्परा का अवलम्बी खास रहा होगा क्योंकि छुद बुद्ध ने (मग्गिम पूल-माह्वक्वपुत्तमुत् २१) अपने का सर्वज्ञ वसी धर्म में कहा है जिस धर्म में प्रमद्य या मागल्ल शब्द का प्रयोग होता है । बुद्ध के वाले धर्मशास्त्रा, धर्मदेशक भावि विशेषतः पिटकग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं । धर्मकीर्ति ने बुद्ध में सर्वज्ञत्व को अनुपयोगी बताकर अरुण धर्मज्ञत्व ही स्थापित किया है, अब कि शास्त्ररचित ने प्रथम धर्मज्ञत्व सिद्धकर गौण्यसे सर्वज्ञत्व को भी स्वीकार किया है ।

सर्वज्ञवाद की परम्परा का अवलम्बी मुख्यतया जैन सम्प्रदाय ही जान पड़ता है क्योंकि जैन आचार्यों ने प्रथम से ही अपने तीर्थकरो में सर्वज्ञत्व को माना और स्थापित किया है । पन्सा मन्थक है कि अब जैनों के द्वारा प्रबन्धरूप से सर्वज्ञत्व की स्थापना और प्रतिष्ठा होने लगी तब बौद्धों के वाले बुद्ध में सर्वज्ञत्व का समर्थन करना भी अनिवाय और आवश्यक हो गया । यहाँ सबब है कि बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों में धर्मज्ञवादसम्बन्ध के बाद सर्वज्ञवाद का समर्थन होने पर भी उसमें बहू ज़ार और एकतावता नहीं है जैसी कि जैन धार्मिक ग्रन्थों में है ।

मीमांसक (रत्ना वृ २ रत्ना ११-१४३ तत्कं का ३१२४ ३२५ पूजाव) का मानना है कि यागादि के प्रतिपादन और उत्सव द्वारा धर्माधर्मादि का, किसी पुरुषविशेष

१. वेयागरेपनरकस्य ताभ्युपास्य वेदकः । यः प्रमाद्यमनाभिधा न तु सर्वस्य वेदकः ॥ पूरं परवतु का मा वा तरनमिह तु परवतु ॥ प्रमाद्यवा २. ३२ ३३ ।

२. स्वमापरगतम्यानिरेतुबीजस्तैमि गम्यतः । तासां केतं किन्तु तत्राऽपि प्रतोयते ॥—तत्पत्तं का० ३३ ६ । सुप्यं हि तावत् स्वमापनप्रारहेतुत्वतापनं मगवतोऽस्माभिः क्विचतः । यस्तुनः अद्योगार्थं परिहातुत्वतापनमस्य तत् प्रातःश्रमस्यचरि मगवतो ज्ञानप्रवृत्ते बाधनप्रमादाभ्यानां तासांवेतोपाधेरिहात् तत्रको मान् न केनचिद् वाप्यने इति अथा न प्रजावतो तन्प्रतिषेधो बुद्धः । तत्पत्तं० पं० पृ ८६३ ।

३. “न भयं अरहं विद्मि केतवी तत्पत्तुं तन्वमावहरिती तदेकमनुवातुत्सुन कोयम पात्राय अरहं तं भाग्यं गहं विद्मि अयं उवाच सुत पीय बह पविसेविय आदिक्कम्मं रत्तकाम त्वविष ब्रह्मि मदा-मान्निव तत्पत्तं तन्वमीतां उरमागहं आरुमाये पातमाये एव प वं निररह ॥” आथा धु २. ५५ ३ पू० ४२५ A “तं नथि व न पातह भूयं मयं मरिसं व” —आथ० जि० गा १५३ । मग० श० ६. उ० ३२ । एवमात्तां त्पुत्तानां प्रमद्यां करतपिचया । अनुमेवताऽप्यादिदि मवजं रिपति ॥—आप्लमी० का ५ ।

४. “ने ररम्यातवका वदयां तन्मानाप्यो न विदया । इमारुतन्माह पतदित्यादि—पतदित्यादि वदु वा तत्तदेति निषेधतः । शक्तिरेवतिथा तरप प्रदीगावली इती ॥ —तत्पत्तं० का ३६८ । सिदि० ३. १ २ ।

की अपेक्षा रखने बिना ही, स्वतन्त्र विधान करना यही वेद का कार्य है । इसी सिद्धांत को स्थिर रखने के वास्ते कुमारिल ने कहा है कि कोई मछे ही धर्माधर्ममिन्न धर्म्य सब वस्तु साक्षात् ज्ञान तक पर धर्माधर्म को वेदनिरपेक्ष होकर कोई साक्षात् नहीं मान सकता^१, चाहे वह जाननेवाला बुद्ध, जिन भादि जैसा मनुष्य योगी हो, चाहे वह ब्रह्मा, विष्णु भादि जैसा देव हो, चाहे वह कपिल, प्रजापति भादि जैसा ऋषि या भ्रषवारी हो । कुमारिल का कहना है कि सर्वत्र सर्वदा धर्मधर्म्यादा एक सी है, जो सदा सर्वत्र एकत्रुप वेद द्वारा बिहित मानने पर ही सङ्ग हो सकती है । बुद्ध भादि व्यक्तियों का धर्म के साक्षात् प्रतिपादक मानन पर वैसी मर्यादा सिद्ध हो नहीं सकती क्योंकि बुद्ध भादि उपदेशक कमी निर्बाध पाने पर नहीं भी रहते । जीवितदशा में भी वे सब क्षेत्रों में पहुँच नहीं सकते । सब धर्मोपदेशको को एकत्राक्यता भी सम्भव नहीं । इस तरह कुमारिल साक्षात् धर्मज्ञत्व का निषेध^२ करके फिर सर्वज्ञत्व का भी सब में निषेध करते हैं । यह पुराणोक्त ब्रह्मादि देवों के सर्वज्ञत्व का धर्म भी, जैसा उपनिषदों में देखा जाता है, केवल धारमज्ञान^३ परक करते हैं । बुद्ध, महावीर भादि के बार में कुमारिल का यह भी कथन^४ है कि वे वेदज्ञ ब्राह्मण्यमाति को धर्मोपदेश न करन और वेदबिहीन मूर्ख शूद्र भादि को धर्मोपदेश करने के कारण बदाभ्यासी एवं वेद द्वारा धर्मज्ञ भी नहीं थे । बुद्ध, महावीर भादि में सर्वज्ञत्वनिषेध की एक प्रबल युक्ति कुमारिल ने यह दी^५ है कि परस्परविरुद्धभाषी बुद्ध, महावीर, कपिल भादि में से कितने सर्वज्ञ माना जाय और कितने न माना जाय ? अतएव इनमें से कोई सर्वज्ञ नहीं है । यदि वे सबज्ञ होते तो सभी वेदवत् अभिठुद्धभाषा होते, इत्यादि ।

१ "नहि अतीन्द्रियार्थे वचनमन्वरेण अथगति सम्भवति, तद्विरुद्धम्—अथर्वं हि तत् पुरुषेण ज्ञानमूले वचनात्"—शाण्डका० १ १ २ । श्लो० न्याय० पृ० ७२ ।

२ कुम्भारिणि सुद्धत्वाच्च नाश्रवाषो वेदानामु नः । किन्तु बुद्धमधीताः स्तुः किमु कैभिर् बुधामधि । अहरथैः किप्रलभ्याय प्थिवाचारिभिरीरिताः । एवं ये केवलं ज्ञानमिन्द्रियाद्यनपदिशः । त्वमतीन्द्रियविषयं योपरव परिकल्पितम् ॥ —सूक्तशा० सू० २ श्लो० १३६ ४१ । 'यत्तु वेदवादिभिरेव केरिचबुद्धम्—नित्त एवाऽऽयं वेदः प्रजासत् प्रथममार्गज्ञानेनाश्रुद्धो भवतीति तदरि अथब्रह्मवदं निराक्यामित्याह—नित्येति"—सू० न्याय० सू० २ १४३ । 'अथापि वेददेहत्वात् ब्रह्मविष्णुमहेश्वरान् । सर्वज्ञानमसाद्रात्सावर्धं मातृपरय किम् ॥"—तत्त्वसं० का० ३२०८, ३२१२-१४ ।

३ 'ज्ञानं ईशान्यमैश्वर्यमिति योपि इशान्य । शूद्रः भूवते शोऽपि ज्ञानवानामपिचवा ॥"—तत्त्वसं० का० ३२०९ ।

४ 'शास्त्रादिवचनानि तु कृतिप्रयदमदानादिवचनवर्त्रं अकारयेव समस्तबुद्धशुचिपारमानविक्रदानि धर्मोमागःशुन्वि त्रिदशाचरवीर्य बुद्धारिणि प्रवीरानि । त्वीशान्यम्यधनुषक्यानिरवकितप्रामेय्या ध्याम् वेम्यः समपिगानीति न वेदमूलत्वेन सम्यग्बले ॥"—तत्त्वया० पृ० ११९ । तत्त्व-सं का० ३२२९ २७ ।

५ 'सर्वं बुध मूषःसु रिद्धापोरपेपिडु । दुस्ववेणु सवेणु को मामैकाक्यायताम् ॥ मुगशा परि सरुह कफितो मेति वा प्रमा । अथामावति तवहो मतमेदः तपाः कथम् ॥"—तत्त्वसं० का० ३१४८-४९ ॥

- शान्तरचित्त ने कुमारिक तथा अन्य सामट, यद्वट आदि मीमांसकों की दृष्टियों का बड़ा सम्मता से सखिस्तर उपहन (उपगत का १-१११) करते हुए कहा है कि—वेद स्वयं ही भ्रान्त एवं हिंसादि दोषयुक्त होने से भर्मविधायक हो नहीं सकता। फिर इसका भ्रान्त स्वरूप कब दृश्य होना में क्या विशेषता है ?। युद्ध? नै स्वयं ही स्वातुमव से अनुकम्पाप्रतिष्ठाकर अमुद्यय नि.भ्रवमूमावक भम बतझापा है। मूल शूद्र आदि का उपदेश लेकर जो धमन अपनी कहमावृत्ति के द्वारा भामिकता ही प्रकट की है। वह मीमांसकों से? पूछता है कि त्रिभुं गुम ब्राह्मण कहत हो उनकी ब्राह्मणता का निरिचत प्रमाय क्या है ?। अतीवकाव बड़ा लम्बा है, शिवा का मन भी लपक है, इस दशा में कौन कह सकता है कि ब्राह्मण कहसने-बाड़ी मन्वान के माता पिता शूद्र ब्राह्मण ही रह ही और कमी किसी विभावीपता का मिश्रण हुआ म हा। शान्तरचित्त ने यह भी कह दिया कि सब्धे ब्राह्मण धार भमव बुद्ध शासन के सिवाय अन्य किसी धम में नहीं है (का ३१८-२२)। अन्त में शान्तरचित्त न पदिते मामाभ्यरूप से सर्वज्ञत्व का मन्मव सिद्ध किया है, फिर उसे महावीर कपिन आदि में असम्भव बतलाकर केवल बुद्ध में ही सिद्ध किया है। इस विचारमर्या में शान्तरचित्त की मुख्य युक्ति यह है कि किंच स्वयं ही प्रमास्वर अतएव स्वभाव से प्रज्ञाशील है।
- १६ कन्यावरय श्यावरय आदि मल प्रागन्तुक हैं। वैराग्यवदन आ एक मात्र सत्यज्ञान है इसक द्वारा आवरणों का उच्य होकर मावनावज्ञ में अन्त में रघावी मवज्ञता का लाभ होता है। पराश्रित्य के उचितवज्ञान, नराभ्यवदन आदि का अनेकान्तापद्यों रूपम बर्द्ध मानादि में तथा आभोपदेशक कविप्रादि में मन्मव नदों अतएव जनें आवरणचप द्वारा सर्वज्ञत्व का भी मन्मव नहीं। इस तरह सामान्य सर्वज्ञत्व की सिद्धि के द्वारा अन्त में

१ 'इतथापरलक्षणं तु यत्तद्विनिश्चयितम् । तर्जावतनि-यत्कारकम् । ननु वेदानाम् ॥ यथा तथा च मोर्षादिदोषानुहा मवजन । तथा तथा मावानां इवा तु मरतने-। तत्त्वम- का० ३१३१-२ ।

२ 'अनीतम महान् काना वैरिणा आनिषातम् । तद्वचस्पति निरपनु शामन्त्व न उच्यते ॥ अनीतिप्रवरापका नरे कथित् समरित च । तद्वचस्पतिगुदि च नित्या वैरिणि माह्वान् ॥' नरपर्या का ३१३१-८० ।

३ 'य च कथितान्ताद् ब्रह्मणाः कारमाविद्याः । अन्वलाभकरीगावसरन कुनेव शान्ते ॥ इति भमन्तरव बुद्धा परिशीरने । शूद्राः कथिता दि भमनेशोभरीग्या ॥' नरपर्या का ३१८२-१० ।

४ 'य तर्जावनेगम्ये न नैवा लभते श्रितियम् । तद्विद्वद्वता र्त्न्य मनेने त्रिदि यथा ॥' नरपर्या का० ३१३१-१ । एवं कनेशापरलक्षात् प्रताप च कारणप्रहात् प्रतिय-यमा-—काशुतिरिदोर्गादि-—काशु-तु गतिताय वेगो नातिव लक्षणम् । नरकायमाः त्रिदि तर्जावन्तुतिम् ॥'—नरपर्या का ३१३१ । 'अन्वय मरे चित्त तद्वद्वद्वतान्तावकम् । प्रज्ञानेव विद्या यामन् मतासत्याकाश मता ॥' नरपर्या का ३१३१ । प्रमाणा १ १ = ।

५ 'इह च ब्रह्मज्ञानेगाव्यवहारमेतदम् । न लमन्तावदप्यी दि विनया सर्वनीयता इ-—काशुतिरिदोर्गादि- (का) नानादिदोर्गादि- (का) याम् । वह बुद्धयुक्त है, इतु नरका च च तु न ॥' नरपर्या का ३१३१-२१ ।

अन्य तीर्थङ्करों में सर्वज्ञत्व का असम्भव बतलाकर कबल सुगत में ही उसका अस्तित्व सिद्ध किया है और उसी के शास्त्र को प्राज्ञ बतलाया है ।

ग्रन्तरक्षित की तरह प्रत्येक सांख्य या जैन आचार्य का भी यही प्रयत्न रहा है कि सर्वज्ञत्व का सम्भव अवरय है पर वे सभी अपने अपने तीर्थङ्करों में ही सर्वज्ञत्व स्थापित करते हुए अन्य तीर्थङ्करों में उसका निवान्त असम्भव बतलाते हैं ।

जैन आचार्यों की भी यही दलील रही है कि अनेकान्त सिद्धांत ही सत्य है । हमके यथावत् दर्शन और आचरण के द्वारा ही सर्वज्ञत्व सम्भव है । अनेकान्त का साक्षात्कार व उपदेश पृथक् रूप से श्रुत, बर्द्धमान आदि ने ही किया अतएव वे ही सर्वज्ञ और उनके उपनिष्ट शास्त्र ही निर्दोष व प्राज्ञ हैं । सिद्धसंन हों या समन्वय, अकलङ्क हों या इमेचन्द्र सभी जैनाचार्यों न सर्वज्ञसिद्धि के प्रसङ्ग में बैसा ही युक्तिवाद अमलम्बित किया है जैना बन्धु 10 सांख्यादि आचार्यों ने । अन्तर सिर्ज इतना ही है कि किसी^१ ने नैरात्म्यदर्शन का तो किसी^२ ने पुरुष प्रकृति आदि तत्वों के साधारण को, किसी^३ ने द्रव्य-गुणादि छ. पदार्थ क उत्पत्तिज्ञान को तो किसी^४ ने केवल आत्मज्ञान को बयास कहकर उसके द्वारा अपन-अपन मुख्य प्रवचक तीर्थङ्कर में ही सर्वज्ञत्व सिद्ध किया है जब जैनाचार्यों^५ न अनेकान्त वाच की बधार्थता विलाकर हमके द्वारा भगवाम् श्रुत बर्द्धमान आदि में ही सर्वज्ञत्व 15 स्थापित किया है । जो कुछ ही इतना साम्प्रदायिक भेद रहने पर भी सभी सर्वज्ञवादी एगनों का, सम्प्रदायज्ञान से मिथ्याज्ञान और उज्ज्वल स्वार्थों का नाश और तद्द्वारा ज्ञानावरण क सर्वथा नाश की शक्यता आदि वास्तविक विचार में कोई भयमेव नहीं ।

पृ० १० पं० १५ 'टीपकाश'—गुलना—“स तु दीर्घकालनैरन्वयसत्कारासेषिवो दृढभूमि ।”-

योग्य १ १५ ।

20

पृ० १० पं० १६ 'एकत्ववितर्क'—गुलना—“यत्कस्मैकत्ववितर्कसुत्तमक्रियाप्रविपाठिष्यु परतक्रियानिपुचीनि । 'अधिचारं द्वितीयम् । -तत्कार्यं ६ ४१ ४४ । विवर्तविचारानन्दाऽस्मिन्वाक्यानुगमात् संप्रदाय ।” तत्र शब्दाप्रज्ञानविकल्पे संकीर्णं मन्वितका समापत्ति ।” “निर्विचारवैशारद्येऽभ्यारमप्रसाद ।”-योग्य १ १० ४० ४८ । सा गौ अहं प्राण्य

१ महिनीवं चिन्हाह कुट्टीना मन्विकरम् । विनेयन्वा दिवावाच मैरम्बं तन तु लुत्तम् ॥”-तत्पर्यम्० का० ३३२२ ।

२ एवं तत्प्रामाणाधारिण न मे माहमित्परिशोभम् । अधिपरयाद्विशुद्ध केवलमुत्तरण जानम् ॥ -सांख्यका० ६४ ।

३ “अमरिगेरप्रस्तात् इत्यनुगुञ्जमनामाम्बविशारममवाकाना पत्तायाना कायम्पेपम्यायां तत्र आतामिभेवमम् ॥”-पृ० गू० १ १ ४ ।

४ भाष्यनी वा धर इत्यनं भार्येन मया रिक्तानेन इत् नर शिरिनम् ॥”-बृहद्वा० २ ४ २ ।

५ 'त्वमनामृतवाद्याना नरभेदान्तरिनाम् । आवातामिमान्वाकाना इत्येव त्वयेन वाप्यन ॥ -आप्तमा० का० ७ । अयोग० का० २८ ।

विचित्रवच कामेहि विचित्र अकुमल्लोहि घन्मेहि मवितस्कं सविचारं विवेकमं पीतिसुखं पठमभ्कानं
उपसंपन्नं विद्वांसिं वितककविचाराने पृथममा अमर्त्तं संपसादन चतमेा एकाविभारं अवि-
तस्कं अविचारं समाधिर्गं पीतिसुखं दुतियम्कान उपसंपन्नं विद्वांसि ।”-मग्निम् १ १ ४।

५० १० पं २३ 'न स्वशु करिचदह्यस्मि'-गुणना-"महि सातु करिचदत्र संविग्ने

५ अर्हं वा माहं वति, न च विपर्यत्यति माहमवेति"-जस शाशुना ५ २। बिलुन्नी ५ २२।
स्वरधन ५ ४८।

५० १० पं २४ 'बादृष्ट्वात्'-गुणना-

“प्रमास्वरमिर्द् धिर्त्तं तत्त्वदर्शनसात्मकम् ।

मकृत्यैव स्थिर्त्तं यस्मान्मक्षास्वपागन्तवामता ॥”-उत्पत्तं का ३४३५।

10 ५० १० पं ०० 'अथ प्रकाश'-गुणर्जम् धीर मात्त मानने बाह् समी दार्शनिक
वेदादि अङ्गमित् आत्मतत्त्व को मानते हैं। चाह वह किसी के मत से व्यापक हो या किसी के
मत से अस्थापक, कार्य वसे एक माने या कार्य अनेक किसी का मन्तव्य अक्षिकरवविषयक
हो या किसी का निस्परवविषयक पर सभी का पुनर्जम् का कारण अज्ञान भादि कुछ न
कुछ मानना ही पड़ता है। अतएव ऐसे सभी दार्शनिकां क सामने ये प्रश्न समाम हैं—

15 जन्म के कारणमूत तत्त्व का आत्मा के साथ सम्बन्ध कब हुआ धीर वह सम्बन्ध
कैसा है ? अगर वह सम्बन्ध अनादि है तो अनादि का नाश कैसे ? एक बार नाश होने
क बाद फिर वैसा सम्बन्ध होने में क्या अड़बट ? इन प्रश्नों का उत्तर सभी अपुनराहृति
रूप मोक्ष माननवाले दार्शनिकों ने अपनी अपनी सुधी-सुधी परिभाषा में भी बस्तुत एक
रूप से ही दिया है।

20 सभी ने आत्मा क साथ जन्म क कारण के सम्बन्ध को अनादि ही कहा है। सभी
मानते हैं कि यह बतलाना सम्भव ही नहीं कि अमुक समय में जन्म क कारण मूक्तत्त्व का
आत्मा स सम्बन्ध हुआ। जन्म के मूक्तकारण का अज्ञान कहे अविद्या कहे, कर्म कहा
या धीर कुछ, पर सभी स्वसम्मत अमूर्त आत्मतत्त्व क साथ सूत्रमत्त मूक्तत्त्व का एक
पंसा विलक्षण सम्बन्ध मानते हैं जो अविद्या वा अज्ञान के अस्तित्व तक ही रहता है धीर

25 फिर नहीं। अतएव सभी द्वैतवादी के मत से अमूर्त धीर मूर्त का पारस्परिक सम्बन्ध निश्चिन्नाद
है। जैसे अज्ञान अनादि होने पर भी नष्ट होता है वैसे वह अनादि सम्बन्ध भी ज्ञानजन्य
अज्ञान का नाश होती ही नष्ट हो जाता है। पूर्वाज्ञान के बाद दोष का सम्भव न होने के
कारण अज्ञान भादि का अद्वय सम्बन्ध ही नहीं अतएव अमूर्त-मूत का सामान्य सम्बन्ध
मोक्ष दशा में होने पर भी वह अज्ञानजन्य न होने के कारण जन्म का निमित्त बन नहीं
30 सकता। संसारकाशीन वह आत्मा धीर मूर्त इन्ध का सम्बन्ध अज्ञानमनित है जब कि
मोक्षकाशीन सम्बन्ध वैसा नहीं है।

संस्क-योग दर्शन आत्मा-पुढव के साथ प्रकृति का व्याप-वैशेषिक दर्शन परमाहृष्टों
का अज्ञवादी अविद्या-भाषा का वैदिक दर्शन वित्त-नाम क साथ रूप का धीर जैन दर्शन

कीब कं साय कर्माण्युभौ का संसारकालीन विज्ञेयसम्बन्ध मानते हैं । ये सब मान्यता पुनर्मन्त्र घोर मोक्ष के विचार में से ही कसित हुई हैं ।

पृ० १० पं० २० 'अथ प्रकाशस्वभासत्'—उलना—“अथएव क्लेशाद्योऽत्यन्तसमुद्य ताऽपि नैरात्म्यदर्शनसामर्थ्यमत्योन्मुख्यितुमसमर्थे । अगस्त्युकप्रत्यवकृतवदनादृत्वात् । नैरात्म्यज्ञान तु स्वभावत्वात् प्रमाद्यसहायकात् बलवदिति तुल्येऽपि विरोधित्वे आरमदर्शने प्रति 5 पक्षा बलवत्त्वात् । नापि धाम्नादिकाठिन्यादिवत् पुनरुत्पत्तिसम्भवा दोषाद्याम्, तद्विरोधिनैरात्म्यदर्शनत्वात्पण्यसात्म्यमुपगतस्य सदाऽनपायात् । धाम्नादिकाठिन्यस्य हि यो विरोधी बलित्तस्य कादाचित्कसन्निहितत्वात् काठिन्यादेस्तदभाष एव भवत पुनस्तदपायादुत्पत्तियुक्त । नत्वेवं मलानाम् । अपायेऽपि वा मार्गस्य मस्मादिभिरनैकान्ताभावरथं पुनरुत्पत्तिसम्भवा दोषाद्याम्, तथाहि—काष्ठादेरभिमन्बन्ध्याङ्गरमसाद्भूतस्य तदपायेऽपि न प्राक्तनरूपा 10 मुद्रति, तद्गुहावाद्यामपीत्यनैकान्त । किञ्चागस्त्युकवत्वा प्रागप्यसमर्थानां मलानां परंपारसास्मीमूर्तं कन्मैरात्म्यं बाधितुं कृतं शक्ति, नहि स्वभावो यत्नमन्तरेण निबन्धयितुं शक्यते । न च प्राप्यपरिहर्षण्यवोर्बस्तुनेर्गुणवोपदर्शनमन्तरण प्रेक्षावतां हातुमुपादातु वा प्रयत्नो युक्त । न च विपक्षसा (न चाधिपर्यस्ता ?) स्मन पुरुषस्य दोषेयु गुणदर्शन प्रतिपक्षे वा दोषदर्शनसम्भवति अधिपर्यस्तत्वात् । नहि निर्दोषं बस्तुविपर्यस्तधियो हुष्टस्वेनोपाददते, नापि तुर्हं 15 गुणवरत्नेन”—उल्लंघ ५ पृ ८०३४ ।

पृ० ११ पं० ६ 'अमूर्ताया अपि'—उलना—“अमूर्ताया अपि चेतनाशक्तेर्मिरामदमको प्रवादिमिरावरदोपपत्ते ।”—प्रमेयर ५ ५६ ।

पृ० ११ पं० ६ 'वर्षातपा'—उलना—“तुल्यत-वर्षातपा”-प्रामटी २ २ २६ । म्यापन ५ ४११ । 20

पृ० ११ पं० १० 'ननु प्रमाणाधीना'—उलना— प्रमेयसिद्धि. प्रमाखादि ।”—पाम्यन ४ ।

पृ० ११ पं० २० 'विधाव्य'—उलना—श्रैमि १ २१ ।

पृ० १२ पं० १ 'प्रज्ञाया अतिशय'—उलना—‘यदिदमतीतानागतप्रत्युत्पन्नप्रत्येकसमुद्य-पातीन्त्रियमदृश्यमस्यं बद्धिति सर्वज्ञबीजम्, एतद्वि बर्धमानं यत्र निरतिशयं स सर्वज्ञ । अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य सातिशयत्वात् परिमाद्यवदिति, यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञ स 25 च पुरुषविशेष इति ।”—योगमा १ २३ । तत्त्वटी १ २५ ।

पृ० १२ पं० ३ 'सुस्मान्तरित'—उलना—आन्तमी वा ५ ।

पृ० १२ पं० ४ 'ज्योतिर्ज्ञान'—उलना—

“प्रज्ञाभिगतयं सभा सुखदुःखादिहेतव ।

येन साक्षात्कृतास्त्वन किञ्च साक्षात्कृतं मगत् ।

आत्मा योऽस्य प्रवक्त्यापमपरालीडसत्यय ।

नास्पृक्षं यदि आनाति नापदं प्रवर्तते ॥ 30

शास्त्रे दुरवगाहार्यतत्त्व इष्टं हि यथलम् ।

ज्योतिर्ज्ञानादिवत् सर्वं स्वत एव प्रखटुमि ॥”-आश्वि १ २८, ७५, ८ ।

“ज्योतिर्ज्ञानं ज्योति शास्त्रम्, आदिशब्दादायुर्बेदादि तत्रैव तद्व्यवथा ज्योति-शास्त्रादी
वत्परव इष्टं यै वदर्शमस्य समर्भितरथात् तद्व्यवस्थादपि सर्वं तस्यैष्ट-ष्टमेवात्मजा तद्विषयानुपदेशा
० सिद्धाम्बबबबतिरकादिसम्बादिशास्त्रप्रत्ययनानुपपत्ते ।-आश्वि २ी नि ४ ५६३ ।

४० १२ पं० १७ ‘सर्वमस्ति’-उक्तना-रवाहास्य का १५ ।

“सद्व्य सर्वं को नञ्छेत् स्वरूपादिषतुष्टयात् ।

असद्व्य विषयासात् न चेन्न व्यनतिष्ठते ॥”-आश्विमी का १५ ।

“स्वरूपपररूपाम्यां नित्यं सदसदात्मके ।

१० यस्तुनि ज्ञायते कश्चिद्रूपं किञ्चित् कदाचन ॥” रत्नोक्तना अग्राव रत्नो १२ ।

४० १२ पं० २७ ‘ज्ञानममति’-उक्तना-शास्त्रा ३२ ।

“इतिहासपुराणेषु ग्रन्थादियेषु सर्वमिदं ।

ज्ञानममतिर्यस्य वैराग्यं चति कीर्तिषम् ॥” तत्त्वर्ष का ३१६६ ।

४० १२ पं० ३० ‘यत्कुमारिण’-उक्तना- पदावत्कुमारिणोक्तं पूर्वपक्षोक्तम्-

१० तत्त्वर्ष ५ ४ ८३६-८४४ ।

४० १३ पं० १ ‘आ’ सर्वज्ञ’-यहाँ आ० इमचन्द्र मे कुमारिण क प्रति जैसा
मात्रादाधिक राय ब्यक्त किया है वैसा ही कुमारिण, शङ्कराचार्य भाषि ने बुद्ध भाषि क
प्रति ब्यक्त किया है ।-“स्वधर्ममिच्छन्मव य वनं चत्रिवेष सता प्रवक्तृवप्रतिमही प्रतिपत्नी स
वममविष्णुतमुपदेशवर्षीति क समाश्वास ।”-उक्तना ४ ११६ ।

२० ४० १४ पं० ८ ‘पापकामाबाध’-इस सूत्र का जो विषय है उसे विस्तार बीर
बारीकी के साथ समझने के वास्तु परबलीप्रद की ‘अतीन्द्रियदर्शिपुरुषपरीक्षा’ का-“यातिता
सिलावस्तु” स्यादिस्पत्रार्थ न पापकम्” (का १२१६)-“तस्मात्सर्वज्ञसदृमापवापकं
मास्ति किञ्चन (का ११०)” एक का भाग पच्छिका सहित ज्ञास देखने योग्य है जो
मीमांसका क पूर्वपक्ष का ज्ञास बनाव है ।

५ ४० १४ पं० ९ ‘सुनिश्चिता’-उक्तना-आश्वि का १६ । ‘तदस्ति सुनिश्चितास
म्बबबबबकप्रमादत्वात् सुलादिवत्”-तपी स्वनि १ ४ । अश्व ४ ५८ ।

४० १४ पं० १५ ‘अथ सकल’-‘यावज्ज्येयम्बापिज्ञानरहितसकलपुरुषपरिवत्परिज्ञा
मस्य तदन्तरात्पुपपत्ते तदभाववरवशो न कश्चिदनुपपन्नम्भे कपुप्यवत् । न वै जमिनिरम्भो
वा तदभाववरवश सत्त्वपुरुषत्व[बकृत्वाद्] रम्भापुरुषवत् । पुरुषाविशयसम्भवे अतीन्द्रिय

३०) यहाँ किं न तथात् । अत्र अनुपपन्नममप्रमादबन् सर्वज्ञादिविशेषामावे कुण- प्रमादबोध, अनेरात
सापकवापकप्रमादामाशात् P-तपी स्वनि १ ४

पृ० १४ प० २३ 'वसवस्वात्'—मीमांसक न सर्वज्ञत्व क नियम में वसवस्व, पुरुष
 त्वादि जिम हतुओं का प्रयोग किया है उनकी असापकता सर्वज्ञत्ववादी शान्तरचित (तस्य
 का ३२५E-३४६६), अकसङ्क (मरु अस्वष्ट पृ ४४) और प्रमाचन्द्र ने (प्रमयक पृ
 ७३ A) अपने अपने ग्रन्थों में बतलाया है पर उक्त तामों आचार्यों का असापकरकप्रदशन
 प्रकार कुछ भिन्न-भिन्न है । वसवस्व हतु क निराम का प्रकार प्रमाचन्द्र और धा० हेमचन्द्र
 का समान है ।

पृ० १४ पं० ११ 'मनसो रुच्य'—मन-पर्यायज्ञान क स्वरूप क सम्बन्ध में सा पर
 स्वरार्ये दुर्गी जाती है । एक परम्परा मानती है कि मन-पर्यायज्ञान, परकीय मन में चिन्त्य
 मान ग्रहों को जानता है जब कि दूसरी परम्परा मानती है कि मन पर्यायज्ञान चिन्तनव्यापृत
 मनाग्रह्य क पर्यायों को मात्वा जानता है और चिन्त्यमान पदाथ ता पीछे म अनुमान को
 द्वारा जाने आवे है, क्योंकि चिन्त्यमान पदाथ मूर्त की तरह अमूर्त भी हो सकते हैं जिन्हें मन
 पर्यायज्ञान विषय कर नहीं सकता ।

पहली परम्परा आवश्यक नियुक्ति की गाथा (७६)—

“मणपञ्चवनाण पुण जणमणपरिचिन्तित्यस्यपायदणं ।
 माणुमलिचिनिषदं गुणपञ्चइयं चरिचनमा ॥”

15

सं तथा वरबाधमाप्य (२६) क—“अवपिज्ञानविषयस्यामन्तमार्गं मन-पर्यायज्ञानी जानीत
 रूपिद्रव्याणि मनारदरयविचारगतानि च मानुपचत्रपर्यायमानि विशुद्धतराणि चति”—शब्दों स
 प्रकट होती है । दूसरी परम्परा विशयावरयकमाप्य गाथा (= ४)—

“दम्भमणोपञ्चाए नाणइ पासइ य तगएणन्त
 तणानभामिए वण माणइ षञ्जेणुमाणणणं ॥”

20

सं तथा नम्भानुधि—‘मतिरथ पुम पञ्चमं यो पञ्चइ, अथ मयय मुचममुत्तं वा, सा य
 छउमरथो ष अणुमायता पेक्खइ सि’—इ २६ B आदि से स्पष्ट होती है ।

इन शब्दांशरीय तामों परम्पराओं में से पहला ही एकमात्र परम्परा दिग्मन्त्र सम्प्रदाय
 में पाई जाती है—‘परकीयममसि व्यवरिषतोऽथ अनेम ज्ञापत इत्येतावन्नापेक्षयत’—अथाप
 १-२१। गाम्भट जीव गा ४३७ । जान पड़ता है कि नियुक्ति और वरबाधमाप्यगत परम्परा
 दिग्मन्त्राय साहित्य में सुरचित रही पर पीछे स साहित्यिक सम्बन्ध विषयकुच छूट जान क
 कारण भाष्य-वृत्ति आदि में बिकसित दूसरी परम्परा का पञ्चान्तर रूप से या सण्डनीय रूप स
 दिग्मन्त्रीय ग्रन्थों में अस्तित्व तक न आया ।

25

आचार्य हेमचन्द्र न अपने पूर्ववर्ती धार्मिक शब्दान्तर आचार्यों की तरह इस जगह
 दूसरी परम्परा का ही अवलम्बन किया है । मय बात ता यह है कि पहली परम्परा उन
 प्राचीन ग्रन्थों में निर्देशरूप से पाई जाता है महा पर व्यवहार में सबत्र निदानरूप म दूसरी
 परम्परा का हा अवलम्बन शब्दान्तर आचार्य करत है । पहली परम्परा में दापाद्भावन

30

मनोरञ्जक बात तो यह है कि शाब्दिक क्षेत्र से चलाकर इन्द्रियपद की निरुक्ति ने दार्शनिक क्षेत्र में मग्न प्रवेश किया तभी उस पर दार्शनिक सम्प्रदाय की छाप छाग गई। बुद्धपोष? इन्द्रियपद की निरुक्ति में और मग्न अब पाश्चिमीकथित बतलाते हैं पर इन्द्र का अर्थ सुगत बतलाकर भी उस निरुक्ति को सङ्गत करने का प्रयत्न करते हैं। जैन भाषाकारों ने इन्द्रपद का अर्थ मात्र जीव या आत्मा ही सामान्य रूप से बतलाया है। उन्होंने बुद्धपोष की तरह उस पद का स्वाभिप्रेत तीर्थाङ्कुर अर्थ नहीं किया है। स्वाय-वैरोचिक जैसे ईश्वर कर्तृत्ववादी किसी वैदिक दशम क बिद्वान् ने अपने ग्रन्थ में इस निरुक्ति का स्थान दिया होगा या शाब्दिक यह इन्द्रपद का ईश्वर अर्थ करके भी निरुक्ति सङ्गत करवा।

सांख्यमत के अनुसार इन्द्रियों का उपादान कारण अभिमान ही जो प्रकृतिमय्य एक प्रकार का सूक्ष्म द्रव्य ही है—तात्पर्यका २५। यही मत वेदान्त को मान्य है। स्वाय वैरोचिक मत के अनुसार (स्वायत् १ १ १२) इन्द्रियों का कारण पृथ्वी आदि भूतपञ्चक है जो अङ्ग द्रव्य ही है। यह मत पूर्वमीमांसक को भी अभीष्ट है। बाह्यमत के अनुसार प्रसिद्ध पाँच इन्द्रियाँ रूपजम्ब होमे से रूप ही हैं जो अङ्ग द्रव्यविशेष है। जैन दर्शन में द्रव्य—सूक्ष्म इन्द्रियों के कारणरूप से पुवुगच्छविशेष का ही निर्देश करवा है जो अङ्ग द्रव्यविशेष ही है।

कर्त्तर्यभ्रुवो, अधिगोत्रककृष्णसार, त्रिपुटिका बिद्वा और चर्मरूप जिन बाह्य आकारों को साधारण लोग अनुक्रम से कर्त्त मेत्र प्राय एसन और एक इन्द्रिय कहते हैं वे बाह्यकार सर्व दर्शनों में इन्द्रियाधिष्ठान? ही माने गये हैं—इन्द्रियाँ नहीं। इन्द्रियाँ तो वप आकारों में स्थित अतीन्द्रिय बधुक्रम से मानी गई हैं, चाहे वे भौतिक ही या आध्यात्मिक। जैन दर्शन इन पौवुगच्छिक अधिष्ठानों का द्रव्येन्द्रिय कहकर भी बही मात्र सूचित करता है कि—अधिष्ठान बरतुत इन्द्रियाँ नहीं हैं। जैन दर्शन के अनुसार भी इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय हैं पर वे भौतिक या आभिमानीक अङ्ग द्रव्य न होकर चेतनशक्तिविशेषरूप हैं जिन्हें जैन दर्शन मावेन्द्रिय—सूक्ष्म इन्द्रिय—कहता है। मन नामक वस्तु इन्द्रिय सब दर्शनों में अन्तरिन्द्रिय या अन्त-करक रूप से मानी गई है। इस तरह बुद्धि इन्द्रियाँ ता सर्व दर्शय साधारण हैं पर सिफु सांख्यदर्शन देता है जो बाक्, पाणि पावादि पाँच कर्मेन्द्रियों का भी इन्द्रियरूप से गिनकर उनकी स्यारह संख्या (तात्पर्यका २४) बतलाता है। जैसे बापत्यदि मित्र और अपन्त न सांख्यपरिगणित कर्मेन्द्रियों को इन्द्रिय मानने के विरुद्ध कहा है जैसे ही या हेमचन्द्र ने भी कर्मेन्द्रियों के इन्द्रियत्व का निरास करके अपने पूर्ववर्ती पुरुष पादादि जैमाचार्यों का ही अनुसरण किया है।

१ देखो टिप्पण्य पृ ३२ टिप्पणी १।

२ स्वायम० पृ० ४३३।

३ तात्पर्य० पृ ५३१। स्वायम० पृ० ४८३।

४ तत्त्वार्थमा २. १५। सर्वार्थ० २. १५।

यहाँ एक प्रश्न होता है कि वृष्यपादादि प्राचीन जैनाचार्य तथा बाणस्पति, मपन्त आदि अन्य विद्वानों ने जब इन्द्रियों की संख्यसम्बन्ध ग्यारह संख्या का बलपूर्वक खण्डन किया है तब उन्होंने या और किसी ने बौद्ध अभिधर्म में प्रसिद्ध इन्द्रियों की बाईस संख्या का प्रतिपक्ष या उल्लेख तक क्यों नहीं किया ? यह मानने का कोई कारण नहीं है कि उन्होंने किसी संस्कृत अभिधर्म ग्रन्थ को भी न देखा हो । ज्ञान पड़ता है बाह्य अभिधर्मपरम्परा में प्रत्येक मानसशक्ति का इन्द्रियपद से निर्देश करने की साधारण प्रथा है यथा विचार करके हा उन्होंने उस परम्परा का उल्लेख या खण्डन नहीं किया है ।

छ. इन्द्रियों के शब्द, रूप गन्ध, रस, स्पर्श आदि प्रतिनियत विषय प्राह्य हैं । इसमें वे सभी दर्शन एकमत हैं पर म्याय-वैशेषिक का इन्द्रियों के द्रव्यप्राहकत्व के सम्बन्ध में अन्य सबके साथ मतभेद है । इतर सभी दर्शन इन्द्रियों को गुणप्राहक मानते हुए भा 10 गुण-द्रव्य का अभेद होने के कारण उन्हें इन्द्रियों का द्रव्यप्राहक भी मानते हैं जब कि म्याय वैशेषिक और पूर्वमीमांसक ऐसा नहीं मानते । वे सिर्फ़ क्षेत्र, स्पर्शन और मन को द्रव्यप्राहक कहते हैं अन्य को नहीं (मुष्ठा का २१ २६) । इसी मतभेद को भा० हमचन्द्र ने स्पर्श आदि शब्दों की कर्म-भावप्रधान व्युत्पत्ति बतलाकर व्यक्त किया है और साथ ही अपन पूजगामी जैनाचार्यों का पदानुगमन भा । 15

इन्द्रिय एकत्व और नामात्मवाद की यथा दर्शनपरम्पराओं में बहुत पुरानी है— भाष्य १ २ ५२ । कोई इन्द्रिय को एक ही मानकर नामा स्थानों के द्वारा उसके नामा कार्यों का समर्थन करता है, जब कि सभी इन्द्रियनामात्मवादी उस मत का खण्डन करके सिर्फ़ नामात्मवाद का ही समर्थन करते हैं । भा० हमचन्द्र ने इस सम्बन्ध में जैन प्रकिया सुलभ अनेकान्त दृष्टि का आश्रय लेकर इन्द्रियों में पारस्परिक एकत्व-नामात्म उभयवाद का 20 सम्बन्ध करके प्राचीन जैनाचार्यों का ही अनुसरण किया है और प्रत्येक एकान्तवाद में परस्पर दिये गये दूषणों का परिहार भी किया है ।

इन्द्रियों के स्वामित्व की चिन्ता भी दर्शनों का एक खास विषय है । पर इस सम्बन्ध में जितनी अधिक और विस्तृत चर्चा जैनदर्शन में पाई जाती है वैसी अन्य दर्शनों में कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती । वह बाह्य दर्शन में है पर जैनदर्शन क मुक्ताविवेक में अल्पमात्र 25 है । स्वामित्व की इस चर्चा को भा० हमचन्द्र ने एकान्त-भङ्गावसन्ती तत्त्वामसूत्र भार माध्य में स अक्षरान् लेकर इस सम्बन्ध में मारा जैनमन्तव्य प्रश्रित किया है ।

पृ० १७ पं० ४ 'तत्र स्पर्शनेन्द्रियम्'—उलना—'बाह्यन्तानामकम् ।'—उत्सार्ध २. २१ ।

१ 'अतमानि द्वाविंशतिः । बहुन्द्रियं क्षेत्रन्द्रियं प्रायेन्द्रियं विहन्द्रियं कायेन्द्रियं मन इन्द्रियं कीन्द्रियं पुष्यन्द्रियं बीभितन्द्रियं सुप्तेन्द्रियं बुद्धेन्द्रियं शौमनस्त्रियं शौमनस्त्रियं उपेक्षेत्रियं अवेन्द्रियं बोधेन्द्रियं स्मृतेन्द्रियं वयापीन्द्रियं प्रह इन्द्रियं अमाशयमाहात्म्यामीन्द्रियं भाव इन्द्रियं आवातापीन्द्रियम् ।'—कफुला० पृ० २५ । विमुक्ति० पृ० ४२१ ।

पृ० १७ पं० १२ 'अग्ने षस्यते'-प्रस्तुत ऋग्वेद का भागो का भाग अक्षय्य है। अतः भागम और अमुमान को द्वारा जीवत्वसिद्धि किस प्रकार शास्त्र में की जाती है इसके सिद्धे देखो—गन्मन्दिरी पृ १५२ टि १; पृ १५३ टि ३; पृ १५४ टि १।

पृ० १७ पं० १२ 'स्पर्शनरसनेन्द्रिये'-दुलना-वर्णार्थमा २ २४।

पृ० १७ पं० १८ 'ननु वचन'-दुलना-वर्णार्थमा १६, २८।

पृ० १७ पं० २२ 'तेषां च परस्परम्'-दुलना-वर्णार्थमा २ १६। वत्कार्यरतो १ १६।

पृ० १८ पं० ७ 'एवमिन्द्रियविषयाणाम्'-दुलना-वर्णार्थमा २२। वत्कार्यमा २२।

पृ० १८ पं० २० 'सुम्भनम्'-दुलना-"सुम्भनं छम्भि । का पुनरसी ? ज्ञानावरण उपोपशमविशेष । अर्थप्रद्वयशक्तिः छम्भि ।"-तृती स्वधि १ ५।

पृ० १८ पं० २ 'यत्सम्भिधानां'-दुलना-वर्णार्थमा २ १८। "उपयोगः पुनरर्थमद्वय व्यापारः"-तृती स्वधि १ ५।

पृ० १८ पं० २४ 'तत्र छम्भिस्वभावं तावदिन्द्रियम्'-दुलना वत्कार्यरतो २ १८।

पृ० १९ पं० १ 'स्वार्थमकारणे'-दुलना-वर्णार्थमा २ १८।

पृ० १९ पं० ८ 'सर्वाथे'-मन के स्वरूप कारण, कार्य भर्म और स्थान आदि अनेक विषयों में दार्शनिकों का सामाविक मतमेव है जो संक्षेप में इस प्रकार है। वैशेषिक (वे ६ ० १ २३) नैयायिक (संस्कृ १ २ ११) और तदनुगामी पूर्वमीमांसक (प्रकरण पृ १५१) मन को परमात्मारूप अवयव नित्य-कारणरहित मानते हैं। सांख्य-योग और तदनुगामी वेदान्त इसे परमात्मारूप नहीं फिर भी असुरूप और जल्प्य मानकर इसकी उत्पत्ति प्राकृतिक अद्वैतकारण से या अविद्या से मानते हैं। बौद्ध और जैन परम्परा के अनुसार मन न तो व्यापक है और न परमात्मारूप। वे दोनों परम्परार्थे मन को अल्प परिमाणात्मा और जल्प्य मानती हैं। बौद्ध परम्परा के अनुसार मन विज्ञानात्मक है और वह उत्तरवर्ती विज्ञानों का सममन्तरकारण पूर्ववर्ती विज्ञानरूप है। जैन परम्परा के अनुसार पौवृणसिद्ध मन तो एक शास्त्र प्रकार के सूक्ष्मतम मनोवर्गज्ञानात्मक सङ्ग इन्वेष से उत्पन्न होता है और

१ "वरमात् कर्ममित्रादि दुर्धीमित्रादि च तात्पर्यादकारणवृत्त्यस्तं मनोऽपि तस्मादेव उत्सद्यते।"-माठर का० २७।

२ "विज्ञानं प्रतिविशतिः मन आकानं च तत् । परशामन्तरात्पौर्व विज्ञानं पद्धि तन्मनः ॥"-अभिधर्म १ १६ २७। तत्परसं का ३३१।

तत् पत्तमन्तरादिबद्धं विज्ञानं उत्तममनोवापुसि। तद्यथा त एव पुत्राऽन्वस्य पित्राकर्म समते तदेव जन्ममन्तरं बीजाक्याम् । तद्वैशति त एव चक्षुरादिविज्ञानवापुस्त्वस्वात्त इति मनोकारणाकर्म समत् । च एव पद् विज्ञानवापुश्च त एव मनोवापुः । च एव च मनोवापुस्त एव च पद् विज्ञानवापुश्च इती तरेतपन्मर्त्याः शमापाररुतेन तु पद् विज्ञानमपि तिष्ठेऽप्यस्ति मनोवापुः ॥"-रघुदा पृ० ४० ४१।

बहु प्रतिपद्य शरीर की तरह परिवर्तन भी प्राप्त करता रहता है सब कि भावमन ज्ञानशक्ति—
और ज्ञानरूप ज्ञान से चेतनद्रव्यजन्य है ।

सभी दर्शनों के मतानुसार मन का कार्य इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख आदि गुणों की तथा
 कम गुणों के अनुभव की उत्पत्ति कराना है, चाहे वे गुण किसी के मत से आत्मगत हों
 जैसे न्याय, वैशेषिक, मीमांसक, जैन आदि के मत से या अन्व-करण—बुद्धि के हों जैसे 5
 सांख्य योग-बदान्तादि के मत से, या स्वगत ही हों जैसे बौद्धमत से । बहिरिन्द्रियजन्य
 ज्ञान की उत्पत्ति में भी मन निमित्त बनता है और बहिरिन्द्रियनिरपेक्ष ज्ञानादि गुणों की
 उत्पत्ति में भी बहु निमित्त बनता है । बौद्धमत के सिवाय किसी के भी मत से इच्छा, द्वेष,
 ज्ञान, सुख, दुःख संस्कार आदि धर्म मन के नहीं हैं । वैशेषिक, नैयायिक, मीमांसक और
 जैन के अनुसार वे गुण आत्मा के हैं पर सांख्य-योग-वेदान्तमत के अनुसार वे गुण बुद्धि— 10
 अन्व-करण—के ही हैं । बौद्ध दर्शन आत्मतत्त्व अलग न मानकर उसके स्थान में माम—मन
 ही को मानता है अतएव उसके अनुसार इच्छा, द्वेष, ज्ञान, संस्कार आदि धर्म जो दर्शनभेद
 से आत्मधर्म या अन्व-करणधर्म कहे गये हैं वे सभी मन के ही धर्म हैं ।

न्याय-वैशेषिक-बौद्ध आदि कुछ दर्शनों की परम्परा मन को हृदयप्रवेशवर्ती मानती
 है । सांख्य आदि दर्शनों की परम्परा के अनुसार मन का स्थान कवच हृदय कहा महों 15
 जा सकता क्योंकि उस परम्परा के अनुसार मन सूक्ष्म-लिंगशरीर में, जो अष्टादश तत्त्वों का
 विशिष्ट निकाररूप है, प्रविष्ट है । और सूक्ष्मशरीर का स्थान समग्र स्थूल शरीर ही
 मानना उचित जान पड़ता है अतएव इस परम्परा के अनुसार मन का स्थान समग्र स्थूल
 शरीर सिद्ध होता है । जैन परम्परा के अनुसार भावमन का स्थान आत्मा ही है । पर
 द्रव्यमम के वार में पञ्चमेद देखे जाते हैं । दिगम्बर पञ्च द्रव्यमन का हृदयप्रवेशवर्ती मानता 20
 है जब कि श्वेताम्बर पञ्च की ऐसी भाष्यता का कोई उल्लेख नहीं मिलता । जात पड़ता है
 श्वेताम्बर परम्परा का समग्र स्थूल शरीर ही द्रव्यमन का स्थान इष्ट है ।

पृ० १८ पं० १० 'मन्वायैर्ब्रह्मणम्'—गुलना—'सर्वार्थोपलब्धी मन्त्रियाणि प्रमथन्ति इति
 सर्वविषयम् अन्त कर सं मन ।'—न्यायभा १११ । 'सर्व विषयवगाहते यस्मान्'—जाक्यका ३५ ।

पृ० १८ पं० १० 'मनाऽपि'—गुलना—'मना द्विविधं द्रव्यमनो भावमनश्चेति । तत्र 20
 पुद्गलविपाकिकमोदयापेक्षं द्रव्यमन । श्रीरामस्वरायनोद्भिन्त्रियात्वारण्यधोपशमापेक्षया आरमना
 विशुद्धिर्भावमन ।'—वर्णय २ ११ ५. १६ ।

पृ० १८ पं० २२ 'रूपाणाकमनस्कार'—गुलना—नपचन्द्र कि पृ ४ B । अमेरान्तत्र
 यी पृ २ ४ ।

१ 'तरमादिशरव धमा वृत्तया नतमनः' ।—मर्याद० पाठ० पृ० ३३२ ।
 २ 'तावन्नर्थाया अपि हृदयान्तु मनप्रविधानधार्मीतामत्र वक्ष्यन्ति ।—स्फुटा० पृ० ४१ ।

भागाश्रुम न मध्यमिककारिका-

“वत्वार प्रत्यया हेतुश्चालम्बनमनन्तरम् ।

तयैवापिपतेर्यं च प्रत्ययो नास्ति पञ्चमः ॥”

में (१ २) तथा वसुबन्धु ने अभिप्रर्मेकाद्य (परि २ श्लो ३१-३४) में चार प्रत्ययों का कथन
5 व बर्धन किया है जिनका सुखासा वाचस्पति मिश्र ने मामठी (२९ १६) में तथा यामवाचार्य
न सर्वदर्शमसंग्रह (५ ३६) में सविस्तर किया है । वे ही चार प्रत्यय ज्ञाननिमित्तरूप से भा०
हेमचन्द्रावुद्धत इस कारिका में निर्दिष्ट हैं—

“मीलाभासस्य हि चित्तस्य मीलावाह्यम्बनप्रत्ययामीलाकारता । समनन्तरप्रत्यया-
त्पूर्वविज्ञानाद् बोधरूपया । चक्षुषोऽपिपतिप्रत्ययाद्रूपग्रहणप्रतिनियम । आह्लोककारसहकारि
10 प्रत्ययाद्वेत्ता स्पष्टार्थता । पर्यं सुखादीनामपि चैताभां चित्ताभिप्रेद्युक्तानां चरत्पर्येताम्बेन
कारत्वानि ॥”—मामठी २ २ १६ ।

५० १६ पं० २५ ‘नार्थालोकौ’—अच्छहू से लेकर र्सीमी जैन तार्किकों ने जिस
अर्थालोककारत्ववादा का निरास किया है वह बीद्व का ही है । न्याय आदि दर्शनों में
भी अन्वयप्रत्यय के प्रति अर्थ कारक माना गया है और वास्तुतः प्रत्यय में आह्लोक भी । वन
15 प्रम होता है कि क्या उन लौकाचार्यों के सामने कुछ कारकवासमर्थक बीद्व प्रम्व ही वे और
न्याय आदि के प्रम्व न थे ? या नैयायिकों ने उस पर चर्चा ही न की थी ? । इसका उत्तर
यह है कि वन प्राचीन समय में नैयायिक आदि वैदिक दार्शनिकों ने अर्थ और आह्लोक की
कारकताविषयक कोई खास चर्चा छोड़ी न थी और वस्तुतः खास सिद्धान्त भी रखर नहीं किये
थे जैसे कि बीद्व तार्किकों ने इस विषय में विस्तृत ऊहापोह करके सिद्धान्त रखर किये थे ।
20 अतएव जैन तार्किकों के सामने बीद्ववाद ही कुछ कारकतावादा रूप से उपरिष्ठ रहा और उन्होंने
उसी का निरास किया । गणेश कपाध्याय ने अपने प्रत्यय चिन्तामणि ग्रन्थ (५ ७२) में
विषय और आह्लोक के कारकत्व का स्पष्ट एवं खिरर सिद्धान्त रखा । पर भा० हेमचन्द्र
गणेश के समकालीन होने से वनके देखने में चिन्तामणिग्रन्थ नहीं आया । यही कारण है
कि भा० हेमचन्द्र ने इस अर्थालोककारत्ववादा के निरास में अपने पूर्ववर्ती जैन तार्किकों
25 का ही अनुसरण किया है ।

तदुत्पत्ति-वदाकारता का सिद्धान्त भी बीद्व है । बीद्वों में भी वह लौकान्तिक का है
क्योंकि लौकान्तिक बाह्य विषय का अस्तित्व मानकर ज्ञान को अन्वय-वदाकार मानते हैं ।
इस सिद्धान्त का अण्डन विद्वानवादी योगाचार बीद्वों ने ही किया है जो प्रमाणवार्तिक और
वसकी टीका प्रमाणवार्तिकालङ्कार (५ ११) आदि में देखा जाया है । जैन तार्किकों ने
30 प्रथम से ही उसी अण्डनसरबी को छोडर वन वाद का निरास किया है ।

५० २ पं० १ ‘म चासाधर्षी’—गुलता- ‘मानुष्यत्वान्बध्मपिरेके कारक नाकारक
विषय इति वासिष्ठयोगोत्तम् । तामसलगतकुलामां वयधि सति रूपदर्शनं आचरयविच्छेदात् ।

आज्ञोके सत्यपि संशयज्ञानसम्भवात् काषायुपहृतेन्द्रियाणां शुद्धशुद्धादी पीताधाकारज्ञानो
 त्यक्तेर्मुमुक्षां यथासम्भवमेव सत्यपि विपरीतप्रतिपत्तिसद्भाषाभार्यादय कार्थं ज्ञानस्येति
 रिक्तम् ॥”-उपी स्वभि ६ ७ ।

पृ २० पं० ३ 'योगिनां च'-इलना-उत्तरार्धलो १ १४ ७-९ । प्रमेयक पृ ६४ A
 पृ० २० पं० १५ 'तस्मात्'-इलना-

“स्वहेतुजनितान्यपर्य परिच्छद्य स्वतो यथा ।

तथा ज्ञानं स्वहेतुस्य परिच्छेदात्मकं स्वतः ॥”-उपी ६.९ । उत्तरार्धलो पृ २१८ ।

पृ० २० पं० १६ 'सदुत्पत्तिमन्तरेण'-इलना-

“मलविद्धमणिव्यक्तिर्ययानेकप्रकारतः ।

कर्मविद्धात्मविहसिस्त्वयानेकप्रकारतः ॥”-उपी ६ ७ ।

“यथास्वं कर्मलपोपशमापेच्छिषी करवमनसी निमित्तं विज्ञानस्य न बहिरर्थादय ॥”-
 उपी स्वभि० ६ ७ ।

“न तच्छ्रम्य न ताद्रूप्य न तद्व्यवसितिः सह ।

प्रत्येकं वा भवन्दीह प्रामाण्य मति हेतुताम् ॥”-उपी ६ ८ ।

पृ० २ ८, ९ । प्रमाणन ४ ४६, ४७ ।

अ० १ अ० १ सू० २६ २६ पृ० २१ सब प्रकार के ज्ञानों की उत्पत्ति का विचार
 करते समय सभी भारतीय दार्शनिकों ने ज्ञानों के कारण, इनके विषय, इनकी उत्पत्ति
 का क्रम तथा इनके कार्य आदि का अपने-अपने ढङ्ग से विचार किया है । अ० हेमचन्द्र
 ने यहाँ जो इन्द्रिय-मनोज्ञान्य प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में कारण, विषयादि का कथन किया है वह
 जैनपरम्परा के अनुसार है । कारण उत्पत्तिक्रम, विषयमेव स्पष्टता का वरवमभाव, रिक्ति,
 काय आदि अनेक मुद्दे प्रत्यक्ष से सम्बन्ध रखते हैं ।

बौद्ध परम्परा में विज्ञानप्रवृत्ति का निश्चयन करते हुए बहुविज्ञान आदि छ. विज्ञान
 विधियों को लेकर उन्हीं मुद्दों पर बौद्ध वरवज्ञान की प्रक्रिया के अनुसार सूत्र धीर भाष्यार्थक
 प्रकाश डाला गया है-अभियन्तात् ४ ६ से ।

वैदिक दर्शनों में वे न्याय-वैशेषिक दर्शनों से, जिसका इस विषय का मत पूर्वमीमांसक
 को भी साम्य है निबिक्तत्यक, सविकत्यक आदि क्रम से प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में उन्हीं
 मुद्दों पर बड़े विस्तार धीर बहुव सूत्रमत्वा से विचार किया है-प्रथ पृ १८१ । श्लोक्या
 प्रत्यक्ष श्लो ११२ १२ । मुष्ठा का ३२ ६१ । सांख्यदर्शन ने भी—जिसकी प्रक्रिया योग,
 वेदान्तादि दर्शनों को साम्य है—अपनी प्रक्रिया के अनुसार इस सम्बन्ध में विचार किया है-
 शांख्या ६ । मादर । शांख्य ।

अ० हेमचन्द्र ने प्रस्तुत चार सूत्रों में बहू मुद्दों के ऊपर जैन परम्परा के सम्बन्ध का
 सूत्रव विधा है । यह सूत्रव यद्यपि सामान्यरूप से आगमिक धीर आगमावलम्बी धार्मिक

दीनों जैन परम्परा का समाहक है तथापि इस सूत्र में जो शाब्दिक रचना भीर जो आर्थिक बन्धुत्व है वह एतद्विषयक अकलङ्क की कृति को मात्र अधिक सादर रखा है।

५० २१ ५० ८ 'एतेन दशानस्य'—गुणना—“अथमहस्ययोग्यतास्य चदनस्वरमूठ सम्प्राप्त्यर्थेन स्वविषयकप्रवापनविकल्पम् अक्षरं परिश्रामं प्रतिपद्यते अथमह”।—तृती ४ त्वरि १ ५।

५ २१ ५० १२ 'प्रतिसंख्यानेन'—बीड़ शक्ति जिस प्रत्यक्षप्रमादरूप मानते हैं उस निर्बन्धक ज्ञान का दशन या अनन्तरमायी अवग्रह भा० हेमचन्द्र ने प्रमादकाटि से बाहर रखा है, भीर उसके अनन्तरमायी अवग्रह म प्रमादमूठ ज्ञानपरम्परा का प्रारम्भ मानकर इन्द्रियजन्य उस अवग्रह को मानसविकल्प ही भी मिला कहा है। बीड़ शक्ति 10 मानसविकल्प को अप्रमाद मानकर उसका प्रतिसंख्यानमानक समाभिविशेषमायी भावना से मात्र मानते हैं—“प्रतिसंख्यातिराज्ञो धा विसंयोगः पूबक् पूबक्” “विसंयोगः चबो विभा” अभिनव १ ६; २ ५०। तत्पर्य ५ ५ ५५०। मध्य ५ ५ ६६६, ५६६। अभिनवम् ६ २८। म शाङ्करम् २ २ २२।

५० २१ ५० २८ 'इहित'—आगम और उसकी वृद्धि आदि व्याख्याओं में जब एक 15 प्राकृत भाषा का सम्बन्ध रहा तब एक अबाध शब्द का प्रयोग ही होता जाता है। प्राकृत 'अबाध' शब्द संस्कृत 'अबाध' और संस्कृत 'अबाध' दोनों म निष्पन्न होता है। उभारवादि ने अबाध का संस्कृत अबाध बनाकर उसी को मूल सूत्र और भाष्य में प्रयुक्त किया है। पुर्यपाद आदि विगम्भराचार्यों ने संस्कृत अबाध शब्द को ही सूत्रपाठ एवं अपनी अपनी व्याख्याओं में रखा है।

20 तथापि अकलङ्क ने पुर्यपाद के अनुसार संस्कृत शब्द वा रखा अबाध, पर उनकी दृष्टि भाष्यप्रयुक्त अबाध शब्द की धोर भी गई थीर उनके मन में प्रश्न हुआ कि क्या संस्कृत में भाष्यानुसार अबाध शब्द का प्रयोग ठीक है या सर्वावसिद्धि के अनुसार अबाध शब्द का प्रयोग ठीक है ? इस प्रश्न का जबाब उन्होंने बुद्धिपूर्वक किया है। उन्होंने देखा कि अबाध और अबाध ये दोनों संस्कृत शब्द प्राकृत अबाध शब्द में से फलित हो सकते हैं। तब

2. दोनों संस्कृत शब्दों का पाठ क्यों म मान लिया जाय ? यह साबकर उन्होंने संस्कृत में एक 2. दोनों शब्दों के प्रयोग को नहीं बतहाया फिर भी दोनों शब्दों के प्रयोग में बाड़ा-सा अर्थ भेद दिग्यहाया। वे कहते हैं कि जब निर्णय में व्यावृत्तिप्रधानता रहती है तब वह अबाध है और जब विधिप्रधानता रहती है तब वह अबाध है। अबाध में भी विधि अंग गीबन्धेक था ही जाता है। इसी तरह अबाध में भी गीबन्धेक नियम अंग भा जाता है। अतएव आगे

30 अबाध शब्द का प्रयोग करो चाहे अबाध शब्द का पर वस्तुतः दोनों शब्द विशेषावधारक रूप नियमबोधक होने से पक्काभाव है—नत्तार्थ। १ १५।

पृ० २२ पं० ३ 'संख्येयमसंख्येय वा'—उक्तना—

“वगगो एकं समय इहावाया मुहुचर्मतं तु ।

कालमसंख्यं संख्यं च धारणा हेइ नायक्या ॥”-भाष नि ४। नम्बो व १४।

पृ० २२ पं० ६ 'ज्ञानादतिरिक्त'—उक्तना—पृष्ठ ४ २६७। मुष्ठा का० १९, १९१।

पृ० २२, पं० ६ 'न त्रिभ्युतिमपि'—जैनपरम्परा में भविष्यज्ञान का धारणानामक ६

बौधाय मेव है। आगम (नयी व १५), निर्युक्ति (भाष नि ३) और तत्त्वार्थमाप्य (१ १५) तक में धारणा का पर्यायकथन के सिवाय कोई क्वास विरझेयपूर्वक अर्थकथन देखा नहीं जाता। जान पड़ता है कि इस बारे में प्रथम प्रयत्न पूरवपाद का (उर्वाप १ १५) है। पूरवपाद न भविष्युक्ति के कारण को धारणा कहकर जा नया अर्थसूचक किया उसके ऊपर दो परम्परार्ये शुरू हुई। जमानमय जिनमत्र ने नियुक्ति का माप्य करते समय धारणा का बारीकी एवं विस्तार के साथ विचार किया और अन्त में बतझाया कि भविष्युक्ति वासना (जिसे संस्कार भी कहते हैं) और सृष्टि ये तीनों धारणा हैं। पूरवपाद के अनुगामी अकछहू (तत्त्वार्थ १ १५), विधानम्ब (तत्त्वार्थो १ १५, २१, २२) और अनन्त बीर्य इन तीनों प्रसिद्ध विगम्बराचार्यों ने पूरवपाद क संक्षिप्त सूचन का ही बिलुत और सतर्क वपादम करके कहा कि सृष्टि का कारण संस्कार—जो जैन दृष्टि से बस्तुत ज्ञानस्वरूप ही है 15 वह—धारणा है। इस तरह धारणा के अर्थ में दो परम्परार्ये देखी जाती हैं। जिनमत्र की परम्परा के अनुसार भविष्युक्ति संस्कार और सृष्टि तीनों धारणा हैं और संस्कार कर्म-उपोपशमरूप होने से आत्मीय शक्तिविशेष मात्र है, ज्ञानरूप नहीं। अकछहू आदि की विगम्बरीय परम्परा के अनुसार सृष्टि का कारण संस्कार ही धारणा है जो बस्तुत ज्ञानस्वरूप

१ “अत्रोत्तरमाह—अथर्था इत्यादि, मन्वतेऽत्र प्रतिविधानम् । किम् ? इत्याह—‘इदं बस्तु तदेव बत् प्रागुत्तरम् मवा’ इत्येवंभूता कालान्तरे वा सृष्टिरूपा बुद्धिरुपप्रापते नन्विह वा पूरवपादकारणात् निर्भिं बाह्यमन्विकैव पूर्वमवृत्ताऽऽपयकाले तस्मात्प्रमाणात् ; तद्यथायत्न इ बस्तुनिर्षयमात्रकालत्वेन पूरापर वधानात्तुतथानाऽप्येवम् । तदर्थ एवाऽनन्वकत्वात् वृत्तिर्धास्या नामेति पपत्ते सत्यम् । बतर्क बत्तमा धारणाविशेषात् पूर्वोक्तमन्विकैवाहितसंस्कारकत्वात् तद्विज्ञानावरणक्षयोपशमसाधिय्यारिस्त्वर्थः वा ‘इदं तदेव’ इति लक्षणा सृष्टिर्भवति । ताऽपि वासनायावाद्मन्विकैवेति कृत्वा वृत्तिर्नाम, इतीदृषि संकल्प । ‘आ याऽवायेत्यादि वा याऽऽवायादनन्तरमभिव्युक्ति प्रकृते ताऽपि वृत्तिनाम । इदमुक्तं भवति परिमन् समये स्थासुरेवाऽयम् इत्यादिनिर्षयस्वरूपाऽऽवयव प्रवृत्ताः ततः समयावृत्तमपि स्थासुरेवाऽयम् स्थासुरेवाऽयम् इत्यभिव्युक्ता याऽऽवयव ह्यव्यभिचयव्यभिचि ताऽऽवयवाऽभिव्युक्ताः प्रथममवृत्तायावाद्मन्विकैव वृत्तिवारणा नामेति । एवमभिव्युक्ति-वासना-रमृष्टिरूपा धारणा विधा विधा भवति ।

वातनापि रमृष्टिविज्ञानावरणक्षयोपशमकत्वा तद्विज्ञानजननशक्तिरूपा भवन्ते । वा य बद्यपि स्वयं ज्ञानरूपा न भवति तथापि पूरवपादऽभिव्युक्तिक्षयज्ञानकायत्वात् उत्तरकालमाभिसृष्टिरूपज्ञान कारणत्वात्तद्विज्ञाने ज्ञानरूपाऽऽवयवमन्वतं । तद्विज्ञानिकरूपक्षयजननमुपगमादेव निरस्त । तस्मात्त्रिभ्युक्ति सृष्टि-वासनारूपाया धारणाया स्थितत्वात् न मतेरपैविष्यम् किन्तु अथर्था मेति स्थितम् ॥”-विशया० पृ० गा० २८८ १८६ ।

है। जिनमन्त्रीय परम्परा का स्वीकार पाकिनीसुम्न हरिमन्त्र ने किया (भाव नि शारि १) और बादी देवसुरि ने उसी परम्परा क भाषार पर सूत्र (प्रमाद्यन २ १) रचकर इसके व्याख्यान में दिगम्बराचार्य विद्यामन्द और भ्रमन्तवीर्य का नाम लेकर उनके मत का निरसन करके जिनमन्त्रीय परम्परा का सयुक्तिक समर्थन किया-स्वाहादर २ १ ।

- 5 यद्यपि भा० हेमचन्द्र बादी देवसुरि के समकालीन और उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ स्वाहादर रत्नाकर क इटा है पर ही जिनमन्त्र, हरिमन्त्र और देवसुरि तीनों के अनुगामी भी है तथापि वे धारणा के अक्षयसूत्र में तथा इसके व्याख्यान में दिगम्बराचार्य अकलङ्क और विद्यामन्द आदि का शब्दश अनुसरण करते हैं और अपने पूज्य बुद्ध जिनमन्त्र आदि के मन्तव्य का लण्डन न करके कबल उसका भादपूर्वक समन्वय करते हैं। अपने पूज्य श्वेताम्बरीय
- 10 देवसुरि ने जिन विद्यामन्द आदि क मत का लण्डन किया है उसी मत को अपनाकर भा० हेमचन्द्र ने सम्प्रदायनिरपेक्ष तार्किकता का परिचय कराया है ।

पृ० २२ पं० २० 'सौगतै'—तुलना प्रमाद्यवा १२ = से।

पृ० २२ पं० २१ 'नैयायिकादिमि'—तुलना—अरली पृ १ ।

पृ० २२ पं० २२ 'नैयायिकास्तु'—भारतीय दर्शनशास्त्रों में प्रमेय तथा विविध

- 15 आचार विषयक मतमतान्तर जो बहुत पुराने समय से प्रचलित हैं इनके पारस्परिक लण्डन मण्डन की प्रथा भी बुद्ध-महावीर जितनी पुरानी सो अक्षरय ही है पर हम इस प्राचीन लण्डन-मण्डन प्रथा में प्रमाद्यसूत्रविषयक मतमेंदों का पारस्परिक लण्डन-मण्डन नहीं पाते। इसमें वा सम्बेह नहीं कि दिङ्नाग के पड़िछे ही प्रमाद्यसामान्य और प्रमाद्यविशेष क अक्षय के सम्बन्ध में बौद्ध, वैदिक आदि तार्किक अपने अपने मन्तव्य का प्रतिपादन करने
- 20 के साथ ही मतान्तरों का लण्डन करने लग गये थे, क्योंकि दिङ्नाग के प्रमाद्यसमुच्चय में ऐसा लण्डन स्पष्ट हम पाते हैं।

- दर्शनसूत्रों के उपलब्ध वास्त्यायन, शाबर प्रशस्त योग आदि प्राचीन भाष्यों में प्रमाद्य के अक्षय सम्बन्धी मतान्तरों का लण्डन यद्यपि नहीं है तथापि दिङ्नाग के उत्तरार्द्ध
- 25 भाष्यों के व्याख्यानमें में बहू पारस्परिक लण्डन स्पष्ट एवं व्यवस्थित रूप से देखा जाता है। दिङ्नाग ने प्रत्यक्ष के अक्षय सम्बन्धी नैयायिक, मीमांसक आदि क मत का लण्डन किया है (प्रमाद्यतमु १ १६ से)। इसका अभाव वास्त्यायन क टीकाकार ज्योतिषकर (व्याख्या ११५) और शाबर के टीकाकार कुमारिल (श्लोकवा प्रत्यक्ष रत्ना ५२ से) आदि ने किया है। ईसा की छठो सातवीं शताब्दि तक तो यह तार्किकों की एक प्रथा ही हो गई जान पड़ती है कि अपने अक्षय प्रणों में मतान्तरों का लण्डन किय बिना स्वमत
- 30 स्थापन पूरवत्पा न समझा जाय।

जैनपरम्परा में भी प्रमाद्य क अक्षय सम्बन्धी स्वमतप्रतिपादन तो हम आगमसुग से दृश्य हैं और यही प्रथा इमास्थाति तक बराबर बली आई मान पड़ती है पर इसमें मतान्तर के कुछ लण्डन का प्रवेश पूर्वपाद से (तर्क १) हुआ जान पड़ता है। प्रमाद्य

लक्ष्य सम्बन्धी परमार्थों का प्रथम रूप से लण्डन करनेवाला जैन वार्तिकों में सर्वप्रथम अक्षर ही है—न्यायवि विद्विदि आदि । अक्षरवर्ती दिग्गम्बर रत्नगम्बर सभी वार्तिकों ने अक्षरलक्ष्य-अक्षरलक्षित लण्डनमार्गों को अपनाकर अपने-अपने प्रमाणाविषयक लक्ष्यग्रन्थों में बौद्ध, वैदिक सम्मत लक्ष्यों का विस्तार के साथ लण्डन किया है । आ० हेमचन्द्र ने इसी प्रथा का अक्षरलक्षित करके यहाँ न्याय, वाङ्, मीमांसा और सांख्यदर्शन सम्मत प्रत्यक्ष के लक्ष्यों का 5 पूर्व परम्परा के अनुसार ही लण्डन किया है ।

पृ० २२ पं० २४ 'व्याख्यायैमुत्स्येन'—वाचस्पति मित्र और उनके गुह त्रिशोचन^१ के पहले न्यायसूत्र के व्याख्याकार रूप से वात्स्यायन और उद्योतकर दो ही प्रसिद्ध हैं । इनमें से वात्स्यायन ने न्यायसूत्र (१ १ ३) के भाष्य में प्रत्यक्ष प्रमाणात् रूप से सन्निकर्ष^२ का भी स्पष्ट कथन किया है जैसा कि वाचस्पति मित्र को न्यायसूत्र (१ १ ४) की अपनी व्याख्या में अभिप्रेत 10 है । इसी तरह उद्योतकर ने भी न्यायसूत्र (१ १ ३) के वार्तिक में (पृ २६) भाष्य का अनुगमन करके सन्निकर्ष और ज्ञान दोनों का ही प्रत्यक्ष प्रमाणात् मानकर इसका सबल समर्थन किया है । वाचस्पति का भी न्यायसूत्र (१ १ ४) की व्याख्या (पृ १०८) का बही वात्पर्य है । इस तरह जब वाचस्पति का वात्पर्य वात्स्यायन और उद्योतकर की व्याख्या से मित्र नहीं है तब आचार्य हेमचन्द्र का 'पूर्वाचार्यैरुक्तव्याख्यायैमुत्स्येन' यह कथन वाचस्पति के विषय में 15 सन्नृत कैसे हो सकता है यह प्रश्न है । इसका उत्तर केवल इतना ही है कि न्यायसूत्र (१ १ ४) की वात्स्यायन और उद्योतकरकृत व्याख्या सीधी है । इसमें 'यत्' आदि किसी पद का अभ्याहार नहीं किया गया है जैसा कि वाचस्पति मित्र ने उसी सूत्र की व्याख्या में किया है । वात्पर्य में भेद न होने पर भी पूर्वाचार्य के व्याख्यातों में 'यत्' पद के अभ्याहार का प्रभाव और वाचस्पति के व्याख्यात में 'यत्' पद के अभ्याहार का अस्तित्व देखकर ही 20 आचार्य हेमचन्द्र ने वाचस्पति के विषय में 'पूर्वाचार्यैरुक्तव्याख्यायैमुत्स्येन' कहा है ।

पृ० २२ पं० २३ 'यत्'शब्दा—वात्स्य पृ १ ८, १२५ । स्वात्म पृ १२ ३३ ।

पृ० २३ पं० ४ 'अप्राप्यकारित्वात्'—इन्द्रियों का अपने अपने विषय के साथ सन्निकृप होने पर ही प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न होता है, इसमें किसी का मतभेद नहीं । पर सन्निकर्ष के स्वरूप में शोकासा मतभेद है जिसके आधार पर प्राप्याप्राप्यकारित्व का एक बाद 25 लड़ा हुआ है और सभी दार्शनिकों को वर्षों का विषय बन गया है ।

सांख्य (शांख्य १ ८०), न्याय (स्वात्म ३ १ ३३-३३), वैश्विक (चन्द्रती ४ २३), जैमिनीय (शांख्यमा १ १ १३) आदि सभी वैदिक दर्शन अपनी अपनी प्रकिया

१ 'विज्ञानगुरुर्ब्रह्ममार्गानुगमनम्बुधे । यथामानं यथावत् न्यायव्यवहारिणीदृशम् ॥'—वात्पर्य० पृ० १३३ ।

२ अक्षरलक्षित प्रतिषिद्ध इतिः प्रत्यक्षम् । इतिवत् संनिकर्षों ज्ञानं वा परा सन्निकर्षवत्त्वं ज्ञानं प्रतिदि., वरा ज्ञानं वरा ज्ञानावादानापेक्षापुत्रकं फलम् ।"—न्यायमा० १ १ ३ ।

के अनुसार पाँचों बहिरिन्द्रियों को प्राप्यकारी मानते हैं। बौद्धदर्शन बहिरिन्द्रियों में ब्राह्म, रसम, स्पर्शन तीनों का ही प्राप्यकारी मानता है, यद्यु-श्रोत्र को नहीं—“अप्राप्त्याम्बुधिमन श्रोत्रादि त्रयमस्यथा”—अभिषमं २ ४१। जैनदर्शन (आन नि ५। तत्त्वार्थ ८० १ १६) सिर्फ यद्यु क सिवाय पाँच बहिरिन्द्रियों को ही प्राप्यकारी मानता है।

५ अन्तरिन्द्रिय मम को हा सिर्फ सांख्य (योग्य १ ७) तथा वेदान्त ही प्राप्यकारी मानते हैं। बाका क सभी वैदिक दर्शन तथा बौद्ध और जैनदर्शन भी उसे अप्राप्यकारी ही मानते हैं।

बहु प्राप्याप्राप्यकारित्व की चर्चा करीब दो हजार वर्ष के पहिले से प्रारम्भ हुई जाय पड़ती है। फिर क्रमशः बहु उत्तरोत्तर विस्तृत होते होते गटिष्ठ एवं मनोरत्नक भी बन गई है।

पृ० २३ पं० ५, 'अथ प्राप्यकारि'—आयना पृ ३१। न्यायन पृ ७३।

० पृ० २३ पं ८ 'सौगतास्तु'—बौद्ध न्यायशास्त्र में प्रत्येक छन्दस की दो परम्पराएँ देली जाती हैं—पहली अभ्रान्तपद रहित धीर दूसरी अभ्रान्तपद सहित। पहली परम्परा का पुरस्कृत विद्वाग धीर दूसरी का धर्मकीर्ति है। प्रमादसमुच्चय (१ १) धीर न्यायप्रवेश में (पृ ७) पहली परम्परा के अनुसार छन्दस धीर व्याख्यात है। न्यायविन्दु (१ ४) धीर धर्मकी धर्मोत्तरीय भावि कृति में दूसरी परम्परा के अनुसार छन्दस एवं व्याख्यात है। शान्तरहित मे तत्त्वसंग्रह में (का १११४) धर्मकीर्ति की दूसरी परम्परा का ही समर्थन किया है। मान पड़ता है शान्तरहित के समय तक बौद्ध वाकिकों में दो पक्ष स्वरूप से हो गये थे जिनमें से एक पक्ष अभ्रान्तपद के सिवाय ही प्रत्येक का पूर्व लक्ष्य मानकर पीठ शब्दादि भ्रान्त ज्ञानों में भी (तत्त्व का ११२४) विद्वाग कवित प्रमाद छन्दस—घटाने का प्रयत्न करता था।

२० उस पक्ष को अभाव देते हुए विद्वाग क मत का तात्पर्य शान्तरहित न इस प्रकार से बतलाया है कि जिससे विद्वाग के अभ्रान्तपद रहित लक्ष्यवाक्य का समर्थन भी हो धीर अभ्रान्तपद सहित धर्मकीर्तीय परम्परा का वास्तविकत्व भी बना रहे। शान्तरहित धीर उनके शिष्य कमलदीप्त दोनों की दृष्टि में विद्वाग तथा धर्मकीर्ति का समान स्थान था। इसी से उन्होंने दोनों विरोधी बौद्ध वाकिक पक्षों का समन्वय करके का प्रयत्न किया।

२५ धीरोत्तर तक प्रजा में एक दोनी बौद्ध परम्पराओं का लण्डन दला जाता है। भामह के काम्यालङ्कार (पृ. १ पृ ३२) धीर बघोतकर के न्यायवातिक में (१ १ ४ पृ ४१) विद्वागीय प्रत्येक लक्ष्य का ही उल्लेख पाया जाता है जब कि बघोतकर के बाद क वाचस्पति (तत्त्व पृ ११४) अपस्त (मञ्जी पृ ५२), श्रीधर (अम्बनी पृ १६) धीर शास्त्रिकनाथ (प्रकरण पृ ४) भादि सभी प्रसिद्ध वैदिक विद्वानों की कृतियों में धर्मकीर्तीय प्रत्येक लक्ष्य का पूर्वपक्ष रूप से उल्लेख है।

३० जैन भाषाओं में जो ब्राह्मणमत प्रत्येक लक्ष्य का लण्डन किया है उसमें विद्वागीय धीर धर्मकीर्तीय दोनी लक्ष्यों का निर्देश एवं प्रतिपाद पाया जाता है। सिद्धसेन दिवाकर

की कृति रूप से माने जानेवाले न्यायावतार में जैन परम्परानुमारी प्रमाद्य छन्दस्य में जो बाध बर्जितपद—(न्याया १) है वह अक्षपाद को (न्यायव १ ४) प्रत्यक्ष छन्दस्यगत अन्वय मिथारिपद का प्रतिबिम्ब है या कुमारिख कर्तृक समझे जानेवाले 'उत्रापूर्वविहितान प्रमाद्यं बाधबर्जितम्' छन्दस्यगत बाधबर्जित पद की अनुकृति है या धर्मकीर्तीय (न्यायवि १ ४) अन्वय पद का रूपान्तर है या स्वयं विवाकर का मौलिक उद्भावन है यह एक विचारणीय प्रश्न है ।
 जो कुछ हो पर यह तो निश्चित ही है कि भा० हेमचन्द्र का बौद्ध प्रत्यक्षछन्दस्य विषयक खण्डन धर्मकीर्तीय परम्परा का उद्देश में रखकर ही है दिङ्मागीय परम्परा का उद्देश में रखकर नहीं ।

पृ० २३ पं० ६ 'अभिलाप'—बौद्ध छन्दस्यगत कल्पनाऽपाद पद में स्थित कल्पना शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में जुद्ध बौद्ध टाकिकों में अनेक भिन्न-भिन्न मत थे जिनका कुछ क्षयाद्य शान्तरक्षित (तत्त्वतः का १२१४ से) की इससे सम्बन्ध रखनेवाली विस्तृत चर्चा से भा० सकृत्ता है, एवं अनेक वैदिक धार जैन शार्किक जिन्होंने बौद्ध-पद्य का खण्डन किया है उनके विस्तृत कदापोहात्मक खण्डन ग्रन्थ से भी कल्पनाशब्द को माने जानेवाले अनेक अर्थों का पता चलता है ।
 आसकर जब हम कोबल्ल खण्डनप्रधान तत्रोपप्लव ग्रन्थ (पृ० ४१) देखते हैं तब तो कल्पना शब्द के प्रचलित और सम्भवित कृरीब-कृरीब सभी अर्थों या तद्विषयक अर्थों का एक बड़ा भारी संमूह हमारे सामने उपस्थित होता है ।

ऐसा होने पर भी भा० हेमचन्द्र ने तो सिर्फ धर्मकीर्त्ति अभिमत (न्यायवि १ ५) कल्पना स्वरूप का—जिसका स्वीकार और समर्थन शान्तरक्षित ने भी (तत्त्वतः का १२१४) किया है—ही इल्लल अपने खण्डन ग्रन्थ में किया है अन्वय कल्पनास्वरूप का नहीं ।

पृ० २३ पं० १३ 'निर्विकल्प्यात्तरकाल'—तत्त्वतः का २१ ६ ।

पृ० २३ पं० १६ 'जैमिनीयास्तु'—मीमांसादर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाद्य के स्वरूप का निर्देश सर्वप्रथम जैमिनीय (१ १ ४) सूत्र में ही मिलता है । इस सूत्र के ऊपर शाबरभाष्य के अष्टाद्या अन्वय भी व्याख्याएँ और वृत्तिर्मा भी । हममें से सबदास की व्याख्या इस सूत्र को प्रत्यक्ष छन्दस्य का विषयक माननेवाली थी—रत्ना न्याय प्रत्यक्ष रत्ना १ । दूसरी कोई व्याख्या इस सूत्र को विषयक नहीं पर अनुवादक माननेवाली थी—रत्नाख्या प्रत्यक्ष रत्ना १६ । कोई वृत्ति ऐसी मां थी (शाबरभा १ १ ५) जो इस सूत्र के शब्दिक विन्यास में मतभेद रखकर पाठान्तर माननेवाली या अर्थात् सूत्र में जो सत् और तत् शब्द का क्रमिक स्थान है उसका बदले तत् और सत् शब्द का व्यस्यमानती थी ।

कुमारिख ने इस सूत्र को छन्दस्य का विधान या स्वतन्त्र अनुवादरूप माननेवाली पूर्ण अर्थों का निरास करके अपने अनोखे ढङ्ग से अन्वय में तत् सूत्र का अनुवादरूप ही स्थापित किया है और साथ ही उस पाठान्तर माननेवाले मत का भी निरास किया है (रत्नाख्या ३०

- प्रत्यक्ष रहो १-१६) जैसा कि प्रमाकर ने अपने बृहती ग्रन्थ में। प्रत्यक्ष लक्ष्य परक प्रस्तुत जैमिनीय सूत्र का लण्डन मीमांसकभिन्न वैदिक बाह्य धीर जैन सभी शाक्तिकां ने किया है। बौद्ध परम्परा में सबसे प्रथम लण्डन करनेवाले विद्वांस (प्रमाणसूत्र १ १०) जान पड़ते हैं। उसी का अनुसरण शान्तरचित् भादि ने किया है। वैदिक परम्परा में प्रथम लण्डन करनेवाले उद्योतकर ही (न्यायशा ५ ४१) जान पड़ते हैं। वाचस्पति तो उद्योतकर के ही टोकाकार हैं (तत्पर्य ५ १५५) पर जयन्त ने (न्याय ५ १) इसके लण्डन में विस्तार धीर स्वल्पता से काम लिया है। जैन परम्परा में इसके लण्डन कार सर्वप्रथम अकण्डू या विद्यानन्द (तत्पर्य ५ १०० रहो १०) जान पड़ते हैं। अथर्ववेद (उपनिषद् ५ १५) भादि न उन्हीं का अनुगमन किया है। आ० इमवन्त्र में अपने पूर्ववर्ती जैन शाक्तिकां का इस जैमिनीय सूत्र के लण्डन में जो अनुसरण किया है वह जयन्त के मन्त्रीगत (५ १) लण्डन भाग का ही प्रतिबिम्ब मात्र है जैसा कि ग्रन्थ जैन शाक्तिक ग्रन्थों (स्वाहादर ५ ३०१) में है।

लण्डन करते समय आ० इमवन्त्र ने कुमारिल-सम्मत अनुवादमञ्जी का निर्देश किया है धीर उस ध्यत्यथवाले पाठान्तर का भी।

- ५० २३ पं० २१ 'अथ संशयविपर्यय'—श्लोकना प्रत्यक्ष रहो १।
 ५ २३, पं० २२ 'अथ सत्संयोग इति सत्ता'—'मबदातेन हि सत्ता सम्प्रयोग इति उक्तम्'—श्लो न्याय प्रत्यक्ष रहो १६।
 ५० २३ पं० २३ 'अथ सति सम्प्रयोग'—शाबरना १ १ ५।
 ५० २४ पं० २३ 'आत्रादिद्विचि'—सांख्य परम्परा में प्रत्यक्ष लक्ष्य के मुख्य तीन प्रकार हैं। पहिला प्रकार विन्ध्यवासी के लक्ष्य का है जिसे वाचस्पति ने बार्हगण्य के नाम से निर्दिष्ट किया है—न्याय ५ १५३। दूसरा प्रकार ईश्वरकृष्ण के लक्ष्य का (शाबरना ५) और तीसरा सांख्यसूत्रगत (शाबरना १ ८६) लक्ष्य का है।

- बौद्धों जैनों धीर महाबिको ने सांख्य के प्रत्यक्ष लक्ष्य का लण्डन किया है। ध्याय रखन की बात यह है कि विन्ध्यवासी के लक्ष्य का लण्डन तो सभी ने किया है पर ईश्वरकृष्ण जैसे प्राचीन सांख्यापाय के लक्ष्य का लण्डन सिर्फ जयन्त (५ ११६) ही ने किया है पर सांख्यसूत्रगत लक्ष्य का लण्डन तो किसी ने भी नहीं किया है।

बौद्धों में प्रथम लण्डनकार विद्वांस (प्रमाणसूत्र १ २०) वैवाहिकां में प्रथम लण्डन कार उद्योतकर (न्यायशा ५ ४१) धीर जैनों में प्रथम लण्डनकार अकण्डू (न्याय १ ११५) ही जान पड़ते हैं।

- ० आ० इमवन्त्र में सांख्य के लक्ष्य लण्डन में पूषाचार्यों का अनुसरण किया है पर उनका लण्डन शासकर अवन्तकृत (न्याय ५ १ ६) लण्डनानुसारी है। जयन्त में ही

विष्णुवासी और ईश्वरकृप्य दोनों के लक्षणप्रकार का खण्डन किया है, हेमचन्द्र ने भी उन्हें क शब्दों में दोनों ही के लक्षण का खण्डन किया है ।

पृ० २४ पं० २४ 'प्रमाणविषय'-श्रुतना-"तत्र यत्सेप्ताजिहासाप्रयुक्तस्य प्रवृत्तिः स प्रमाता, न येनार्थं प्रमिष्येति तत् प्रमातृत्वं चोऽर्थं प्रमीयते तत् प्रमेयम्, यत् अर्थविज्ञानं सा प्रमिति, यत्सुषु चैवंविधास्वप्नवत्परिममाप्यते ।"-न्यायमा १ १ १ ।

अ० १ अ० १ सू० ३० ३३ पृ० २४ विश्व के स्वरूप विषयक चिन्तन का मूल श्रुतबोध ने भी प्राचीन है । इस चिन्तन के फलरूप विविध दर्शन क्रमशः विकसित और स्थापित हुए जो संक्षेप में पाँच प्रकार में समा जाते हैं—केवल नित्यवाद, केवल अनित्यवाद, परिष्कामी नित्यवाद, नित्यानित्य उभयवाद और नित्यानित्यात्मकवाद । केवल ब्रह्मवादी वेदान्ती केवल नित्यवादो हैं क्योंकि उनके मत से अनित्यत्व भ्रामासिक मात्र है । बौद्ध 10 शक्तिवादी होने से केवलानित्यवादी हैं । सांख्ययोगादि अतनमिभ जगत् को परिष्कामी नित्य मानने के कारण परिष्कामी नित्यवादी हैं । न्याय-वैशेषिक भादि कुछ पन्थों को मात्र नित्य और कुछ का मात्र अनित्य मानने के कारण नित्यानित्य उभयवादी हैं । जैनदर्शन सभी पदार्थों को नित्यानित्यात्मक मानने के कारण नित्यानित्यात्मकवादी है । नित्यानित्यत्व विषयक दार्शनिकों के उक्त सिद्धान्त श्रुति और भागमकार्वाहीन उनके अपने अपने ग्रन्थ में स्पष्टरूप में 15 बखिब पाये जाते हैं और थोड़ा बहुत विरोधी मन्थकों का प्रतिवाद भी जन्में देखा जाता है—पृ० १ १ १५ १८ । इस तरह तक युग के पहिले भी विश्व के स्वरूप के सम्बन्ध में नाना दशन और उनमें पारस्परिक पक्ष प्रतिपक्षमात्र स्थापित हो गया था ।

तर्कयुग आर्थात् करीब दो हजार वर्ष के दर्शनसाहित्य में उसी पारस्परिक पक्षप्रति पक्ष मात्र के आधार पर वे दशन अपने अपने मन्थक्य का समर्थन और विरोधी मन्थकों का 20 खण्डन विशेष विशेष युक्ति-तर्क के द्वारा करते हुए देखे जाते हैं । इसी तर्कयुग के फल स्वरूप तर्कप्रधान दशनग्रन्थों में यह निरूपण सब दार्शनिकों के बाल आचर्यक हो गया कि प्रमाणनिरूपण के बाध प्रमाय के विषय का स्वरूप अपनी अपनी दृष्टि से बतलाना, अपने मन्थक्य की कोई कसौटी रखना और उस कसौटी का अपन ही पक्ष में लागू करके अपन पक्ष की बधार्थता साबित करना एक विरोधी पक्षों में उस कसौटी का प्रमात्र दिखाकर 25 उनकी अकार्यविकृता साबित करना ।

अ० हेमचन्द्र ने इसी तर्कयुग की शैली का अनुसरण करके प्रस्तुत चार सूत्रों में प्रमाय के विषयरूप से समस्त विश्व का जैनदर्शनसम्मत सिद्धान्त, इसकी कसौटी धार उस कसौटी

१ 'एक सद्धिया बहुधा बहन्ति ।'-श्रुत० अ० २ अ० ३ पं० २३ म० ४६ । नासरीय मूल श्रुत० ३० १-५ । द्विरयथागमसूक्त श्रुत० १० १२१ ।

- का अपन ही पक्ष में सम्भव यह सब बतलाया है। वस्तु का स्वरूप द्रव्य-पर्यायात्मकत्व
नित्यानित्यत्व या नदसदात्मकारणवैदिकत्व से भागमों में विरोध युक्ति, हेतु या कसीटी के
सिवाय बर्धित पाया जाता है (मग श १ उ १ श २ उ ११) इसी को भा० हेमचन्द्र
ने बतलाया है, पर तर्क धीर हेतुपूर्वक। तर्कयुग में वस्तुस्वरूप की निरन्तरता को विधि
६ कमीटिया मानी जाती थी जैसे कि न्यायसम्मत-सत्ता योगरूप सत्त्व, सत्त्विसम्मत प्रमा
विषयस्वरूप सत्त्व तथा बौद्धसम्मत-अर्थक्रियाकारिरवस्वरूप सत्त्व इत्यादि—उनमें से अन्त्य
अर्थात् अर्थक्रियाकारित्व का ही भा० हेमचन्द्र कसीटी रूप से स्वीकार करते हैं जो
सम्भवत पहिले पहिले बौद्ध तार्किकों के द्वारा (प्रमाण १ १) ही उद्घाटित हुई जान
पड़ती है। जिस अर्थक्रियाकारित्व की कसीटी को जागू करके बौद्ध तार्किकों ने वस्तुमा
१० में स्वामिमत् अर्थिकत्व सिद्ध किया है और जिस कसीटी के द्वारा ही उन्होंने केवल नित्यत्व
(उत्पत्त का १६४ से) और जैन सम्मत नित्यानित्यात्मक बावादि का (उत्पत्त का
१७१८ से) विच्छेद तर्क शाल से कण्ठन किया है, भा० हेमचन्द्र ने उसी कसीटी का अपन
पक्ष में जागू करके जैन सम्मत नित्यानित्यारमकरव अर्थात् द्रव्यपर्यायात्मकरव बाद क
मयुक्तिक समर्थन किया है और वेदान्त आदि के केवल नित्यत्व तथा बौद्धों के केवल अनि
१६ त्यत्व का ही कसीटी के द्वारा प्रबल कण्ठन भी किया है।

पृ० २४ पं० २६ 'स्वापयमपि'—इतना—नामि मी १ १०।

- पृ० २४ पं० ३० 'द्रुपति'—प्राकृत-पाली द्रव्य-द्रव्य शब्द धीर संस्कृत द्रव्य शब्द
बहुत प्राचीन है। छाकम्बवहार में तथा काव्य, व्याकरण, आनुवंशिक वरीन आदि नाम
शास्त्रों में मिल-मिल अर्थों में उसका प्रयोग भी बहुत प्राचीन एवं स्पष्ट जान पड़ता है।
२० इसके प्रयोग प्रकार की व्यापकता को देखकर पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में इसे स्वान
देकर दो प्रकार से इसकी व्युत्पत्ति बतलाई है जिसका अनुकरण पिछले सभी व्याकरणों ने
किया है। उद्धृत प्रकार में द्रव्य शब्द के साधक कास जा दो सूत्र (१. १ १ ४ ४ १
१११) बनाये गये हैं इनके अलावा द्रव्य शब्द सिद्धि का एक तीसरा भी प्रकार कृत प्रकार
में है। उद्धृत के अनुसार पहली व्युत्पत्ति यह है कि द्रु = दृ + वा काष्ठ + व = विकार वा
२५ अवयव अर्थात् दृ + वा काष्ठ का विकार तथा अवयव द्रव्य। इसी व्युत्पत्ति में है—द्रु =
काष्ठ + व = द्रव्य अर्थात् जैसे लोधा धीर साकृ सुबरी लकड़ी बनाने पर दृ + वाकार धारण
कर सकती है वैसे ही जो रामपुत्र भावि शिवा विष जाने पर राम योग्य गुण धारण करने
का पात्र है वह मायी गुणों की योग्यता के कारण द्रव्य कहलाता है। इसी प्रकार अनेक
व्यक्तियों की योग्यता रखने के कारण धन भी द्रव्य कहा जाता है। कृन्त प्रकार के
३० अनुसार गति-प्राप्ति अर्थबाह्य द्रु धातु से कर्माधिक व प्रत्यय धारण पर भी द्रव्य शब्द निष्पन्न
होता है जिसका अर्थ होता है प्राप्ति योग्य अर्थात् जिसे अनेक अर्थकारण प्राप्त होती हैं। वहाँ
व्याकरण के नियमानुसार एक ही प्रकार की व्युत्पत्ति में लोड-शाक प्रसिद्ध द्रव्य शब्द के
सभी अर्थों का किसी न किसी प्रकार से समावेश हो ही जाता है।

यद्यपि जैन साहित्य में भी करीब-करीब इन्हीं सभी अर्थों में प्रयुक्त द्रव्य शब्द देखा जाता है तथापि द्रव्य शब्द को जैन प्रयोग परिपाटी अनक अर्थों में अन्वय सब शास्त्रों से भिन्न भी है । नाम, रथापना, द्रव्य, भाव आदि निश्चय (तत्त्वाप १ ५) प्रमङ्ग में द्रव्य चेत, काल भाव आदि प्रसङ्ग में (भग श २ उ १) ऋष्यार्थिक पर्यायार्थिकरूप मय के प्रमङ्ग में (तत्त्वाप ५ ३१) द्रव्याचार्य (पञ्चायक ६), भावाभावाय आदि प्रमङ्ग में द्रव्यकर्म, भाव ६ कर्म आदि प्रसङ्ग में प्रयुक्त होनेवाला द्रव्य शब्द जैन परिभाषा के अनुसार सास-काम अर्थ का बोधक है या अर्थ वस्तु प्रकरयसाधित मन्व-योग्य अर्थवाले द्रव्य शब्द के बहुत मनुष्यिक हैं अर्थात् व समा अर्थ मन्व अर्थ के भिन्न-भिन्न रूपान्तर हैं । विश्व के मीमांसिक पदार्थों के अर्थ में मा द्रव्य शब्द जैन दर्शन में पाया जाता है जैसे जीव पुद्गल आदि छः द्रव्य ।

व्याय वैशेषिक आदि दर्शनों में (वे सू १ १ १५) द्रव्य शब्द गुण कर्माधार अर्थ 10 में प्रसिद्ध है जैसे पृथ्वी जल आदि सब द्रव्य । इसी अर्थ का लेकर भी उत्तराम्पयन (२८ ६) जैन प्राचीन भागम में द्रव्य शब्द जैन दर्शन सम्मत छः द्रव्यों में लागू किया गया देखा जाता है । महामाप्यकार पतञ्जलि ने (पाठ महा ५ ५८) अनेक भिन्न-भिन्न स्थानों में द्रव्य शब्द के अर्थ की चर्चा की है । उन्होंने एक जगह कहा है कि पड़ को ठाड़कर कुण्डी और कुण्डी को ठाड़कर पड़ा बनाया जाता है एवं कटक कुण्डल आदि भिन्न-भिन्न भलङ्कार 15 एक इस्तर को ठोड़कर एक दूसरे के बक्षे में बसाये जाते हैं फिर भी उन सब भिन्न भिन्न कार्शलि भिन्न भिन्न आकृतियों में जो मिट्टी या सुवर्ण नामक तख कायम रहता है वही अनेक भिन्न-भिन्न आकारों में स्थिर रहनबाह्य तख द्रव्य कहलाता है । द्रव्य शब्द की यह व्याख्या वागसूत्र के व्याममाप्य में (१ ११) भी व्यों की खां है और मीमांसक कुमारिल न भी बहा (रत्नाकरा वन र्हा २१ २२) व्याख्या की है । पतञ्जलि न दूसरी जगह (पाठ 20 महा ४ १ १, ५ १ ११६) गुण समुदाय या गुण्य सम्प्राय का द्रव्य कहा है । यह व्याख्या वैदिक प्रक्रिया में विशेष सङ्गत है । जुवे-जुवे गुणों के प्रादुर्भाव होते रहन पर भी अर्थात् जैन परिभाषा के अनुसार पदार्थों के तदनबोरपाद होत रहन पर भी अन्वय मीमांसक का माय नहीं हाता वह द्रव्य ऐसी भी संक्षिप्त व्याख्या पतञ्जलि के महामाप्य (५ १ ११६) में है । महामाप्यप्रसिद्ध और बाद के व्यासमाप्य, श्लोकावृत्तिक आदि में समक्षित द्रव्य शब्द की 25 एक सभी व्याख्याएँ जैन परम्परा में समास्ताति के सूत्र और माप्य में (५ २६ १ १०) सबस पश्चि संगृहीत देखी जाती हैं । अिनमत्र अमात्रमय न वा (विद्या गा २८) अपन माप्य में अपने समय तक प्रचलित सभी व्याख्याओं का संग्रह करके द्रव्य शब्द का निर्बचन बतलाया है ।

अकङ्कह के (लपि २ १) हा शब्दों में विषय का स्वरूप बतलात हुए भा० इमचन्द्र 30 ने द्रव्य शब्द का प्रयोग करके तसक्ता भागमप्रसिद्ध और व्याकरय तथा दर्शनान्तरसम्मत शुक्लमात्र (शाश्वत स्थिर) अर्थ ही बतलाया है । एसा अर्थ बतलात समय इसकी जो व्युत्पत्ति दितार्ह है वह कृ प्रकृत्यानुमारी अर्थात् दृ धातु + ष प्रत्यय अनित है ।

प्रमादविषय के स्वरूपकथन में द्रव्य के साथ पर्यायशब्द का भी प्रयोग है। संस्कृत, प्राकृत पाली जैसी शास्त्रीय भाषाओं में वह शब्द बहुत पुराना और प्रसिद्ध है पर जैन दर्शन में हमका जो पारिभाषिक शब्द है वह अर्थ अन्वय दर्शनों में नहीं देखा जाता। बल्कि विनाशशाली या आधिर्भाव विनाशवाले को धर्म जो विशेष या जो अस्तित्व इत्यादि शब्दों में ही पर्याय या परिचय के नाम से जैन दर्शन में प्रसिद्ध है जिनके वास्तव्य-वैशेषिक आदि दर्शनों में गुण शब्द प्रयुक्त होता है। गुण क्रिया आदि सभी अन्वयगत धर्मों के अर्थ में भा० हेमचन्द्र ने पर्यायशब्द का प्रयोग किया है पर गुण तथा पर्याय शब्द के बारे में जैन दर्शन का इतिहास खास ज्ञातव्य है।

- मगधती आदि प्राचीनतर भागमों में गुण और पर्याय दोनों शब्द देखे जाते हैं।
- 10 अथवाच्ययम (२८, ११) में उनका अर्थमेव स्पष्ट है। कुम्भकुम्भ उमास्वादि (तत्पार्थ ५, १७) और पुरुषपाद ने भी वही अर्थमेव का कथन एवं समर्थन किया है। विद्यानन्द ने भी अपने तर्कवाद से वही अर्थ का समर्थन किया है पर विद्यानन्द के पूर्ववर्ती अकलङ्क ने गुण और पर्याय क अर्थों का अर्थमेव बतलाया है जिसका अनुकरण अमृतचन्द्र ने भी किया है और वैसे ही अर्थमेव समर्थन तत्पार्थमाप्य की टीका में सिद्धसेन ने भी किया है।
- 15 इस बारे में सिद्धसेन विद्याकर का एक नया प्रत्यान जैन तत्त्वज्ञान में शुरू होता है जिसमें गुण और पर्याय दोनों शब्दों को कथन पदार्थक ही स्थापित किया है और कहा है कि वे दोनों शब्द पर्याय मात्र हैं। विद्याकर की अर्थमेव समर्थन सुक्ति यह है कि भागमों में गुणपद का यदि पर्याय पद से अर्थ अभिप्रेत होता था जैसे मगधान् ने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो प्रकार से शब्दों की है वैसे न धीसरी गुणार्थिक शब्दों भी करत। जान पड़ता है इसी
- 20 सुक्ति का अन्तर हरिभद्र पर पड़ा जिससे अन्त में अर्थमेव ही मान्य रक्का। अथपि एवसुरि ने गुण और पर्याय दोनों के अर्थमेव बतलाने की चेष्टा की (प्रमाण ५, ७, ८) है फिर भी जान पड़ता है उनका हित पर भी अर्थमेव का ही प्रमाण है। भा० हेमचन्द्र ने तो विषयकलत्र सूत्र में गुणपद का स्थाप ही नहीं दिया और न गुण पर्याय शब्दों के अर्थ-विषयक अर्थमेव की अर्थ ही की। इससे भा० हेमचन्द्र का इस बारे में अन्तव्य स्पष्ट हो
- 25 जाता है कि वे भी अर्थमेव के ही समर्थक हैं। अथवाच्य अथोविद्यवर्जी ने भी इसी अर्थमेव पद का स्थापित किया है। इन विस्तृत इतिहास से इतना कहा जा सकता है कि भागम जैसे प्राचीन युग में गुण-पर्याय दोनों शब्द प्रयुक्त होते रहे होंगे। तर्कयुग क आरम्भ और विकास क साथ ही साथ उनके अर्थविषयक अर्थ अर्थमेव की अर्थ शुरू हुई और भाग बढ़ी। कथनरूप अर्थ अर्थ अर्थमेव ने इस विषय में अपना अर्थ अर्थमेव अर्थमेव प्रकट किया
- 30 और स्थापित भी किया।

इस प्रसङ्ग में गुण और पर्याय शब्द क अर्थविषयक पारस्परिक अर्थमेव की अर्थ पर्याय-गुण और द्रव्य इव दोनों क पारस्परिक अर्थमेव विषयक अर्थों का दार्शनिक इतिहास

ज्ञानने योग्य है । म्वाय-भैरोपिक आदि दर्शन भेदवादी होने से प्रथम से ही भ्राम तक गुण, कर्म आदि का द्रव्य से भेद मानते हैं । अमेदवादी सांख्य, वेदान्वादि बनका द्रव्य से अमेद मानते आये हैं । ये भेदाभेद के पक्ष बहुत पुराने हैं क्योंकि स्रुद महाभाष्यकार पतञ्जलि इस बार में मन्तरखरु धीर विशद चर्चा शुरू करते हैं । वे प्रश्न उठाते हैं कि द्रव्य, शब्द, स्पर्श आदि गुणों से अम्व है या अनम्व ? । दोनो पक्षों को स्पष्ट करके फिर वे अम्व ७ में भेदपक्ष का समर्थन करते हैं ।

ज्ञानने योग्य खास बात तो यह है कि गुण-द्रव्य या गुण पर्याय के अिम भेदाभेद की स्थापना एवं समर्थन के बास्ते सिद्धनेन, समन्वयप्र आदि जैन तार्किकों न अपनी कृत्वियों में खासा पुठुवाब किया है वसी भेदाभेदवाद का समर्थन मीमांसकपुरीख कुमारिख ने भी बड़ी स्पष्टता एवं तर्कवाद से किया है—स्तोत्रभा माह रत्तो ४-३४ वन रत्तो २२-८० । 10

भा० हेमचन्द्र को द्रव्य पर्याय का पारस्परिक भेदाभेद बाद ही सम्भव है जैसा अम्व जैनाचार्यों का ।

पृ० २५ पं० १ 'पूर्वोत्तरविवर्त्त'—द्रवना—“परापरविवर्त्तव्यापिद्रव्यमूर्च्छता सुदिन खासावियु ।”—पटी ४ ५ । प्रमाण ५. ५ ।

पृ० २५ पं० ८ 'दोहि'—व्याप्ता “द्राम्यामपि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनभाय्या प्रसीत 15
शास्त्रम् अशूनन भैरोपिकशास्त्रप्रवत्रा द्रव्यगुणादे पदामपटूकस्य नित्यानित्यैकाम्यरूपस्य तत्र प्रतिपादनात् तद्वचैतत् शास्त्र वथापि मिथ्यात्वम् वत्प्रदग्धितपदार्थपटूकस्य प्रमाद्यबाधित खात् अं सखिमय इत्यादिना गाथापरवाद्धेन हेतुमाह—परमात् स्वधियप्रधानताभव स्थिताऽभ्योम्यनिरपेक्षोभयनयाधित तत्, अभ्योम्यनिरपेक्षनयाधितत्वस्य मिथ्यात्वादिनाऽविना भूतत्वात् ।”—अम्वतिदी पृ ३५६ ७ ४ । 20

पृ० २५ पं० २४ 'तत्र न द्रव्यैकरूपा'—भारतीय दर्शनों में कबख नित्यत्व, कोबख अनित्यत्व नित्यानित्य—अम्व, धीर परिखाभिनित्यत्व इन चारों बादों के भूल भगवान् महावीर भोर बुद्ध के पहिछे मी देखे गाथ हैं पर इन बावों की बिरोप स्पष्ट स्थापना धीर उस स्थापना

१ 'किं पुनद्रम्य के पुनगुणाः । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा गुणास्ततोऽम्व द्रव्यम् । किं पुनरन्य चन्द्रारिभ्यो द्रव्यमाहारिवदनन्वत् । गुणस्वायं भावात् द्रव्य शब्दनिवेश कुबन् व्यापकसम्यक्चन्द्रारिभ्यो द्रव्यमिति । अनम्वचन्द्रारिभ्यो द्रव्यम् । न द्रव्यद्रुपक्षम्यते । पटी लक्ष्यपि विशदितस्य पर्युठते श्क स्तस्य मान्यचन्द्रारिभ्यो उपलभ्यते । अम्वचन्द्रारिभ्यो द्रव्यम् । तत् स्वगुमानगमम् । तथवा । अत्यविषयनस्वीना इकिहासी । ब्योतिवो मतिरिति । कोवाबुमान । इह समाने कर्माधि परिवादे च अम्वचुक्ताम मवति लोपस्य अम्वत् कार्यकानां वतुवो विरोपस्तद् द्रव्यम् । तथा कश्चिद्वेदेनैव प्रहारेण म्य पयम करोति कश्चित् द्राम्यामपि न कपीति । पत्कवो विरोपस्तद् द्रव्यम् । अथवा वस्य गुणास्तरन्वपि भाद्रुमवस्तु वत्त्वं न विदम्यते तद् द्रव्यम् । किं पुनरत्वत्वम् । तद्भावस्तत्वम् । तथवा । आमलकादीनां कानां रक्षादयः पीठादयश्च गुणाः प्राद्रुमवपि । आमलकं वदरमित्येव मवति । अम्वये लणु निर्वचनं गुणवद्रावा द्रव्यमिति ।'—पाठ० महा० ३ १ ११३ ।

- के धनुकुञ्ज युक्तिवाद का पता उस पुरातन समय के साहित्य में नहीं चलता। कुछ ने प्राचीन अनित्यत्व की भावना के ऊपर इतना जोर दिया कि जिससे आगे जाकर क्रमशः दो परिखाम दर्शनक्षेत्र में प्रकट हुए। एक तो यह कि धर्म्य सभी बाद उस अनित्यत्व अर्थात् दृष्टिकत्ववाद के विरुद्ध कमर कसकर खड़े हुए और सभी ने अपना स्थापन अपने 5 उल्लू से करते हुए दृष्टिकत्व के निरास का प्रबल प्रयत्न किया। दूसरा परिखाम यह था कि सुद वैश्व परम्परा में दृष्टिकत्ववाद का मूल में वैराग्ययोगक भावनारूप होना से एक नैतिक या पारिवीच्य वस्तुस्वरूप का उसने उद्वहान का पूरा व्यापकरूप धारण किया। और यह उसके समर्थक तथा विरोधियों की दृष्टि में धर्म्य पारिवीच्य विषयों की तरह पारिवीच्य से ही चिन्ता का विषय बन गया।
- 10 कुछ, महावीर के समय से लेकर अनेक शताब्दियों तक के दार्शनिक साहित्य में हम देखते हैं कि प्रत्येक बाद की सत्यता की कसौटी एकमात्र कर्ममोक्ष-व्यवस्था और कर्मफल के कटु स्व मोक्षत्व की व्यवस्था रही है। केवल अनित्यत्ववादी बौद्धों की अपने पक्ष की पचासता के बारे में दबोच पड़ी रही कि आत्मा आदि जो केवल नित्य मानने से तो कर्ममोक्ष की व्यवस्था ही पट सकती है और न कर्म-फल के कटु स्व मोक्षत्व का सामानाधि 15 करण ही। केवल नित्यत्ववादी औपनिषद आदि दार्शनिकों (३ शब्दभा २ २ १६) की भी बौद्ध बाद के विरुद्ध पड़ी पड़ी रही। परिखामनित्यत्ववादी जैसदर्शन ने भी केवल नित्यत्व और केवल अनित्यत्व बाद के विरुद्ध पड़ी कथा कि आत्मा केवल नित्य था केवल अनित्य-मात्र हा तो संसार-मोक्ष की व्यवस्था कर्म के कर्ता को ही कर्मफल मिलने की व्यवस्था, मोक्षोपाय रूप से दान आदि शुभ कर्म का विधान और हीचा आदि का उपादाय 20 से सब पट नहीं सकते।
- भारतीय दर्शनों की पारिवीच्य चिन्ता का उद्वहान और खास कर उसका पोषण एवं विकास कर्मसिद्धान्त एवं संसारनिवृत्ति तथा मोक्षप्राप्ति की भावना में से कसिष्ठ हुआ है। हमसे शुरू में यह उदात्तता कि हर एक दर्शन अपने बाद की पचासता में और दूसरे दर्शनों के बाद की पचासता में अपनी कर्मसिद्धान्त आदि की दुहाई दें। पर जैसे-जैसे 2 धर्म्यात्ममूहक इस दार्शनिक क्षेत्र में तर्कवाद का प्रवेश अधिकाधिक होने लगा और यह क्रमशः यहाँ तक बढ़ा कि कुछ तर्कवाद के सामने प्राप्तात्मिकवाद एक तरह से गीब सा हो गया तो कर्म नित्यत्वादि उक्त बातों की सरयता की कसौटी भी अम्ब हो गई। तर्क ने कहा कि जो अर्थक्रियाकारी है बड़ी बरतु सत् हो सकती है दूसरी नहीं। अर्थक्रिया

१ तदेव तत्त्वमेवे इन्द्रानमहृताम्यागाम प्रकल्पते -तदि च तत्त्वतादे तत्त्वनिष्ठे च अकर्मनिष्ठिा तत्त्वतः प्राणीति एव सुखबन्धो ब्रह्मचर्यबालो न स्यात् । -न्यायभा ३ १ ७।

२ 'अभ्युत्थस्त जो केव कुत्तर तो केव केप विवना । अएता करेइ कररु। परिमु इइ पत्रवद- वरन ॥'-अग्नि- १ ५२ । न कर्ममोक्षी दृष्टिः केवलस्यो न तद्विना नापि मृपास्वभावा । कुपताइते गीवविधिं ददा विप्राम्बद्विस्वव दक्षिः ॥'-युपन्य का० १५ ।

कारित्व का इस वाकिक कर्मिटा का श्रेय शर्ही तक जात है, बौद्ध परम्परा का है । इस
 यह आभासिक है कि बौद्ध दार्शनिक चरित्रत्व क पक्ष में हम कर्मिटा का उपयोग कर और
 दूसर बाधों क विरुद्ध । हम दाखत हैं कि हुआ भी ऐसा ही । बाधों ने कहा कि जा चरित्रक
 नहीं बह अक्रियाकारी हा नहीं सकता और जा अक्रियाकारी नहीं बह सगु अक्रिया
 पारमार्थिक हा नहीं सकता—एसा अक्रिया निमित्त करके उन्होंने कबलनित्यपक्ष में अक्रिया 5
 क्रियाकारित्व का अममम दित्वात क बान्त अम और योगपक्ष का उचित विकल्पज्ञान रखा और
 उस विकल्पज्ञान म अमम में सिद्ध किया कि कबल नित्य पक्ष अक्रिया कर हा नहीं सकता
 अतएव बैमा पक्ष पारमार्थिक हा नहीं सकता—बाधना १ ६ । बाधों ने कबलनित्यत्व
 बाद (१९४ का ११४) का तरह जैनग्रन्थममम परित्यागिनित्यत्वबाध अक्रिया १९५-
 पयापारमकबाध या एक वस्तु का द्विरूप माननेबाध बाद क निरास में भी शर्ही अक्रिया 10
 क्रियाकारित्व का कर्मिटा का उपयोग किया—उत्तर का १०१८ । उन्होंने कहा कि एक ही
 पक्ष मगु अमम अममम नहीं बन सकता । क्यकि एक हा पक्ष अक्रिया का करने
 बाधा और नहीं करनेबाधा कैसे कहा जा सकता है ? । इस तरह बौद्धों क प्रतिबाध द्यत
 वैदिक और जैन दा विभाग में बँट जात हैं ।

वैदिक परंपरा में म शर्ही तक मामुम है मबस पहिल बाधनति मिम और अमम 15
 न हम बौद्धोद्भावित अक्रियाकारित्व की कर्मिटा का प्रतिबाध किया । यद्यपि बाधनति
 और अमम दानों का लक्ष्य एक हा है और बह यह कि अक्रिया एवं नित्य अमम सिद्ध करना,
 ता भी उन्होंने अक्रियाकारित्व जिम बाधों ने कबलनित्यपक्ष में अममम बतलाया वा
 उसका बौद्ध-ममम चरित्रकपक्ष में अममम बतलात हुए मिम-मिम विचारसंग्या का अनु
 सरण किया है । बाधनति ने मापसत अमपक्ष का विकल्प करके चरित्र में अक्रिया 10
 कारित्व का अममम साधित किया १९५-१ १९५-६ । अममचरित्र १ १९-६) ता
 अमम न बौद्ध आहुत अमयोगपक्ष क विकल्पज्ञान को हा लकर बौद्धबाध का अण्डन किया—
 अमम १ १९ १९४ । अमम यागमेत न भा जिमका पक्षपक्ष रूप में निर्णय कमन
 शास ने उत्तरमेमहर्षिपक्ष में किया है बाध ममम चरित्रकबाध क विरुद्ध जा विकल्पज्ञान
 रखा है हममें भा बौद्धोद्भावित अमयोगपक्षविकल्पक का ही बाधों क विरुद्ध बनाया है— 20
 उत्तर का १०८ म । यद्यपि अमम विरुद्ध हानै स यागमेत क बौद्ध हान की अमममना की
 शर्ही है यद्यपि शर्ही तक बौद्ध परंपरा में नित्यत्व—अक्रिया पापक पक्ष क अमम का
 आभासिक पक्ष न बलु तब तक पहा कल्पना तक हागी कि शासद बह जैन आभासक या
 अममपरिष्कारक हा । जो कुछ हा यह ता निरिचत ही है कि बाधों की अक्रियाकारित्व
 शर्ही वाकिक कर्मिटा का लकर ही बौद्धममम चरित्रकबाध का अण्डन नित्यबाधो वैदिक 20
 सिद्धांतों न किया ।

चरित्रकबाध क दूसर अमम प्रतिबाधो जैन रह । उन्होंने भी तकदुग में चरि-
 कर का निरास इसी अक्रियाकारित्वशर्ही बौद्धोद्भावित वाकिक कर्मिटा का लकर ही

किया। गहाँ एक मालूम है जैन परंपरा में सबसे पहिले इस कसौटी के द्वारा चर्चिकत्व का निरास करनेवाले भक्तज्ञ हैं। उन्होंने इस कसौटी के द्वारा वैदिकसम्मत कब्र नित्यत्ववाद का खण्डन ठा बैसे ही किया जैसा बौद्धों ने। और इसी कसौटी के द्वारा चर्चिकत्ववाद का खण्डन भी बैसे ही किया जैसा भदन्त धागसेन और जयन्त ने किया है। यह बात

० स्मर्य रत्न योग्य है कि नित्यत्व या चर्चिकत्वादि वादों के खण्डन-मण्डन में विविध विद्वत् के साथ भ्रष्टक्रियाकारित्व की कसौटी का प्रवेश तर्कयुग में हुआ तब भी एक वादों के खण्डन मण्डन में काम लाइ गई प्राचीन बन्धनोच्छेदकत्वा आदि कसौटी का उपयोग विद्वत्कुल शून्य नहीं हुआ, वह गीणमात्र भवरय हो गया।

एक ही वस्तु की द्रव्य-पर्यायरूप से या मयसव् एवं नित्यामित्यादि रूप से जैन
10 एवं जैमिनीय आदि दगनसम्मत द्विरूपता का बौद्धों ने जो खण्डन किया (तत्त्व का २२२, ३११ ३१२ इसका अभाव बौद्धों की ही विकल्पमाहजटिल भ्रष्टक्रियाकारित्ववादी लक्ष्मी से देना भक्तज्ञ आदि जैनाचार्यों ने शुरू किया जिसका अनुसरण पिल्ले समी जैन धार्मिकों ने किया है। आ हेमचन्द्र भी इसी माग का अग्रगण्य करके इस अग्र पहिले कब्रनिरपत्त्ववाद का खण्डन बौद्धों के ही शब्दों में करत हैं और केवल चर्चिकत्ववाद का
1० खण्डन भी भदन्त धागसेन या जयन्त आदि के शब्दों में करत हैं और साथ ही जैनदगन सम्मत द्रव्यपर्यायवाद के समर्थन के बाते इसी कसौटी का उपयोग करके कहत हैं कि भ्रष्टक्रियाकारित्व जैमवाद पक्ष में ही घट सकता है।

५ ३५ पं० २७ 'समधाऽपि'—गुहना—अमती २ २१।

५० २६ पं० २० 'पर्यायैकान्त'—गुहना—तत्त्व का ४२८-४३८।

20 ५० २६ पं० २५ 'सन्तानस्य'—बौद्धदगन चर्चिकवादा होने से किसी भी वस्तु को एक लय से अधिक स्थिर नहीं मानता। वह कार्यकारणभाव रूप से प्रयुक्त चर्चिक भावों के अविच्छिन्न प्रवाह का संतान कहकर हमके द्वारा एकरव स्थिररवादि की प्रतीति पटाता है। पर वह सन्तान नामक किसी भीज्ञ का चर्चिकमिश्र पारमार्थिक सत्त्व रूप नहीं मानता। हमके मतानुसार जैम अमक वृत्तों के बन्धन वन शब्द व्यवहार के सुधीते की दृष्टि से सांके-
6० तिक है बैसे ही सन्तान शब्द भी अमक मिन्न-मिन्न चर्चिक भावों के बन्धन ही सांकेतिक है। इस भाष का प्रतिपादन सुन बौद्ध विद्वानों ने ही अपने-अपन पात्री तथा संस्कृत ग्रन्थों में किया है—रिनुदि ५ ३ ५, बाधिषया ५ ३१४, तत्त्व का १८३०।

बौद्धसम्मत चर्चिकवाद का विरोध सभी वैदिक दगनों और जैनदगन में भी किया है। उन्होंने किसी न किसी प्रकार में स्थिरत्व सिद्ध करने के बाल्य बौद्धसम्मत सन्तान पद के अर्थ
30 की अभाव समावापना की है। जैनदगन का खण्डन इत होने पर भी बौद्धदगन की तरह कब्र का अर्थमिक सन्तान इत महा है। वह वा या अधिक चर्चों के बीच एक बाल्यिक

विश्व ब्रह्मवाद्य का मानवा है (तत्त्वात् ५. २६) जिसे बौद्धदर्शन नहीं मानता, सम्मान के लक्षण के विषय में आ० हेमचन्द्र ने सम्मानलक्षणकारी पूर्ववर्ती वैदिक और जैन परंपरा का अनुसरण किया है? ।

पृ० २० पं० १० 'सत्तायोगात्'—उल्लेख—श्रुति ४ १ । अन्वये ७ ८ ।

पृ० २८ पं० २ 'न चासौ'—एक ही बस्तु को यथासम्भव अनेक दृष्टियों से विचारना और उदनुसार हमका प्रतिपादन करना यह अनेकान्तदृष्टि या अनेकान्तवाद है । इस भाष के सूत्रक अनेकान्तवात्, स्याद्वाद विभक्त्यवाद आदि शब्द प्रसिद्ध हैं । ये शब्द बुद्ध महावीर के समकालीन और उनके कुछ पूर्ववर्ती साहित्य तक में संस्कृत प्राकृत भाषाओं में कुरीब-कुरीब उसी भाष में प्रयुक्त पाये जाते हैं^२ । भगवान् महावीर के समकालीन बौद्ध और वैदिक दर्शनों में तथा उनके कुछ पूर्ववर्ती वैदिक दर्शनों तक में हम दखते हैं कि वे दर्शन अपने अपने अभिमत सिद्धान्त का कोबल एक ही दृष्टि से विचार नहीं करते, वे भी—यथा सम्भव विविध दृष्टियों से अपने अपने सिद्धान्त का स्थापन करते हैं^३ । एसी दशा में यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि भगवान् महावीर जैसे आध्यात्मिक और गम्भीर पुरुष ने अपने ही को अनेकान्तवादी या विभक्त्यवादी कैसे कहा ? । अथवा वे कल्पित कि जैनदर्शन ही अनेकान्तवादी या विभक्त्यवादी कैसे समझा जाने लगा ? । इसका झुलसा यह जान पड़ता है कि शेषक प्रसिद्ध वैदिक बौद्ध आदि दर्शनों में भी वस्व का चिन्तन अनेक दृष्टियों से होता था फिर भी महावीर का यह दृढ़ मन्तव्य था और सच भी था कि बौद्ध सिद्धान्त में तार्किक रूप संश्लिष्ट ही स्थान है उसमें निरपेक्ष उपरिष्ठ और अवास्तविकरूप से माना जाता है । इसी तरह औपनिषदादि सिद्धान्तों में आत्मा आदि तार्किकरूप से नित्य ही हैं अमित्यत्व या परिणाममात्र औपचारिक या अवास्तविकरूप से माना जाता है, जब कि महावीर आत्मा आदि पदार्थों को तार्किकरूप से नित्य अनित्य समय स्वरूप मानकर उभय अंग को समान रूप से वास्तविक ही बतलाते थे । बहुत सम्भव है इसी दृष्टिभेद को लेकर भगवान् महावीर ने अपने दर्शन को अनेकान्त कहा और औरों को एकान्त । महावीर के उपदिष्ट प्राचीन रूप वेदों में हम दखते हैं कि आत्मा लोक आदि के सम्बन्ध में उनकी द्रव्यास्तिक-पर्यायास्तिक तथा शाश्वत अशाश्वत दोनों दृष्टियों समप्रधान हैं कोह एक वास्तविक और दूसरी अवास्तविक नहीं है । यही कारण है कि इसके बाद के भास तक के जैन विचारविकास में इस बारे में कोई परिवर्तन नहीं देखा जाता । जान पड़ता है किसी एक तरह की नित्यक विविध दृष्टियों के समप्रधान्य और वर्गीकरण की ओर भगवान् महावीर का खास झुकाव था इसी कारण

१ म्यायम० पृ० ४६४ । अष्टश० अष्टस० पृ० २३२ ।

२ सूत्रक० १ १४ १६-२२ । मणिमम० २ ५ ६ ।

३ महावग्ग ३ ६ ४ ८ । 'एकं तस्मिन् बहुधा बरन्ति'—अण्वेद् भाट० २ अ० ३ व०

२३ म० ४६ ।

४ मग० श० १ उ० ३ श० ६ उ० ३३ ।

उनक उपदेशों में नय निश्चय आदि रूप में दृष्टियों का विभाजन धीरे-धीरे पाया जाता है, चाहे वह प्राचीन ऋषि में ही क्यों न हो, जैसा कि जैनेतर दृश्य साहित्य में नहीं है और जिसके आधार पर उत्तरकालीन जैन साहित्य में नववाद अनेकान्तवाद नामक खल्लव साहित्य का प्रकार ही विकसित हुआ।

- 5 प्राचीन जैन आगमों के इतने से ज्ञान पड़ता है कि इन दिनों आत्मा साक्ष (मम ए २. उ १ य ६ उ ११; ए १२ उ १) आदि तारिबक पदाय ही नय का अनेकान्त की विचारमगरी के मुख्यतया विषय रहे आचार नहीं। शैल शास्त्रों के इतने से ज्ञान पड़ता है कि बुद्ध की अनेकान्त दृष्टि मध्यमप्रतिपत्तात्प से (तपुत् ५५ २ २) मुख्यतया आचार विषयक ही थी (मग्गिम १ १ १)। यद्यपि उत्तरकालीन जैनसाहित्य में अनेकान्त दृष्टि का उपयोग आदिना मत्स्य आदि आचार के विषय में भी हुआ है तथापि आज तक के नयवाद एवं अनेकान्तवाद विषयक ग्रन्थों में इसकी मूल प्रकृति का स्पष्टानुग्रह होता है क्योंकि नित्यत्व अनित्यत्व, एकत्व अनेकत्व, सामान्य, विशय अविभाज्यत्व अनविभाज्यत्व इत्यादि तारिबक चिन्तन में ही वह बाद समाप्त हो जाता है। अनेकान्त दृष्टि में एक वस्तु को निर्यानित्य आदि द्विरूप माननेवाला कष्ट जैन ही महा बहिष् मीमांसक धीरे-धीरे मान्य आदि भी थे। धीरे-धीरे प्रतिवादी शैल आदि व्याख्या का अध्ययन करते समय जैनों के माघ-माघ मीमांसक सांख्य आदि के भी तारिबक मन्वन्व का अध्ययन करते थे। फिर भी

१ 'ज्ञान उपदेशा दृष्टिप लिख काले च। वपयन्वय म एसा अलुकोमास उ विरुनेवा होरे मचनिहा ॥' आच० नि० १३२। 'शगमश्वरवराहउत्तमुप भव होर वादव्य। तद्विमतममिकं एवंभूय व मूलवच ॥ -आच नि गा० ७५४। कथा० ७।

२ 'न व पाव उ ति दिता नापावती ति निष्पुत्रमदित्य। न विरुज्जीवमदित्य न व ज्ञेयपव ति नादित्य ॥ अदृशना नि दु िना बुद्धव्यभो मभा अदिमो एव ॥ वादिता न नि विन्ध मुद्रवश्या अदा विरुजा ॥ अनुभवा वा पशिसामा ना हिता मा उ वादिनिमित्त। का वि अनेकवयव न वा अन्दा-खेगतिर्ब वानं ॥'-विशेषा० गा० १७२३ १७२४ १७२६। आसमी का० १२-१४। पुत्रवाच का० ५४ ५८। न वैश्वैर्यक्रियाविषया वदन्ति तै। कुत्रमदृशवकवपलाद्वयवंगारवकारनेकान्तवैश्वानुग्रहमात्। तदुक्त वदन्तमो-व केर लुदगा पाशा अनुवा वनि महाववा। मरित तेहि वदन्ति अनरितमि व वा वद ॥ एतदि वदि वागदि वदारी य विरुज्जी। एतदि वादि वासोदि अवापरं तु वावप ॥'-इत्यादि-पशोपि० धर्मपटी पृ १ ३ म।

३ 'परमावुममराभन व्याहृत्तमुगनामक। पुत्रोऽम्भुवगन्तव्यः कुत्रववाशियु नरकम् ॥ न पाव र्याप्यगन्तव्ये वृषाऽऽरुत्त विनर्यापि। उत्तगत्रुगुत्वापु नामाव्यमनि लीयने ॥'-श्लोकवा० आरम स्तो० ७८, ३। 'एतन् भूतत्रियेषु समस्तप्रायवत्पारिकामा व्याकवता ॥'-शैगसू ३ १३। शैगमा ३ १३। पात० महा० पृ ५८। म्भुवगन्तव्यो वेदात्ती वा उतथा म्भ अनेकान्त नाम तै प्रतिज्ञ वा वर्यादि व वेदादेव व ज्ञानकमनमुच्यवारी रहा अम्भुवत् वर्षे ३ श्ल० ४ पृ० ८-११।

४ 'अहमगचित्तमैव वैश्वान्वापर्यायम्। वै नामानिष्ठय प्रोक्षा विप्रनिष्ठयवाजि ॥'-तत्त्वम० का १७५६।

शब्दादि जैसे दार्शनिक^१ भी जैनों को ही श्याद्वादी समझते व कहते हैं, मीमांसक सांख्य भाषि को नहीं । इसका सबब यह जान पड़ता है कि एक ठा जैनदर्शन में श्याद्वाद स्थापन विषयक कितना और जैसा प्रचुर साहित्य बना बैसा मीमांसक, सांख्यादि दर्शन में नहीं है । और दूसरा सबब यह है कि सांख्य, योग आदि^२ दर्शनों में आत्मा ओ चरित्रज्ञान का मुख्य विषय विषय है उसको छोड़कर ही प्रकृति परमाणु आदि में नित्यानित्यत्व का चिन्तन किया है, जब कि जैनदर्शन में जड़ की तरह चेतन में भी गुरुपरूप से नित्यानित्यत्वादि का समर्थन किया है ।

जान पड़ता है जैनेतर दार्शनिकों ने जो अनेकान्तवाद का खण्डन शुरू किया वह उस बाद के जैन भाषायों के द्वारा प्राकृत भागमों में से संस्कृतरूप में अक्षरीकृत होने के बाद ही । और यह भी जान पड़ता है कि अनेकान्तवाद के खण्डन करनेवाले जैनेतर दार्शनिकों में सबसे पहिले बीछ ही रहे हैं^३ । बीछ विद्वानों के द्वारा किये गये अनेकान्त का खण्डन देखकर ही वैदिक विद्वान् इस खण्डन की धार विशेष अप्रसर हुए । ऋग्वेदसूत्रगत अनेकान्तवाद का खण्डन यदि मन्वन्तुच असत्त्व में जैनदर्शन को ही लक्ष्य में रखकर किया गया है तो भी यह खण्डन बौद्धिक किसी खण्डन के बाद ही का जाना चाहिए । यह भी हो सकता है कि असत्त्व में ऋग्वेदसूत्रगत अनेकान्त का खण्डन जैनदर्शन को लक्ष्य में रखकर न किया गया हो पर भद्र^४ प्रपञ्च जैसे वेदान्त तथा सांख्य-मीमांसक आदि का लक्ष्य में रखकर किया गया हो । वेदक ऋग्वेद के उपखण्ड भाष्यों में शाङ्करभाष्य ही प्राचीन है और उसमें जैनदर्शन को ही प्रतिपक्षी समझकर उस अनेकान्तवाद का खण्डन का अर्थ शाङ्कराचार्य ने मङ्गाया है । शाङ्कराचार्य के बारे में यह कहना दु साहस माझम होवा है कि वे मीमांसक कुमारिक प्रतिपादित अनेकान्त को या सांख्य सिद्धान्त की अनेकान्तात्मकता को जानते न थे । यदि यह कल्पना ठीक है तो फिर प्रथम होवा है कि शाङ्कराचार्य ने ऋग्वेदसूत्रगत अनेकान्त के खण्डन को केवल जैन प्रक्रियाप्रसिद्ध अनेकान्त, सप्तमङ्गी आदि के खण्डन के द्वारा ही कैसे घटाया ? इसका सुझासा यह जान पड़ता है कि जैसे अनेकान्तस्थापन विषयक स्वतन्त्र ग्रन्थ जैनसाहित्य में बने और वे जैस मीमांसा और सांख्य दर्शन में न बने और न थे । उनमें प्रसंगात् अनेकान्तपोषक चर्चा पाई जाती थी । अतएव अनेकान्त सप्तमङ्गी आदि का समर्थक स्वतन्त्र जैन-ग्रन्थों के दृष्टिगोचर होने के कारण शाङ्कराचार्य ने केवल जैनमत रूप से ही अनेकान्त का खण्डन किया । हेतुविन्दु के टीकाकार अर्चट ने भी मुख्यतया जैनमत रूप से अनेकान्तवाद का खण्डन^५ किया है उसका भी तात्पर्य बही हो सकता है ।

१ "अथ विचिन्तयन्ति निरस्यते (म शाङ्कराभा २ २ १३)—नैऋत्यिभ्रतममगत्" ऋग्वेद २. २. ३३ सं ।

२ 'न प्रकृतियं विद्वतिः पुरुष'—सांख्यका० ३ । योगभा० १ ३ ।

३ "तर्कबोधोपकरणे तद्विरोधनिवृत्तः । चोदिता दधि न्यवेति किमुद्ग मानिपावति ॥"—

श्यादि-प्रमाणवा० १ १८३-४ ।

४ इतिवि० टी० पृ० १०५-१०६ ।

सामान्यरूप से दार्शनिक क्षेत्र में बहु मान्यता रखे हैं कि धर्मदर्शन ही अनेकान्तवादी है अतएव जैसे जैनितर दार्शनिक अपने दर्शनों में सम्य अनेकान्त विचार की धीर दृष्टि दिये बिना ही अनेकान्त को मात्र जैनवाद समझकर उसका लण्डन करते हैं वैसे ही जैनधर्म भी उस बाद को सिर्फ़ भ्रमना ही मानकर उस लण्डन का पूरे ज़ार से खबाब देते हुए अनेकान्त का बिबिधरूप से स्थापन करते आए हैं जिसके फलस्वरूप जैन साहित्य में नव सप्तमूर्तियों, निचेय भ्रमकाम्नादि समर्पक एक बड़ी स्वतन्त्र प्रश्न-राशि बन गई है। अनेकान्त के ऊपर जैनितर दार्शिकों के द्वारा दिये गये दृष्टियों का उद्धार करते हुए जैनाचार्य ऐसे आठ दोषों का उल्लेख करते हैं। जहाँ तक देखने में आया है उन आठ दोषों में से तीन दोषों का स्पष्ट रूप से नामनिर्देश तो शङ्कराचार्यकृत लण्डन (२ २ ११) धीर उत्तरसंग्रहकृत लण्डन (का १० ६) से मिश्रता है पर उन आठों दोषों का स्पष्ट नामनिर्देश किसी एक जगह या मित्र मित्र स्थान में मिश्राकर क देना नहीं जाता। सम्भव है कोई भ्रमकाम्ना क लण्डनवाला ऐसा भी प्रश्न रहा हो जिसमें उन आठ दोषों का स्पष्ट नामनिर्देश रहा हो। धीर पत्र भी हो सकता है कि एसे आठ दोषों के अलग अलग नाम धीर उनके लक्षण किसी ग्रन्थ में आये न हों। सिर्फ़ अनेकान्त लण्डन परापद्य विचारशीला धीर भाषा रचना का देखकर इस लण्डन में स अधिक से अधिक फलित ज्ञानवाले आठ दोषों के नाम धीर लक्षण जवाब देने क बाल्य स्वयं ही अलग अलगकर जैनाचार्यों ने उनका युक्तिपूर्ण निरसन किया हो। कुमारिभू ने अनेकान्त के ऊपर विराप धीर संशय इस दो दोषों की सम्भावना कर के ही उनका निवारण किया है। शङ्कराचार्य के लण्डन में (५ शंकरमा २. २ ११) मुख्यतया उक्त दो ही दोष फलित होत हैं। शान्तरचित्त क लण्डन में उक्त दो दोषों के अन्वया सहूर

मामक (उत्तर का १०२२) तीसर दोष का स्पष्ट निर्देश है।
 अनेकान्तवाद के ऊपर प्रतिवादिनों के द्वारा दिये गये दोषों का उद्धार करनेवाले जैनाचार्यों में व्यवस्थित धीर विरलेपक्षपूर्वक उन दोषों क निवारण करनेवाले सबसे प्रथम अक्षरभू धीर हरिमठ ही नाम पड़ते हैं। इनका अनुगमन पिछले सर्वा जैन विद्वानों ने किया है। आचार्य इमचन्द्र ने भी उसी मार्ग का अनुसरण करके आठ दोषों का उद्धार किया है धीर स्वाहाय का एक पूरा धीर निर्दोष बाद स्थापित किया है।

असम में स्वात्यद मुक्त होल के कारण केवल सप्तमूर्तियों का ही नाम स्वाहाय है। व्यवहार निरूपण, जैगम संग्रह आदि नव से सब नयवाद क अन्तगत हैं। स्वाहाय धीर

१ उवाहरचार्य-कर्मनिष्ठ आत्ममीमाणा नयक उत्तराध्यायना-अथम अण्वाव का ६३ एवं तथा अनुशास्य का अन्तिम सूत्र, अनेकान्तवदनाका अनेकान्तप्रवृत्त स्वाहायवनाकर-३० ७० परि अन्वयोमन्ववपक्षैरुदाभिदिता नयप्रहीर नयोपदेश मवदस्व अनेकान्तप्यारवा उत्तमप्रीतिप्रिही जाति।

२ प्रणालम० मि पृ० १३ A।

३ श्रीकथा० आह० ३४, पन ३६-८०।

४ प्रमाणमे० मि पृ १३ A। अनेकान्त० टी पृ० ३० म। शान्त्या० ७ ३४-३८।

मयबाद ये दोनों एकमात्र अनेकान्त दृष्टि के कृत्रस्वरूप भिन्न भिन्न शब्द हैं जो शैली, शब्द रचना, पृथक्करण आदि में भिन्न होने पर भी अनेकान्तसूचक रूप से अभिन्न हो हैं। जैन शास्त्रों की व्याख्या का निष्पेक्षात्मक प्रकार और द्रव्य, चेत, काष्ठ भाव आदिवादा पृथक्करण प्रकार भी अनेकान्त दृष्टि का ही चोवक है। अनेकान्तवाद यह व्यापक शब्द है, जिसमें स्वाह्लाद, नयवाद, निष्पेक्षात्मक आदि सबका समावेश हो जाता है। यद्यपि 5 इस समय अनेकान्तवाद और स्वाह्लाद दोनों शब्द पर्यायरूप से व्यवहृत देखे जाते हैं तथापि स्वाह्लाद असंख्य में अनेकान्तवाद का एक विशेष अंशमात्र है।

पृ० २८ पं० ३ 'विरोधादि'—अन्य बादिओं के द्वारा अनेकान्त क ऊपर किये गये दोषों का परिहार जैन आचार्यों ने किया है। इस परिहार में परिहृत दोषों की संख्या के विषय में तथा स्वरूप के विषय में नाना परम्पराएँ हैं। भट्टारक भक्तलाल ने संशय, विरोध, 10 वैयधिकरण्य, उभयदोषप्रसङ्ग, अनवस्था, सङ्कर, अभाव इन दोषों का परिगणन किया है। आचार्य हरिसम्र ने (शाब्दनाम स्तो का ५१-५२) संख्या का निर्देश बिना किये ही विरोध, अनवस्था, उभय संशय इन दोषों का स्पष्ट निर्देश किया है और आदि शब्द से अन्य दोषों का सूचन भी किया है। विद्यानन्द ने अष्ट (२२७) विरोध वैयधिकरण्य, संशय व्यतिकर, सङ्कर अनवस्था, अप्रतिपत्ति और अभाव इस तरह स्पष्ट ही नामपूर्वक आठ 15 दोष गिनाये हैं। प्रभाषण्ड ने प्रमेयक पृ १५१ आठ दोष गिनाये हैं, पर दोनों की की हुई नामावली में जोड़ा सा अन्तर है क्योंकि विद्यानन्द 'उभय' दोष का उल्लेख नहीं करते पर अप्रतिपत्ति को दोष कहकर आठ संख्या की पूर्ति करते हैं जब कि प्रभाषण्ड 'उभय' दोष को गिनाकर ही आठ दोष की संख्या पूर्ण करते हैं और अप्रतिपत्ति को अलग दोष नहीं गिनते। इस तरह दिगम्बरीय ग्रन्थों में संख्या आठ होने पर भी उसकी दो परम्पराएँ हुईं। 20

अभयदेव ने 'उभय' दोष का उल्लेख किया है अन्वितिरी पृ ५५२) पर उनकी दोष संख्या सात की है, जो बाही देवसूत्रि को भी अभिमत है फिर भी बाही देवसूत्रि (स्वाशरर पृ ७१८) और अभयदेव दोनों की सात संख्या की पूर्ति एक ही नहीं है। क्योंकि अभयदेव की गणना में 'अभाव' दोष है पर व्यतिकर नहीं जब कि बाही देवसूत्रि की गणना में 'व्यतिकर' है, 'अभाव' नहीं। इस तरह श्वेतान्बरीय ग्रन्थों में सात संख्या की 25 दो परम्पराएँ हुईं।

आचार्य हेमचन्द्र ने जिन आठ दोषों का परिहार किया है व ठीक विद्यानन्दसम्मत ही आठ हैं। हेमचन्द्र के द्वारा आठ दोषों का परिहार श्वेतान्बरीय ग्रन्थों में प्रथम दार्शनिक हुआ नाम पढ़ता है जिसका अनुकरणीय अर्थों के अनुगामी मस्तिष्केय सूत्रि ने स्वाह्लादमञ्जरी (वा २५) में किया है। अनेकान्तवाद पर जब से दार्शनिक चेतने में आशय होने लगे तब 30 से आलोचकों के द्वारा दिये गये दोषों की संख्या भी एक-सी नहीं रही है, बर अलग अलग नाम पढ़ती है। इन दोषों के निवारक जैन आचार्यों के ग्रन्थों में भी परिहृत दोषों की संख्या का बचरोत्तर विकास ही हुआ है। यहाँ तक कि अभिमत जैन दार्शनिक व्याख्याय

पयोविजयत्री मे (शास्त्रा वा पृ २६६ A) आठ को प्रमाद्य भ्रम्य दोषों—आत्मात्रय, परस्परभ्रम, चक्रक भ्रादि—का भी निर्देश करके इनका निवारण किया है।

पृ० २८ पं० ६ 'नीचम्'—उलना—प्रमेयक पृ १५६ १५८।

- 5 पृ० २८ पं० ३ 'प्रत्येकं यो'—उलना—“आह च—
मेवाभेदात्तदोपाश्च तयोरिष्टौ कथं न वा।
प्रत्येकं ये प्रसज्यन्ते द्वयोर्भावे कथं न ते ॥”—हेतुवि टी पृ १९।

- अ० १ भा० १ सू० ३४-४१ पृ० २८ वायनिकक्षेत्र में प्रमाद्य और उसके फल की चर्चा भी एक खास स्थान रखती है। वहाँ ता पद विषय तर्कयुग के पहिले भुक्ति-
10 प्रागम युग में भी विचारप्रवेश में आया है। उपनिषदों पिटकों और आगमों में ज्ञान—
सम्बन्धान—के फल का कथन है। उक्त युग में वैदिक वैश्व, जैम सभी परम्परा में ज्ञान का
फल अविद्यानाश या बस्तुविषयक अधिगम कहा है पर वह आम्बार्त्तिक दृष्टि से—अर्थात्
मोक्ष ज्ञान की दृष्टि से। उस अध्यात्म युग में ज्ञान इसी लिए उपादेय समझा जाता था
कि उसके द्वारा अविद्या—अज्ञान—का नाश होकर एक बस्तु का वास्तविक बोध होकर अन्त
में मोक्ष प्राप्त हो, पर तर्कयुग में यह चर्चा व्यावहारिक दृष्टि से भी होने लगी अतएव
15 इस तर्कयुग में दानेवाली—प्रमाद्यफलविषयक चर्चा में अम्ब्यात्मयुगीन श्लैशिक दृष्टि और
तर्कयुगीन श्लैशिक दृष्टि दोनों पाते हैं। श्लैशिक दृष्टि में केवल इसी भाव को सामने
रखकर प्रमाद्य के फल का विचार किया जाता है कि प्रमाद्य के द्वारा व्यवहार में
आज्ञान क्या सिद्ध होता है, और परम्परा से क्या चाहे अन्त में मोक्षलाभ होता हो
20 वा नहीं। क्योंकि श्लैशिक दृष्टि में मोक्षानधिकारी पुरुषगत प्रमाद्यों के फल की चर्चा
का भी समावेश होता है।

दोनों परम्परा की तर्कयुगीन प्रमाद्यफलविषयक चर्चा में मुख्यतया विचारणीय अर्थ दो
होते जाते हैं—एक तो फल और प्रमाद्य का पारस्परिक भेद अमद और दूसरा फल का
स्वरूप। न्याय वैश्विक मीमांसक आदि वैदिक दृष्टान फल को प्रमाद्य से भिन्न ही मानते

१ “ताद्विद्यापत्तिं विकल्पीह गोम्—मुण्डको० २. १ १०। न्यायशा० २. ३ ६८। उक्त
२८. २. ३। ‘जननं बुधनि—यथा च माया ना धर्मं तथापि अमितमेतन्नि। तथा अविद्याज्जना
उपगन्ता वरिस्तानि ॥”—विमुक्ति० पृ २४४।

२ “नराज्ञानाधिक्क फलम्” ई सू० १ १ ३। तत्त्वज्ञानाधिक्क फलानाम्—न्यायपृ
१ १ १। ‘यथा तद्विद्वत्परा शानं प्रविति, यथा ज्ञानं तथा ज्ञानोपदानात्प्राप्तुद्वयः फलम्—न्यायमा०
१ १ ३।

हैं । बौद्ध दर्शन वसे अभिन्न कहता है जब कि जैन दर्शन अपनी अनेकान्त प्रकृति के अनुसार फल प्रमाद्य का भेदाभेद बतलाता है ।

फल के स्वरूप के विषय में वैशेषिक, नैयायिक और मीमांसक सभी का मन्वभ्य एक सा ही है । वे सभी इन्द्रियव्यापार के बाद होनेवाले अभिकर्ष से छेकर हानोपादानोपेक्षाबुद्धि तक के क्रमिक फलों की परम्परा को फल कहते हुए भी उस परम्परा में से पूर्ण पूर्व फल को उत्तर उत्तर फल की अपेक्षा से प्रमाद्य भी कहते हैं अर्थात् उनके कथनानुसार इन्द्रिय का प्रमाद्य ही है फल नहीं और हानोपादानोपेक्षाबुद्धि जो अन्तिम फल है वह फल ही है प्रमाद्य नहीं । पर बीच के सभिकर्ष, निर्भिकल्प और सविकल्प ये तीनों पूर्ण प्रमाद्य की अपेक्षा से फल और उत्तरफल की अपेक्षा से प्रमाद्य भी हैं । इस मन्वभ्य में फल प्रमाद्य कहलाता है पर वह स्वभिन्न उत्तरफल की अपेक्षा से । इस तरह इस मत में प्रमाद्य-फल का भेद स्पष्ट ही है । बाणस्पति मित्र ने इसी भेद को ध्यान में रखकर सांख्य प्रक्रिया में भी प्रमाद्य और फल की व्यवस्था अपनी कौमुदी में की है ।

बौद्ध परम्परा में फल के स्वरूप के विषय में दो मन्वभ्य हैं—पहला विषयाधिगम को और दूसरा स्वसंविधि को फल कहता है । यद्यपि विज्ञानागसंघीहृत् इत दो मन्वभ्यों में से पहले का ही कथन और विवक्ष्य धर्मकीर्ति तथा उनके टीकाकार धर्मोत्तर ने किया है तथापि शान्तरक्षित ने इन दोनों बौद्ध मन्वभ्यों का संग्रह करने का भ्रष्टावा उनका सयुक्तिक उपपादन और उनके पारस्परिक अन्तर का प्रतिपादन भी किया है । शान्तरक्षित और उनके शिष्य कमलधोत ने यह स्पष्ट बतलाया है कि बाह्यार्थवाद, जिसे पार्थसारथि मित्र ने सौत्रा म्बिक का कहा है उसका मतानुसार ज्ञानगत विषयसाकष्य प्रमाद्य है और विषयाधिगति फल, जब कि विज्ञानवाद जिसे पाथसारथि ने योगाचार का कहा है उसके मतानुसार ज्ञानगत स्वसंवेदन हा फल है और ज्ञानगत तथाविध योग्यता ही प्रमाद्य है । यह ध्यान में रखे कि बौद्ध मतानुसार प्रमाद्य और फल दोनों ज्ञानगत धर्म हैं और उनमें भेद न माने जान का कारण वे अभिन्न कहे गये हैं । कुमारिल ने इस बौद्धसम्मत अभेदवाद का लण्डन

१ स्त्रीकथा० प्रत्यक्ष० स्त्री० ७४, ७५ ।

२ प्रमाणमनु० १ ६ । न्यायधि० टी० १ २१ ।

३ "अख्यस्य क्रियाकार्य कश्चिदेकत्वं प्रदीप्तमाधिगमवत् नानात्वं च परत्वारिणत्वं" - अष्टश० अष्टम० पृ० २८३ २८४ ।

४ 'यदा तदधिकपलदा ज्ञानं प्रमिति यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम् ।' - न्यायमा० १ १ ३ । स्त्रीकथा० प्रत्यक्ष० स्त्री० ३६-७३ । प्रकरणप० पृ० ६४ । कम्प्ली पृ० १६८-६ ।

५ सांप्रत्यग० का० ४ ।

६ प्रमाणमनु० १ १०-१२ । स्त्री० न्याय० पृ० १५८-१५६ ।

७ न्यायधि० १ १८-१६ ।

८ विषयाधिगतित्वात् प्रमाद्यफलमित्यत । स्वधित्वात् प्रमाणं तु साकष्यं साम्यादि वा ॥११-

तत्पस० का० १३४४ । स्त्री० न्याय० प० १५८-१५६ ।

पयोविद्ययाजी नै (शाब्रवा टी ५ २६६ A) आठ के अज्ञाना अन्वय दोषों—आरमात्रय, परस्परान्वय, अज्ञान आदि—का भी निर्देश करके उनका निवारण किया है।

५० २८ पं० ६ 'नैबम्'—शुक्लाना—प्रमेयक ५ १५६ १५८।

५० २६ पं० ३. 'प्रत्येकं ये'—शुक्लाना—“आठ प—

5 भेदाभेदात्तद्वयोपाश्च तयोस्त्रिणी कथं न वा।

प्रत्येकं ये प्रसज्यन्ते द्वयोमनि कथं न ते ॥”—शुक्लि टी ५ १९।

- प्र० १ आ० १ सू ३४-४१ ५० २६ दार्शनिकक्षेत्र में प्रमाद्य और उसके फल की चर्चा भी एक खास स्थान रखती है। यों तो यह विषय तर्कयुग के पहिले बुद्धि-
 10 सम्पन्नज्ञान—के फल का कथन है। उक्त युग में वैदिक बौद्ध, जैन सभी परम्परा में ज्ञान का फल अविद्यानाश या बलुविषयक अविगम कहा है पर वह आध्यात्मिक दृष्टि से—सर्वांत मोक्ष ज्ञान की दृष्टि से। उस आध्यात्म युग में ज्ञान इसी क्षिप्य अथादेय समझा जाता था कि उसके द्वारा अविद्या—अज्ञान—का नाश होकर परबं बलु का वास्तविक बोध हाकर अन्वय में मोक्ष प्राप्त हो? पर तर्कयुग में यह चर्चा व्यावहारिक दृष्टि से भी होने लगी अतएव
 16 हम तर्कयुग में जानेवाली—प्रमाद्यफलविषयक चर्चा में आध्यात्मयुगीन औचित्यिक दृष्टि और तर्कयुगीन औचित्यिक दृष्टि दोनों पाते हैं? औचित्यिक दृष्टि में केवल इसी मात्र को सामने रखकर प्रमाद्य के फल का विचार किया जाता है कि प्रमाद्य के द्वारा व्यवहार में साक्षात् क्या सिद्ध होता है, और परम्परा से क्या चाहे अन्वय में मोक्षप्राप्त होता हो या नहीं। क्योंकि औचित्यिक दृष्टि में मोक्षानधिकारी पुरुषगत प्रमाद्यों के फल की चर्चा
 20 का भी समावेश होता है।

दोनों परम्परा की तर्कयुगीन प्रमाद्यफलविषयक चर्चा में हुएबतवा विचारशील अर्थ दो देखे जाते हैं—एक तो फल और प्रमाद्य का पारस्परिक भेद-अभेद और दूसरा फल का स्वरूप। न्याय वैशेषिक मीमांसक आदि वैदिक दर्शन फल को प्रमाद्य से भिन्न ही मानते

१ 'शोऽविद्यामनिं विद्वतीह लीम्'—मुण्डको० २. १ १०। सांख्यका ३.७ ६८। उच्यते २८ २, ३। 'तमेव बुद्धि—वदा च मात्वा मे भयं तजानि अमितमेतदस्ति। तदा अविद्यबुक्त्या उपपन्नो अस्ति ॥' ब्रह्मसूत्रि० पु २४४।

२ "तत्त्वज्ञानाधिभ वदम्"—सू० १ १ ३। 'तत्त्वज्ञानाधिभ वदाधिगमः'—न्यायसू० १ १ १। "यदा तत्त्वकर्षस्तदा ज्ञान मितिः, वदा ज्ञान तदा ज्ञानोपबन्तोपेक्षापुत्रक फलम्"—न्यायसू० १ १ ३।

है? । बौद्ध दर्शन धर्म अमिन्न कहता है? जब कि जैन दर्शन अपनी अनेकान्यत प्रकृति को अनुसार फल-प्रमाद्य का भेदाभेद बतलाता है? ।

फल का स्वरूप के विषय में वैशेषिक, नैयायिक और मीमांसक सभी का मन्तव्य एक सा ही है^१ । वे सभी इन्द्रियव्यापार के बाद होनेवाले समिकर्ष से लेकर हानोपादानोपेक्षाबुद्धि तक के क्रमिक फलों की परम्परा को फल कहते हुए भी उस परम्परा में से पूर्व पूर्व फल को उत्तर उत्तर फल की अपेक्षा से प्रमाद्य भी कहते हैं अर्थात् उनके कथनानुसार इन्द्रिय तो प्रमाद्य ही है फल नहीं और हानोपादानोपेक्षाबुद्धि जो अन्तिम फल है वह फल ही है प्रमाद्य नहीं । पर बीच के समिकर्ष, निर्विकल्प और सविकल्प ये तीनों पूर्व प्रमाद्य की अपेक्षा से फल और उत्तरफल की अपेक्षा से प्रमाद्य भी हैं । इस मन्तव्य में फल प्रमाद्य कहलाता है पर वह स्वभिन्न उत्तरफल की अपेक्षा से । इस तरह इस मत में प्रमाद्य-फल का भेद स्पष्ट ही है । बावत्पति मित्र ने इसी भेद की ध्यान में रखकर सांख्य प्रकृष्ट्या में भी प्रमाद्य और फल की व्यवस्था अपनी कौमुदी में की है^२ ।

बौद्ध परम्परा में फल के स्वरूप के विषय में दो मन्तव्य हैं—पहला विषयाधिगम को और दूसरा स्वसंविधि को फल कहता है । यद्यपि दिङ्नागसंगृहीत^३ इन दो मन्तव्यों में से पहले का ही कथन और विवरण धर्मकीर्ति^४ तथा उनके टीकाकार धर्मोत्तर में किया है^५ तथापि शास्त्ररक्षित ने उन दोनों बौद्ध मन्तव्यों का संग्रह करने के अलावा उनका मयुक्तिक उपपादन और उनके पारस्परिक अन्तर का प्रतिपादन भी किया है । शास्त्ररक्षित और उनके शिष्य कमलशोख ने यह स्पष्ट बतलाया है कि बाह्यार्थवाद, जिसे पार्यसारिणि मित्र ने सौत्रा म्बिक का कहा है उसके मतानुसार ज्ञानगत विषयसारूप्य प्रमाद्य है और विषयाधिगति फल, जब कि विज्ञानवाद जिसे पार्यसारिणि ने योगाधार का कहा है उसके मतानुसार ज्ञानगत स्वसंभवन हा फल है और ज्ञानगत तथाविध योग्यता ही प्रमाद्य है^६ । यह ध्यान में रहे कि बौद्ध मतानुसार प्रमाद्य और फल दोनों ज्ञानगत धर्म हैं और उनमें भेद न माने जाने का कारण वे अमिन्न कहे गये हैं । कुमारिल ने इस बौद्धसम्मत अभेदवाद का दण्डन

१ न्यायकथा० प्रत्यक्ष० सू० ७४ ७५ ।

२ प्रमाणसमु० १ ६ । न्यायवि० टी० १ २१ ।

३ अर्थस्य कियान्तरत्वं कथंचिदकलं प्रदीप्तमधिगमवत् नानात्वं च परत्वारिषत्?—अष्टश० अष्टम० पृ० २०३ २०४ ।

४ 'यदा तद्विस्तृतता ज्ञानं प्रमितिं यदा ज्ञानं तथा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः क्लमः'—न्यायभा० १ १ ३ । सूत्रकथा० प्रत्यक्ष० सू० ५१-७३ । प्रकरणप० पृ० ६४ । कम्बुली पृ० १६० ६१ ।

५ सौप्यत० का० ४ ।

६ प्रमाणसमु० १ १०-१२ । सूत्रा० न्याय पृ० १५०-१५६ ।

७ न्यायवि० १ १०-१६ ।

८ 'विषयाधिगतित्वात् प्रमाणफलमिष्यत । स्वसंविधत्वात् प्रमाद्य तु स्वरूप्य योग्यताय वा ॥ - तत्त्वस० का० १३४४ । सूत्रा० न्याय० पृ० १५०-१५६ ।

(रत्नाम्बा प्रत्यक्ष श्लो ७४ में) करक जो वैशेषिक-नैयायिक क भेदवाद का अभिमतकर्म से स्थापन किया है उसका अभाव शान्तरचित ने अचरण देकर बौद्धसम्मत भेदवाद की युक्तियुक्ता दिक्कार है—उत्तर का ११४ से।

जैन परम्परा में सबसे पहिले तार्किक सिद्धसेन और समन्वयज्ञ ही हैं जिन्होंने शैबिक दृष्टि से भी प्रमाद्य के फल का विचार जैन परम्परा के अनुसार व्यवहृत किया है। एक दोस्रो भाषायों का फलविषयक कबन शब्द और भाव में समान ही है—न्याय का २० मातमी का १२। दोस्रो क कबनानुसार प्रमाद्य का साक्षात् फल तो भ्रजाननिवृत्ति ही है। पर व्यवहृत फल पचासमव हानोपादानोपेक्षाबुद्धि है। सिद्धसेन और समन्वयज्ञ के कबन में तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं—

- 10 १—भ्रजानविनाश का फलरूप से बल्लोस जिसका वैदिक-बौद्ध परंपरा में निर्देश नहीं देखा जाता। २—वैदिक परम्परा में जो मध्यवर्ती फलों का सापेक्ष भाव से प्रमाद्य और फल रूप से कबन है उसके बल्लोस का अभाव जैसा कि बौद्ध वर्कप्रन्थों में भी है। ३—प्रमाद्य और फल के भेदाभेद विषयक कबन का अभाव। सिद्धसेन और समन्वयज्ञ के बाद अकबल ही इस विषय में मुख्य देखे जाते हैं जिन्होंने सिद्धसेन-समन्वयज्ञद्वारा फलविषयक जैन सम्प्रदाय का संग्रह करते हुए उसमें अनिदिष्ट दोनों श्रेणियों की स्पष्टतया पूर्ति की, अर्थात् अकबल में प्रमाद्य और फल के भेदाभेदविषयक जैनसम्प्रदाय को स्पष्टतया कहा (अष्टक महत् ५ २८१-४) और मध्यवर्ती फलों को प्रमाद्य तथा फल अथवा रूप कहने की वैशेषिक नैयायिक मीमांसक की सापेक्ष शैली को जैन प्रक्रिया के अनुसार गठान करके उसका स्पष्ट निर्देश किया। माणिक्यमन्वी (पृ ५ ११७ से) और देवसूत्रि (प्रमाण ११ से)
- 20 अपने अपने सूत्रों में प्रमाद्य का फल बतलाते हुए सिद्धसेन ही बात कही है जो सिद्धसेन और समन्वयज्ञ में। अकबलता उन्होंने अकबलानिदिष्ट प्रमाद्य-फल के भेदाभेद का जैन सम्प्रदाय सूत्रित किया है पर उन्होंने मध्यवर्ती फलों को सापेक्षभाव से प्रमाद्य और फल कहने की अकबलसूचित जैनशैली का सूत्रित नहीं किया। विद्यामन्द की तीसरे दृष्टि अज्ञाननिवृत्ति और स्व-परव्यवसिति शब्द की ओर गई। योगाचार और स्त्रीशान्ति सिद्धान्त के अनुसार
- 25 प्रमाद्य के फलरूप से फलित होमैवाही स्व और पर व्यवसिति का ही विद्यामन्द ने अज्ञान निवृत्तिरूप बतलाया (उपनिषत् ५ ११८; प्रमाण ५ ७२) जिसका अनुसरण प्रमाद्यज्ञ ने मार्तण्ड में और देवसूत्रि ने रत्नाकर में किया। अब तक में जैनतार्किकों का एक तिबरा सा सम्प्रदाय ही हो गया कि जिसे सिद्धसेन-समन्वयज्ञ ने भ्रजाननिवृत्ति कहा है वह वस्तुतः स्व-परव्यवसिति ही है।

- 30 भा इमपत्र ने प्रस्तुत चर्चा में पूर्ववर्ती सभी जैनतार्किकों के मतों का संग्रह तो किया ही है पर साब ही उसमें अपनी विशांवा भी दिक्कार है। उन्होंने प्रमाद्य और

दबसुरि की तरह सब परब्यवसिति का ही अज्ञाननिवृत्ति न कहकर दोनों का अलग अलग फल माना है । प्रमाद्य और फल का अमद पक्ष में कुमारिल न बौद्धों के ऊपर आ दोष दिये थे और तिनका निरास धर्मोत्तर की व्यायवित्तुव्याख्या तथा शान्तरचित के उत्तरसंग्रह में ही वन्हीं दोषों का निवारण बौद्ध ङग से करते हुए भी भा० हेमचन्द्र न अपना व्याकरणवत् अकार्षक ताकिकशैली में व्यक्त किया है । जैसे अनेक विषयों में भा० हेमचन्द्र अकलङ्क का छाम अनुसरण करते हैं वैसे ही इस अन्धा में भी उन्होंने अल्पवर्ती फलों का मापेसमाह से प्रमाद्य और फल कहनैवाही अकलङ्कस्थापित जैनशैली को सूत्र में शुद्धरूप स्थान दिया । इस तरह हम प्रमाद्य फल के अर्थाविषयक प्रस्तुत सूत्रों में वैदिक, बौद्ध और जैन सभी पर स्वराधों का यथासम्भव जैनमत रूप से समन्वय एक ही जगह पाते हैं ।

पृ० २६ पं० १६ 'नन्वन प्रमाणम्'—शुलना—'ननु च ज्ञानाभ्यविरिक्तं सादर्यं तथा 10
 च सति तदेव ज्ञानं प्रमाद्य तद्वत् प्रमाद्यफलम् । न चैकं वस्तु साध्यं साधनं चोपपद्यते । तत्कार्यं साध्यं प्रमाद्यमित्याह—

तद्वशादर्थमतीविसिद्धेरिति ॥

तद्वशादिति । अथस्य प्रतीतिरूपं प्रत्यक्षं विज्ञाने साध्यवशात् सिध्यति, प्रतीत्यं प्रतीत्यस्य च । नीलनिमासं हि विज्ञाने यत् तस्मान्नीलस्य प्रतीतिरवसीयते । यस्या हि 16
 अणुगदिभ्यो विज्ञानमुत्पद्यते न तद्वशात्तद्वशात् नीलस्य संबेदनं शक्यते अवरथापयितुं नीलसदृश स्वतुभूयमानं नीलस्य संबेदनमवस्थाप्यते । न चात्र अल्पजनकमाभिनवस्थान साध्यमाधनमात्र यनेकरिमन्वन्तुनि विरास स्मात् अपि तु व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकमाशन । तत् एकस्य वस्तुन किञ्चित् प्रमाद्यं किञ्चित् प्रमाद्यफलं न विरुध्यते ।"—न्यायसि ४ १ २१ ।

पृ० ३० पं० २३ 'इहाधारण्यया'—शुलना—'इहाधारण्यधारण्ये ज्ञानारमकस्वमुन्नयं तदुप 20
 योगविशेषात् ।"—तपी स्वसि १ ६ ।

पृ० ३० पं० २४ 'तदा धारणा प्रमाणम्'—शुलना—तपी स्वसि ३ १ ।

पृ० ३१ पं० ६ 'अमद'—शुलना—तपी ६ ६० ; प्रमाणम् ६ ६४ ।

पृ० ३१ पं० १० 'अप्रमाणाद्'—शुलना—'तत् एकस्य वस्तुन किञ्चित्कार्यं प्रमाद्यं 2
 किञ्चित्प्रमाद्यफलं न विरुध्यते । व्यवस्थापनद्वयविद्वाह्यं तस्य ज्ञानस्य व्यवस्थाप्यं च मीमं संवन्तहपम् । व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकमाहाऽपि कथमकार्यं ज्ञानस्येति चत् । व्यप्यत । मरणवस्तुभूयमाने तद्विज्ञाने यतो नीलस्य प्रादकमवस्थाप्यते निरव्ययप्रत्ययन तन्मात्र साध्यवस्तुमूत व्यवस्थापनद्वय । निरव्ययप्रत्ययेन च तद्विज्ञाने नापसंबेदनमवस्थाप्यमानं व्यव

रहाप्यम् । तस्मान्मातृप्यभ्याप्यस्या सात्त्विक्यं क्षामरय इयवराधापनहुतु । अनीशुबोधवा-
चुरया च नीनबाधत्परत्वं इयवभ्याप्यम् ।'—स्यापि श्लो १ २१ ।

पृ० ३१ पं० ११ 'पूर्वं सति'—श्रुतना—श्लो १ ६० १६ ।

पृ० ३१ पं० १४ 'तथा तस्यैवात्मनि'—श्रुतना—श्लो ५ १ । प्रमाणन १ ६ ११ ।

पृ० ३१ पं० १५ 'भद्रं तु'—श्रुतना—श्लो १ ७१ ।

पृ० ३१ पं० १५ 'अथ यत्रैवात्मनि'—श्रुतना—प्रमेयर १ ७१, ७२ ।

पृ० ३१ पं० १६ 'प्रमाणात् फलम्'—श्लो ५ १ । प्रमाणन पृ ७६ ।

- पृ० ३१ पं० २१ 'स्वपराभासी'—भारत में दार्शनिकों की चिन्ता का मुख्य भार
अन्तिम विषय आत्मा ही रहा है । अग्य मयी जोड़ें आत्मा की रीत में से हा अन्तिव हुई
10 है । अतएव आत्मा क अस्तित्व तथा स्वरूप क सम्बन्ध में बिलकुल परस्परविरापी एते
अनक मत अति घिरकाच से दगनशास्त्रों में पाये जाते हैं । उपनिषद् काल क पश्चिम ही स
आत्मा का मन्त्रा निरय—कूटस्थ—माननेवाछ दगन पाये जाते हैं जो श्रीपनिषद्, सांख्य आदि
नाम स प्रसिद्ध हैं । आत्मा अर्थात् पित्त या नाम का भी सर्वथा अद्विक मानन का बौद्ध
मिद्वान्न है जा गौतम बुद्ध स ता अर्थात्पान मर्दों है । इन सर्वथा निरस्त्र घौर सर्वथा
15 अद्विकरव स्वरूप दो एकाग्रों क भीप छोकर पजनवासा अर्थात् एक हो एकाग्रों क समग्रय
का पुरस्कृतां निस्वानिश्चरवाद् आत्मा क विषय में भी भगवान् महाबीर के द्वारा स्वच्छता
आगमों में प्रतिपान्ति (मग श ० उ २ दग्य जाता है । इम जैनाभिमत आत्मनिष्ठा
निरपरवशा का समयम मीमांसकपुरीम कुमारिषु म (रनेकवा आत्म रता २० स) भी बड़ा
स्पष्टता एवं तार्किकता स किया है जैमा कि जैनतार्किकमन्त्रों में भी देया जाता है ।
20 इम बार में यद्यपि आ० हमयन् न जैनमत की पुष्टि में तरबसेपदगत श्लोका का ही अछराश
अहरण दिया है तथापि वे श्लोक अगुन कुमारिषु क श्लोकावाटिकगत श्लोका के दो तार
कात्र का निर्देशक टाने स मीमांसकमत क ही धोतक है ।

ज्ञान एव आत्मा में स्वावमानिरव-परावमानिरव विषयक विचार क बौद्ध हा अति
आगमकापीन साहित्य में भी पाव जात है पर इम विचारों का स्पष्टीकरण एव
2 समयन ना शिष्यकर तकपुग में ही हुआ है । पराप्य ज्ञानवादी कुमारिषु आदि मीमांसक के
मकानुसार ही ज्ञान और हमस अन्तम आत्मा इम दानों का परास्त्रव अवात्त कात्र
वगवमानिरव मिद्व हाता है । यागाचार बौद्ध क मकानुसार विद्यामवाद्य किमी पीर
का अस्तित्व क टाने स और विद्याम स्वमेवित्त दान स ज्ञान और तन्व आत्मा का मात्र
स्वावमानिरव कर्षण हाता है । इम बार में भी अन्वयन में अचनी अन्वयगत प्रकृति क अनु
30 तार ही अचमा मत गिदर किया है । ज्ञान एव आत्मा दानों का स्पष्ट रूप स १६ परामासी

कहनेवाले जैनाचार्यों में सबसे पहिले सिद्धसेन ही हैं—न्याया ३१ । आ० हेमचन्द्र ने सिद्धसेन को ही कथन को देहराया है ।

वेबसुरि न आत्मा को स्वरूप का प्रतिपादन करत हुए जा महात्तरक्यावर्त्तक अनेक विशेषण दिये हैं (प्रमाण ७५४,५५) जमें एक विशेषण देहक्यापित्व यह भी है । आ० हेमचन्द्र ने जैनाभिमत आत्मा को स्वरूप को सूत्रबद्ध करते हुए भी इस विशेषण का उपादान नहीं किया । इस विशेषणस्याग से आत्मपरिमाण क विषय में (जैसे नित्यानित्यत्व विषय में है वैसे) कुमारिख क मत को साथ जैनमत की एकता की भांति न हो इसलिये आ० हेमचन्द्र ने स्पष्ट ही कह दिया है कि देहक्यापित्व इष्ट है पर अन्य जैनाचार्यों की तरह सूत्र में इसका निर्देश इसलिये नहीं किया है कि वह प्रस्तुत में उपयोग नहीं है ।

पृ० ३२ पं० ६ 'यथाहे'—गुणना—

10

“स्यातामत्यन्तनाश्रय्य कृतनाशाञ्जुताऽऽर्मा ।

न त्ववस्थान्तरमार्तां लाषे षाख्युचान्वित् ॥ २३ ॥

अवस्थान्तरमाभ्येतत् फलं मम शुभाशुभम् ।

इति ज्ञात्वाञ्जुतिर्पुंश्च भिजहसष्टवे जन ॥ २४ ॥

अनवस्थान्तरमाप्तिर्द्वयत् न च कस्यचित् ।

15

अनुच्छेदासु नाऽन्यत्वं माकतुलोकान्जगच्छति ॥ २५ ॥

सुखदुःखाद्यवस्थारच गच्छन्नपि नरा मम ।

चैतन्यद्रव्यसत्तादिरूप नैव विमुञ्चति ॥ २६ ॥

दुःखिनः सुख्यवस्थार्मा नश्येयुः सर्व एव त ।

दुःखित्वं चानुषर्तेषु विनाशं विक्रियात्मक ॥ २७ ॥

20

तस्मादुभयहाननं व्यावृत्त्यनुगमात्मकं ।

पुरुषोऽभ्युपगन्तव्यं कृण्वलादिषु सर्पवत् ॥ २८ ॥

न च कृत्वभाकृत्वे पुंसाञ्जस्यासमाभिते ।

तनाञ्जस्यावतस्त्वात् कर्त्तव्यान्नाति तत्कृत्वा ॥ २९ ॥

स्वरूपेण अवस्थानामन्योन्यस्य विरापिता ।

25

अधिकृतस्तु सर्पासु सामान्यात्मा प्रवर्तत ॥ ३० ॥^{१२}—शलाक्या घातम् ।

“अत्यसप्रतिसेवघा” कृण्वलादिषु सर्पवत् ॥^{१३}—स्यापि २ १५६ ।

द्वितीयाह्निक ।

अ० १ भा० २ सू० १-२ पृ० ३३ दक्षा १ १ ६-१० काटिप्पल—टिप्पण पृ ११ ।

पृ० ३३ पं० १६ 'वासनोद्भाष'—सभी वाकिक विद्वान् स्मरख का लक्षण किसी एक भाषार पर नहीं करते । कबाद न आम्बन्तर कारख संस्कार के भाषार पर ही स्मरख का लक्षण प्रयत्न किया है । पठच्छि मरे विषय-स्वरूप के निर्देश द्वारा ही स्मृति को उचित किया है जब कि कबाद के अनुगामी प्रशस्तपाद ने अपने माध्य में कारख विषय और कार्य इन चीजों के द्वारा स्मरख का निरूपण किया है । जैन परम्परा में स्मरख और उसका कारख पर वाकिकशैली से विचार करने का प्रारम्भ पूर्वपाद (तर्कार्य १ १२) और जिनमयूगधि चमाममख विरोधा गा १८८, १८९) द्वारा हुआ मान पड़ता है । विद्यान्न्द ने (प्रमाण पृ ३६) पठच्छि की तरह विषयनिर्देश द्वारा ही स्मृति का लक्षण रखा । पर उसमें भाकार का निर्देश बढ़ाया । मादिक्यमन्वी ने पृ ३१) कबाद की तरह संस्कारात्मक कारख के द्वारा ही स्मृति का लक्षण बोधा, फिर भी हममें भाकारनिर्देश बढ़ाया ही । बाही देव ने (प्रमाण ३१) विद्यान्न्द और मादिक्यमन्वी दोनों का अनुसरण करके अपने स्मृति लक्षण में कारख, विषय और भाकार तीनों का निर्देश किया । अ० हेमचन्द्र ने ही मादिक्यमन्वी का ही अनुसरण किया और तदनुसार अपने लक्षणसूत्र में स्मृति के भाकार 15 और कारख को ही स्थान दिया ।

पृ० ३३ पं० २ 'सदृशदर्शनादि'—प्रबिधाननिबन्धाभ्यासद्विषयसादरमपरि प्रहात्रयावितसम्बन्धाभ्यन्तविविधैककार्यविरोधाविरात्राप्रतिष्पद्यमानसुखदुःखेष्वङ्गाह वभयावित्त्र क्रियारागधर्माधर्मनिमित्तम्प ।"—प्रापद् ३२४१ ।

इस सूत्र में जितने संस्कारोद्बोधोपक निमित्त संघृहीत हैं वतने एक जगह कहीं देखने 20 में नहीं आये ।

पृ ३३ पं० २३ 'सा च प्रमाणम्'—स्मृति को प्रमा—प्रमाह—मानने के बारे में मुख्य दो परम्परार्य हैं—जैन और जैनतर । जैन परम्परा उसे प्रमाह मानकर परोक्ष के मेव रूप से इसका बर्णन करती है । जैनतर परम्परावाले वैदिक बौद्ध, सभी दर्शन उसे प्रमाह नहीं मानत अतएव वे किसी प्रमाहरूप से उसकी चर्चा नहीं करते । स्मृति का प्रमाह 25 माननेवाले भी उसे अप्रमाह—गिहपाहान—मूर्ख कहते पर वे प्रामाण्य शब्द से इसका कोवण व्यवहार नहीं करते ।

१ "भास्मनः लोपगविरोधाद् संस्काराभ्य रमृति -वेरी० ६ २. १ ।

२ "अनुभूतविरवाऽन्यमेत रमृतिः"-योगसू १ ११ ।

३ प्रशस्त० पृ २५३ ।

सृष्ट्यात्मक ज्ञान में प्रमाद्य शब्द का प्रयोग करने न करने का जो मतभेद देखा जाता है इसका बोज धर्मशास्त्र के इतिहास में है । वैदिक परम्परा में धर्मशास्त्र रूप से वेद अर्थात् ऋषि का ही मुख्य प्रामाण्य माना जाता है । मन्वादिस्मृतिरूप धर्मशास्त्र प्रमाद्य हैं सही पर उनका प्रामाण्य ऋषिमूलक है । जो स्मृति ऋषिमूलक है या ऋषि से अविरुद्ध है वही प्रमाद्य है अर्थात् स्मृति का प्रामाण्य ऋषिप्रामाण्यतन्त्र ही स्वतन्त्र नहीं । धर्मशास्त्र के 5 प्रामाण्य की इस व्यवस्था का विचार बहुत पुराने समय से मीमांसादर्शन ने किया है । ज्ञान पढ़ना है तब स्मृतिरूप धर्मशास्त्र को छोड़कर मी स्मृतिरूप ज्ञानमात्र के विषय में प्रामाण्यविषयक प्रश्न मीमांसकों के सामने आया तब भी उन्होंने अपना धर्मशास्त्रविषयक उस सिद्धान्त का उपयोग करके एक साधारण ही नियम बाँध दिया कि स्मृतिज्ञान स्वतन्त्र प्रमाद्य नहीं है, उसका प्रामाण्य उसके कारकमूल अनुभव के प्रामाण्य पर निर्भर है अतः 10 एक बह मुख्य प्रमाद्यरूप से गिनी जाने योग्य नहीं । सम्भवतः वैदिक धर्मजीवी मीमांसा दर्शन के इस धर्मशास्त्रीय या व्यवहारीय निर्णय का प्रभाव समी म्नाय, वैशेषिक, सांख्य, योग आदि इतर वैदिक दर्शनों पर पड़ा है । अतएव वे अपने अपने मन्वद्वय की पुष्टि में पाई युक्ति मित्र मित्र बतलाते फिर भी वे समी एक मत से स्मृतिरूप ज्ञान में प्रमाद्य शब्द का व्यवहार न करने के ही पक्ष में हैं । 15

कुमारिष्ठ आदि मीमांसक कहते हैं कि स्मृतिज्ञान अनुभव द्वारा ज्ञात विषय को ही उपरिष्ठ करके कृतकृत्य हो जाने के कारण किसी अपूर्व धर्म का प्रकाशक नहीं, बह केवल गृहीतमाही है और इसी से बह प्रमाद्य नहीं । प्रशस्तपाद क अनुगामी श्रीधर ने भी वही मीमांसक की गृहीतमाहितवाली युक्ति का अवलम्बन करके स्मृति को प्रमाद्यबाद्य माना है—कम्बर्ती पृ २५० । पर अशस्तपाद के अनुगामी जयन्त ने दूसरी ही युक्ति बतलाई है । 20 वे कहते हैं कि स्मृतिज्ञान विषयरूप धर्म के सिवाय ही इत्यन्त होने के कारण अन्तर्गत होने से प्रमाद्य नहीं । जयन्त की इस युक्ति का निरास श्रीधर ने किया है । अशस्तपाद क ही अनुगामी बाचस्पति मित्र ने तीसरी युक्ति दी है । वे कहते हैं कि लोकव्यवहार

१ 'परतन्त्रत्वात् स्वतो मीमांसा प्रमाद्यत्वात्कारणात् । अप्रामाण्यविकल्पस्तु इति नैव विदुष्यते ॥ पूर्वविज्ञानविषयं विज्ञानं स्मृतिरुच्यते । पूर्वज्ञानादिना तस्याः प्रामाण्यं नावधार्यते ॥'—तन्त्रशा० पृ० ३३ ।

२ 'एतदुक्तं भवति—सर्वे प्रमाद्यादयोऽभिविगतमयं तामान्यतः प्रकाशतो वाऽभिविगतमयं स्मृतिः पुनरु पूर्वानुभवमार्गदामतिश्चमति तद्विषया तदनुविषया वा न तु तदविकल्पितया, सोऽयं हृदयस्थपद्विज्ञेयः स्मृतेरिति किमुच्यते ॥'—तन्त्रशा० १ ३३ ।

३ 'तत्र बहू पूर्वविज्ञानं तस्य प्रामाण्यमिष्यते । तदनुत्पन्नानमात्रेण स्मृते र्वापरितार्भता ॥ —सोकशा० अनु० नृशा० १३० । प्रश्नरस्यप० पृ० ४२ ।

४ 'न स्मृतेरप्रामाण्यत्वं गृहीतमाहितकृतम् । अपि त्वनयकम्बर्त्सं तदप्रामाण्यकारणम् ॥'—म्यापम० पृ० २३ ।

५ 'ये त्वनयकत्वात् स्मृतेरप्रामाण्यमाहुः तयामदीज्ञानगतविरयत्वात्तुमानस्याप्रामाण्यं स्वादिति वृषयम् ॥'—कम्बर्ती० पृ० २३७ ।

स्युति को प्रमाद्य मानन के पक्ष में नहीं है अतएव इसे प्रमा कहना योग्य नहीं। वे प्रमा की व्याख्या करते समय स्युतिभिन्ना ज्ञान को छोड़कर ही विचार करते हैं—वात्पर्य पृ २। अक्षबाचार्य ने भी स्युति को प्रमाद्य न माननेबाझे सभी पूर्ववर्ती वार्तिकों की युक्तियों का निरास करके अन्त में वाचस्पति भिन्न को वात्पर्य का अनुसरण करते हुए नहीं कहा है कि

१ अमपेक्ष होन के कारण अनुभव ही प्रमाद्य कोटि में गिना जाना बाह्यि स्युति नहीं; क्योंकि वह अनुभवसापेक्ष है और ऐसा मानने का कारण लोकव्यवहार हो है।

बौद्धदर्शन स्युति को प्रमाद्य नहीं मानता। इसकी युक्ति भी मीमांसक या बौद्धिक जैसी हो है अर्थात् स्युति गृहीतप्राद्विही होने से ही प्रमाद्य नहीं—उत्तरं प का १२८८। फिर भी इस मन्थक्य के बाद में जैसे व्याप बौद्धिक भादि दर्शनों पर मीमांसा—धर्मशास्त्र—

१० का प्रमाद्य कहा जा सकता है वैसे बौद्ध-दर्शन पर कहा नहीं जा सकता क्योंकि वह वेद का ही प्रामाण्य नहीं माधता। विद्वत्प्रमाणमात्र^२ को प्रमाद्य न मानने के कारण बौद्ध दर्शन में स्युति का प्रामाण्य प्रसक्त हो नहीं है।

जैन वार्तिक स्युति को प्रमाद्य न माननेबाझे भिन्न-भिन्न अपर्युक्त दर्शनों की गृहीतप्राद्विह्य, अमर्षमत्व लोकव्यवहाराभावात् भादि सभी^३ युक्तियों का निरास करके कोवक्ष नहीं कहते हैं,

१५ कि जैसे संवादी होने के कारण प्रत्यक्ष भादि प्रमाद्य कहे जाते हैं वैसे ही स्युति को भी संवादी होने ही से प्रमाद्य कहना युक्त है। इस जैन मन्थक्य में कोई मतभेद नहीं। आचार्य हेमचन्द्र ने भी स्युतिप्रामाण्य की पूर्ण जैन परम्परा का ही अनुसरण किया है। स्युच्छिद्य का अविसेवाहित्य सभी को साम्य है। बस्तुस्थिति में मतभेद न होने पर भी मतभेद कोवक्ष प्रमा शब्द से स्युच्छिद्य का व्यवहार करने न करने में है।

२० पृ० ३३ पं २३ 'सा च प्रमाद्यम्'—उत्तरना—

“असपीस्युतिसंज्ञाभिश्चिन्तयात्रमिनिषोषिकैः।

व्यवहाराविसंवाद् तदाभासस्ततोऽप्यथा ॥”—तपी ४४। प्रमाद्य पृ १९।

अप्युक्त पृ २०९। प्रमेक ३६ A। स्वाहार पृ ४८०। प्रमेक २२।

पृ० ३४ पं० ४ 'माननुकृतान्य'—निषिक्तपक्ष प्रत्यक्ष को स्वच्छच्छक्य ही

२५ मानकर प्रमाद्य माननेबाझे सौत्रान्धिक भादि बौद्धों का सिद्धान्त है कि विषयता कारणता

१ 'क्य तर्हि स्युतेर्भवच्छेदः।। अननुभवत्वेनैव। यथायं इत्यनुभव प्रमेति प्रामाणिकाः पर्यन्ति। तत्त्वज्ञानात्' इति त्वयात्। अस्मिन्निबन्धि ज्ञानमिति च। ननु स्युतिः प्रमेव किं न स्वात् पचाप्यज्ञानत्वात् प्रत्यक्षपदनुपस्थितिरिति चेत्। न। तिस्रे व्यवहारे निमित्तानुत्तरत्वात्। न च स्नेहकर्मिण्य तेन निमित्तेन लोकव्यवहारनिपमनम् कर्मवत्त्वात् लोकव्यवहारनिपत्तप्रवृत्त्यात्। न च स्युतिहेतो प्रमा ज्ञानियुक्ताना महर्षिणा प्रमाद्यव्यवहारोऽस्ति पृथगनुपवेद्यात्।—न्यायकु० ४. १।

२ "गृहीतप्रमाणेऽं वात्त "—(उत्तरं—विष्णुज्ञानम—मौर्य) प्रमाद्यका २. १।

३ "तथाहि—अनुप्युत्प्रामाद्यं कुतोऽवमाविष्कृतीति किं गृहीतप्राद्विह्यात् परिष्कृतिविरोधा म्पत् अतःसादीतेषं प्रवृत्तमान्त्वात्, अर्थात्अनुप्युत्प्रामाद्यत्, विवर्थाव्यवहारत्, उपायेनाप्यवच्छेदकत्वात्, प्रमेवमप्रवृत्तत्वात् वा।"—स्वाहार० ३. ४।

व्याप्त है। नैवाधिक भादि का भी गन्धलौकिक प्रत्यक्ष के प्रति विषयविषया अर्थ को कारण मानने का सिद्धान्त सुविदित है।

पृ० ३४ पं० ११ 'दर्शनस्मरण'—प्रत्यभिज्ञा को विषय में दो बातें ऐसी हैं जिनमें दार्शनिकों का मतमंद रहता है—पहली प्रामाण्य की और दूसरी स्वरूप की। बौद्ध परम्परा प्रत्यभिज्ञा को प्रमाद्य नहीं मानती क्योंकि वह चञ्चिकवादी होने से प्रत्यभिज्ञा का विषय माने जानेवाले स्थिरत्व को ही वास्तविक नहीं मानती। वह स्थिरत्वप्रतीति को साष्टरयमुखक सामकर भ्रान्त ही समझती है^१। पर बौद्धमित्र जैन, वैदिक दोनों परम्परा के सभी दार्शनिक प्रत्यभिज्ञा को प्रमाद्य मानते हैं। वे प्रत्यभिज्ञा के प्रामाण्य के आधार पर ही बाह्य सम्बन्ध चञ्चलता का निरास और नित्यत्व—स्थिरत्व—का समर्थन करते हैं। जैन परम्परा म्याद्य, वैशेषिक भादि वैदिक दर्शनों की तरह एकान्त नित्यत्व किंवा कूटरय नित्यत्व नहीं मानती तथापि वह विभिन्न पूर्वापर अवस्थाओं में द्रुत्वत्व को वास्तविक रूप से मानती है अत एव वह भी प्रत्यभिज्ञा के प्रामाण्य की पक्षपातिनी है।

प्रत्यभिज्ञा के स्वरूप के सम्बन्ध में मुख्यतया तीन पक्ष हैं—बौद्ध, वैदिक और जैन। बौद्धपक्ष कहता है कि प्रत्यभिज्ञा नामक कोई एक ज्ञान नहीं है किन्तु स्मरण और प्रत्यक्ष ये समुचित दो ज्ञान ही प्रत्यभिज्ञा शब्द में व्यक्त होते हैं^२। उसका 'तत्' अंग अतीत होने से परोक्षरूप होने के कारण स्मरणप्राद्य है वह प्रत्यक्षप्राद्य हो ही नहीं सकता, जब कि 'इदम्' अंग वर्तमान होने के कारण प्रत्यक्षप्राद्य है वह प्रत्यक्षप्राद्य हो ही नहीं सकता। इस तरह विषयगत परोक्षपरोक्षत्व के आधार पर दो ज्ञान के समुच्चय को प्रत्यभिज्ञा कहनेवाले बौद्धपक्ष के विरुद्ध म्याय, मीमांसक भादि वैदिक दर्शन कहते हैं कि प्रत्यभिज्ञा वह प्रत्यक्ष रूप एक ज्ञान है प्रत्यक्ष-स्मरण दो नहीं। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष में वर्तमान मात्र विषयकत्व का जो नियम है वह सामान्य नियम है अतएव सामभीविशेषदशा में वह नियम सापवाद बन जाता है। वाचस्पति मित्र प्रत्यभिज्ञा में प्रत्यक्षत्व का उपपादन करते हुए कहते हैं कि संस्कार या स्मरणरूप सहकारी के बल से वर्तमानमात्रमाही भी इन्द्रिय, अतीतवाचस्वादिशिष्ट वर्तमान को ग्रहण कर सकने के कारण, प्रत्यभिज्ञाजनक हो सकती है^३। अयम्त वाचस्पति के उक्त कथन का अनुसरण करने के अज्ञाता भी एक नई युक्ति प्रदर्शित करते हैं। वे कहते हैं कि स्मरणसहकृत इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष के बाद एक मानसज्ञान होता है जो प्रत्यभिज्ञा कहलाता है। अयम्त का यह कथन पिछले नैवाधिकों के अलौकिकप्रत्यक्षवाद की कल्पना का भी नाम मालूम होता है।

१ प्रमाद्यपा० ३ २०१-२। तत्पत्त० का० ७४७।

२ " तस्माद् इ एते ज्ञाने च इति स्मरणम् भवम् इत्यमुम्"—म्यायम० पृ० ७४६।

३ तात्प० पृ० १३६।

४ "एवं पूर्वज्ञानविशेषितस्य स्वभावेर्विशेषणमतीतव्यविषय इति मानती प्रत्यभिज्ञा।"—

जैन वार्तिक प्रत्यभिज्ञा को न तो बौद्ध के समान ज्ञानसमुच्चय मानते हैं और न संवायिकादि की तरह बहिरिन्द्रियजन प्रत्यक्ष। वे प्रत्यभिज्ञा को परोक्ष ज्ञान मानते हैं। और कहते हैं कि इन्द्रियजन्य ज्ञान और स्मरण के बाद एक संकलनारमक विभावीय मानस ज्ञान पैदा होता है वही प्रत्यभिज्ञा कहलाता है। अफससुहोपज्ञ (उपी ३ १ से) प्रत्यभिज्ञा की यह व्यवस्था जो स्वरूप में ज्ञान्य की मानसज्ञान की कल्पना के समान है वह सभी जैन वार्तिकों के द्वारा निबिवादरूप से मान ली गई है। आचार्य हेमचन्द्र भी वही व्यवस्था के अनुसार प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप मानकर परपक्षनिराकरण और स्वपक्षसमर्थन करते हैं।

मीमांसक (रत्नोक्ता घृ ४ श्लो २३२-२३७), नैयायिक (न्यायसू १ १ १) आदि उपमान को स्वतन्त्र प्रमाद्य मानते हैं जो सादृश्य-वैसादृश्य विषयक है। उनके मतानुसार इच्छा, कीर्तव्य आदि विषयक अनेक सप्रतियोगिक ज्ञान ऐसे हैं जो प्रत्यक्ष ही हैं। जैन वार्तिकों ने प्रथम से ही इन सब का समावेश, प्रत्यभिज्ञान को मतिज्ञान के प्रकारविशेषरूप से स्वतन्त्र प्रमाद्य मानकर, ज्ञानी में किया है, जो ऐकम्य से सर्वमान्य हो गया है।

पृ० ३४ पं० १० 'आविग्रहणात्'-उलना-प्रमेवर ३ १ ।

पृ० ३४ पं० २० 'पयोम्युपेदी'-आवावर ४ ४२८ । प्रमेवर - ४ १ A ।

पृ० ३४ पं० २५ 'यया वा औदीच्येन'-उलना-तात्पर्य ४ १२८ ।

पृ० ३५ पं० ५ 'यिषां तु सादृश्यविषय'-उलना-'प्रसिद्धसाधर्म्यात् साम्यसाधनमुपमानम् ।'-आवृ १ १ १ । प्रमेवर ३ १ ।

पृ० ३५ पं० ११ 'अय साधर्म्यमुपलक्षणम्'-उलना-'साधर्म्यमहर्षेण च धर्ममात्रोपलक्षणमिति करमर्हसाप्रतिपत्तिरनुपमानकालमेवेति नाभ्याप्तिः'-तात्पर्य ४ २ ।

पृ० ३४ पं० १३ 'अस्यासर'-उलना-तात्पर्य १ १ २ । पाण्डर घृ १८ ।

पृ० ३५ पं० १६ 'ननु 'तत्' इति'-उलना-प्रमेवर २ २ ।

पृ० ३५ पं० २० 'पूर्वमित'-उलना-'कुमारिखमतेन गृहीतमाहित्वस्यासिद्धियुगावति-पूर्वमित' -उलना का ४५३ ।

पृ० ३६ पं० २० 'उपलम्भ'-भगवान् महावीर, कुछ और उपनिषद् के शैक्यों वर्ष पूर्व भी ऊहू (अधू २ १३१ १) और एक (उपनिषद् ३ १५ १२) से हो पातु तथा उच्चम्य रूप संस्कृत-प्राकृत भाषा में प्रचलित रहे । भगवन्, पितृक और दर्शनसूत्रों में उक्त प्रयोग विविध प्रसङ्गों में छोड़े-बहुत भेद के साथ विविध अर्थों में देना जाता है। सब अर्थों में सामान्य अर्थ एक ही है और वह वह कि

१ 'उपलम्भात्प्रत्यक्ष उदरः ।'-पा० सू० ७. ४ २३ । नैरा तर्कैश्च मतिरपनेया' कठ० २. १ ।

२ उक्त अर्थ न निरकर आशा० सू २७० । विदितं किञ्च'-मज्झिमा सङ्घासपसू

३. १ । 'तर्कप्रतिज्ञानात्'-प्रज्ञासू० २. १ ११ । न्यायसू० १ १ ४० ।

विचारारम्भक ज्ञानव्यापार । जैमिनीय सूत्र और उसके शाबरभाष्य आदि^१ व्याख्या प्रथमों में उसी भाव का द्योतक ऊह शब्द देखा जाता है, जिसको जैमिनी ने मन्त्रों में अनुमानात्मक या शब्दार्थक प्रमाद्य समझकर खण्डन किया है—न्यायम पृ ५८८ । न्याय सूत्र (१ १ ४०) में तर्क का लक्षण है जिसमें ऊह शब्द भी प्रयुक्त है और उसका अर्थ यह है कि तर्कात्मक विचार स्वयं प्रमाद्य नहीं किन्तु प्रमाद्यानुकूल मनोव्यापार मात्र है ।^५ पिछले नैयायिकों ने तर्क का अर्थ विशेष स्थिर एवं स्वष्ट किया है । और निर्णय किया है कि तर्क कोई प्रमाद्यात्मक ज्ञान नहीं है किन्तु व्याप्यिज्ञान में बाधक होनेवाला अप्रयोजकलक्षणों को निरस्त करनेवाला व्याप्यारोपपूर्वक व्यापकारोपस्वरूप आहार्य ज्ञान मात्र है जो उस व्यभिचारलक्षणों को हटाकर व्याप्यनिर्णय में सहकारी या उपयोगी हो सकता है—विन्या अनु पृ २१ ; न्याय पृ १ १ ४ । प्राचीन समय से ही न्याय^{१०} दर्शन में तर्क का स्थान प्रमाद्यकांठि में नहीं है^२ । न्यायदर्शन के विकास के साथ ही तर्क के अर्थ एवं उपयोग का इतना विशदीकरण हुआ है कि इस विषय पर बड़े सूत्रम और सूत्रमन्त्र ग्रन्थ लिखे गये हैं जिसका आरम्भ गणेश व्याख्या से होता है ।

बौद्धार्थिक (हेतुवि टी लि पृ २५) भी तर्कात्मक चिकित्साज्ञान को व्याप्यिज्ञानोपयोगी मानत हुए भी प्रमाद्य नहीं मानते । इस तरह तर्क को प्रमाद्यरूप मानने की मीमांसक^{१५} परम्परा और अप्रमाद्यरूप होकर भी प्रमाद्यानुमाद्यक मानने की नैयायिक और बौद्ध परम्परा है ।

जैन परम्परा में प्रमाद्यरूप से माने जानेवाले मतिज्ञान का द्वितीय प्रकार ईहा जो वस्तुतः गुणदोषविचारारम्भक ज्ञानव्यापार ही है उसके पदार्थरूप से ऊह और तर्क दोनों शब्दों का प्रयोग ब्रह्मस्वामि ने किया है—उत्सार्थमा १ १ । जब जैन परम्परा में तार्थिक पद्धति से प्रमाद्य के भेद और लक्षण आदि की व्यवस्था होने लगी तब सम्भवतः सर्व^{२०} प्रथम अक्षरलक्ष् ने ही तर्क का स्वरूप, विषय, उपयोग आदि स्थिर किया (तपी स्वमि १ २) जिसका अनुसरण पिछले सभी जैन तार्थिकों ने किया है । जैन परम्परा मीमांसकों की तरह तर्क या ऊह को प्रमाद्यात्मक ज्ञान ही मानती आई है । जैन तार्थिक कहते हैं कि व्याप्यिज्ञान ही तर्क या ऊह शब्द का अर्थ है । चिरायत आर्यपरम्परा के प्रति परिचित ऊह या तर्क शब्द को लेकर ही अक्षरलक्ष् ने परोक्षप्रमाद्य के एक भेद रूप से तर्कप्रमाद्य स्थिर^२ किया । और बाधस्थिति मित्र आदि^१ नैयायिकों ने व्याप्यिज्ञान को कहीं मानसप्रत्यक्षरूप, कहीं लौकिकप्रत्यक्षरूप कहीं अनुमिति आदि रूप माना है उसका निरास करके जैन तार्थिक व्याप्यिज्ञान को एकलक्ष् ही मानते आये हैं वह रूप है ब्रह्मका परिभाषा को अनुसार तर्कपदप्रतिपाद्य । आचार्य जैमिनीय उसी पूर्वपरम्परा के समर्थक हैं ।

१ विविचरुच उहः । अन्वयमसंस्कारविषय P^१-शाबटमा० ६ १ १ । जैमिनीयव्या० व्यापय ६ पाद १ अधि० १ ।

२ न्यायसू० १ २ १ ।

३ तात्पर्य० पृ० १५६-१५७ । न्यायम० पृ० १२३ ।

पृ० ३६ पं० २१ 'उपलम्भ' प्रमाद्यमाश्र'—द्रवना-प्रमेयक पृ १ B। स्वा
हाकर ३ ७। प्रमेयर ३ १२।

पृ० ३६ पं० २४ 'न चार्यं व्याप्तिग्रह'—'न हि प्रत्यक्षं वाचान्करिचक्षुम काष्ठान्तरे
वेद्यन्त्यर च पावकस्यैव कार्यं नार्वांश्वरस्मेति इत्येवो व्यापारात् कर्तुं समर्थं सन्नित्तिविविचय
5 यक्षोत्पत्तैरविचारकत्वात्'—अपी स्वधि ३ २। अष्टम पृ २८। प्रमाद्यप पृ ७। प्रमे-
यक पृ १ B। स्वाहाकर पृ ३ ६। प्रमेयर ३ २।

पृ० ३७ पं० ५ 'अनुमानान्तरेण'—द्रवना-रतोष्वा अगु रतो १५१-१५२। हे
वि दी लि पृ २२।

पृ० ३७ पं० ७ 'तर्हि तत्पृष्ठ'—द्रवना—'यस्यानुमानान्तरेण सामान्यं न प्रतीयते मयत्
10 तस्वार्यं दोषोऽस्माकं तु प्रत्यक्षपृष्ठमादिनापि विकल्पेन प्रकृतिविभ्रमात् सामान्यं प्रतीयते।'—
हेदमि दी लि पृ २५ B। 'वेद्यकाश्रम्यच्छिष्यपत्या च व्याप्तिरुच्यते। यत्र यत्र भूमस्तत्र तत्र
अभिनिरिति। प्रत्यक्षपृष्ठरच विकल्पेन न प्रमाद्यं प्रमाद्यव्यापारानुकारी स्वसौ इत्येवो—प्रमेयर पृ ७।

पृ० ३७ पं० ११ 'परहाचनपदोद्द'—द्रवना—

"साध्याभिज्ञाप इत्येवं परहाचनपदोद्द"।—न्यायम पृ १११।

15 पृ० ३७ पं० ११ 'पतेन-अनुपलम्भमात्'—द्रवना—

"प्रत्यक्षानुपलम्भाम्नां न तावत्तत्पसाधनम्।

तया सन्नित्तिवार्थत्वात् त्रिकाशागोचरत्वत् ॥ १५३ ॥

कारणानुपलम्भाच्चेत् कार्यकारणत्वानुमा।

व्यापकानुपलम्भाच्च व्याप्यव्यापकत्वानुमा ॥ १५४ ॥

20 तद्व्याप्तिसिद्धिरप्यन्यानुमानादिति न स्थिति।

परस्परमपि व्याप्तिसिद्धाबन्धोन्वयसंभव ॥ १५५ ॥"

तत्पार्श्वतो १ १। प्रमाद्यप पृ ६९। प्रमेयर पृ ३८ ३९।

पृ० ३७ पं० १४ 'विद्यपिकास्तु'—द्रवना-प्रमेयर पृ ३९। प्रमाद्यप पृ ६९।

पृ० ३७ पं० २० 'यौगास्तु'—द्रवना-तत्पर्य पृ १६१ १६७।

25 पृ० ३८ पं ३ 'व्याप्ति'—आगे दसवें सूत्र में अविद्याभाव का लक्षण है जो वस्तुतः
व्याप्ति ही है फिर भी तर्क लक्षण के बाद तर्कविचयरूप से निर्विष्ट व्याप्ति का लक्षण इस सूत्र
के द्वारा आ० हेमचन्द्र ने क्यों किया ऐसा प्रश्न पड़ा होता है। इसका जवाबसा यह है कि
इतुविस्तुविचरय में अर्थात् प्रयोग विरोध बतलाने के वास्ते व्याप्यवर्मरूप से और व्यापक
वर्मरूप से भिन्न भिन्न व्याप्तिस्वरूप का निर्धारण बड़े आकर्षक ढङ्ग से किया है जिसे देखकर
30 आ० हेमचन्द्र की अकार टहि बस अर्थ को अचानक का होम संसुत कर न सकी। आ०

हेमचन्द्र ने अर्षटोक्त इस अर्षा को अर्षरथ लेकर प्रस्तुत सूत्र और उसकी वृत्ति में व्यवस्थित कर दिया है ।

अर्षट क मानने प्रश्न था कि व्याप्ति एक प्रकार का सम्बन्ध है, जो संयोग की तरह द्विष्ट ही है फिर जैसे एक ही संयोग के दो सम्बन्धी 'क' और 'ख' अनिश्चरूप से अनुयोगो प्रविभोगी हो सकते हैं वैसे एक ही व्याप्तिसम्बन्ध के दो सम्बन्धी हेतु और साम्य अनि 5 पवत्तुप से हेतुसाम्य क्या न हों अर्थात् उनमें से अमुक ही गमक और अमुक ही गम्य ऐसा नियम क्यों ? । इस प्रश्न के आचार्योपनामक किसी तार्किक की ओर स ठठाये जाने का अर्षट ने उल्लेख किया है । इसका जवाब अर्षट ने, व्याप्ति को संयोग की तरह एकलरूप सम्बन्ध नहीं पर व्यापकधर्म और व्याप्यधर्मरूप से त्रिभिन्न स्वरूप बतलाकर दिया है और कहा है कि अपनी विशिष्ट व्याप्ति के कारण व्याप्य ही गमक होता है तथा अपनी विशिष्ट 10 व्याप्ति के कारण व्यापक ही गम्य होता है । गम्यगमकभाव सर्वत्र अनियत नहीं है जैसे आधाराधेयभाव ।

इस पुराने समय में हेतु-साम्य में अनिश्चरूप से गम्यगमकभाव की व्याप्ति को टाकने के बाते अर्षट जैसे तार्किकों ने द्विविध व्याप्ति की कल्पना की पर व्यावहारिक के विकास के साथ ही इस व्याप्ति का निराकरण हम दूसरे और विशेषयोग्य प्रकार में देखते 15 हैं । नव्याख्या के सूत्रकार गणेश ने चिन्तामणि में पूर्वपक्षीय और सिद्धान्तस्वरूप स अनेक विध व्याप्तिषो का निरूपण किया है—चिन्ता गारा० पृ १४१-१६ । पूर्वपक्षीय व्याप्तिषो में अभ्यभिचरित्व का परिष्कार है जो वस्तुतः अधिभाभाव या अर्षटोक्त व्याप्यधर्मरूप है । सिद्धान्तव्याप्ति में जो व्यापकत्व का परिष्कारांश है वही अर्षटोक्त व्यापकधर्मरूप व्याप्ति है । अर्थात् अर्षट ने जिस व्यापकधर्मरूप व्याप्ति का गमकत्वानिषामक कहा है उसे गणेश 20 व्याप्ति ही नहीं कहते, वे उसे व्यापकत्व मात्र कहते हैं और तथाविध व्यापक के सामा नाधिकरण्य को ही व्याप्ति कहते हैं । गणेश का यह निरूपण विद्यत सूत्र है । गणेश जैसे तार्किकों के अभ्यभिचरित्व, व्यापकत्व आदि विषयक निरूपण भा० देवपत्र की दृष्टि में आये होते या उनका भी उपयोग प्रस्तुत प्रकार में अवश्य होगा जाता ।

व्याप्ति अविनाभाव, नियतसाहचर्य से पर्यायशब्द एकशास्त्रों में प्रसिद्ध है । अविना 25 भाव का रूप दिनाकर जो व्याप्ति का स्वरूप कहा जाता है वह वे मारिकव्यमन्दी (पृ १ १० १८) आदि सभी जैनतार्किकों के ग्रन्थों में देखा जाता है पर अर्षटाक्त मय विचार का समझ भा० देवपत्र के सिवाय किसी अन्य जैन तार्किक के ग्रन्थ में देखने में नहीं आया ।

१ "न तावदभ्यभिचरित्वं तदि म ताप्याभ्यवददृष्टित्वम्, ताप्यरत्निप्रनाप्याभाषदृष्टित्वं ..

ताप्यपरव्याहृतिर्त्वं वा ।" चिन्ता० गारा० पृ० १४७।

२ "अनियोग्यतमानाधिकरण्यतमानाधिकरणात्प्याप्यधर्मनिर्वागतावत्पुत्रकाराव्युत्पन्न मय मयात्त"

चिन्ता० गारा० पृ० ३६१ ।

३ "तत्र तत्र तत्र तामानाधिकार्यं व्याप्तिः ॥" चिन्ता० गारा० पृ० ३६१ ।

पृ० ३६ पं० २१ 'उपलम्भ' प्रमाणपात्र'—दुलना—प्रमेयक पृ १ B । स्व
हार १ ७ । प्रमेय १ १२ ।

पृ० ३६ पं० २४ 'न चाय व्याप्तिग्रह'—“न हि प्रत्यक्षे चावाङ्मन्त्रिषुम् कासाम्भ
देशान्तर न पावकस्यैव कार्यं माघान्तरस्येति इयतो व्यापाराम् कर्तुं समर्थं सन्निहितरिष
6 यज्ञोत्पत्तेरविचारकत्वात्”—नपी स्वदि १ २ । अष्टम पृ २८ । प्रमाद्य पृ ७ । प्रमे
यक पृ १ B । स्वाहार ५ ५ ६ । प्रमेय २ २ ।

पृ० ३७ पं० ५, 'अनुमानान्तरेण'—दुलना—रक्षाकवा अत्र रलो १३१-१३१ । हे
वि दी लि पृ २२ ।

पृ० ३७ पं० ७ 'तर्हि तत्पृष्ठ'—दुलना—“वस्त्यानुमानमन्तरेण सामाम्यं न प्रतीयते भव
10 तार्याय दोषोऽस्माक तु प्रत्यक्षपृष्ठमात्रिणापि विकल्पेन प्रकृतिविभ्रमात् सामाम्यं प्रतीयत ।”
हेतुनि यो लि पृ २५ B । “देशकालव्यक्तिभ्रष्ट्या न व्याप्तिरुच्यते । यत्र यत्र भूमस्तत्र ता
वन्निरिति । प्रत्यक्षपृष्ठरव विकल्पो न प्रमाद्यं प्रमाद्यव्यापारानुकारी स्वसौ इत्येते—नमेव पृ ७

पृ० ३७ पं० ११ 'पण्डाचनयदोहद्'—दुलना—

“साध्यामिक्षाप इत्येनं पण्डाचनयदोहद् ।”—न्याय पृ १११ ।

1० पृ० ३७ पं० ११ 'एतेन-अनुपलम्भात्'—दुलना—

“प्रत्यक्षानुपलम्भाम्यां न तावत्प्रसापनम् ।

तया सन्निहितार्थत्वात् त्रिकाशागाचरत्वत् ॥ १५३ ॥

कारणानुपलम्भाच्च कायकारणत्वानुमा ।

व्यापकानुपलम्भाच्च व्याप्यव्यापकत्वानुमा ॥ १५४ ॥

20 तद्भाषिसिद्धिरप्यन्यानुमानादिति न स्थिति ।

परस्परमपि व्याप्तिसिद्धावन्यान्यसंभय ॥ १५५ ॥”

तत्पारना १ १ । प्रमाद्य पृ १६ । प्रमेय पृ ३८ ३६ ।

पृ० ३७ पं० १४ 'यद्वपिकास्तु'—दुलना—प्रमेय पृ ३६ । प्रमाद्य पृ १६ ।

पृ० ३७ पं० २० 'योगास्तु'—दुलना—तात्पर्यं पृ १३१ १६० ।

२3 पृ० ३८ पं० ३ 'व्याप्ति'—माने दमर्से सूत्र में अधिनाभाव का लक्षण है जो वस्तु
व्याप्ति ही है फिर भी एक लक्षण क बाद एकविषयत्व से निर्दिष्ट व्याप्ति का लक्षण इस सू
क द्वारा माने दमर्से न कयो क्रिया एसा प्रयत्न पदा होता है । इसका गुणासा पठ है कि
द्वुविन्दुविरय में अष्ट ने प्रयाजन विरय वतमाने क वास्ते व्याप्यपरमेत्व सं धीर व्याप
धर्मत्व स मित्र मित्र व्याप्तिरवश्य का निश्चय बड़े धाकर्षक टाण से क्रिया है त्रिने देश
30 माने दमर्से की चकार दधि दम धेय का अयवाने का श्लोम संवृत कर न मकी । माने

हेमचन्द्र ने अर्घटोष्क वस घर्षा को अक्षरशः लेकर प्रस्तुत सूत्र और उसकी वृत्ति में व्यक्तित्व कर दिया है ।

अर्घट के सामने प्रश्न था कि व्याप्ति एक प्रकार का सम्बन्ध है, जो संयोग की तरह द्विष्ट ही है फिर जैसे एक ही संयोग के दो सम्बन्धी 'क' और 'ख' अनियतरूप से अनुयोगी प्रतियोगी हो सकते हैं वैसे एक ही व्याप्तिसम्बन्ध के दो सम्बन्धी हेतु और साम्य धनि 5 यतरूप से हेतुसाम्य क्यों न हों अर्थात् हममें से अमुक ही गमक और अमुक ही गम्य ऐसा नियम क्यों ? । इस प्रश्न के आघातपेनामक किसी धार्मिक की ओर स ठठाये जाने का अर्घट न उल्लेख किया है । इसका जबाब अर्घट ने, व्याप्ति को संयोग की तरह एकतरुप सम्बन्ध नहीं पर व्यापकधर्म और व्याप्यधर्मरूप से विभिन्न स्वरुप बतलाकर दिया है और कहा है कि अपनी विशिष्ट व्याप्ति के कारण व्याप्य ही गमक हावा है तथा अपनी विशिष्ट 10 व्याप्ति के कारण व्यापक ही गम्य होता है । गम्यगमकभाव सर्वत्र धनियत नहीं है जैसे आधाराभेयभाव ।

वस पुराने समय में हेतु-साम्य में अनियतरुप से गम्यगमकभाव की व्याप्ति को टाढ़ने के बाले अर्घट जैसे धार्मिकों ने द्विविध व्याप्ति की कल्पना की पर म्यायशास्त्र के विकास के साथ ही इस व्याप्ति का निराकरण हम हमरे और बिरोपयोग्य प्रकार स देखत 15 है । नव्यस्याय के सूत्रधार गङ्गेश ने विन्यामयि में पूर्वपक्षीय और सिद्धान्तरुप से अनेक विध व्याप्तियों का निरूपण किया है—विन्या गाथा ४ १४१-१६ । पूर्वपक्षीय व्याप्तियों में अभ्यभिचरितरुप का परिष्कार^१ है जो बलुठ^२ अविनामाव या अघटोष्क व्याप्यधर्मरुप है । सिद्धान्तव्याप्ति में जो व्यापकरुप का परिष्कारो^३ है वही अर्घटोष्क व्यापकधर्मरुप व्याप्ति है । अर्थात् अर्घट न जिस व्यापकधर्मरुप व्याप्ति को गमकरवानियामक कहा है उसे गङ्गेश 20 व्याप्ति ही नहीं कहते, वे वस व्यापकरुप मात्र कहते हैं और तथाविध व्यापक के सामा व्यापिकरण्य को ही व्याप्ति कहते हैं^३ । गङ्गेश का यह निरूपण बिरोप सूत्र है । गङ्गेश जैसे धार्मिकों के अभ्यभिचरितरुप व्यापकरुप आदि विषयक निरूपण भा० हेमचन्द्र की दृष्टि में भाये होते वा धमका भी अपयोग प्रस्तुत प्रकरण में अक्षरय देया जावा ।

व्याप्ति अविनामाव, नियतसाहचर्य के पर्यायशब्द तकशास्त्रों में प्रसिद्ध है । अविना 20 माव का रूप दियाकर जो व्याप्ति का स्वरुप कहा जावा है वह दो मायिक्यमन्दा (वपि ३ १० १८) आदि सभी जैनधार्मिकों के ग्रन्थों में दया जावा है पर अर्घटोष्क मये विचार का संपद भा० हेमचन्द्र क सिवाय किसी अन्य जैन धार्मिक क ग्रन्थ में दयने में नहीं आया ।

१ "म तावदभ्यभिचरितरुपं तद्धि म ताप्यामावबद्वृत्तित्वम्, ताप्यरुमिभ्रनाप्यामाव" इतिशब्द ताप्यरुम्यावृत्तित्वं वा ।"—चिन्ता० गाथा० पृ० १४१।

२ "प्रतियोग्यवतमानाविचरतप्यमानाविचरतात्मनाम्यवनतियोगितावृत्ते" इतिशब्दस्य अर्थ मवति" चिन्ता० गाथा० पृ० ३६१ ।

३ "तत्र तत्र तत्प तामानाविचरतव्यं व्याप्ति ॥"—चिन्ता० गाथा० पृ० ३६१ ।

पृ० ३६ पं० २१ 'उपलम्भ' प्रमाणमात्र'—दुलना-प्रमेयक पृ १ B। स्व-
कार ३०। प्रमेय ३२२।

पृ० ३६ पं० २४ 'न चार्यं व्याप्तिग्रह'—'न हि प्रत्यक्षं बाह्यान्कारिण्यदुमं काह्यान्तर
देशान्तरे च पादकस्वीह कार्त्तं मार्गान्तरस्वीति इयथो व्यापारात् कर्तुं समर्थं सन्नितिविषय
5 यज्ञोत्पत्तेरविचारकत्वात्'—दुली स्ववि ३२। अमृत पृ २८। प्रमाणपृ ७। प्रमे-
यक पृ १ B। स्वाकार ५५३। प्रमेय २२।

पृ० ३७ पं० १, 'अनुमानान्तरेण'—दुलना-स्कोरणा अमु रतो १५१-१५३। हे
वि टी लि पृ २५।

पृ ३७ पं० ७ 'तर्हि तत्पुष्ट'—दुलना- 'यत्नानुमानमन्तरेण सामान्यं न प्रतीयते अमु
10 क्तवार्थं दोषोऽस्माकं तु प्रत्यक्षपुष्टमाभिनापि विकल्पेन प्रकृतिविभ्रमात् सामान्यं प्रतीयते ।'
हेतुवि टी लि पृ २५ B। 'देशकालभ्यक्तिस्यत्वा च व्याप्तिरुच्यते । यत्र यत्र भूमस्तत्र वत्र
अभिनिरिति । प्रत्यक्षपुष्टरथ विकल्पो न प्रमात्रं प्रमात्रव्यापारात्पुकाटी त्वसी इत्येव'—मनोरथ पृ ७।

पृ० ३७ पं० ११ 'पर्याप्तनयदाहृ'—दुलना-

"साध्याभिलाप इत्येवं पर्याप्तनयदाहृ ।"—ग्यायन पृ १११।

15 पृ० ३७ पं० ११ 'एतेन अनुपलम्भात्'—दुलना-

"प्रत्यक्षानुपलम्भान्यां न तावत्प्रसाधनम् ।

तथा समिहितार्थत्वात् त्रिकाङ्गागोचरत्वतः ॥ १५३ ॥

कारणानुपलम्भात् कायकारणतामुपा ।

व्यापकानुपलम्भात् व्याप्यव्यापकतामुपा ॥ १५४ ॥

20 तद्व्याप्तिसिद्धिरप्यन्यानुमानादिति न स्थिति ।

परस्परमपि व्याप्तिसिद्धावन्योन्यसंभय ॥ १५५ ॥"

तन्नावरता ११। प्रमाणपृ ३६। प्रमेय पृ ३८-३९।

पृ० ३७ पं० १४ 'बद्धोपिकास्तु'—दुलना-प्रमेयक पृ ३९। प्रमाणपृ ३६।

पृ० ३७ पं० २० 'यौगास्तु'—दुलना-तात्पर्ये पृ १११ ११७।

25 पृ २८ पं० ३ 'व्याप्ति'—अतो वसधे सूर्ये में भविनामात्र का लक्षण है जो वस्तुः
व्याप्ति ही है फिर भी लक्षण के बाद लक्षणरूप से निर्दिष्ट व्याप्ति का लक्षण इस सूत्र
के द्वारा भा० हेमचन्द्र ने कबो किया ऐसा प्रश्न यहाँ होता है । इसका लुब्धासा यह है कि
इतुविम्बुविहरण में अष्ट ने प्रबोधन विशेष बतलाने के लाले व्याप्यधर्मरूप से धीर व्यापक-
धर्मरूप से मित मित व्याप्तिस्वरूप का निदर्शन बड़ भाकर्यक बन्तु से किया है जिसे देखकर
30 भा हेमचन्द्र को अक्षर एहि वस धर्म्य को अपमाने का लोम संशुत कर न सकी । भा०

हेमचन्द्र ने अर्षटोक्त उस पक्षां को अक्षरशः होकर प्रस्तुत सूत्र और उसकी वृत्ति में व्यहृयित कर दिया है ।

अर्षट के सामने प्रश्न था कि व्याप्ति एक प्रकार का सम्बन्ध है, जो संयोग की तरह द्विष्ट ही है फिर जैसे एक ही संयोग के दो सम्बन्धी 'क' और 'ख' अनिपत्तरूप से अनुयोगी प्रतियोगी हो सकते हैं वैसे एक ही व्याप्तिसम्बन्ध के दो सम्बन्धी हेतु और साम्य अनिपत्तरूप से हेतुसाम्य क्या नहीं अर्थात् इनमें से अमुक ही गमक और अमुक ही गम्य ऐसा नियम क्यों ? । इस प्रश्न के आचार्योपनामक किसी तार्किक की ओर से उठाये जाने का अर्षट ने उत्तर दे दिया है । इसका जवाब अर्षट ने, व्याप्ति को संयोग की तरह एकलप सम्बन्ध नहीं पर व्यापकधर्म और व्याप्यधर्मरूप से विभिन्न स्वरूप वतलाकर दिया है और कहा है कि अपनी विशिष्ट व्याप्ति के कारण व्याप्य ही गमक होता है तथा अपनी विशिष्ट व्याप्ति के कारण व्यापक ही गम्य होता है । गम्यगमकभाव सर्वत्र अनिपत्त नहीं है जैसे आभाराधेयभाव ।

उस पुराने समय में हेतु-साम्य में अनिपत्तरूप से गम्यगमकभाव की व्याप्ति को टाटने के वास्ते अर्षट जैसे तार्किकों ने द्विविध व्याप्ति की कल्पना की पर व्याप्यशास्त्र के विकास के साथ ही इस व्याप्ति का निराकरण हम दूसरे और विशेषयोग्य प्रकार से देखते हैं । नव्यशास्त्र के सूत्रधार गणेश ने चिन्तामणि में पूर्वपक्षीय और सिद्धान्तरूप से अनेक विध व्याप्तियों का निरूपण किया है—चिन्ता गाथा पृ १४१-१६ । पूर्वपक्षीय व्याप्तियों में अभ्यभिचरितत्व का परिष्कार है जो वस्तुतः अभिसामाज्य या अर्षटोक्त व्याप्यधर्मरूप है । सिद्धान्तव्याप्ति में जो व्यापकरत्न का परिष्कारोद्योग है वही अर्षटोक्त व्यापकधर्मरूप व्याप्ति है । अर्थात् अर्षट ने जिस व्यापकधर्मरूप व्याप्ति को गमकत्वानिबन्धक कहा है उसे गणेश व्याप्ति ही नहीं कहते, बल्कि व्यापकत्व मात्र कहते हैं और तथाविध व्यापक के सामायाधिकरण्य को ही व्याप्ति कहते हैं । गणेश का यह निरूपण विषय सूत्रम है । गणेश जैसे तार्किकों के अभ्यभिचरितत्व, व्यापकरत्न आदि विषयक निरूपण आ० हेमचन्द्र की दृष्टि में भाये होते तो उनका भी उपयोग प्रस्तुत प्रकरण में अवश्य देना जाता ।

व्याप्ति अभिसामाज्य, निपत्तसादृश्य से पक्षांशद्वय वक्तव्यों में प्रसिद्ध है । अत्रिनामात्र का रूप दियाकर जो व्याप्ति का स्वरूप कहा जाता है वह दो मातृकान्यन्त्री (परी ३ १० १८) आदि सभी जैनतार्किकों के ग्रन्थों में द्रष्टा जाता है पर अर्षटोक्त मध्य विषय का संग्रह आ० हेमचन्द्र के सिवाय किसी अन्य जैन तार्किक के ग्रन्थ में द्रष्टे में नहीं आता ।

१ "न तावदभ्यभिचरितत्वं तद्धि न तावदाभ्यभिचरितत्वं, तावदभ्यभिचरितत्वात्प्राप्त्याप्यधर्मरूपत्वात् तावदभ्यभिचरितत्वं वा ।"—चिन्ता० गाथा० पृ० १४१ ।

२ "प्रतियोग्यमानानाधिकरण्यपक्षमानाधिकरण्यसम्बन्धानां प्रतियोग्यतावत्प्रकारेण न्यून द्रष्टव्यं अत्र अत्रिनामात्र चिन्ता० गाथा० पृ० ३६१ ।

३ "तत्र तत्र तावत् सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः ॥—चिन्ता० गाथा० पृ० ३६१ ।

५० ३८ पं० ४ 'व्याप्ति' इति—शुक्ला—“तस्य पञ्चमस्य मत्ता व्याप्तिः यो व्याप्नोति परस्य व्याप्यत तदुभयपक्षं वा व्यापकस्य गम्यस्य तत्रैति सारमन्त्रस्यैवप्रधानमन्तत् तावत् प्रधानम्, धर्माद्यां यम यत्र धर्मिणि व्याप्यमस्ति तत्र सर्वत्र माव एव व्यापकत्व स्वगतो धर्मो व्याप्ति' तत् । न त्वेवमवधाने । व्यापकत्वेव तत्र माव इति ।

- ५ इत्येवमावप्रसङ्गादव्यापकस्यापि मूर्च्छादेस्तत्र भावात् । नापि 'तत्रैवे'ति प्रयत्नान्तरदीवकत्वात् इत्येतुतापत् साधारण्यस्य हेतुः स्यात्, नित्यत्वस्य प्रमेयेष्वेव भावात् । यदा तु व्याप्यमन्ताविकत्वा व्याप्यत्वता व्याप्यस्य वा गमकस्य तत्रैव व्यापके गम्ये सति । यत्र धर्मिणि व्यापकादिति तत्रैव भावा न तदमावपि व्याप्तिरिति । अत्रापि व्याप्यत्वेव तत्र माव इत्यवधारणं इत्येवमावप्रसङ्गत्वात् नास्ति, अस्याप्यस्यापि तत्र भावात् नापि व्याप्यस्य तत्र माव एवेति सपक्षेकदेशाच्चैरहेतुरवधानेः साधारण्यस्य हेतुत्व स्यात् प्रमेयत्वस्य नित्येष्ववधारणभावाविति । व्याप्यव्यापकमतासंबन्धने तु व्याप्यरूपयत्र तुल्यधर्मतयैकाकारा प्रदीति' संयागिबद् मा भूविति प्रदर्शनात् । तत्राहि पूर्वत्रायोगस्य बन्धनेनावधारणम् इतरन्नाभ्ययोगस्य बन्धनेति कुत धमपत्रैकाकारता व्याप्ये ? । तदुक्तम्—

खिञ्जे खिञ्जी भवत्यथ खिञ्जिन्येनेतरत् पुन' ।

- १५ नियमस्य विपयासम्बन्धा खिञ्जिखिञ्जिना' ॥—इति ॥” हेतुि जी ति ५ १८८ ।

५० ३९ पं० ५ 'स्वार्थपरार्थमेदात्'—आचार इत्यन्त्र मे स्वाह-परार्थरूप से अनुमान क ही दा भद विषये ई जो सभी वैदिक, बौद्ध, यीर जैन धार्मिकों में साधारण हैं । अनुमान की तरह प्रत्यक्ष को भी परार्थ कहकर इनके स्वार्थ-परार्थरूप से वा मेह दिखाने-वाला नहीं तक मामूम है सर्वप्रथम सिद्धसेन ही है—

- २० “स्वनिर्दिष्टयमन्वयां निरूपयात्पादनं शुभे' ।

पराय मानमात्पादं धार्यं तदुपचारत' ॥”—स्वाहा १ ।

सिद्धमन क इस प्रत्यक्ष द्वैविध्य का क्षेत्ररि मे भी मास्य रक्षा—ममाद्यन १ २५ ।

धा० इत्यन्त्र न वस सिद्धसेनापक्ष प्रत्यक्ष विभाग को अपने प्रथम में स्वाह नहीं दिया है ।

५ ३९ पं० १ 'व्याप्याह'—शुक्ला—

- २५ “तद्व्याप्याहनिश्चिति' स्याद्व्याप्याहमनसाभिह ॥”—आवा ३ ।

५० ३९ पं० १२ 'इह च न'—शुक्ला—“यतो न योग्यतया किञ्चि परोक्षज्ञानरव निमित्तम् । यथा बीजमङ्कुररव । अष्टादशमाहनेरप्रतिपत्ते । नापि स्वविषयज्ञानापेक्षं परोक्षार्थप्रकाशनम् । यथा प्रदीपो घटादे । घटान्पनिर्दिष्टतसम्बन्धावप्रतिपत्ते । तस्मात् पराधा

यैनान्तरदीवकतया निरूपयनमत्र किञ्चन पराधार्थप्रतिषादनव्यापार । ॥”—आवति टी १ ५ ।

- ३० ५० ३९ पं० १६ 'ननु च असिद्ध'—हेतु क स्वल्प को विषय में दार्शनिकों में चार

परम्पराएँ बेली जाती हैं—१—वैशेषिक, सांख्य, बौद्ध, २—मीमांसिक, ३—अज्ञातमामक, ४—जैन ।

प्रथम परम्परा के अनुसार हेतु के पक्षसरह, सपक्षसरह और त्रिपक्षरूपानुसार ये तीन रूप हैं । इस परम्परा के अनुगामा वैशेषिक सांख्य और बौद्ध तीन दर्शन हैं, त्रिनमें वैशेषिक और सांख्य हा प्राचीन ज्ञान पद्धत हैं । प्रत्यक्ष और अनुमान रूप से प्रमाणरूप विभाग के विषय में जैम बौद्ध ताकिकों के ऊपर कयाव दर्शन का प्रभाव स्पष्ट है जैसे ही हेतु के प्रैक्ष्य के विषय में भा वैशेषिक दर्शन का ही अनुसरण बौद्ध ताकिकों ने किया जान पड़ता है? प्रशस्तपाद सु भी सिद्ध के स्वरूप के बटन में एक कारिका का अवतरण दत्त है त्रिनमें त्रिरूप हेतु का कारयपकथित रूप से निर्देश है । माडर अपनी दृष्टि में उन्होंने तीन रूपों का निर्देश करत हैं—माडर १ । अभिपमकाय, प्रमाणसमुच्चय, म्यायप्रवण (५ १) म्यायविन्दु (१ १ के) इतुविन्दु (६० ६) और वरवसंप्रह (भा ११६-२) आदि सभी बौद्धग्रन्थों में इन्हीं तीन रूपों को हेतु लक्ष्य मानकर त्रिरूप हेतु का ही समयन किया है । तीन रूपों के स्वरूपबटन एक समान तथा परपक्षनिराकरण में त्रितना विस्तार एवं विग्रहाकरण बाह्य ग्रन्थों में देखा जाता है त्वना किर्त्ता कथन वैशेषिक या सांख्य ग्रन्थ में नहीं ।

नैयायिक उपयुक्त तीन रूपों के अज्ञाता अवाधितविषयत्व और अस्तव्यतिनचितत्व य दा रूप मानकर हेतु के पाञ्चरूप्य का समयन करते हैं । यह समयन सबसे पहले किसन गुरु किया यह निरवय रूप से अभा कहा नहीं जा सकता । पर सम्भव, इसका प्रथम समयक उद्योतकर (म्यायवा १ १ २) होमें चाहिये । इतुविन्दु के टोकाकार अक्षर ने (५ १६२) तथा प्रशस्तपादानुगामी श्रीभर ने नैयायिकात्त पाञ्चरूप्य का प्रैक्ष्य में अनावेश किया है । यद्यपि बावस्वति (तात्प १ १ ५, १ १ ३६), अयम्ब (न्यायन ५ ११) आदि विद्वत्त समा नैयायिकों ने एक पाञ्चरूप्य का समयन एक बटन किया है यद्यपि विषाखरत्न म्यायपरम्परा में बहु पाञ्चरूप्य सूक्तमुष्टि की तरह गियर नहीं रहा । अदापर आदि नैयायिकों ने म्यायि और पञ्चमवारात्प म हेतु के गमकवोपयागी तीन रूप का ही अवपवादि में संवृत्त किया है । इस तरह पाञ्चरूप्य का प्राथमिक नैयायिकाग्रह गिथित हाकर प्रैक्ष्य एक भा गया । एक पाञ्चरूप्य के अज्ञाता अज्ञातरह रूप गिनाकर पञ्चरूप हेतु माननेवाली भी काइ परम्परा या त्रिसका निर्देश और गण्डन अक्षरों

१ भा वावित्स्की के उपनातुकार इस प्रैक्ष्य के विषय में कैसी का अक्षर कैशेषिक के ऊपर है—Buddhist Logic vol. I P 244 ।

२ 'अस्तुनपन उन्महं प्रतिहं च तस्मिन्ने । तदभावे च नास्त्यत्र तद्विज्ञाननुमानम् ॥ तिन-
 टमजा च् स्तारत्न विवपेन वा । विवदातिहन्तिदग्बनित्तहं कम्पनाञ्जवीव ॥'—प्रशम्भ० पृ० २०० ।
 कम्पली पृ० २०३ ।

३ 'अस्तुत्तरो हेतुस्मिन्ने नैवदिशमीमंमहात्प मरम्भ । ज्ञानि पुन पञ्चरादि इत्यादौरिप्यन्त्र
 रूपद... नैपि चैतनि पञ्चमवारात्पमत्रिंशत्कारि तथा अवाधितवि... चतुर्थे रूपे ... तथा विवदिने-
 चत्तन्त्रं कन्तन्त्रं—एवा संक्ता यत्त हेतुम्यस्य उदेकतम्... सत्तत्तम्पावन्धिदपां प्रतिहेतुपरीणां
 हेतुम्यो हेतुं मरति तथा मरत्तं म तु प्रतिहेतुद्विहापामपि त्रिसत्तन्त्रपुकाचान्, तथा वात्तं च
 मानिगन्त्रं च, न अदत्तं एव सत्तचामात्रय गमनेयं पुञ्ज इति ॥—हेतुवि० टी० १६५ B ।

ने 'त्रीयाधिक-मीमांसकादयः' ऐसा सामान्य कथन करके किया है। न्यायशास्त्र में ज्ञानमान किङ्क की करकता का जो प्राचीन मत (ज्ञानमान लिङ्ग तु करण न हि-मुष्ठा का १७) लण्डनीय रूप से निर्दिष्ट है उसका मुझ श्राव्यद वसी पङ्कुरूप इतुबाव की परम्परा में है।

जैन परम्परा हेतु के एकरूप को ही मानती है और बहु रूप है अविनामावनिवम।

- ४ इसका कहना यह नहीं कि हेतु में चो तीन या पाँच रूपादि माने जाते हैं वे असत् हैं। उसका कहना मात्र इतना ही है कि जब तीन या पाँच रूप म होम पर भी किन्हीं हेतुओं से निर्बिबाद सदनुमान होता है तब अविनामावनिवम को सिवाय सकलहेतुसाधारण दूसरा कोई लक्षण मरक्षण से बनाया ही नहीं जा सकता। अतएव तीन या पाँच रूप अविनामावनिवम क पञ्चासम्भव प्रपञ्चमात्र हैं। यद्यपि सिद्धसेन ने न्यायावतार में हेतु का
- १० माध्याविनामावी कहा है फिर भी अविनामावनिवम ही हेतु का एकमात्र रूप है ऐसा समर्थन करनेवाले सम्भवतः सर्वप्रथम पात्रस्वामी हैं। तत्त्वसमूह में शान्तरचित्त व जैनपरम्परासम्मत अविनामावनिवमरूप एक लण्डन का पात्रस्वामी के मन्तव्यरूप से ही निर्देश करके लण्डन किया है। यान पढ़ता है पूर्ववर्ती अन्य जैनवार्तिकों में हेतु क स्वरूप रूप से अविनामावनिवम का कथन सामान्यतः किया होगा। पर
- १६ इसका सयुक्तिक समर्थन और शैल्यसम्मत त्रैलोक्य का लण्डन सर्वप्रथम पात्रस्वामी ने ही किया होगा।

“अन्यवानुपपन्नस्य यत्र तत्र प्रयेण किम्।

नान्यवानुपपन्नस्य यत्र तत्र प्रयेण किम् ॥”-न्यायि पृ २ ।

- २० यह लण्डनकारिका भक्तज्ञ, विद्यानन्द (प्रमाद्य पृ ७२) आदि ने प्रयुक्त की है यह पात्रस्वामिकृ क होनी चाहिये। पात्रस्वामी के द्वारा जो परसम्मत त्रैलोक्य का लण्डन जैनपरम्परा में शुरू हुआ वसी का पिछले भक्तज्ञ (प्रमाद्य पृ १९ A) आदि दिगम्बर श्वेताम्बर वार्तिकों में अनुमरण किया है। त्रैलोक्यलण्डन के बाद जैनपरम्परा में पात्रस्वामी का भी लण्डन शुरू हुआ। अतएव विद्यानन्द (प्रमाद्य पृ ७२), प्रमाद्यन्त्र (प्रभवक पृ ११ B) बादो दशसूत्रि (स्थाहार पृ ५२१) आदि के दिगम्बरीय-श्वेताम्बरीय पिछले वर्कप्रश्नों में
- २६ त्रैलोक्य और पात्रस्वामी का साथ ही सशित्तर लण्डन देखा जाता है।

- आचार्य हेमचन्द्र वसी परम्परा को छोड़कर त्रैलोक्य तथा पात्रस्वामी दोनों का निरास करते हैं। यद्यपि विद्ययट्टि से आ० हेमचन्द्र का लण्डन विद्यानन्द आदि पूर्ववर्ती आचार्यों के लण्डन क समान ही है तथापि इसका शब्दिक साम्य विशेषत अन्तर्वीर्य की प्रमेय-रत्नमाका क साथ है। अन्य सभी पूर्ववर्ती जैनवार्तिकों से आ० हेमचन्द्र की एक विशेषता
- ३० या अनेक स्थलों में बेली जाती है यह नहीं भी है। यह विशेषता—संक्षेप में जो किसी म

किसी नये विचार का जैनपरम्परा में संग्रहीकरलमात्र है। हम देखते हैं कि भा० हेमचन्द्र ने बौद्धसम्मत त्रैलोक्य का पूर्वपक्ष रखते समय जो बिसृष्ट भवतरण म्यायविन्दु की प्रमोदरीय पुक्ति में से अक्षरशः लिखा है वह अल्प किसी पूर्ववर्ती जैन तर्कग्रन्थ में नहीं है। यद्यपि वह विचार बौद्धवार्तिकरुच्य है तथापि जैन तर्कशास्त्र के अस्यासिधों के बाते चाहे पूर्वपक्ष रूप से भी वह विचार आस हावम्ब है।

ऊपर जिस 'अल्पबाहुपपत्रत्व' कारिका का उल्लेख किया है वह निःसन्देह तर्कसिद्धि होने के कारण सर्वत्र जैनपरम्परा में प्रतिष्ठित हो गई है। यहाँ तक कि बसी कारिका का अनुकरण करके विद्यामन्द ने मोड़े हेर-फेर के साथ पञ्चकल्प्यखण्डन विषयक भी कारिका बना ली है—प्रमाण पृ ७२। इस कारिका की प्रतिष्ठा तर्कबल पर और तर्कक्षेत्र में ही रहनी चाहिए थी पर इसके प्रभाव के कायल अतार्किक मर्कों ने इसकी प्रतिष्ठा मन गृह्यत डङ्ग से बढ़ाई। और यहाँ तक बढ़ बढ़ी कि कुछ तर्कग्रन्थलेखक आचार्य भी उस कल्पित डङ्ग के शिकार बने। किसी ने कहा कि बस कारिका के कर्ता और दाता मूख में सीमम्बरस्वामी नामक तीर्थङ्कर हैं। किसी ने कहा कि सीमम्बरस्वामी से पद्यावती नामक देवता इस कारिका को छाई और पात्रकेसरी स्वामी को बसने वह कारिका दो। इस तरह किसी भी तार्किक मनुष्य के मुख में से निकलने की ऐकान्तिक योग्यता रखनेवाली इस कारिका को सीमम्बरस्वामी के मुख में से अल्पमक्ति के कारण जन्म लेना पड़ा—
कर्ममिटी पृ ५१६ (७)। अस्तु। जो कुछ हो भा० हेमचन्द्र भी बस कारिका का उपयोग करते हैं। इतना तो अक्षरशः माल पढ़ना है कि इस कारिका के सम्भवतः उद्गातक पात्रस्वामी दिगम्बर परम्परा के ही हैं क्योंकि मक्तिपूर्व उन मनगढ़स्त कल्पनाओं की सृष्टि केवल दिगम्बरीय परम्परा तक ही सीमित है।

पृ० ३६ पं० १७ 'तथाहि—अनुमये'—गुलना—नावनि टी २ ५-७।

पृ० ४१ पं० १७ 'अथैवंविध'—गुलना—ममेपर १ १६।

पृ० ४२ पं० १ 'स्वभाष'—जैन तर्कपरम्परा में हेतु के प्रकारों का बर्णन वेदकण्डू के ग्रन्थों (प्रमाण पृ १७-१८) में देखा जाता है पर इनका विधि या नियम-सापेक्ष रूप से स्पष्ट बर्गीकरण हम माखिक्यनन्दी विद्यामन्द आदि के ग्रन्थों में ही पाते हैं।
माखिक्यनन्दी, विद्यामन्द, देवसुरि और भा० हेमचन्द्र इन चार का किया हुआ ही वह बर्गीकरण ध्यान देने योग्य है। हेतुप्रकारों के जैनग्रन्थगत बर्गीकरण मुख्यतया वैशेषिक सूत्र और बर्मकीति के म्यायविन्दु पर अवलम्बित हैं। वैशेषिकसूत्र (६.२.१) में कार्य, कारण, संयोगी, समवायो और विरोधी रूप से पञ्चविध लिङ्ग का स्पष्ट निर्देश है। म्यायविन्दु (२.१९) में स्वभाव, कार्य और अनुपपन्न रूप से त्रिविध लिङ्ग का बर्णन है तथा अनुपपन्न के अर्थ 30

प्रकारेण मात्र निषेधसाधकत्वं से बर्णितं है, विधिसाधक रूप से एक ही अनुपलब्धि नहीं बतलाई गई है। अरुणहू और माखिक्यमन्दी ने म्यायकिन्दु को अनुपलब्धि ठीक स्वीकृत की

पर उसमें बहुत कुछ सुधार और वृद्धि की। धर्मकीर्ति अनुपलब्धि शब्द से सभी अनुपलब्धियों को या उपलब्धियों को लेकर एकमात्र प्रतिषेध की सिद्धि बतलाते हैं तब माखिक्यमन्दी अनुप

५ लब्धि से विधि और निषेध उभय की सिद्धि का निरूपण करते हैं इतना ही नहीं बरिह उपलब्धि को भी वे विधि निषेध उभयसाधक बतलाते हैं। विद्यामन्द का बर्गीकरण वैशेषिक-

सूत्र के आधार पर है। वैशेषिकसूत्र में अमृत मृत का, मृत अमृत का और मृत मृत का इस तरह त्रिविधि सिद्धि निर्दिष्ट है। पर विद्यामन्द ने उसमें अमृत अमृत का—बहु एक

प्रकार बढ़ाकर चार प्रकारों के अन्तर्गत सभी विधिनियेधसाधक उपलब्धियों तथा सभी

१० विधिनियेधसाधक अनुपलब्धियों का समावेश किया है—प्रमाण पृ ७२-७५। इस विलुप्त समावेशकरण में किन्हीं पूर्वाचार्यों की संप्रदायकारिकाओं को बसूत करके उन्होंने सब

प्रकारों की सब संख्याओं को निर्दिष्ट किया है याने विद्यामन्द के बर्गीकरण में वैशेषिक सूत्र के अलावा अरुणहू या माखिक्यमन्दी जैसे किसी सैमातार्किक का या किसी वैश्व

१५ वैश्वसुरि ने अपने बर्गीकरण में परीचामुक्त के बर्गीकरण को ही आधार माना हुआ काम पढ़ता है फिर भी वेवसुरि ने इतना सुधार अवरण किया है कि सब परीचामुक्त विधि-

साधक छ. उपलब्धियों (१५६) और तीन अनुपलब्धियों (१८६) को बर्णित करते हैं तब प्रमाणपत्रवाच्योक्त विधिसाधक छ. उपलब्धियों (१६५) का और पाँच अनुपलब्धियों

१ 'स्वभावात्पुस्तकत्वव्याप्यत्वात् अथ उपलब्धिसाधकमातस्यानुपलब्धेरिति । कार्यानुपलब्धिर्नवा मेहाप्रतिबद्धतामर्णानि भूमकार्यानि तन्ति भूमाभावात् । व्यापकानुपलब्धिर्नवा अथ विद्याया बुधामा-
नात् । स्वभावविक्रमोपलब्धिर्नवा नात्र शक्तिस्वर्योऽनेनेति । विक्रमकार्योपलब्धिर्नवा नात्र शक्तिस्वर्यो भूमा
रिति । विक्रमसातोपलब्धिर्नवा न भूमगर्भा मृतत्वानि माबस्व विनायेव हेतुत्वपेक्षयात् । कार्यविक्रमो-
पलब्धिर्नवा मेहाप्रतिबद्धतामर्णानि शक्तिस्वर्यानि तन्ति अनेनेति । व्यापकविक्रमोपलब्धिर्नवा नात्र
द्वारास्वर्योऽनेनेति । कार्यानुपलब्धिर्नवा नात्र भूमोऽप्यभावात् । कार्याविक्रमोपलब्धिर्नवा नात्र
यमार्थाविक्रियेया शक्तिस्वर्योऽनेनेति । कार्याविक्रमोपलब्धिर्नवा न यमार्थाविक्रियेयपुत्र
पुत्रत्वानय प्रवेरो भूमारिति ॥ —व्यापचि० पृ. ३२-४२ ।

२ परी० ३ २७-२८, ७८, ८९ ।

३ विरोधमूर्त मृतत्व । मृतममृतत्व । मृतोऽमृतत्व । —वै० सू० ३ ११-१३ ।

४ 'अत्र संप्रहरणोक्तः—स्वात्कार्यं कारकस्याप्य प्राक्त्वोत्तरकारि च । सिद्धं तद्वद्व्यवसायं तद्वत्
मृतत्व तावत् ॥ यथा विक्रमकारि साक्षादेवापवर्णितम् । सिद्धं मृतममृतत्व सिद्धतापेक्षयात् ॥
पारम्पर्येण कार्यं त्याग्य कारकं व्याप्यनेत्र च । तद्व्यति च निर्दिष्ट प्रत्येकं तद्व्यतिर्न च ॥ कारकत्वं द्वि-
कार्याविभेदेनोदाहृतं पुत्र । यथा येनयमेवं त्याग्य द्वाविद्यतिविच तत् ॥ सिद्धं तद्वद्वत् च पश्यन्वात्प
पतिम् ॥ तथा मृतममृतत्वोपलब्धिर्नवापवर्णितम् ॥ अमृतं मृतममृतं मृतत्वानेकवा पुत्रैः । तथा मृत-
तममृतत्व तथाप्येवमुदाहरेत् ॥ बहुत्वानेवमाकर्णत्वं तद्वेपेयं चतुर्विधम् । अतिरिच्येयो हेतुत्वान्मृत-
पलम्भम् ॥ —प्रमाण पृ० ७४-७५ ।

(१.६६) का वर्धन करता है । निषेधसाधकरूप से छ' उपलब्धियों (१७१) का धीर सात अनुपलब्धियों (१७८) का वचन परीक्षासुल में है तब प्रमाद्यनयतत्त्वाश्लोक में निषेधसाधक अनुपलब्धि (१.६) धीर उपलब्धि (१७१) दोनों सात सात प्रकार की हैं ।

आचार्य हेमचन्द्र वैशेषिकसूत्र धीर न्यायविन्दु दोनों क आभार पर विद्यामन्द की तरह बर्गीकरण करते हैं फिर भी विद्यामन्द से विभिन्नता यह है कि भा० हेमचन्द्र के बर्गीकरण में कोई भी अनुपलब्धि विधिसामक रूप से बर्णित नहीं है किन्तु न्यायविन्दु की तरह मात्र निषेधसाधकरूप से बर्णित है । बर्गीकरण की अनेकविधता तथा भेदों की संख्या में न्यूनताधिकता होने पर भी तरहत सभी बर्गीकरणों का सार एक ही है । वाचस्पति मित्र ने केवल बौद्धसम्बन्ध बर्गीकरण का ही नहीं बल्कि वैशेषिकसूत्रगत बर्गीकरण का भी निरास किया है—आत्मर् ४० १५८-१६५ ।

10

पृ० ४२ पं० ६ 'तद्विज्ञप्तस्य'—शुलना—'यदुत्पत्तिमात् तानित्पमिति स्वभावमूतवर्मभेदेन स्वभावस्य प्रयोग । यत् कृतं तदमित्पमित्युपाधिभेदेन । अचेतितपरक्यापारो हि भाव स्वभावनिष्पत्ती कृतक इति । परं प्रत्ययभेदभेदित्वाद्येो द्रष्टव्या'—न्यायवि १ १२ १५ ।

'यथा च कृतकशब्दो भिन्नविशेषद्वयस्वभावाभिप्राय्येवं प्रत्ययभेदभेदित्वादिभ्योऽपि प्रयत्ना मन्वरीयकरवादीनां तस्य स्वभावहेतो प्रयोगा भिन्नविशेषद्वयस्वभावाभिप्रायिनो द्रष्टव्या' ।— 15 न्यायवि टी १ १५ ।

पृ० ४० पं० ६ 'पलादन्वस्यैव'—शुलना—'सैव चास्य साध्यवर्मिणि स्वसाध्याविना भाविता सैव गमकत्वं निबन्धने नाम्यवर्मिणि । स च स्वसाध्याविनाभाव प्रतिबन्धसाधकप्रमाद्य निबन्धना न सपद्ये क्वचिद् बहुलं वा सहभावाभाप्रदर्शननिकम्पन , महि श्लोहश्लेक्यं बर्जं पार्थिवत्वात् काष्ठादिबहु इति तदन्वय पार्थिवत्वस्य श्लोहश्लेक्यत्वादिभावाभापि तथाभावा भवति । 20 यदि च पक्षीकृतादन्वयैव व्याप्तिरादर्शयितव्येति नियमः तदा सत्त्वं कर्तृ चक्षिणता भावेपु प्रतिपाद्यते' तस्मात्—स्वसाध्यप्रतिबन्धात् हेतु तेन व्याप्त. सिद्धयति स च विपर्यये साधकप्रमाद्यवृत्त्या साध्यवर्मिण्यपि सिद्धयति इति न किञ्चिद् अन्यत्रानुवृत्त्यपेक्षया । अत एवा न्वय (विनिरस्ये) उक्तम्—यत् क्वचिद् दृष्ट तस्य यत्र प्रतिबन्ध तद्विद तस्य तद् गमकं तथेति वस्तुगतिरिति ।—हेतुवि टी लि ४ १५.B १६.B

25

पृ० ४२ पं० २४ 'सूक्ष्मदर्शनापि'—कारणशिक्षक अनुमान को ठो सही मानते हैं पर कारणशिक्षक अनुमान मानने में मत्वमे है । बौद्धवाचिक खासकर धर्मकीर्ति कहीं भी कारणशिक्षक अनुमान का स्वीकार नहीं करते पर वैशेषिक, नैयायिक दोनों कारणशिक्षक अनुमान को प्रथम से ही मानते आये हैं । अपने पूर्ववर्ती सभी जैनवार्त्तिकों ने जैसे कारणशिक्षक अनुमान का बड़े शोरों से उपपादन किया है वैसे ही भा० हेमचन्द्र ने भी इसका उपपादन 30 किया है । भा० हेमचन्द्र न्यायवादी शब्द से धर्मकीर्ति का ही सूचित करते हैं । यद्यपि भा० हेमचन्द्र धर्मकीर्ति क मन्वय का निरासक करते हैं तथापि इनका धर्मकीर्ति क प्रति विशेष आधार है या 'सूक्ष्मदर्शनापि' इस शब्द से व्यक्त होता है ।

पृ० ४४ पं० ८ 'तथा चतुर्नां विना'—कार्यक्षिण्ण अनुमान के मानने में किसी का मद-मद नहीं फिर भी उसको किसी किसी ब्रह्माह्वय में मत्तमेव कासा है। 'जोबत् शरीरं सारस्वकम्, प्राज्ञादिमत्वात्' इस अनुमान को वैदिक सदनुमान नहीं मानते वे इस मिथ्यानुमान मानकर हेत्वाभाम में प्राज्ञादिहेतु को गिनाते हैं—स्यापि ३ ६६। वैदिक श्लोक इतर दार्शनिकों की तरह शरीर में वर्तमान नित्य भारतमत्तव को नहीं मानते इसी से वे अन्य दार्शनिकसम्मत सात्मकत्व का प्राज्ञादि द्वारा अनुमान नहीं मानते जब कि वैशेषिक, नैयायिक जैन आदि सभी पृथगात्मवादी दशन प्राज्ञादि द्वारा शरीर में आत्मसिद्धि मानकर इसे सदनुमान ही मानते हैं। अतएव भारतवादी दार्शनिकों के सिद्धे यह सिद्धांत्य आचरणक है कि सपत्त वृत्तित्व रूप अम्बय को सद्हेतु का अनिर्वाच्य रूप न मानना। केवल व्यतिरेकपाठे प्रभात् (०) अम्बयशून्य सिद्ध का भी वे अनुमितिप्रयोजक मानकर प्राज्ञादिहेतु को सद्हेतु मानते हैं। इसका समर्थन नैयायिकों की तरह जैमिनिर्वाकिका ने बड़े विस्तार से किया है।

भा० हेमचन्द्र भी इसी का अनुसरण करते हैं और कहते हैं कि अम्बय के प्रभाव में भी इत्थाभास नहीं होता इसलिये अम्बय को हेतु का रूप मानना न चाहिए। वैदिक सम्मत एतामत्तव धर्मकीर्तिनिर्दिष्ट अम्बयसम्बन्ध का धर्मैकान्तिकप्रयोजकत्वरूप से उल्लेख करते हुए भा० हेमचन्द्र कहते हैं कि व्यतिरेकामात्रमात्र को ही विरुद्ध और धर्मैकान्तिक दोनों का प्रयोजक मानना चाहिए। धर्मकीर्ति ने न्यायविन्दु में व्यतिरेकामात्र क साथ अम्बय सम्बन्ध का भी धर्मैकान्तिकता का प्रयोजक कहा है इसी का निवेन भा० हेमचन्द्र करते हैं। न्यायवादी धर्मकीर्ति क किसी उपलब्ध ग्रन्थ में जैसा भा० हेमचन्द्र लिखते हैं देखा नहीं जाया कि व्यतिरेकामात्र ही दोनों विरुद्ध और धर्मैकान्तिक या दोनों प्रकार के धर्मैकान्तिक का प्रयोजक हो। तब "न्यायवादिनापि व्यतिरेकामात्रादेव हेत्वाभासानुक्ती" यह भा० हेमचन्द्र का कथन असङ्गत हो जाया है। धर्मकीर्ति के किसी ग्रन्थ में इस भा० हेमचन्द्रोक्त याव का उल्लेख न मिले या भा० हेमचन्द्र के इस कथन का धर्म बाधो ग्रीवाताना करक पही करना चाहिए कि न्यायवादी ने भी हा हेत्वाभास कहे हैं पर उनका प्रयोजकरूप जैसा हम मानते हैं जैसा व्यतिरेकामात्र ही माना जाय क्योंकि इस अंग में किसी का विवाद नहीं अतएव निर्विवादरूप से स्वीकृत व्यतिरेकामात्र का ही उक्त हेत्वाभासहेतु का प्रयोजक मानना, अम्बयसम्बन्ध को नहीं।

यहाँ एक बात स्पष्ट श्रिय देनी चाहिए। वह यह कि वैदिक वाकिक हेतु क अम्बय का समर्थन करते हुए अम्बय का आचरणक इमलिय बध्नाते हैं कि वे विपक्षांतर रूप व्यतिरेक का सम्भव सपत्त एव सत्तव रूप अम्बय क बिना नहीं मानते। वे कहते हैं कि

१. केरलम्पिनेरिचिदं तद्वदामामात्रप्रकाशे परामम्पुपेक्षितुं न तन्नुन इत्यवयाम्पवगी व्युत्पन्नं च ।—न्यायम० पृ० ४५८। तालर्ये पृ० ५३। अम्बली पृ० २०४।

२. "अनगारेव हवा क्पवा तरेदेऽनैकानिहः।"—न्यायपि ३ ६८।

अन्वय होने से ही व्यतिरेक फलित होता है चाहे वह किसी वस्तु में फलित हो या अवस्तु में । अगर अन्वय न हो तो व्यतिरेक भी सम्भव नहीं । अन्वय और व्यतिरेक दोनों रूप परस्पराश्रित होने पर भी बौद्ध तार्किकों के मत से मिश्र ही हैं । अतएव वे व्यतिरेक की तरह अन्वय के ऊपर भी समान ही भार देते हैं । जैनपरम्परा ऐसा नहीं मानती । इसके अनुसार विपक्षव्यावृत्तिरूप व्यतिरेक ही हेतु का मुख्य स्वरूप है । जैनपरम्परा के अनुसार वही एक ही रूप के अन्वय या व्यतिरेक दो जुड़े जुड़े मामलात्र हैं । इसी सिद्धान्त का अनुसरण करके भा० हेमचन्द्र ने अन्त में कह दिया है कि 'सपक्ष एव सपक्ष' को अगर अन्वय कहते हो तब तो वह हमारा अभिप्रेत अन्वयानुपपत्तिरूप व्यतिरेक ही हुआ । सारांश यह है कि बौद्धतार्किक जिस तर्क को अन्वय और व्यतिरेक परस्परश्रित रूपों में विभाजित करके दोनों ही रूपों का हेतुसपक्ष में समावेश करते हैं, जैनतार्किक वही तर्क को एकमात्र अन्वयानुपपत्ति या व्यतिरेकरूप से स्वीकार करके उसकी दूसरी भावार्थक बाध को लक्ष्य में नहीं लेते ।

पृ० ४५ पं० १६ 'विरोधि तु'—म्याग्मा—'स्वभावविरुद्धोपपत्तिभिर्यथा मात्र शीतस्पर्शो बहुरिति । प्रतिपेक्षस्य शीतस्पर्शो च स्वभाव तस्य विरुद्धो बहुस्तस्य चेद्दोपपत्तिम् । कार्यविरुद्धोपपत्तिभिर्यथा नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि शीतकारणानि सन्ति बहुरिति । अन्वयदशाप्राप्तमेव कारणं कार्य जनयति न सर्वं ततो विरोधोपादानम् । प्रतिपेक्षानां शीतकारणानां कार्य शीतं तस्य विरुद्धो बहिः तस्येद्दोपपत्तिम् । कारणविरुद्धोपपत्तिभिर्यथा नास्य रोमहर्षादिविशेषोपासन्ति सन्निहितदहनविशेषत्वात् । प्रतिपेक्षानां रामहर्षादिविशेषोपादां कारणं शीतम्, तस्य विरुद्धो दहनविशेषस्तस्य चेद्दोपपत्तिम् । व्यापकविरुद्धोपपत्तिभिर्यथा मात्र तुषारस्पर्शो दहनात् । प्रतिपेक्षस्य तुषारस्पर्शस्य व्यापकं शीतं तस्येद्द विरुद्धो दहनविशेषः तस्येद्दोपपत्तिम् । व्यापकविरुद्धोपपत्तिभिर्यथा मात्र तुषारस्पर्शो दहनात् । प्रतिपेक्षस्य तुषारस्पर्शस्य व्यापकं शीतं तस्येद्द विरुद्धो दहनविशेषः तस्येद्दोपपत्तिम् । स्वभावविरुद्धकार्योपपत्तिभिर्यथा मात्र तुषारस्पर्शो भूमात् । प्रतिपेक्षस्य तुषारस्पर्शस्य च स्वभाव तस्य विरुद्धो बहिः । तस्य कार्यं भूम तस्य चेद्दोपपत्तिम् । कार्यविरुद्धकार्योपपत्तिभिर्यथा नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि शीतकारणानि सन्ति भूमादिति । प्रतिपेक्षानां शीतकारणानां कार्यं शीतं तस्य विरुद्धो बहिः तस्य कार्यं भूम तस्येद्दोपपत्तिम् । कारणविरुद्धकार्योपपत्तिभिर्यथा न रोमहर्षादियुक्तपुरुषवानस्य प्रदेशो भूमात् । प्रतिपेक्षानां हि रोमहर्षादिविशेषोपादां कारणं शीतं तस्य विरुद्धो बहिः तस्य कार्यं भूम तस्येद्दोपपत्तिम् । व्यापकविरुद्धकार्योपपत्तिभिर्यथा मात्र तुषारस्पर्शो भूमात् । प्रतिपेक्षस्य तुषारस्पर्शस्य व्यापकं शीतं तस्य विरुद्धोऽग्निस्तस्य कार्यं भूमस्तस्येद्दोपपत्तिम् ।"—जर्नलिया पृ० १ ।

भा० १ भा० २ सू० ११ १० पृ० ४५ पक्ष के सम्बन्ध में यहाँ चार पाठों पर विचार है—१-पक्ष का लक्ष्य—स्वरूप, २-लक्ष्यान्तर्गत विशेष्य की व्यावृत्ति, ३-पक्ष के भाषापरिचय, ४-इसके प्रकार ।

१-बहुत पहिले से ही पक्ष का स्वरूप विचारपक्ष में आकर निरिचय सा हो गया था फिर भी प्रशस्तपाद ने प्रतिशालाचक्ष करते समय उसका चित्रण स्पष्ट कर दिया है । न्यायप्रवेश में भी न्यायविन्दु में ही या यहाँ तक लक्ष्य की भाषा निरिचय हो गई है कि इसके बाद क ममी दिग्गम्बर-ज्ञेताम्बर तार्किकों ने इसी बौद्ध भाषा का बर्नी शब्दों से या 6 पर्यायाम्बर से अनुबाध करके ही अपने अपने ग्रन्थों में पक्ष का स्वरूप बतलाया है जिनमें काइ न्यूनाधिकता मर्दा है ।

२-अच्छर का इह असिद्ध और अभावित इम तीनों विरोधों की ब्याहृति प्रशस्तपाद और न्यायप्रवेश में नहीं बली जाती किन्तु अभावित इम एक विरोध की ब्याहृति इनमें स्पष्ट है । न्यायविन्दु में उक्त तीनों की ब्याहृति^१ है । जैनग्रन्थों में भी तीनों विरोधों की 10 ब्याहृति स्पष्टतया बतलाई गई है । अन्तर इतना ही है कि मासिकचमन्दो (पृ० १ २) और वसुदेव (प्रमादन १ ११०) तो सभी ब्याहृतिवाँ धर्मकीर्षि की तरह मूख सूत्र में ही दरसाई हैं जब कि भा० हेमचन्द्र ने दो विरोधों की ब्याहृतिवाँ का वृत्ति में बतलाकर सिर्फ अभावित विरोध की ब्याहृति का सूत्रबद्ध किया है । प्रशस्तपाद ने प्रत्यक्षबिन्दु, अनुमान- 15 बिन्दु, आगमबिन्दु, स्वशास्त्रबिन्दु और स्ववचनबिन्दु रूप से पाँच बाधितपक्ष बतलाये हैं । न्यायप्रवेश में भी बाधितपक्ष वा पाँच ही हैं पर स्वशास्त्रबिन्दु को खान में छोक बिन्दु का समावेश है । न्यायविन्दु में आगम और शास्त्रबिन्दु दोनों नहीं हैं पर प्रतीति

१ 'प्रतिरिगादपिपिनधर्मविशिष्यस्य धर्मिणा'परेषुविषयमापदपितु उरुशमात्रं प्रतिज्ञा ... अधिपतिविरहात् प्रत्यक्षानुमानान्मुम्यस्वकारवस्ववचनविरोधिना निरस्ता मन्वि -प्रशस्त० पृ० २३४ ।

२ 'तत्र पक्ष प्रसिद्धो धर्मो प्रतिज्ञविरोधेय विशिष्टतया स्वयं ताप्यन्वेनेपित्त । प्रस्वद्याप- विरह इति वाक्यशयः । तद्यथा निम्न शम्भ्राप्तित्वा कति ।"-न्यायप्र० पृ० १ ।

३ 'एकपक्षैव स्वकमिहाऽनिवृत्तः पक्ष इति । न्यायवि० ३ ४० ।

४ 'यथा'नुप्योऽपिपिपि प्रत्यक्षविरोधी, धनमन्वपिमि अनुमानविरोधी, शास्त्रेण तु प्रवेष्टव्य मविरोधी परेष्विष्यस्य तादात्म्यमिति ब्रह्म स्वशास्त्रविरोधी, न शम्भ्रोऽर्थप्रत्यापन्न इति स्ववचनविरोधी ।"- प्रशस्त० पृ० २३४ । 'आधिविदुमिहमि प्रत्यक्षविरोधः पद्यामागः । तद्यथा—प्रत्यक्षविन्दुः, अनुमानविन्दुः, आगमविन्दुः शास्त्रविन्दुः, स्ववचनविन्दुः अप्रतिज्ञविरोधः अप्रतिज्ञविरोधः अप्रतिज्ञोपपत्तिः, प्रतिज्ञानन्वत्परमिति ।"- न्यायप्र० पृ० २ ।

५ 'एकपक्षैरिति ताप्यन्वयेः । एकपक्षैरिति ताप्यन्वयेः न तावन्नवनापि । यथा शम्भ्रपान- निम्नक ताप्यं याप्यकं हेतुः, उभयेऽभिज्ञाताताप्यम्, न पुनस्तद्विह ताप्यन्वयेऽन्व तावन्नवनाप्यं निश्चान्तम् । स्वकमिति वादिना । पक्षतया तावन्नमाह । एतन्न यद्यपि स्वविच्छेदार्थे विषया ताप्यं माह तद्वशात्प्रकारेण तद्विषयमिदमन्वत्प्रमत्तमन्विति पक्षतया तन्न वादिना धमः तस्य ताप्यविदुमिहः न पक्ष तापो वैतन शकुल मर्दन । इह इति यथावै विवादेन तावन्नपुनरुत्तरं तस्य विदुमिच्छया मेभ्यु क्ताऽपि स्वमेव ताप्यं । तद्विच्छेदार्थमाहवाहन् । यथा पक्षोऽधिसुत्तरक संयन्तायाऽप्युपनात्ताप्यद्वयं इति अत्रत्याया स्ववचनकारणमात्रया ताप्या धमेन नानुमानमर्क ताप्यमित्युक्तं मन्वि । अनिप ५१ इति एतन्प्रत्यक्षविरोधेऽपि न ताप्यविदुमिहोऽप्यन्वत्प्रमत्तमन्विति निरवचनेनेतिपिपिन न त पक्ष इति प्रवेष्टव्यम् ।"-न्यायवि ३ ४१-४० ।

विरुद्ध का समावेश करके कुल प्रत्यक्ष, अनुमान, स्वबचन और प्रतीतिविरुद्ध रूप से चार बाधित पक्ष बतलाये हैं । खान पड़ता है, बौद्ध परम्परागत आगमप्रामाण्य के अस्वीकार का विचार करके धर्मकीर्ति ने आगमविरुद्ध को हटा दिया है । पर साथ ही प्रतीतिविरुद्ध को बढ़ाया । माणिक्यनन्दी ने (पृ० ६१५) इस विषय में न्यायविन्दु का नहीं पर न्याय प्रवेश का अनुसरण करके इसी के पाँच बाधित पक्ष माम लिये जिनको देवसूरि ने भी मान 5 छिया । अष्टवक्त्रा देवसूरि ने (प्रमाणन० ६४) माणिक्यनन्दी का और न्यायप्रवेश का अनुसरण करते हुए भी आदिपद रख दिया और अपनी व्याख्या रत्नाकर में समरणविच्छेद, ठक विरुद्ध रूप से अन्य बाधित पक्षों को भी दिखाया । आ० हेमचन्द्र ने न्यायविन्दु का प्रतीति विरुद्ध छे लिया, बाकी क पाँच न्यायप्रवेश और पटीचामुल के छकर कुल छ. बाधित पक्षों को सूत्रबद्ध किया है । माठर (शास्त्रका ५) जो संभवत न्यायप्रवेश से पुराने हैं उन्होंने 10 पञ्चामासों की नव संख्या मात्र का निर्देश किया है, उदाहरण नहीं दिये । न्यायप्रवेश में सोदाहरण नव पञ्चामास निर्दिष्ट हैं ।

३—आ० हेमचन्द्र ने साध्यधर्मविशिष्ट धर्मों को और साध्यधर्म मात्र को पक्ष कहकर उसको दो आकार बतलाये हैं, जो हमके पूर्ववर्ती माणिक्यनन्दी (३२५-२६, ३२) और देव 15 सूरि ने (३१६-१८) भी बतलाये हैं । धर्मकीर्ति ने सूत्र में तो एक ही आकार निर्दिष्ट किया है पर इसकी व्याख्या में धर्मोत्तर ने (२८) केवल धर्म, कबल धर्म और धर्मधर्मिसमुदाय रूप से पक्ष के तीन आकार बतलाये हैं । साथ ही उस प्रत्येक आकार का उपयोग किस किस समय होता है वह भी बतलाया है जो कि अपूर्ण है । वास्त्यायन ने (न्यायमा ११३६) धर्मविशिष्ट धर्मों और धर्मविशिष्ट धर्म रूप से पक्ष के दो आकारों का निर्देश किया है । पर आकार के उपयोगों का बर्तन धर्मोत्तर की उस व्याख्या के अलावा अन्यत्र पूर्ण प्रश्नों में 20 नहीं देखा जाता । माणिक्यनन्दी ने इस धर्मोत्तरीय बरनु को सूत्र में ही अपना लिया जिसका देवसूरि ने भी सूत्र द्वारा ही अनुकरण किया । आ० हेमचन्द्र ने इसका अनुकरण तो किया पर उसे सूत्रबद्ध न कर इति में ही कह दिया ।

४—इतर सभी जैन ठाकियों की तरह आ० हेमचन्द्र ने भी प्रमाणसिद्ध, विकल्पसिद्ध और धर्मयसिद्ध रूप से पक्ष के तीन प्रकार बतलाये हैं । प्रमाणसिद्ध पक्ष मानने के बारे 25 में वा किसी का मतमेद है ही नहीं पर विकल्पसिद्ध और धर्मयसिद्ध पक्ष मामने में मतमेद है । विकल्पसिद्ध और प्रमाद्य-विकल्पसिद्ध पक्ष के विरुद्ध, जहाँ तक मामूम है सबसे पहिले प्रश्न उठानेवाले धर्मकीर्ति ही हैं । यह धर्मो निरिषय रूप से कहा नहीं जा सकता कि धर्मकीर्ति का वह आक्षेप मीमांसकों के ऊपर रहा या जैनों के ऊपर या दोनों के ऊपर । फिर भी इतना निरिषय रूप से कहा जा सकता है कि धर्मकीर्ति के 30 धर्म आक्षेप का सविस्तर जवाब जैन तकप्रश्नों में ही दया जाता है । जवाब की जैन प्रक्रिया में सभी ने धर्मकीर्ति क इस आक्षेपीय पक्ष (प्रमाणका ११६९) का इदुव भी किया है ।

मन्त्रिणार गणेश नैः पक्ष्या का जो अन्वितम धीर सूक्ष्मतम निरूपय किया है इसका भा० हेमचन्द्र की कृषि में धाने का सम्बन्ध ही न था फिर भी प्राचीन धीर अर्थात् प्राचीन समी पक्ष पक्षियों के तुलनात्मक विचार के बाद इतना तो अचरित कहा जा सकता है कि गणेश का यह परिष्कृत विचार समी पूर्ववर्ती नैवायिक, बौद्ध धीर जैम प्रण्यों में पुरानी परिभाषा धीर 5 पुराने ढङ्ग से पाया जाता है।

—

पृ० ४६ पं० १४ 'एतत्'—तुलना—'अत्र हेतुष्वचये निरूपेण्ये चम्पुमेय । अन्वित तु साम्प्रतिपत्तिक्वासे मयुदाशोऽनुमेय । व्याप्तिनिरूपयकाशे तु धर्मोऽनुमेय इति धर्मोऽनुमेय-मत्र प्रह्वम् । जिह्वासितो ज्ञातुमिष्टो विरोधो धर्मो बस्य धर्मिणः स तयोक्तः ॥'—प्यावति 2. 2. पृ० १५, २६, ३२, ३३। प्रमाद्यन ३ १६ १८।

—

10 पृ० ४६ पं० १८ 'प्रसिद्ध'—तुलना—'प्रसिद्धो धर्मोति ॥'—पृ० १ २०।

पृ० ४६ पं० २० 'एतेन सर्व एव'—तुलना—प्रमेय ३ २६, २७।

—

पृ० ४७ पं० ४ 'तत्र बुद्धिसिद्धे'—पृ० १ २०-३१।

पृ० ४७ पं० ७ 'ननु धर्मिणि'—तुलना—प्रमेय ३ २६।

पृ० ४७ पं० १६ 'अथयसिद्धा धर्मो'—तुलना—प्रमेय ३ ३१।

—

15 भा० १ भा २, सू १८-२३ पृ० ४७ दृष्टान्त के विषय में हम उदाहरण लीजें वार्ते प्रस्तुत हैं—१-अनुमानानुसंग का प्रथम २-अक्षय, ३-अपयोग।

१-धर्मोऽनुमेय ने हेतु का प्रेक्ष्यकत्व जो अनुसर्जन के नाम से प्रसिद्ध है उसमें ही दृष्टान्त का समावेश कर दिया है अतएव उनके मतानुसार दृष्टान्त हेतुसम्बन्धमपठक रूप से अनुमान का अङ्ग है धीर यह भी अधिविद्वानों के बाले। विद्वानों के बाले तो अक्षय समर्पण के सिवाय हेतुमात्र ही कार्यसाधक होता है (प्रमाद्यन ३ २८) इसलिये दृष्टान्त उनके लिए अनुमानानुसंग नहीं। माधिकायनम्पी (१ ३०-४२) देवसुरि (प्रमाद्यन ३ २८, ३४ ३८) धीर भा० हेमचन्द्र समी ने दृष्टान्त को अनुमानानुसंग नहीं माना है धीर विद्वान् द्वारा अनुमान में उसकी अपयोगिता का अण्डन भी किया है, फिर भी हम समी ने कोबल मन्वमति शिष्यों के लिए पराधीनुमान में (प्रमाद्यन ३ ४२, पृ० ३ ४६) इसे व्याप्तिमारक बतलाया है 25 तब प्रथम होता है कि हमने अनुमानानुसंग के लक्षण का धर्म क्या है ? इसका जवाब यही

१ "उच्यते—शियाचक्रियाचिच्छतइतताकप्रमाद्यामो पक्षसि त पक्षः, तेन शियाचक्रियाचिच्छत इत ताकप्रमाद्य" कश्चित् त म पक्षः, तत्र ताकप्रमाद्यो कश्चति वा शियाचक्रिया चक्र मोमवामावस्तव भित्तिवामावाद् पक्षान् ॥"—शिवता० अनु० गाथा पृ ४३१-३२।

हे कि इन्होंने जो दृष्टान्त की अनुमानाङ्गता का प्रतिषेध किया है वह सकलानुमान की दृष्टि से प्रार्थानुमान मात्र में दृष्टान्त का वे प्रकृत नहीं मानते । सिद्धसेन ने भी यही भाव संक्षिप्त रूप में सूचित किया है—न्याया २ । अतएव विचार करने पर बीहड़ और जैन तात्पर्य में कोई क्वास अन्तर नज़र नहीं आता ।

२—दृष्टान्त का सामान्य लक्षण न्यायसूत्र (१ १ २५) में है पर बीहड़ ग्रन्थों में यह नहीं देखा जाता । माण्डिक्यनन्दो ने भी सामान्य लक्षण नहीं कहा जैसा कि सिद्धसेन ने पर देवसूत्रि (प्रमाणन० १ ४) और धा० हेमचन्द्र ने सामान्य लक्षण भी बतला दिया है । न्यायसूत्र का दृष्टान्तलक्षण इतना व्यापक है कि अनुमान सं भिन्न सामान्य व्यवहार में भी यह लागू पड़ जाता है जब कि जैनों का सामान्य दृष्टान्तलक्षण मात्र अनुमानोपयोगी है । साधर्म्य वैषम्य रूप से दृष्टान्त का दो भेद और उनके अलग अलग लक्षण न्यायप्रवेश (पृ १, २), 10 न्यायावतार (का १७, १८) में जैसे ही देखे जाते हैं जैसे परीक्षामुल (१ ४७ छ) भाषि (प्रमाणन १ ४१ से) पिछले ग्रन्थों में ।

३—दृष्टान्त के उपयोग के सम्बन्ध में जैन विचारसरणी ऐकान्तिक नहीं । जैन तार्किक परार्थानुमान में वहाँ श्रोता अभ्युत्पन्न हा वहाँ दृष्टान्त का सार्थक्य मानते हैं । स्वार्थानुमान स्वस में भी जो प्रमाता व्याप्य सम्बन्ध को मूल गया हो उसी को वसकी बाद विज्ञाने को 15 वास्ते दृष्टान्त की परिधार्यता मानते हैं—न्यायावर १ ४२ ।

द्वितीयाध्याय ।

ध० २ भा० १ सू० १-२, पृ० ४४ परार्थानुमान की चर्चा वैदिक, बौद्ध, जैन—तीनों परम्पराओं में पाई जाती है। यों तो स्वार्थ और परार्थ अनुमान का विभाग कदाह और म्यापसूत्र में सूचित हुआ है, फिर भी उपलब्ध प्रमादप्रश्नों में परार्थ अनुमान का स्पष्ट उल्लेखनिर्देश प्रशस्तपाद^१ और म्यायप्रवेश^२ में ही प्राचीन ज्ञान पड़ता है। प्रशस्तपाद^३ के अनुगामी मासबद्ध (न्यायतः पृ १) आदि सभी नैवायिकों में प्रशस्तपाद के ही कथन को बोद्धे इर-मेर के साथ तुहराया है। म्यायप्रवेशगत परार्थानुमान सम्बन्धी जो उल्लेखनिर्देश है, उसी को पिछले धर्मकीर्ति (न्यायवि १ १), शान्तरचित (तत्त्वत का ११११) आदि बौद्ध वाकियों में विशेष स्पष्ट करके कहा है। यहाँ तक मालूम है, जैन परम्परा में परार्थ अनुमान के स्पष्ट उल्लेख को बतलानेवाले सब से पहिले सिद्धसेन^४ दिवाकर ही हैं—न्याया ११। उनके मार्ग का पिछले जैन वाकियों में अनुसरण किया है—परी १ ५५, प्रमाण १ २१।

भा० इमवन्त्र ने परार्थ अनुमान के उल्लेखप्रसङ्ग में युक्तवत्ता दो बातें की हैं। पहली तो उसका उल्लेख-उल्लेखनिर्देश और दूसरी बात है शब्द में आरोप से परार्थानुमानत्व के व्यवहार का समर्थन। यह दोनों बातें वैदिक, बौद्ध और जैन सभी पूर्ववर्ती तर्कप्रश्नों में पाई जाती हैं। आरोप का बीज जो उल्लेख सम्बन्धी विचार करनेवाले आच्छादिक^५ आदि प्रश्नों में देखा जाता है उसका स्पष्टीकरण भी भा० इमवन्त्र ने पूर्ववर्ती आचार्यों की तरह ही किया है।

पृ ४४ पं० ८ 'अपेक्षतं हि धर्मेण'—उल्लेख-प्रवेश १ ५५ ५६।

पृ० ४४ पं० ४ 'अपचारश्चात्र'—उल्लेख-न्यायवि टी १२।

२० ध० २ भा० १ सू० ३-६ पृ ४४ प्रस्तुत चार सूत्रों में परार्थ अनुमान के प्रयोग-वैदिक्य की चर्चा है। परार्थ अनुमान का दो प्रकार का प्रयोग वैदिक बौद्ध, जैन—तीनों परम्पराओं का साम्य है पर वैदिक और बौद्ध दो परम्पराओं में सामान्य व्याहरण, वैश्वर्ष्य उदाहरण, सामान्य उपनय, वैश्वर्ष्य उपनय आदिभूत प्रयोगवैदिक्य प्रसिद्ध है। हेतु के प्रयोग-

१ 'पञ्चावबधेन वाक्येन स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानम्।'—प्रशस्त० पृ० २११।

२ 'तत्र पञ्चावबधनामि वाक्यम्'—म्यायप्र० पृ १।

३ अनुमानवत्तने तदानी कथितोऽत्र प्रयोगवत्तात्। अन्वोऽर्थो लक्ष्यते यत्ता लक्ष्यवारेपिवा दिना ॥ -

काव्यप्र० २. १। काव्यानुशा० १ १७-१८।

भेद से पराश्रम अनुमान का भेद उक्त दो परम्पराओं में प्रसिद्ध नहीं है जैसा कि जैन परम्परा में प्रसिद्ध है ।

जैन परम्परा में उदाहरण आदि के प्रयोगभेद से पराश्रम अनुमान का प्रयोगभेद मानने के अलावा हेतु के प्रयोगभेद से भी उसका भेद माना जाता है । हेतु के प्रयोग भेद की रीति सबसे पहले सिद्धसेन के न्यायावधार (का १७) में स्थापित ज्ञान पद्धति है ।⁵ पिछले सभी दिग्म्बर-श्वेताम्बर चार्किकों ने उसी हेतुप्रयोग की द्विविध रीति का निर्दिष्टाद रूप से मान लिया है । आ० हेमचन्द्र ने भी उसी रीति को अपने सूत्रों में दर्शाया है ।

इस विषय में आ० हेमचन्द्र की रचना की विशेषता यह है कि धर्मकीर्ति के न्याय विन्दु और उसकी धर्मोत्तरीयवृत्ति का (३७) प्रस्तुत प्रकरण में शब्दशः अनुकरण पाया जाता है, जैसा कि धर्म्य पूर्ववर्ती जैन वर्कप्रम्बों में नहीं है ।¹⁰

पृ० ५० पं० ८ 'एतदुक्तं मन्वति'-दुलना-"एतदुक्तं मन्वति-अभ्यदमिषेयमभ्यत्प्रकारं प्रयोगनम् । तत्रामिषेयापेक्षया वाचकत्वमिष्यते । प्रकाशं त्वमिष्यम् । अन्वये हि क्वचित् वक्ष्यमाणेन न्यायेन व्यतिरेकगतिर्मन्वति । व्यतिरेके वाच्यवगति । तत्स्वरूपं सिद्ध प्रकाशमिष्यम् । न च तत्रामिषेयभेदस्तत्र सामर्थ्यगम्योऽप्यर्थो मिष्यते । यस्मात् पीनो देवदत्तो विद्या न भुङ्क्ते पीनो देवदत्तो रात्री भुङ्क्ते इत्यनयोवाक्ययोःरामिषेयभेदेऽपि गम्यमानमेकमेव यद्विद्वामिषेयभेदेऽपि गम्यमानं ब्रह्मेकमेव ।"-न्यायवि टी ३ ७¹⁵

ध० २, आ० १ सू० ७-८ पृ० ५० परार्थानुमान में पक्ष का प्रयोग करने से करने का मतभेद है । नैयायिक आदि वैदिक परम्परा पक्ष का प्रयोग आवश्यक समझती है । बौद्ध परम्परा में न्यायप्रवेश में तो पक्षवचन साधनवाचकाङ्ग रूप से माना ही है पर उत्तर वर्ती धर्मकीर्ति न प्रविष्टा का स्वयं ही बतलाया है और कहा है कि उसका प्रयोग साधन वाच्य का अङ्ग नहीं है । जैन परम्परा पक्ष के प्रयोग की आवश्यकता का समर्थन करती है । सिद्धसेन ने कूद ही पक्ष के प्रयोग का विषय किया है (तत् प्रयोगोऽत्र कर्त्तव्यः-न्याया १४), जो सम्भवतः धर्मकीर्ति के प्रतिष्ठानिवेप के रूपरूढ के लिये है । बौद्धों का समर्थन करते हुए पिछले जैन चार्किकों से बौद्ध मन्तव्य के विरुद्ध अपनी हथौड़ी दी है । परीचामुल, प्रमादनयतरवाश्लोक और बमकी व्याख्याओं की अपेक्षा आ० हेमचन्द्र की कृति की इस सम्बन्ध में विश्वता यह है कि बौद्धोंने वाचस्पति मित्र कृत (तात्पर्य टी ४ २४४) पक्ष समर्थनप्रकार अक्षरशः इस अंगठ अवधारित किया है, अन्तर है तो इतना ही कि वाचस्पति मित्रम ब्राह्मणपरम्परामुसुप्त ब्राह्मण शुभ-शिष्य का उदाहरण दिया है जब कि आ० हेमचन्द्र²⁵

१ 'विकर्तव्यत्वात्पानं परार्थानुमानम् ।"-न्यायवि० ३ १ । "अथवा तस्यैव साधनत्वमप्याह प्रतिष्ठानयनिगमनादि .."-शाब्दन्याय पृ० ६१ ।

न बस उदाहरण के स्थान में प्रतिवादी बीज परम्परा का ही मिश्र-शैल प्रसंग उदाहरण रूप से बर्णित किया है।

—

पृ० ५१ पं० १ 'अयमर्थ'—शुक्लना—“तत्राहि परप्रत्यापनाय बचननुवारयन्ति प्रेषावन्त-
 5 वदेव न पर बोधयितव्या बद् बुभुस्तस्य तमासत्यनीनापेक्षितामिबानात् परा बोधिता मवति; न
 कस्वापान् पृष्ट. कोविन्तारामाश्चाद्य प्रष्टुरवधेयवचना मवति । अनवधमवधमय कथ प्रति-
 पादको नाम ? । यथा न माठर समिधमाहरेति गुह्यत्वा प्रेषित एषाऽहमाहरामीत्वनुक्त्वा
 यदर्थं यदाधं गृह्य प्रविशति तदाऽहमे कुप्यति गुह्यं वा शिष्यापसद्व्यस्यसवत्तर माठर
 मामवधायीरयसीति बुधाद्य । एवमन्वित्य शब्दं बुभुस्तमात्रायान्त्वित्य शब्द इत्यनुक्त्वा यदेव
 10 किञ्चिदुच्यते कृतकत्वादिषि वा, यत् कृतक तदन्वित्यमिति वा कृतकरव शब्द इति वा,
 तत् सर्वमस्थानपेक्षितमापावतोऽसम्बद्धामिधामम् । तथा वाक्यवहिता न बाहुमर्हतीति ।
 यत् कृतक' । अन्वित्य' शब्द इति स्वपक्षित कृते कृत इत्यपेक्षायां कृतकत्वादिषि हेतु
 उपतिष्ठत ।”—शास्त्रं पृ २०४।

—

पृ० ५१ पं० १ 'साध्यव्याप्त'—शुक्लना—अनेक १ १३।

—

पृ० २ पृ० १ सू० ६-१० पृ० ५१ परार्थ अनुमान रचन में प्रयोगपरिपाटी
 15 के अन्वय में मतभेद है। साक्ष्य तार्किक प्रतिष्ठा, हेतु, दृष्टान्त इन तीन अवयवों का ही प्रयोग
 मानते हैं—मात्र ५। मीमांसक वादिदेव के कथनानुसार, तीन अवयवों का ही प्रयोग मानते हैं—
 रथाकार पृ ५५६। पर पृ० हेमचन्द्र तथा धनन्तरीय के कथनानुसार वे चार अवयवों
 का प्रयोग मानते हैं—अनेक १ १०। शास्त्रिकनाथ, जो मीमांसक प्रमाकर क अनुगामी हैं
 उन्हीं अवयवों प्रकरणापेक्षिका में (पृ ८१-८५), तथा पार्यसारथि मित्र न श्लोकवार्तिक
 20 की व्याख्या में (अनु श्लो ५५) मीमांसकसम्मत तीन अवयवों का ही निर्वाह किया है।
 वादिदेव का कथन शास्त्रिकनाथ तथा पार्यसारथि के अनुसार ही है पर पृ० हेमचन्द्र
 तथा धनन्तरीय का नहीं। अगर पृ० हेमचन्द्र और धनन्तरीय दोनों मीमांसकसम्मत
 चतुरवयव कथन में प्राप्त नहीं हैं तो सम्मत्ता वादिए कि इनके सामने चतुरवयववाद की
 काह मीमांसक परम्परा रही हो जिसका उन्हीं निर्देश किया है। सैपाधिक पाँच अवयवों
 30 का प्रयोग मानते हैं— १ १२। साक्ष्य तार्किक, अपिक स अधिक हेतु-दृष्टान्त वा का ही
 प्रयोग मानते हैं (प्रमाणवा १ १८; रथाकार पृ ५५६) और कम से कम केवल हेतु का ही
 प्रयोग मानते हैं (प्रमाणवा १ २८)। इस नामा प्रकार क मतभेद के बीच तीन तार्किकों
 न धरना मत जैसा अन्यत्र भी धरा जाता है, वैसे ही अनेकान्त दृष्टि क अनुसार निरुक्ति-

कास से? हा स्थिर किया है। विगम्बर-श्वेताम्बर सभी जैनाचार्य अक्षयप्रयोग में किसी एक संख्या को न मानकर श्रावण की म्यूनाधिक योग्यता के अनुसार म्यूनाधिक संख्या को मानते हैं।

माधिक्यनन्दी ने कम से कम प्रतिष्ठा हेतु—इन दो अक्षयों का प्रयोग स्वीकार करके विशिष्ट श्रावण की अपेक्षा से निगमन पर्यन्त पाँच अक्षयों का भी प्रयोग स्वीकार किया है—पृ० १ १७-४६। आ० हेमचन्द्र के प्रस्तुत सूत्रों के और उनकी श्लोपक्ष वृत्ति के शब्दों से भी माधिक्यनन्दी कुछ और उनकी प्रभावम्भ्र आदि कुछ वृत्ति का ही एक भाव फलित होता है अर्थात् आ० हेमचन्द्र भी कम से कम प्रतिष्ठाहेतु रूप अक्षयत्रय को ही स्वीकार करके श्रावण में पाँच अक्षय को भी स्वीकार करते हैं परन्तु बादिदेव का मन्वभ्य इससे जुदा है। बादिदेव सूत्र न अपनी श्लोपक्ष व्याख्या में श्रावण की विशिष्टता बतलाते हुए यहाँ एक मान लिया है कि विशिष्ट अधिकारी के वास्ते केवल हेतु का ही प्रयोग पर्याप्त है (स्याहादर ४ ५४८) जैसा कि बौद्धों ने भी माना है। अधिकारी विशेष के वास्ते प्रतिष्ठा और हेतु से, अन्यत्र अधिकारी के वास्ते प्रतिष्ठा, हेतु और उदाहरण तीन, इसी तरह अन्य के वास्ते शोपनय चार, या अनिगमन पाँच अक्षयों का प्रयोग स्वीकार किया है—स्याहादर ५ ५६४।

इस जगह विगम्बर परम्परा की अपेक्षा श्वेताम्बर परम्परा की एक खास विशेषता ध्यान में रखनी चाहिये, जो ऐतिहासिक महत्त्व की है। वह यह है कि किसी भी विगम्बर आचार्य ने उस अति प्राचीन भद्रबाहुकर्म का मानी जानेवाली निर्गुणिक में निदिष्ट व बर्णित दश अक्षयों का, जो वास्तवपण्य कथित दश अक्षयों से भिन्न हैं, अन्तरेक एक नहीं किया है, जब कि सभी श्वेताम्बर चार्किकों (स्याहादर ४ ५६२) ने उक्तवाद कथा में अधिकारी विशेष के वास्ते पाँच अक्षयों से आगे बढ़कर निर्गुणिकाव दश अक्षयों के प्रयोग का भी नियुक्ति के ही अनुसार बर्णन किया है। जान पड़ता है इस वक्राव का कारण विगम्बर परम्परा के द्वारा आगम आदि प्राचीन साहित्य का स्पष्ट होना—यही है।

एक बात माधिक्यनन्दी ने अपने सूत्र में कही है वह मार्के की जान पड़ती है। सो यह है कि दो और पाँच अक्षयों का प्रयोगमेव प्रदेय की अपेक्षा से सम्भन्ना चाहिये अर्थात् बादप्रदेय में वा दो अक्षयों का प्रयोग मियत है पर शास्त्रप्रदेय में अधिकारी के अनुसार वा या पाँच अक्षयों का प्रयोग वैकल्पिक है। बादिदेव की एक खास बात भी स्मरण में रखने

१ "अक्षयवत्वात् तिष्ठन्नेव मन्वभ्य कर्मैर् उदाहरणं। आशम्भ्र उ श्रावणं हेतु कि कद्विदि मन्वभ्येण ॥ कर्मैर् उदाहरणं दशवा वा सम्भ्रान न पठिष्यि। न म पुन्य सम्भ्रान् मन्वभ्यैर् इती उक्तिप्रार मन्वभ्येण।" इत्यु० नि० गा० ४६ ३०।

२ "ते उ पराक्रमिमासी हेतुविमती विपक्षपठिसेहा विदुतो आठवा उष्पठिसेहा निगमय च ॥"— इत्यु० नि० गा० १३७।

३ "उदाहरणानेक नैवापिका वाक्ये उदाहरणे—विहासा उदाहरणः उदाहरणानि प्रयोगान् उदाहरण्य वाच इति"—स्यायमा० १ १ ३२।

योग्य है वह यह कि जैसा वैद्य विविध विद्याओं के बास्ते हेतु मात्र का प्रयोग मानते हैं वैसे ही वादिवेद में विद्वान् अधिकारी के बास्ते एक हेतुमात्र का प्रयोग भी मान लेते हैं। ऐसा स्पष्ट स्वीकार भा० इमषन्त्र ने नहीं किया है।

पृ० ५२ पं० ४ 'प्रतिज्ञाहेतु'—तुलना—“पञ्चहेतुदृष्टान्ता इति श्रयवयवम्—माडर का ५।

पृ० ५२ पं० ११ 'यथाहुः सौगता'—तुलना—“तस्यैव साधनस्य यथाहुः प्रतिज्ञोपन-

निगमनादि”—वाटम्बाव पृ० ११

‘तद्भाषहेतुभाषी हि दृष्टान्ते तद्वेदिनः।

रूपाप्येत विदुषां भाष्यो हेतुरेष हि केचन” ॥”—प्रमाणका १ २८।

- 10 अ० २, भा० १ सू० ११-१५ पृ० ५२—माडिक्यमन्त्रो और वादी वेदसुरि ने अपने अपने सूत्रग्रन्थों में परार्थ अनुमान की चर्चा की है पर उन्होंने उसके शब्दात्मक पाँच अक्षरों के उल्लेख नहीं किये जब कि भा० इमषन्त्र ने इस जगह अक्षरपाद (स्यात् ११ ११ से) और अक्षरपादानुसारी भासर्बज (स्यात्कार पृ० ५८) का अनुसरण करके पाँचों शब्दावयवों के उल्लेख बतलाये हैं।

- 15 पृ० १५ पं० ३ 'असिद्ध'—हेत्वामास सामान्य के विभाग में तार्किकों की विप्रति-
पत्ति है। अक्षरपाद? पाँच हेत्वामासों को मानते व बर्णन करते हैं। कदाच के सूत्र में स्पष्टतया तीन हेत्वामासों का निर्देश है, तथापि प्रशस्तपाद? उस सूत्र का आशय बतलाते हुए चार हेत्वामासों का बयान करते हैं। असिद्ध, विरुद्ध और अनीकान्तिक यह तीन वे अक्षरपादकथित पाँच हेत्वामासों में भी आते ही हैं। प्रशस्तपाद ने अनम्बकसिद्ध नामक चौथा हेत्वामास बतलाया है जो श्यायसूत्र में नहीं है। अक्षरपाद और कदाच समय क अनुगामी
20 भासर्बज ने ८ हेत्वामास बर्णित किये हैं जो श्याय और वैशेषिक दोनों प्राचीन परम्पराओं का कुछ आड़ मात्र है।

विद्वानाग कर्त्तक मान जानेवाले श्यायप्रवेश में असिद्ध, विरुद्ध और अनीकान्तिक इन तीनों का ही संभव है। अक्षरपाद? अर्मेकीर्ति आदि सभी वाद तार्किकों ने भा श्याय-प्रवेश की ही माम्यता का दोहराया और स्पष्ट किया है। पुराने सांख्यवाच्य माडर ने

१ श्यायसू० १ २ ४।

२ अमनिडा-नगरश्री-उत्तर तद्विग्रहवानरदेश । -दी० सू० ३ १ १४।

३ 'एतेनातिद्विविधमन्त्रिकान्तरितवचनानाम् अमपदशकमुक्तं भवति ॥"—प्रश पृ० २३८।

४ "अतिद्विविधमन्त्रिकान्तरितवचनानाम् अमपदशकमुक्तं भवति ॥"—श्यायसू० ३।

५ 'अतिद्विविधमन्त्रिकान्तरितवचनानाम् अमपदशकमुक्तं भवति ॥"—श्यायसू० ३।

६ "अमपदशकमुक्तं भवति ॥"—माडर ५।

भी बल्ल तीम ही हेत्वाभासों का सूचन व संप्रह किया है । जान पड़ता है मूल में सांख्य और कणाद की हेत्वाभाससंख्या विषयक परम्परा एक ही रही है ।

जैन परम्परा बस्तुतः कणाद सांख्य और बौद्ध परम्परा के अनुसार तीम ही हेत्वाभासों का मानती है । सिद्धसेन^१ और बाणदेव ने (प्रमाण १ ५७) असिद्ध आदि तीनों का ही बर्णन किया है । भा० हेमचन्द्र भी इसी मार्ग के अनुगामी हैं । भा० इमचन्द्र ने म्याय^२ सूत्रोक्त काष्ठातीव आदि दो हेत्वाभासों का निरास किया है पर प्रयत्नपाप और भासवैह्य कथित अनन्यवसित हेत्वाभास का निरास नहीं किया है । जैन परम्परा में भी इस अगह एक मतमद है—बह यह कि अकलङ्क और उनके अनुगामी भाषिकन्यनम्बी आदि दिगम्बर धार्मिकों ने चार हेत्वाभास बतलाये हैं^३ जिनमें तीन तो असिद्ध आदि साधारण ही हैं पर चौथा अकिञ्चित्कर नामक हेत्वाभास विचित्र नया है जिसका उल्लेख अन्यत्र कहीं नहीं देखा जाता । परन्तु यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि जयन्त भट्ट ने अपनी म्यायमञ्जरी^४ में अन्यथासिद्धापरपर्याय अप्रयोजक नामक एक नये हेत्वाभास को मानने का पूर्वपक्ष किया है वा बस्तुतः जयन्त के पहिले कमी से बड़ा भावा हुआ आम पड़ता है । अप्रयोजक और अकिञ्चित्कर इन दो शब्दों में स्पष्ट भेद होने पर भी भाषावत् उनके अर्थ में एकता का भास होता है । परन्तु जयन्त ने अप्रयोजक का जो अर्थ बतलाया है और अकिञ्चित्कर का जो अर्थ भाषिकन्यनम्बी के अनुयायी प्रमाणम् ने^५ किया है उनमें विचित्र अन्तर है इससे यह कहना कठिन है कि अप्रयोजक और अकिञ्चित्कर का विचार मूल में एक है फिर भी यह प्रसन्न हो ही जाता है कि पूर्ववर्ती बौद्ध या जैन म्यायप्रणियों में अकिञ्चित्कर का नाम निर्देश नहीं जब अकलङ्क न इस स्थान कैसे दिया, अतएव यह सम्भव है कि अप्रयोजक या अन्यथासिद्ध माननबाधे किसी पूर्ववर्ती धार्मिक ग्रन्थ के आधार पर ही अकलङ्क ने अकिञ्चित्कर हेत्वाभास की अपने अंग से नई सृष्टि की हो । इस अकिञ्चित्कर हेत्वाभास का उल्लेख कबल बाणदेव के सूत्र की व्याख्या व्याहार ४ १२१) में देखा जाता है ।

ऊपर जो हेत्वाभाससंख्या विषयक नामा परम्परार्ये दिखाई गई हैं उन सब का मत भेद मुख्यतया संख्याविषयक है, तरजविषयक नहीं । ऐसा नहीं है कि एक परम्परा जिस अनुक

१ 'असिद्धरत्नप्रतीतो वो वेदान्तैर्बोध्यते । विरुद्धो वेदान्त्याप्यथ मुञ्जानैरान्तिकः च तु ॥'-

म्याय० का० २३ ।

२ 'असिद्धरत्नप्रतीतो शब्दान्निर्गतत्वात् । अन्यथासिद्धाभासमेवात् त बहुधा स्मृतः ॥

विरुद्धासिद्धसंदिग्धैरकिञ्चित्करविरुद्धैः ॥'-म्यायसि० २ ११३ १ । परी ३ २१ ।

३ 'अन्ये तु अन्यथासिद्धत्वं नाम उक्तं दण्डाद्वारमिणं यस्य हेताभिमिथि कृतिर्भवेन्नयमि साध्यापम प्रमुखा मरणि न सोऽन्यथासिद्धा इत्या निम्ना मनःपरमाशये मूलत्वाद् परवदिति .. न चात्र प्रयोग्य प्रयोक्तव्यस्यो नास्तीत्येव एवायमन्यथासिद्धाऽप्रयोजक इति कथ्यते । क्व पुनरस्याप्रयोग्यत्वं न गतम् ॥'- म्यायम० पृ० १०७ ।

४ सिद्धं निर्णयि प्रमाणानुपलम्बे प्र रक्षादिशक्तिने च हेतुन किञ्चित्करोति इति अकिञ्चित्करो ज्ञानक । -प्रमयक० पृ० ११३ ३ ।

हेत्वामास रूप दोष कहती है अगर वह सचमुच दोष हो तो उसे दूसरी परम्परा स्वीकार न करती हो। ऐसे स्वयं में दूसरी परम्परा या तो उस दोष का अपन अभिप्रेत किसी हेत्वामास में अभ्यर्थावृत्ति कर देती है या पश्चामास भावि अन्य किसी दोष में वा अपन अभिप्रेत हेत्वामास को किसी न किसी प्रकार में।

- 5 भा० हेमचन्द्र ने हेत्वामास शब्द के प्रयोग का अभीहित्य बतलाते हुए भी साधना मास अर्थ में उस शब्द के प्रयोग का समर्थन करने में एक तीर स दो पक्षों का श्रेय किया है—पूर्वाचार्यों की परम्परा के अनुसरण का विवक भी बतलाया और इनकी गणती भी बर्था है। इसी तरह का विवक माहिस्यनन्दी ने भी दर्शाया है। उन्होंने अपने पूर्व भक्तकृत कथित भक्तिचरित्रर इत्वामास का बर्णन तो किया पर उन्हें जब उस हेत्वामास क अलग स्वीकार का अभीहित्य न दिखाई दिया तब उन्होंने एक सूत्र में इस डङ्ग से उसका समर्थन किया कि समर्थन भी हो और उसके अलग स्वीकार का अभीहित्य भा व्यक्त है—‘उच्यते एवामासो दोषोऽप्युक्तप्रयोगस्य पश्चात्पक्षैश्च दुष्टत्वात्’—पृ० १ ३६।

- 10 पृ० ५४ पं० ८ ‘प्रत्यक्षागमवाचित’—इतना ‘कामात्प्रत्यापदिष्टः काष्ठातीव’।—स्वामि १ २ २। “यत्र च प्रत्यक्षागमनागमविरोध म सर्वं प्रमाद्यतो विपरीतनिश्चयेन सम्प्रेक्ष्यविशिष्ट काष्ठातिविवृति सोऽयं काष्ठात्प्रत्यक्षेण अपदिश्यमान काष्ठातीव इति।”—वाचन ५ १४७। स्वामि ५ ७। ‘इतो प्रयोगकाश्च प्रत्यक्षागमानुपहतपक्षपरिमह मम च एव तन्मतीत्य प्रयुज्यमान प्रत्यक्षागमवाचिते विषये वर्तमान काष्ठात्प्रत्यापदिष्टो भवति।”—स्वामि ५ १११।

- 20 भा० २ भा० १ सू० १७-१८ पृ० ५४ स्वामिसूत्र (१२८) में असिद्ध का नाम साम्प्रसम है। केवल नाम के ही विषय में न्यायसूत्र का अर्थ प्रश्नों से वैलक्षण्य नहीं है किन्तु अन्य विषय में भी। वह अन्य विषय यह है कि जब अन्य सभी प्रश्न असिद्ध के कम या अधिक प्रकारों का उच्यते उदाहरण सहित बर्णन करते हैं तब न्यायसूत्र और उसका भाष्य पंजा कुछ भी न करके केवल असिद्ध का सामान्य स्वरूप बतलाते हैं।

- 25 प्रशस्तपाद और न्यायप्रवेश में असिद्ध के चार प्रकारों का स्पष्ट और समानप्रकार बर्णन है। माठर (का ५) भी उसका चार भेदों का निर्देश करते हैं जो सम्भवतः उनकी दृष्टि में वे ही रहे होंगे। न्यायकिन्तु में जर्मनीर्त्ति ने प्रशस्तपादादिकथित चार प्रकारों का तो बर्णन किया ही है पर उन्होंने प्रशस्तपाद तथा न्यायप्रवेश की तरह आश्रयासिद्ध का एक उदाहरण न देकर बसके दो उदाहरण दिये हैं और इस तरह असिद्ध के चौथे प्रकार आश्रयासिद्ध के भी प्रयोग कर दिये हैं। जर्मनीर्त्ति का बर्णन बहुत प्रशस्तपाद और न्यायप्रवेश 30 गत प्रस्तुत बर्णन का बोझा सा संशोक्त मात्र है—न्यायि ३ ५८-६०।

१ ‘उभवातिदोऽप्युक्तपदिष्टः वस्तुवातिदोऽनुमेवातिदरपेति।’—प्रशस्त० पृ० २३८। उभवातिदोऽप्युक्तपदिष्ट उक्तिवातिद आश्रयासिद्धरपेति।’—न्यायप्र० पृ० ३।

न्यायसार (पृ ८) में असिद्ध को सौदह प्रकार सादाहरण बतलाय गये हैं । न्यायमञ्जरी (पृ १ १) में भी उसी उद्धृ पर अनेक भेदों की सृष्टि का बर्णन है । माखिक्यनन्धी शब्द रचना बद्ध है (परी १ २२ २८) पर बस्तुतः वे असिद्ध के वर्तन में धर्मकीर्त्ति क ही अनुगामी है । प्रमाचन्द्र ने परीक्षामुल्य की टीका मार्तण्ड में (पृ १६१ A) मूल सूत्र में न पाये जानवाले असिद्ध के अनेक भेदों के नाम तथा उदाहरण दिये हैं जो न्यायसारगत 5 ही हैं । आ० हेमचन्द्र के असिद्धविषयक सूत्रों की सृष्टि न्यायविन्दु और परीक्षामुल्य का अनुसरण करनेवाली है । उनकी उदाहरणमाला में भी शब्दश न्यायसार का अनुसरण है । धर्मकीर्त्ति और माखिक्यनन्धी का अक्षरश अनुसरण न करने के कारण बाणदेव क असिद्ध विषयक सामान्य लक्षण (प्रमाण १ ५६) में आ० हेमचन्द्र के सामान्य लक्षण की अपेक्षा विशेष परिष्कृतता जान पड़ती है । बाणदेव क प्रस्तुत सूत्रों की व्याख्या रत्नाकरा 10 बवारिका में जो असिद्ध के भेदों की उदाहरणमाला है वह न्यायसार और न्यायमञ्जरी के उदाहरणों का अक्षरश सङ्कलन मात्र है । इतना अन्तर अक्षरश है कि कुछ उदाहरणों में अनुविन्यास वादी देवमूर्ति का अयना है ।

पृ० ५१ पं० १७ सामान्यविशेषवत्त्वात्-श्लोका-“सामान्यवरणात्”-न्यायसार पृ ८ ।

पृ० ५१ पं० २० विपरीत-जैसा प्रशस्तपाद में विरुद्ध क सामान्य स्वरूप का 1) बर्णन है विशेष भेदों का नहीं वैसे ही न्यायसूत्र और उसके भाष्य में भी विरुद्ध का सामान्य रूप से बर्णन है विशेष रूप से नहीं । इतना साम्य होते हुए भी सामान्यन्याय सूत्र और प्रशस्तपाद में उदाहरण एवं प्रतिपादन का भेद स्पष्ट है । आम पढ़ता है न्याय सूत्र की और प्रशस्तपाद की विरुद्ध विषयक विचारपरम्परा एक नहीं है ।

न्यायप्रवेश (पृ ५) में विरुद्ध क चार भेद सादाहरण बतलाये हैं । सम्भवत 20 माठर (का ५) को भी वे ही अभिप्रेत हैं । न्यायविन्दु (१ ८३-८८) में विरुद्ध के प्रकार दो ही उदाहरणों में समाप्त किये गये हैं और तीसरे इष्टविधातकृत नामक अधिक भेद ज्ञान की प्राप्ति (१ ८८ १५) करके उसका समावेश अभिप्रेत दो भशों में ही कर दिया गया है । इष्टविधातकृत नाम न्यायप्रवेश में नहीं है पर उस नाम न जा उदाहरण न्यायविन्दु (१६) में दिया गया है वह न्यायप्रवेश (पृ ५) में वर्तमान है । जान 30 पढ़ता है न्यायप्रवेश में जो परार्था लघुपादय' यह धम्मविशेषविरुद्ध का उदाहरण है उसी का काष्ठ इष्टविधातकृत नाम से व्यञ्जन करत होंगे जिसका निर्देश करके धर्मकीर्त्ति

१ 'विद्यास्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्ध । -न्यायसू० १ २. ३। "यथा साध्य विकारो रश्मिरेतेति निगलकप्रतिपत्तात्, अपेक्षाऽन्वयिनि विनाशप्रतिपत्तात्, न नित्यो विकार उपरगत इत्यर्थं हेतु- पक्षे रपेतेति विकारोति इत्यनेन स्वनिदानेन विरुद्धते । यदस्ति न तदात्मजाभात् प्रप्यकन अस्तित्व साम सामान् प्रप्युतिरिति विरुद्धावैतो धर्मा न तह सम्भव इति । सोऽयं हेतुप विद्वान्तमभिव्य प्रकने तमर न्यायिनि इति ।" -न्यायसा० १ २. ३। या हेतुनेवेऽनिरुपमानेऽपि तलमानजानीये तर्कनिष्पत्ति तद्विरोधे स्थिति त विरोधीकचनानिदं यथा परमादिगो वरमादर इति ।" -प्रशस्त० पृ० २३८ ।

- ने अन्तर्भाव किया है। अथर्व ने (न्यायन पृ १ १ १) गीतमसूत्र की ही व्याख्या करते हुए धर्मविशेषविरुद्ध धीर धर्मविशेषविरुद्ध इन दो तीर्थांतरीय विरुद्ध भेदों का स्पष्ट खण्ड किया है आ न्यायप्रवेशवाला परम्परा का ही खण्डन मान पड़ता है। न्यायसं (५ ६) में विरुद्ध क मने का बर्णन सबसे अधिक धीर मटिल भी है। उसमें सप
- ७ क अलिखवाले चार, माखिलवाले चार ऐसे विरुद्ध क भाठ भेद जिम उगाहरकों के माय हैं इन्हों उदाहरकों के माय बही भाठ भेद प्रमाद्यनयतरवालाक की व्याख्या में भी हैं—प्रमाण १ ५२ ५३। यद्यपि परीक्षासूत्र की व्याख्या मातण्ड में (५ १६० A) न्यायसारवाले ने ही भाठ मन् हैं तथापि किसी किसी उदाहरण में बोझा सा परिवर्तन हो गया है। भा० इमचन्द्र ने वा प्रमाद्यनयतरवालेक की व्याख्या की तरह अपनी वृत्ति में शब्द
- 10 न्यायसार के भाठ भेद उदाहरण बतलाकर उनमें से चार विरुद्धों का असिद्ध एव विद्वेद दोनों नाम से व्यवहृत करने की व्यायमखरी धीर न्यायसार की दलीलों का प्रपमा किया है
- ५० १६ पं० ६ 'सति सप्तसे'—गुलना—'विरुद्धमे'—सति सप्तच परबारे विरुद्ध' पञ्चविपचव्यापका वधा १—न्यायसार पृ ६। प्रमथक पृ १६२ A। स्वाहार पृ १ २२।
- ५० १६ १० 'नियमस्य'—धर्मैकान्तिक इरवामास के नाम के विषय में मुख्य दो
- 1 परम्परों प्राचीन हैं। पहली गावम की धीर दूसरी कबाद की। गीतम अपने न्याय सूत्र में जिसे सभ्यमिचार (१ २ ५) कहते हैं वही को कबाद अपने सूत्रों (१ १ १५) में मन्दिग्य कहत हैं। इस मामभेद की परम्परा भी कुछ धर्म रखती है धीर बहु धर्म भगले सब व्याख्यामन्त्रों म स्पष्ट हो जाता है। बहु धर्म यह है कि एक परम्परा धर्मैकान्तिकता का अर्थात् माध्य धीर उसके अभाव क साथ इतु क साहचर्य का, सभ्यमिचार इरवामास
- १0 का नियामक रूप मानती है संशयजनकरव का नहीं जब दूसरी परम्परा संशयजनकरव का वा धर्मैकान्तिक इरवामासता का नियामक रूप मानती है साध्य-उदाहरणसाहचर्य का नहीं। पहली परम्परा के अनुसार जा इतु माध्य-उदाहरणसाहचरित है चाहे वह संशयजनक हो या नहीं—वही सभ्यमिचार वा धर्मैकान्तिक कहलाता है। दूसरी परम्परा के अनुसार जो हेतु संशयजनक है—चाहे वह माध्य-उदाहरणसाहचरित हो या नहीं—वही धर्मैकान्तिक वा सभ्यमिचार कहलाता है। धर्मैकान्तिकता के इस नियामकभेदवाली दो एक परम्पराओं के अनुसार उदाहरकों में भी अन्तर पड़ जाता है। अतएव गीतम की परम्परा में असाधारण वा विरुद्धाभ्यमिचारी का धर्मैकान्तिक इरवामास में खान सम्भव ही नहीं क्योंकि वे दोनों साम्याभावमहचरित नहीं। एक सार्थकमामभेद वाली दोनों परम्पराओं के परस्पर मिस्र ऐसे वा दृष्टिकोण भाग भी चालू रहे पर उत्तरवर्ती सभी लच्छाओं में—चाहे वे वैदिक नों, बौद्ध हों वा जैन—नाम वा कबल गीतमीय परम्परा का धर्मैकान्तिक ही जारी रटा। कलादीन परम्परा का सन्दिग्ध नाम व्यवहार में नहीं रटा।
- 30 प्रशस्तवाच धीर न्यायप्रवेश इन दोनों का वैर्थापर्य अमी सुनिरिखत नहीं अतएव यह निरिखत रूप से कहना कठिन है कि अमुक एक का प्रभाव दूसरे पर है, तथापि न्यायप्रवेश

भार प्रशस्तपाद इन दोनों की विचारमर्यादा का अन्तर्गत और पारस्परिक महत्त्व का भेद
 खास ध्यान देने योग्य है । न्यायप्रवेश में यद्यपि नाम तो अनैकान्तिक है मन्दिग्ध नहीं, फिर
 भी हममें अनैकान्तिकता का नियामक रूप प्रशस्तपाद की तरह संशयजनकत्व को ही माना
 है । अतएव न्यायप्रवेशकार न अनैकान्तिक क ह्य. मन् बतहाते हुए उनका ममी उदाहरणों
 में संशयजनकत्व स्पष्ट बतलाया है । प्रशस्तपाद न्यायप्रवेश की तरह संशयजनकत्व को ही
 अनैकान्तिकता का नियामक रूप मानते हैं मही, पर वे न्यायप्रवेश में अनैकान्तिक रूप से
 उदाहृत किये गये असाधारण और विरुद्धाभ्यभिचारी इन दो भेदों का अनैकान्तिक या मन्दिग्ध
 इत्यामाम में नहीं गिनते बल्कि न्यायप्रवेशमन्मत तक दोनों इतराभामों की सन्दिग्धता का
 यह कह करके खण्डन करते हैं कि असाधारण और विरुद्धाभ्यभिचारी संशयजनक ही नहीं ? ।
 प्रशस्तपाद के खण्डनीय भागबाह्या कोइ पूर्ववर्ती वैशेषिक ग्रन्थ या न्यायप्रवेशमिन्न बौद्धग्रन्थ
 न मिले वह तक यह कहा जा सकता है कि शायद प्रशस्तपाद न न्यायप्रवेश का ही खण्डन
 किया है । जो कुछ हो, यह तो निश्चित ही है कि प्रशस्तपाद न असाधारण और विरुद्धा
 भ्यभिचारी का सन्दिग्ध या अनैकान्तिक मानने से इन्कार किया है । प्रशस्तपाद न इस
 प्रश्न का, कि क्या वह असाधारण और विरुद्धाभ्यभिचारी काइ इत्याभास ही नहीं ? जवाब
 भी बड़ा बुद्धिमानी से दिया है । प्रशस्तपाद कहते हैं कि असाधारण इत्याभास है सही, 13
 पर वह संशयजनक न होने से अनैकान्तिक नहीं, किन्तु उस अनभ्यवसित कहना चाहिए ।
 इसी तरह वे विरुद्धाभ्यभिचारी का संशयजनक न मानकर या वा असाधारणरूप अनभ्यवसित
 में गिनते हैं या उस विरुद्धविरोध ही कहते (अथ गृ विरुद्धमेव एव-प्र० ५ २१६) हैं । कुछ
 भी हा पर वे किसी तरह असाधारण और विरुद्धाभ्यभिचारी का न्यायप्रवेश की तरह
 संशयजनक मानने का तैयार नहीं हैं फिर भी वे उन दोनों का किसी न किसी इत्यामाम में 20
 मभिविष्ट करत ही हैं । इस शर्त के सम्बन्ध में प्रशस्तपाद की और भी दो बात खास
 ध्यान दान योग्य हैं । पहली वा यह है कि अनभ्यवसित नामक इत्यामाम की कल्पना और
 दूसरी यह कि न्यायप्रवेशगत विरुद्धाभ्यभिचारी का उदाहरण से विभिन्न उदाहरण का छकर
 विरुद्धाभ्यभिचारी का संशयजनक मानने में मानन का शास्त्राथ । यह कहा नहीं जा सकता

१ 'तत्र साधारणः—शुद्धः प्रमेयशास्त्रिय इति । तद्धि निर्यानिर्वाणस्य साधारणत्वाद्वादेर्जाति
 कम् । त्रि पदार्त् प्रमेयशास्त्रियः शुद्धः आचारित्वाकारणप्रमयन्त्याश्रित्य इति । -रसादि-न्यायप्र०
 पृ० ३ ।

२ 'असाधारणः—आद्यत्वाश्रित्य इति । तद्धि निर्यानिर्वाणसां आद्यत्वाश्रित्यानिर्वातिनि
 दुक्त य आद्यत्वाश्रित्यत्वात् संशयः किम्भूतत्वात् आद्यत्वाश्रित्यि ।... विरुद्धाभ्यभिचारी यथा अनित्य
 शब्द कृतत्वात् पश्यतः, निर्याशब्द आद्यत्वात् शब्दत्वादिनि । उभयाः लक्षणद्वयान् आद्यत्वात्
 वादेर्जातिकं लभुदित्यथ ।" न्यायप्र० पृ० ३ ५ । "एकस्मिन् इत्यर्थेनियोकलक्षणानि इत्यथा-
 श्रित्येति मति लक्षणद्वयान्प्रमयः मन्दिग्ध इति चेत्तत् यथा मूलान्तर्गतं प्रति मननः क्रियावत्साधारण
 इत्येति । न्यरदमतापारत्वं दशाबाधुत्वात्प्रमयत्वं तदन्वैक्यत्वात्प्रमयत्वं तदन्वैक्यत्वात्प्रमयत्वं इति
 बतवाम ।"-प्रशस्त० पृ० २३८, २३९ ।

- कि कर्मानुसूत्र में व्यवस्थित मान्यतम पद पद्विज्ञे पद्विज्ञ प्रशस्तपाद न ही प्रयुक्त किया या कमक पद्विज्ञे भा इसका प्रयोग अशुभ हेतुवाभास अर्थ में रहा। न्यायप्रवेश में विद्वान् व्यभिचारी का उदाहरण— नित्यं शब्द आकृतत्वात् शब्दत्ववत् अनित्यं शब्दं कृतवत्वात् पठवत्” यह है, जब कि प्रशस्तपाद में उदाहरण—‘अन मृतम् क्रियावत्वात् अन मृतम् भ्रमर्शोक्तवत्”-यह है। प्रशस्तपाद का उदाहरण तो वैशेषिक प्रक्रिया अनुसार है ही पर आशय की बात यह है कि बौद्ध न्यायप्रवेश का उदाहरण शुद्ध बौद्ध प्रक्रिया के अनुसार न होकर एक तरह से वैदिक प्रक्रिया के अनुसार ही है क्योंकि जैसे वैशेषिक आदि वैदिक तार्किक शब्दत्व का तात्पर्य मानते हैं वैसे बौद्ध तार्किक आवि का नित्य नहीं मानते। अतः यह विवाद आगे भी चला।
- 10 तार्किकप्रवर धर्मकीर्ति ने उदाहरण का प्रत्यक्ष बन्धुसम्बन्ध हेतुवैकल्प्य का आधार पर की, या जबकि पूर्ववर्ती बौद्ध ग्रन्थों में अभी तक बंधने में नहीं आई। जान पड़ता है प्रशस्तपाद का अनैकान्तिक हेतुवाभास विषयक बौद्ध मन्थन का स्पष्टन बराबर धर्मकीर्ति के स्थान में रहा। उन्होंने प्रशस्तपाद को जबाब देकर न्यायप्रवेश का बचाव किया। धर्मकीर्ति ने व्यवहार का अनैकान्तिकता का निवामकरूप न्यायसूत्र की तरह माना फिर भी
- 15 उन्होंने न्यायप्रवेश और प्रशस्तपाद की तरह संशयजनकरव को भी बसका नियामक रूप मान लिया। प्रशस्तपाद न न्यायप्रवेशसम्बन्ध असाधारण का अनैकान्तिक मानने का बह कहकर क स्पष्टन किया या कि वह संशयजनक नहीं है। इसका जबाब धर्मकीर्ति ने असाधारण का न्यायप्रवेश की अपेक्षा शुद्ध उदाहरण रखकर और उसकी संशयजनकता नियाकर दिया और बतलाया कि असाधारण अनैकान्तिक उदाहरण ही है? इतना करके
- 20 ही धर्मकीर्ति मनुष्य न रह पर अपने मान्य आचार्य दिङ्नाग की परम्परा को प्रतिष्ठित बनाय रखन का और भी प्रयत्न किया। प्रशस्तपाद ने विद्वान् व्यभिचारी के स्पष्टन में आदर्श ही थी कमका स्वीकार करके भी प्रशस्तपाद के स्पष्टन के विरुद्ध उन्होंने विद्वान् व्यभिचारी का समर्थन किया और यह नौ इस ढंग से कि दिङ्नाग की प्रतिष्ठा भी बनी रह और प्रशस्तपाद का जबाब भी हो। एसा करते समय धर्मकीर्ति ने विद्वान् व्यभिचारी का आ
- 30 उदाहरण दिया है वह न्यायप्रवेश और प्रशस्तपाद के उदाहरण में जुड़ा है फिर भी वह उदाहरण वैशेषिक प्रक्रिया के अनुसार होने से प्रशस्तपाद का असाध्य नहीं हो सकता। इस तरह बौद्ध और वैदिक तार्किकों की इस विषय में यहाँ तक चर्चा आई

१. नव वषाया कर्मानुसूत्रात् असाधारणकी उदाहरणमात्र। उदाहरणविद्वि तदर्थे वा प्रियं प्रशस्तपादः। एकरव करव इत्यादि—न्यायवि० ३ ४७ म।

२. असाधारण इति शब्दो न रहेनेकान्तिक। तथा ना मर्तु शीतपुटे प्रायश्चित्तान्तरि। एत एतन्वयवर्गात्कथे नरेहारेकान्तिक। भाष्यनरेवता निश्चयाभावात्”-न्यायवि० ३ ६० ११०।

३. विद्वान् व्यभिचारी मरणपुत्रः। न इह कर्मानुसूत्रः। असाधारण कर्मानुसूत्रे। एतन्वयवर्गात्कथे नरेहारेकान्तिक। भाष्यनरेवता निश्चयाभावात्”-न्यायवि० ३ ६० ११०।

जिसका अर्थ न्यायमन्तरी में हुआ जान पड़ता है । जयम्ब फिर अपने पूर्याचार्यों का पक्ष लेकर न्यायप्रवेश और अर्थमन्त्रि के न्यायविन्दु का सामना करते हैं । वे असाधारण और विरुद्धाभ्युपनिषारी को अनैकाम्बिक न मानने का प्रशस्तपादागत मत का बड़े विस्तार से समर्थन करते हैं पर मात्र ही वे संशयजनकरक को अनैकाम्बिकता का नियामक रूप मानने से भी इन्कार करते हैं ।

5

भास्यार्थ नै बौद्ध, वैदिक चार्किनी के प्रस्तुत विवाद का स्पष्ट न कर अनैकाम्बिक इत्वाभास क आठ उदाहरण दिये हैं (न्यायसार पृ १) और कहीं संशयजनकता का उल्लेख नहीं किया है । जान पड़ता है वह गीतमीय परम्परा का अनुगामी है ।

जैन परम्परा में अनैकाम्बिक और सन्दिग्ध यह दोनी ही नाम मिलते हैं । अकण्ड (न्यायि २ १६६) सन्दिग्ध शब्द का प्रयोग करते हैं जब कि सिद्धसेन (न्याय २३) 10
आदि अन्य जैन चार्किक अनैकाम्बिक पद का प्रयोग करते हैं । माणिक्यनम्बी की अमैकाम्बिक निरूपण विषयक सूत्ररचना आ० हेमचन्द्र की सूत्ररचना की तरह ही बहुत न्याय विन्दु की सूत्ररचना की संक्षिप्त प्रतिच्छाया है । इस विषय में वादिदेव की सूत्ररचना वैसी परिमार्भित नहीं जैसी माणिक्यनम्बी और हेमचन्द्र की है क्योंकि वादिदेव ने अनैकाम्बिक क सामान्य अर्थ में ही जो सन्दिग्ध का प्रयोग किया है वह क्षुब्ध नहीं जान 15
पड़ता । जो कुछ हा पर इस बार में प्रमाण, वादिदेव और हेमचन्द्र इन तीनों का एक ही मार्ग है कि वे सभी अपने अपने ग्रन्थों में भास्यार्थ के आठ प्रकार के अनैकाम्बिक को लेकर अपने अपने अर्थ में समाविष्ट करते हैं । प्रमाण (प्रमेयक पृ १६२ B) सिवाय धैरी के ग्रन्थों में तो आठ उदाहरण भी वे ही हैं जो न्यायसार में हैं । प्रमाण ने कुछ उदाहरण बदले हैं । 20

यहाँ यह स्मरण रख कि किसी जैनार्थ नै साध्यसंदेहजनकत्व को या साम्यभ्युपनिषार को अनैकाम्बिकता का नियामक रूप मानने न मानने की बौद्ध-वैदिकप्रसंगत चर्चा का नहीं किया है ।

पृ० ५६ पं० २१ 'ये चान्ये'-शुलना-'पञ्चप्रत्ययपको यथा अनिरय शब्द प्रमेयत्वात् ।' 25
न्यायसार पृ १ । न्याय पृ १ । प्रमेयक पृ १६२ B स्थावर पृ १२२८ ।

अ० २ आ० १ सू० २२-२७ पृ० ५७ पराबं अनुमान प्रसङ्ग में इत्वाभास का निरूपण बहुत प्राचीन है । कथासूत्र (१ १५) और न्यायसूत्र (१ २५-६) में वह स्पष्ट

मिमु गस्तु सामान्यमिति । द्वितीयोऽपि प्रयोगो यदुपलम्बिसत्त्वसमाप्तं सत्त्वतन्वत्वे न तत् त्वास्ति । तद्यथा करिचरिचिमानो यत् । नेपलन्वत्वे चोपलम्बिसत्त्वसमाप्तं सामान्य स्वस्वतत्त्वत्वेऽपि । अथ मनुस्मृत्यप्रयोग स्वभावत्वे परस्परविच्छेदोपलम्बिसत्त्वसमाप्तं सत्त्वतन्वत्वे ।"-न्यायवि० ३ ११२-१११ ।

१ "असाधारणविच्छेदाभ्युपनिषारी तु न क्लृप्त एव इत्वाभासादिति न न्यायसाधयेत् । - -
अपि च संशयजनननैकाम्बिकत्वसमुत्पत्तेरिति काममसाधारणत्वं विरुद्धाभ्युपनिषारी वा यथा तथा संशय इत्वाभासितो न्ययतामनैकाम्बिकता न तु संशयजनकत्वं तद्वत्त्वस्यम् अपि तु पञ्चदशवृत्तितमनैकाम्बिकत्वस्यम्... "-न्यायम० पृ० ५६८ ५६६ ।

एवं वित्त्व है। पर दृष्टान्ताभास का निरूपण इतना प्राचीन नहीं मान पड़ता। अगर दृष्टान्ताभास का विचार भी हेत्वाभास जितना ही पुरातन होना तो उसका सूचन कबाद या न्यायसूत्र में बौद्धा बहुते झुंझ पाया जाता। जो कुछ है इतना तो निरिचत है कि हेत्वाभास की कल्पना के ऊपर से ही पीछे से कभी दृष्टान्ताभास पश्चात्तास आदि की कल्पना हुई और तबका निरूपण होने लगा। यह निरूपण पहिले वैदिक चार्किकों न हुए किन्ता या बौद्ध चार्किकों से, इस विषय में अभी कुछ भी निरिचत कहा नहीं जा सकता।

द्विभाग क माने जानेवाले न्यायप्रवेश में पाँच साधर्म्य और पाँच वैधर्म्य ऐसे दस दृष्टान्ताभास हैं। यद्यपि मुख्यतया पाँच पाँच ऐसे दस विभाग उसमें हैं तथापि इमवा सिद्ध नामक दृष्टान्ताभास के अभावपर दस प्रकार भी इसमें किये गये हैं जिससे अनुव न्यायप्रवेश क अनुसार छ साधर्म्य दृष्टान्ताभास और छ वैधर्म्य दृष्टान्ताभास कश्चित्त हात हैं। प्रशस्तपाद ने भी इन्हों छ छ साधर्म्य एवं वैधर्म्य दृष्टान्ताभासों का निरूपण किया है। न्यायप्रवेश और प्रशस्तपाद के निरूपण में बदाहरण और भाव एक से ही हैं अलक्षणा दोनों के नामकरण में अन्तर अवश्य है। प्रशस्तपाद दृष्टान्ताभास शब्द के अन्ते निर्दर्शनाभास शब्द का प्रयोग पसन्द करते हैं क्योंकि इनकी अभिमत न्यायवाक्य परिपाटी में बदाहरण का बोधक निर्दर्शन शब्द आता है। इस सामान्य नाम क सिवाय भी न्यायप्रवेश और प्रशस्तपादगत विशेष नामों में मात्र पर्याय भेद है। माठर का ५) भी निर्दर्शनाभास शब्द ही पसन्द करते हैं। जान पड़ता है वे प्रशस्तपाद क अनुगामी हैं। यद्यपि प्रशस्तपाद के अनुसार निर्दर्शनाभास की कुछ संख्या बारह ही होती है और माठर दस संख्या का हस्तोल करते हैं। पर जान पड़ता है कि इस संख्याभेद का कारण—भासवासिद्ध नामक दस साधर्म्य-वैधर्म्य दृष्टान्ताभास की माठर से विवक्षा नहीं की—पड़ी है।

उपसृत ने (न्यायम पृ ५८) न्यायसूत्र की व्याख्या करत हुए पूर्ववर्ती बाल वैशेषिक आदि प्रसंगत दृष्टान्ताभास का निरूपण देलकर न्यायसूत्र में इस निरूपण की कमी का अनुभव किया और उन्होंने न्यायप्रवेशवाले सभी दृष्टान्ताभासों का छेकर अपवादा एवं अपमे मान्य शक्ति की निरूपण कमी का भारतीय टीकाकार शिष्यों क दृष्ट से भक्त क और पर दूर किया। न्यायसार में (पृ ११) बदाहरणाभास नाम से छ साधर्म्य क और छ

१ दृष्टान्ताभास विरिचः साधर्म्येण वैधर्म्येण च तत्र साधर्म्येण तद्यथा साधनपर्यायिण्य ना पदपर्यायिण्य उभयपर्यायिण्य अतस्त्वत्र विरिचैताम्बवत्कश्चि । वैधर्म्येणानि दृष्टान्ताभासाः पश्चात्तास तद्यथा साधनपर्यायिण्यः साधनपर्यायिण्य उभयपर्यायिण्य अन्वयविरिच विरिचैताम्बवत्कश्चि ।” न्यायप्र० पृ० ५-६ ।

२ ‘अथेन निरिचानाम्नासा विरिचता भवन्ति । तद्यथा निरिचः साधनः।ऽऽनूतन्तात् परपूर्णे इह तस्मिन्म क्वा परमाणुयथा वम क्वा स्थाली क्वा तमः अन्तरविरिचि वत् इत्थं तत् किञ्चान्त् इहमिति च निरिचानुभेदे माताभयनिदानानुगतानिऽऽनूतानुगताः साधर्म्यनिरिचानामासाः । वरन्तिव तस्मिन् इह यथा कर्म क्वा परमाणुर्व काकाटं यथा तमः वरन्त् वरिचिक्चं तद्वद्वन् यनि निरिचानुभेदाभासाणाणां पश्चात्तासविरिचैताम्बवत्कश्चि विरिचैताम्बवत्कश्चि ।” प्रशस्त० पृ० २४७ ।

वैषम्य के इस तरह बारह आभास बही हैं जो प्रशस्तपाद में हैं । इसके सिवाय न्यायसार में भ्रम्य क नाम से चार साधर्म्य के विषय में सन्दिग्ध और चार वैषम्य क विषय में सन्दिग्ध ऐसे आठ सन्दिग्ध उदाहरणआभास भी दिये हैं । सन्दिग्ध उदाहरणआभासों की सृष्टि न्याय प्रबन्ध और प्रशस्तपाद के बाद की जान पड़ती है । धर्मकीर्ति ने साधर्म्य के नव और वैषम्य के नव ऐसे अठारह दृष्टान्ताभास सविस्तर बर्णन किये हैं । जान पड़ता है न्यायसार 5 में भ्रम्य के नाम से जो साधर्म्य और वैषम्य के चार चार सन्दिग्ध उदाहरणआभास दिये हैं उन आठ सन्दिग्ध भेदों की किसी पूर्ववर्ती परम्परा का संशोधन करके धर्मकीर्ति ने साधर्म्य और वैषम्य क तीन-तीन ही सन्दिग्ध दृष्टान्ताभास रखे । दृष्टान्ताभासों की संख्या, उदाहरण और उनके पीछे के साम्प्रदायिक भाव इन सब बातों में इतरोत्तर विकास होता गया जो धर्मकीर्ति क बाद भी जारी रहा ।

10

जैन परम्परा में नहीं तक मालूम है सबसे पहिले दृष्टान्ताभास क निरूपक सिद्धसेन ही हैं इन्होंने बौद्ध परम्परा के दृष्टान्ताभास शब्द को ही चुना न कि वैदिक परम्परा के निर्दरानाभास और उदाहरणआभास शब्द को । सिद्धसेन ने अपने संक्षिप्त कथन में संख्या का निर्देश तो नहीं किया परन्तु जान पड़ता है कि वे इस विषय में धर्मकीर्ति के समान ही नव-नव दृष्टान्ताभासों को माननेवाले हैं । मादिकन्यमन्दी ने तो पूर्ववर्ती 15 सभी के विस्तार को कम करके साधर्म्य और वैषम्य के चार चार ऐसे कुछ आठ ही दृष्टान्ताभास लिखेवाले हैं और (पृ ३४-४५) कुछ उदाहरण भी बदलकर मरे रहे हैं । बादी देवसुरि ने तो उदाहरण देने में मादिकन्यमन्दी का अनुकरण किया, पर भेदों की संख्या, नाम आदि में अचरय धर्मकीर्ति का ही अनुकरण किया है । इस खण्ड में बादी देवसुरि ने एक बात नई कहर की । वह यह कि धर्मकीर्ति ने उदाहरण देने में जो वैदिक ऋषि एव जैन 20 तीर्थंकरों का सुपुत्र विज्ञाया वा उसका बदला बादी देवसुरि ने सम्भवित उदाहरणों में उदागत बुद्ध का सुपुत्र विज्ञाकर पूर्व रूप से चुकाया । धर्मकीर्ति के द्वारा अपने पूर्व पुरुषों क ऊपर ठर्कशास्त्र में की गई चोट को बादिदेव सह न सके, और उसका बदला ठर्कशास्त्र में ही प्रतिबन्धी रूप से चुकाया ।

१ 'भ्रम्ये ऽ उदेहदारेयाभनप्रशस्तपादुराहरणामाधानव्ययमिति । सन्दिग्धसाध्यः सन्दिग्ध-
 तापनाः... सन्दिग्धोमयः सन्दिग्धभाषयः ..सन्दिग्धतापनाभ्याहृतः सन्दिग्धतापनाभ्याहृत
 सन्दिग्धतापनाभ्याहृतः सन्दिग्धभाषयः ।"-न्यायसार पृ० १३-१४।
 २ "साधर्म्येत्याह दृष्टान्तदोषा न्यायविशयिताः । अपस्तम्बस्येदृश्याः साध्यादिविक्रमादयः । वैष-
 म्येषाह दृष्टान्तदोषा न्यायविशयिताः । ताप्यतापनयुष्मानामनिवृत्तरञ संशयात् ।"-न्याया० २४-२५ ।
 ३ 'यथा निरत शम्भोऽमृतत्वात्, कर्मवत् परमायुषवत् वृषदिति ताप्यतापनधर्मोमयविक्रमा ।
 तथा सन्दिग्धतापनधर्मवत् यथा पगादिमानसं बचनारम्भापुरुषवत् मरुत्कर्मोऽयं पुरुषा पगादि
 पक्षाप्रप्यापुरुषवत्, असर्वाऽयं पगादिमरुत्कर्मवत् इति । अनन्ययोऽपरशितान्वयवत्, यथा
 वे कथा व पगादिमानिष्यपुरुषवत्, अनित्य शब्द कृतकत्वात् परम्पत् इति । तथा विपरीतत्ववत्, वर
 निरतं च कृतकमिति । ताप्यमेषः । वैषम्येषां परमायुषवत् कर्मवत्कृतकवदित ताप्यव्यतिरेकवत् ।

धा० हेमचन्द्र नाम वो पसन्द करते हैं दृष्टान्तामास, पर उसे ब्रह्मदृष्टान्तामास के स्थान में क्यों पसन्द किया इसका युक्तिसिद्ध सुभासा भी कर देते हैं। दृष्टान्तामास के निरूपण में धा० हेमचन्द्र की ध्वान देने योग्य महेश्वर की तीन विशेषताएँ हैं जो उनकी प्रथिमा

तथा तन्दिग्भवाद्यस्यतिरेकाद्य न्यायान्तराः कृत्वात्तयोऽनाप्या वा, अविद्यमानतर्कतान्ताप्यतात्तद्धर्म-
प्रमाणातिशयशासनत्वादिति अत्र वैश्वान्तोदाहरणम्, न तत्रैकः आत्मा वा स स्वातिज्ञानाधिकमुपदिष्टवान्,
तद्यपर्यमवर्धमानादिति तद्वत्तर्कतान्ताप्यतयोः तात्पर्यमयोः तन्दिग्भो व्यतिरेकः। तन्दिग्भवात्तन्मूर्ति-
रेके न्याय न त्रीविधा भावशो न प्रकृतचन कश्चित्पुरुषो यगादिमत्त्वादि अत्र वैश्वान्तादाहरण्य ये प्राप्-
तचना न तेषामादिमत्त्वं तद्यथा गीतमाद्यो धर्मोऽन्त्यायां प्रवेतार इति, गीतमादिभ्यो यगादिमत्त्वस्य
वाचनमस्य व्यावृत्तिः तन्दिग्भवात्। तन्दिग्भोभवत्यतिरेके यथा अवीतयामा कृत्वात्तत्त्वं परिष्कारात्
यादिति अत्र वैश्वान्तोदाहरणम् यो बीतयामो न तस्य परिष्कारो यपर्यमवैरिति श्रुत्वात्तर्कतान्ता-
गत्यपरिष्कारात्तयोः तात्पर्यमवर्धनात्। तन्दिग्भो व्यतिरेकः। अत्यतिरेके यथा अवीतयामो न त-
त्वात्, वैश्वान्तोदाहरणम् यथावीतयामो नास्ति न स नञा नयोऽस्तत्त्वं इति यद्यप्युक्ततन्त्र-
दुर्मर्षं व्यावृत्तं या तयो बीतयामो न नञति व्यापत्वा व्यतिरेकानिर्द्देश्यतिरेकः। अत्रतन्त्रमन्त्रिरेको
यथा अनित्य शब्दः कृतकत्वात्तत्त्वाद्यतिरेकः। विपरीतमन्त्रिरेके नञा, नदकृतकं तन्त्रि-
मन्त्रिरेकः ३ १२२-१३३।

“तद्यगीतयेव” शब्दोऽमूर्तत्वाद् ब्रह्मवदिति तात्पर्यमविकृत इति। तस्मादेव प्रतिज्ञायां तस्मिन्नेव देवौ
परमाशुवदिति तात्पर्यमविकृत इति। कृतशुवदिति तन्मन्त्रमविकृत इति। यगादिमानयं नञत्वात्
नञत्तदिति तन्दिग्भवात्तन्मन्त्रेति। मरुत्वात्तन्मन्त्रेति तन्दिग्भवात्तन्मन्त्रेति। नाञ
तर्कवर्षां तद्यगात्तन्मन्त्रिरेकवदिति तन्दिग्भोभवत्यतिरेकः। यगादिमान् विवक्षितः पुरुषो नञत्वादि
पुरुषवदिति अनित्यः। अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्तत्त्वाद्यतिरेकः। अनित्य शब्दः कृतक-
त्वात् नञत्तन्त्रं तद्वदिति विपरीतमन्त्रेति। वैश्वान्तोदाहरणम्। तेषु भ्रातृमनुमानं प्रम-
यत्वात् ननुनमूर्तं न मरति न तद्यगाद्यम् नञा तन्मन्त्रानित्यत्वेद्वत्तात्पर्यतिरेकः स्वप्रमाणत्वं
भ्रातृत्वत्वानिर्द्देश्येति। निर्दिश्यत्वं मन्त्रं प्रमाद्यत्वात् ननु तन्दिग्भवात् न तत् प्रमाद्यम् नञा
सैद्धिकमित्यतिरेकतान्ताप्यतिरेकः सैद्धिकमन्त्रमाद्यत्वात्तन्मन्त्रेति। नित्यामित्यः शब्दः तस्मात् ननु न नित्या-
मित्य स न तत् तद्यथा तन्मन्त्र इत्यतिरेकमव्यतिरेकः, तन्मन्त्राभ्यामित्यत्वेत्वं प्रामाद्यत्वेतिरेकः। अतर्क-
कोऽनाप्या वा कृत्वा अद्यत्वेकास्तथावित्वात्, न तर्क आत्मा वा स स्वातिज्ञानाधिकमुपदिष्टवान् इति
तन्दिग्भवात्तन्मन्त्रिरेकः मुगतेऽन्त्रतान्ताप्यतयोः तात्पर्यमवर्धनात्तद्वैरिति। अनादेववचनं क्वि-
द्विषयितः पुरुषो यगादिमत्त्वात् वा पुनरप्येववचनः स बीतयामोः तद्यथा शीघ्रमितिरेकः तन्दिग्भवात्तन्मन्त्रिरेकः
शीघ्रमिति यगादिमत्त्वस्य निवृत्तेः तद्यथाविति। न बीतयामो कश्चित् कृतकत्वेत्येवमपि परमकृतवाऽन्त्रि-
निवृत्तिवदकृतकत्वम्, ननु बीतयामो स कृतकत्वात्तद्वैरिति परमकृतवाऽन्त्रि-
नित्यमितिरेकः तन्दिग्भोभवत्यतिरेकः इति तन्मन्त्रो बीतयामोऽन्त्रिरेकः कृतकत्वात्तद्वैरिति परमकृतवाऽन्त्रि-
निवृत्तिवदकृतकत्वस्य न्यायत्वेः तन्दिग्भवादि। न बीतयामो कश्चित्द्विषयितः पुरुषो नञत्वात्, न पुनरप्ये-
तयो न स नञा नयोऽस्तत्त्वं इत्यन्त्रिरेकः इति। अनित्य शब्दः कृतकत्वात्तद्वैरिति विपरीतमन्त्रिरेकः इति।
प्रमाद्यत्वं ३, १३०-३१।

१ “तद्यगीतमानप्रस्तावाद्वादाहरणयोः एतौ दृष्टान्तप्रमाणत्वात् दृष्टान्तयोः इत्युच्यन्ते।”-
मी० ३ १ २२।

की सूचक है—१-इन्होंने सूत्रग्रन्थमा, उदाहरण आदि में यद्यपि धर्मकीर्ति को आदर्श रखा है तथापि बादिदेव की तरह पूरा अनुकरण न करके धर्मकीर्ति के निरूपण में थोड़ा सा बुद्धिसिद्ध संशोधन भी किया है। धर्मकीर्ति ने अनन्वय और अभ्यतिरेक ऐसे जो वेद विलाये हैं उनको प्रा० हेमचन्द्र अलग न मानकर कहते हैं कि बाकी के आठ आठ मंद ही अनन्वय और अभ्यतिरेक रूप होने से उन दोनों का पार्ष्वक्य अनाश्रयक है—२ मी २ १ २०। प्रा० हेमचन्द्र 5 की यह दृष्टि ठीक है। २-प्रा हेमचन्द्र ने धर्मकीर्ति के ही शब्दों में अप्रदर्शितान्वय और अप्रदर्शितव्यतिरेक ऐसे जो वेद अपने सोलह भेदों में विलाये हैं (२ १ २०), पर इम दो भेदों के उदाहरणों में धर्मकीर्ति की अपेक्षा विचारपूर्वक संशोधन किया है। धर्मकीर्ति ने पूर्ववर्ती अनन्वय और अभ्यतिरेक दृष्टान्ताभास जो 'व्यापप्रवेश आदि में रहे' उनका निरूपण दो अप्रदर्शितान्वय और अप्रदर्शित व्यतिरेक ऐसे नये जो अन्वय स्पष्ट नाम रखकर किया है और 10 व्यापप्रवेश आदि के अनन्वय और अभ्यतिरेक शब्द को रख भी लिया तथा उन नामों से नये उदाहरण विलाये। जो उन नामों के साथ मेल खा सकें और जो व्यापप्रवेश आदि में नहीं भी थे। प्रा० हेमचन्द्र ने धर्मकीर्ति की ही संशोधित दृष्टि का उपयोग करके पूर्ववर्ती दिङ्नाग, प्रयत्नवाद और धर्मकीर्ति तक के सामने कहा कि अप्रदर्शितान्वय या अप्रदर्शितव्यतिरेक 15 दृष्टान्ताभास तभी कहा जा सकता है जब उसमें प्रयास अर्थात् दृष्टान्त ही न रहे, वीप्ता आदि 15 पदों का अप्रयोग इन दोषों का नियामक ही नहीं केवल दृष्टान्त का अप्रयत्न ही इन दोषों का नियामक है। पूर्ववर्ती सभी आचार्य इन दो दृष्टान्ताभासों के उदाहरणों में कम से कम—अन्वयवत् पठवत्—कितना प्रयोग अनिर्धार्य रूप से मानते थे। प्रा० हेमचन्द्र क अनुसार ऐसे दृष्टान्तबोधक वत् प्रत्ययान्त किसी शब्दप्रयोग की शक्यता ही नहीं—इसो अपने माह को इन्होंने 20 प्रमाद्यमीमांसा २ १ २० सूत्र की वृत्ति में निम्नलिखित शब्दों से स्पष्ट किया है— एती च 20 प्रमाद्यस्य अनुपदर्शनाद्भवतो न तु वीप्तासर्वावधारणपदानामप्रयोगात् सत्त्वपि तपु, अस्तपि प्रमाद्ये तयोसिद्धेरिति ।”

३-प्रा० हेमचन्द्र की वीसरी विशेषता अनेक दृष्टियों से बढ़े मार्क की है। उस साम्प्र-वायिकता के समय में जब कि धर्मकीर्ति ने वैदिक और जैन सम्प्रदाय पर प्रबल चोट की और जब कि अपने ही पूज्य बापों वेदसूत्र तक ने श्राव्य कुर्यात् शठं प्रति इत नीति का आश्रय 2

१ अनन्वया यत्र विनाशयेन ताध्यमाश्रययो उदाहारः प्रदर्शवत् । यथा पठ कृतकरणमित्यत्र च दृष्टमिति । आश्रयिताको यत्र किंता साप्युतापननिर्मुक्त्या उक्तिपक्षमात्रा निरदर्शते । यथा धते मृतचमनित्यत्र च दृष्टमिति ।”-न्यायप्र० पृ० ३-७। “नित्य शब्दोऽपूर्वत्वात् .. अन्वयवदिति अननुगत वदवत्. अन्वयवत् ”-प्रशस्त० पृ० २४७।
 २-अप्रदर्शितान्वयः अनिश्चयः कृतप्रत्यात् पठवत् इति । अप्रदर्शितव्यतिरेको यथा अमित्य शब्दः कृतप्रत्यादाकारवदिति ।”-न्यायप्र० ३. १२३, १३४।
 ३-अनन्वयो यथा दो वच्चा व ययादिमान् इत्युदाहरणत् । अभ्यतिरेको यथा भवौनयगा वदवत् । वैश्वेदेवाहरणम् यथावीनयगात् नास्ति न व वक्ता यथावत्तदवद इति ।”-न्यायप्र० ३ १२३ १३४।

करके धर्मकीर्ति का बचना बुझाया तब आ० हेमचन्द्र ने इस रथब में बुद्धिपूर्वक बदारवा
द्विजाकर साम्प्रदायिक भाव को विप को कम करने की चेष्टा की। तब पड़ता है अपने
ध्याकरण की तरह अपने प्रमाहमन्थ को भी सर्वपापद—सर्वमाभारण बनाने की आ० हेम-
चन्द्र की बदार इच्छा का ही यह परिणाम है। धर्मकीर्ति को द्वारा स्वयं वर्धमान भादि
० पर किये गये कटाक्ष धीर वाहिदेव को द्वारा सुगत पर किये गये प्रतिकटाक्ष का तदुत्तर में
कितना धर्मप्रिय है उससे कितना हर्षित होता है, यह सब सोचकर आ० हेमचन्द्र ने ऐसे
वदाहरण रचे जिनसे सबका मतलब भिन्न हो पर किसी को भाव न हो।

यहाँ एक बात धीर भी ध्यान देने योग्य है जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व की है।
धर्मकीर्ति न अपने वदाहरणों में कपिष्ठ भादि में भस्मार्थक धीर भ्रमात्मक साधक का अनु-
१० माम प्रयोग रके हैं इनका स्वरूप तथा उदन्तर्गत हेतु का स्वरूप विचारते हुए जान पड़ता है
कि सिद्धसेन के सम्मति जैसे धीर समन्वय के आत्ममीमांसा जैसे कोई दूसरे प्रथम धर्म
कीर्ति क सामन आकर रहे हैं जिनमें जैन धार्मिकों ने धर्म्य साध्य भादि धर्म्यमाध्य कपिष्ठ
भादि की सर्वज्ञता का धीर भाषण का निराकरण किया होगा।

पृ० १६ पं० ७ 'ननु अनन्वय'—उत्तना—न्यायि ३१२० ११४।

१५ पं० २ आ १ सु० २८ १६ पृ० १६ परार्थानुमान का एक प्रकार कथा भी है
जो यह प्रतिपक्षभाष को सिद्धाय कभी शुरू नहीं होती। इस कथा से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक
पदार्थों का निरूपण करनेवाला साहित्य विद्यालय परिमाण में इस देश में निर्मित हुआ है।
यह साहित्य मुख्यतया दो परम्पराओं में विभाजित है—ब्राह्मण—वैदिक परम्परा और ब्रह्म-
वैदिकोत्तर परम्परा। वैदिक परम्परा में न्याय तथा वैदिक सम्प्रदाय का समावेश है।
२० ब्रह्म परम्परा में बौद्ध तथा जैन सम्प्रदाय का समावेश है। वैदिक परम्परा के कथामन्थनी
इन ब्रह्म परम्परा साहित्य में अक्षय्य के न्यायसूत्र तथा चरक का एक प्रकार—विमानस्वान
मुख्य एवं प्राचीन हैं। न्यायभाष्य न्यायकारिक तात्पर्यटीका न्यायमन्थनी भादि तबके
टीकाग्रन्थ तथा न्यायकलिका भी उतने ही महत्त्व के हैं।

बौद्ध सम्प्रदाय क प्रशुत विषयक साहित्य में उपायहृदय तर्कशास्त्र प्रमाहसमुच्चय
२५ न्यायसुत्र न्यायविन्दु, वाहन्वाय इत्यादि ग्रन्थ मुख्य एवं प्रसिद्ध हैं।

१ 'सर्ववर्णदत्ताय शम्भानुयातनस्य सफुटवर्णनतन्मूलात्मकरवाहावनमाभ्यधामतिरमन्वीनम् । -
हैमश० १ १ २।
२ प्र० मी० २ १ २५।
३ पुरातत्त्व पु ३ अड्ड ३१ में मेघ सिद्धा 'कथाप्रविन्दु' स्वरुन भने तेना साहित्य
रिपुत्त नामक लेख देखो।

जैन सम्प्रदाय के प्रस्तुत साहित्य में श्यायावतार, सिद्धिविनिरचयटीका श्यायविनिरचय, उत्पार्थवोक्तवार्तिक, प्रमेयकमलमाचण्ड प्रमाद्यनयतरवाङ्मोक इत्यादि ग्रन्थ विशेष महत्त्व के हैं। उक्त सब परम्पराओं के ऊपर निर्दष्ट साहित्य के आधार से यहाँ कथासम्बन्धी कविपद्य पदार्थों के बारे में कुछ मुद्दों पर लिखा जाता है जिनमें से सबसे पहले दूष्य और दूष्याभाम को लेकर विचार किया जाता है। दूष्य और दूष्याभाम के नीचे लिखे मुद्दों पर यहाँ विचार प्रस्तुत है—१ इतिहास, २ पर्याय—समानार्थक शब्द, ३ निरूपणप्रयोगन, ४ प्रयोग की अनुमति या विरोध, ५ मेघ प्रमेद।

१—दूष्य और दूष्याभाम का शास्त्रीय निरूपण तथा कथा का इतिहास कितना पुराना है यह निरचयपूर्वक कहा नहीं जा सकता, तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्यवहार में तथा शास्त्र में कथा का स्वरूप निरिचय हो जाने के बाद बहुत ही बन्दी दूष्य और दूष्याभाम का स्वरूप तथा वर्गीकरण शास्त्रबद्ध हुआ होगा। दूष्य और दूष्याभाम के कमोबेश निरूपण का प्राथमिक पद्य ब्राह्मण परम्परा को है। बौद्ध परम्परा में उसका निरूपण ब्राह्मण परम्परा द्वारा ही दाखिल हुआ है। जैन परम्परा में इस निरूपण का प्रथम प्रवेश साक्षात् तो बौद्ध साहित्य के द्वारा ही हुआ जान पड़ता है। परम्परया श्याय साहित्य का भी इस पर प्रभाव बनकर है। फिर भी इस बारे में वैदिक साहित्य का जैन निरूपण पर कुछ भी प्रभाव पड़ा नहीं है जैसा कि इस विषय के बौद्ध साहित्य पर कुछ पड़ा हुआ जान पड़ता है। प्रस्तुत विषयक साहित्य का निर्माण ब्राह्मण परम्परा में ई० स० पूर्व दो या चार शताब्दियों में कभी प्रारम्भ हुआ जान पड़ता है जब कि बौद्ध परम्परा में यह ईसवी सन् के बाद ही शुरू हुआ और जैनपरम्परा में तो और भी पीछे से शुरू हुआ है। बौद्ध परम्परा का यह प्रारम्भ ईसवी के बाद तीसरी शताब्दी से पुराना शायद ही हो और जैनपरम्परा का यह प्रारम्भ ईसवी सन् के बाद पाँचवीं छठी शताब्दी से पुराना शायद ही हो।

२—उपालम्भ प्रतिषेध, दूष्य लण्डन उत्तर इत्यादि पर्याय शब्द हैं। इनमें से उपालम्भ प्रतिषेध भादि शब्द श्यायसूत्र (१ १) में प्रयुक्त हैं, जब कि दूष्य भादि शब्द उसके भाष्य में आते हैं। प्रस्तुतविषयक बौद्ध साहित्य में से तकशास्त्र को प्रो दुष्यवी द्वारा प्रतिसेरुठ हुआ है तममें लण्डन शब्द का बार-बार प्रयोग है जब कि दिङ्नाग, शङ्कर स्वामी धर्मतीर्थ भादि ने दूष्य शब्द का ही प्रयोग किया है। देखा—श्यायसूत्र का १६, श्यायपद्य पृ ८, श्यायविन्दु १ ११८। जैन साहित्य में मित्र मित्र ग्रन्थों में उपालम्भ दूष्य भादि सभी पर्याय शब्द प्रयुक्त हुए हैं। जाति, भ्रमदुत्तर असम्बन्ध लण्डन दूष्याभाम भादि शब्द पर्यायभूत हैं जिनमें से जाति शब्द श्याय परम्परा के साहित्य में प्रधानतया प्रयुक्त देखा जाता है। बौद्ध साहित्य में असम्बन्ध लण्डन तथा जाति शब्द का प्रयोग कुछ प्राचीन ग्रन्थों में है, पर दिङ्नाग से लेकर सभी बौद्धवार्तिकों क तकग्रन्थों में दूष्याभाम शब्द के प्रयोग का प्राधान्य हा गया है। जैन तकग्रन्थों में मिद्वोत्तर, जाति और दूष्याभाम भादि शब्द प्रयुक्त पाये जाते हैं।

३—उदश विभाग और लक्ष्य आदि द्वारा दोषों तथा दोषाभासों के निरूपण का प्रयोग समी परम्पराओं में एक ही माना गया है और यह यह कि इनका पदार्थज्ञान किया जाय जिससे बाँधी स्वयं अपने स्थापनावाक्य में इन दोषों से बच जाय और प्रतिबाही के द्वारा उद्घाटित दोषाभास का दोषाभासत्व दिखाकर अपने प्रयोग का निर्दोष साबित कर सकें।

४—इसी मुख्य प्रयोग से प्रेरित होकर किसी ने अपने ग्रन्थ में संक्षेप से तो किसी ने विस्तार से किसी न समुक्त एक प्रकार के बर्गीकरण से तो किसी न दूसरे प्रकार के बर्गीकरण से, इनका निरूपण किया है।

- ५—इस प्रयोग के बारे में सब का ऐक्यत्व होने पर भी एक विशिष्ट प्रयोग के विषय में मतभेद अवश्य है जो स्पष्ट ज्ञातव्य है। यह विशिष्ट प्रयोग है—जाति, रूप आदि रूप से असत्य उदर का भी प्रयोग करना। श्याम (श्याम ४ १२) हाँ का वैपक (च ६-वमानस्थान ४ २१४) दोनों ब्राह्मण परम्पराएँ असत्य उदर के प्रयोग का भी समर्थन पात्रों से अभी तक करती आई हैं। बीह परम्परा के भी प्राचीन उपायद्वय आदि कुछ ग्रन्थ आर्युत्तर के प्रयोग का समर्थन ब्राह्मण परम्परा के ग्रन्थों की तरह ही साफ़-साफ़ करते हैं, जब कि उस परम्परा के पिछले ग्रन्थों में आर्युत्तरों का बर्णन होते हुए भी इनके प्रयोग का स्पष्ट व सबंध निषेध है—वास्तव ४ ७ । जैन परम्परा के ग्रन्थों में तो प्रथम से ही छोकर मिथ्या उदरों के प्रयोग का सर्वथा निषेध किया गया है—उत्तापरत्ता ४ २०२ । इनके प्रयोग का समर्थन अभी महा किया गया। ब्राह्मण-जाति मुख्य कथा कथ्य है या नहीं हम प्रश्न पर अब अब जैन चार्किंगों न जैनैतर चार्किंगों के साथ चर्चा की अब तक उन्होंने अपना एक मात्र राय यही प्रकट की कि जैसी कथा कथ्य बड़ी स्वाभ्य है। ब्राह्मण, बीह और जैन सभी भारतीय दर्शनों का पन्थित व मुख्य उदर मोक्ष बतलाया गया है और मोक्ष की सिद्ध असत्य वा मिथ्याज्ञान से शक्य ही नहीं जा आर्युत्तरों में अवश्य गर्भित है। अब जब जैन-दर्शन के अनुसार ही क्यों बरिह ब्राह्मण और बीह दर्शन के अनुसार भी आर्युत्तरों का प्रयोग असंगत है। एसा होते हुए भी ब्राह्मण और बीह वाकिक बचक प्रयोग का समर्थन करते हैं और जैन चार्किंग नहीं करते इस अन्तर का बीज क्या है, यह प्रश्न अवश्य पैदा होता है।
- ६—इसका जवाब जैन और जैनैतर दर्शनों के अधिकारियों की प्रकृति में है। जैन दर्शन मुख्यतया त्यागिप्रधान होने से असक अधिकारियों में मुमुक्षु ही मुख्य हैं, पृहत्व नहीं। जब कि ब्राह्मण परम्परा चातुरात्मिक होने से इनके अधिकारियों में पृहत्वों का, खासकर विद्वान् ब्राह्मण पृहत्वों का बड़ी बर्का है जो त्यागियों का होता है। गार्हस्थ्य की प्रदानता हाथों के कारण ब्राह्मण विद्वानों में स्वावहारिक जीवन में सत्य अहिंसा आदि मियमों पर इतना भार नहीं
- ७—दिया जितना कि जैन त्यागियों न हम पर दिया। गार्हस्थ्य के साथ सर्वथा असम्बन्ध आदि का स्वावहारिक जीवन की अपेक्षा अधिक सम्बन्ध है। इस कारणों से ब्राह्मण परम्परा में मोक्ष का उदर हाव हुए भी ब्रह्म, जाति आदि के प्रयोग का समर्थन हुआ सहज वा जब

कि जैन परम्परा के लिए बैसा करना सहज न था । क्या करना यह एक बार प्रकृति के अनुसार तब हो जाता है तब विद्वान् उसी कर्तव्य का सञ्चुक्तिक समर्पण भी कर सकते हैं । कुशाम्बयबुद्धि ब्राह्मण तार्किकों ने यही किया । उन्होंने कहा कि तत्त्वनिर्णय की रक्षा क बाधे कमी कमी छत्र, जाति भादि का प्रयोग भी उपकारक होने से उपादेय है, जैसा कि भद्रुरक्षा के बास्त सङ्कष्टक बाढ़ का उपयोग । इस दृष्टि से उन्होंने छत्र, जाति भादि के प्रयोग ⁵ की भी मोक्ष के साथ सङ्गति बतलाई । उन्होंने अपने समर्पण में एक बात स्पष्ट कह दी कि छत्र, जाति भादि का प्रयोग भी तत्त्वज्ञान की रक्षा क सिन्धाय लाभ, क्वाति भादि भ्रम्य किसी भीतिक उद्देश से कर्तव्य नहीं है । इस तरह अन्वेषाविशेष में छत्र जाति भादि क प्रयोग का समर्पण करके उसकी मोक्ष के साथ ही सङ्गति ब्राह्मण तार्किकों ने दिखाई बही बौद्ध तार्किकों ने अन्वेष स्वीकार करके अपने पक्ष में भी लागू की । उपायद्वय के छेत्क बौद्ध तार्किक ¹⁰ ने—छत्र जाति भादि क प्रयोग की मोक्ष क साथ कौसी भ्रमङ्गति है यह प्रामाण्य करके उसका समाधान अन्वेषाद के ही शम्भों में किया है कि अन्वेषक की रक्षा भादि के बास्त कण्टकिल बाढ़ की तरह मद्धर्म की रक्षा के लिए छत्रादि भी प्रयोगयोग्य हैं । बादसम्पत्नी पदाथों क प्रथम चिन्तन ब रिकरय और सङ्कष्टम का श्रेय ब्राह्मण परम्परा का है या बौद्ध परम्परा का, इस प्रश्न का सुनिश्चित जबाब छत्रादि क प्रयोग के इस समान समर्पण में से ¹⁵ मिला जाता है । बौद्ध परम्परा मूल से ही जैन परम्परा की तरह रथागिभिन्नप्रधान रही है और इसने एकमात्र निर्बाध तथा उसके उपाय पर ही भार दिया है । यह अपनी प्रकृति के अनुसार शुरु में कमी छत्र भादि के प्रयोग को सङ्गण मान नहीं सकती जैसा कि ब्राह्मण परम्परा मान सकती है । अतएव इसमें सन्देह नहीं रहता कि बुद्ध के शान्त और अक्लेश कर्म की परम्परा के स्थापन क प्रचार में पड़ आम के बाद भिक्षुका का अब ब्राह्मण विद्वानों से ²⁰ छोड़ा होना पड़ा तभी उन्होंने बर्तकी बाह्यपद्धति का विशेष अम्मास प्रयोग क समर्पण शुरु किया । और जो ब्राह्मण कुलागत संस्कृत तथा न्याय विद्या सीलकर बाद परम्परा में पीछित हुए वे भी अपने साथ कुलधर्म की वे ही दलीलें ले आए जो न्याय परम्परा में थीं । उन्होंने नवस्वीकृत बौद्ध परम्परा में उन्हें बादपदाथों के अम्मास और प्रयोग भादि का प्रचार किया जो न्याय या वैधक भादि ब्राह्मण परम्परा में प्रसिद्ध रहे । इस तरह प्रकृति में ²⁵ जैन और बौद्ध परम्परायें तुल्य होने पर भी ब्राह्मण विद्वानों के प्रथम सम्पर्क और संघर्ष की प्रधानता क कारण से ही बौद्ध परम्परा में ब्राह्मण परम्परागतुमावी छत्र भादि का समर्पण प्रथम किया गया । अगर इस बारे में ब्राह्मण परम्परा पर बौद्ध परम्परा का ही प्रथम प्रभाव होता तो किसी न किसी अति प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थ में तथा बौद्ध ग्रन्थ में बौद्ध प्रकृति क अनुसार

१ "तत्त्वावबन्धनकराश्चान्ये अस्पष्टितयडे शोभन्तइत्तररक्षार्थे कथंकरातावरणम् ।"—न्यायसू०

५. पृ. ५० । "यथाप्रज्ञानरिपुष्टिकामेन तत्(कल)परिरक्षार्थे बहिर्, तीक्ष्णकश्चकनिकर्षवन्मातः शिवन, शशरम्भोऽपि तथैवायुना उद्धर्मरक्षयेच्छ्रयान न ह क्वाचित्ताभाय ।"—उपायद्वय पृ० ५ ।

- ल्लादि के वर्जन का ही ऐकान्तिक उपदेश होता । यद्यपि बाद्य तार्किकों ने शुरु में छत्रादि के समर्पण का ब्राह्मण परम्परा में से घपनाया पर आगे जाकर उनको इम समर्पण की अपने धर्म की प्रकृति के साथ विशेष असंगति दिखाई दी, जिससे उन्होंने उनके प्रयोग का स्पष्ट व सयुक्तिक नियम ही किया । परन्तु इस बारे में जैन परम्परा की स्थिति निरासी 6 रही । एक वा बहु बौद्ध परम्परा की अपक्षा रबाग धीर बढ़ासीमता में विशेष प्रसिद्ध रही, दूसर इसक निम्न्य मिच्छुक शुरु में ब्राह्मण तार्किकों के सम्पर्क व संघर्ष में उतने व आने जितने बौद्ध मिच्छुक, तीसर बस परम्परा में संस्कृत भाषा तथा उदाभित विधाओं का प्रवेश बहुत धीर स धीर पीछ से हुआ । अब यह हुआ तब भी जैन परम्परा की उत्कट त्याग की प्रकृति ने उसको विद्वानों का लक्ष भादि के प्रयोग के समर्पण न किमकुछ ही रोकता । यही 10 कारण है कि, जब से प्राचीन धीर प्राबलिक जैन तक ग्रन्थों में छत्रादि के प्रयोग का स्पष्ट निषेध व परिहाम' मात्र है । ऐसा हाते हुए भी आगे जाकर जैन परम्परा का अब दूसरी परम्पराओं से बार बार बाद में मिड़ना पड़ा तब उसे अनुभव हुआ कि लक्ष भादि के प्रयोग का ऐकान्तिक निषेध स्वबहार्य नहीं । इसी अनुभव के कारण कुछ जैन तार्किकों ने लक्ष भादि के प्रयोग का आपवादिक रूप से अवस्थाविशेष में समर्थन भी किया? । इम तरह 15 धन्त में बाद्य धीर जैन दोनों परम्परों एक वा दूसर रूप से समान मूमिका पर आ गई । बौद्ध विद्वानों ने पहले छत्रादि के प्रयोग का समर्पण करके फिर बमका निषेध किया, अब कि जैन विद्वान् पहले आपवादिक विरोध करके धन्त में शंशत बससे सहमत हुए । यह ध्यान में रह कि लक्ष भादि के आपवादिक प्रयोग का भी समर्थन श्वैताम्बर तार्किकों ने किया है पर ऐसा समर्थन दिगम्बर तार्किकों के द्वारा किया हुआ देखने में नहीं आता । इस धन्त के दो 21 कारण माहूम होत हैं । एक वे दिगम्बर परम्परा में धीरसर्गिक त्याग शंश का ही मुख्य विधान है धीर दूसरा ग्यारहवीं शताब्दि के बाद भी जैसा श्वैताम्बर परम्परा में विविध प्रकृति गामी माहित्य बना बीसा दिगम्बर परम्परा में नहीं हुआ । ब्राह्मण परम्परा का लक्ष भादि के प्रयोग का समर्थन तथा नियम प्रथम से ही अधिकांश विशेषानुसार वैदिकिक होमे से उसका घपनी दृष्टि बदलने की सुरत ही न हुई ।
- 25 १—अनुमान प्रयोग के पक्ष, हनु, दृष्टान्त भादि सबबन हैं । इनमें आनेवाले वास्तविक दावों का उद्घाटन करना दूसर है धीर उन अवधों के निर्शय हान पर मा बममें अमल दावों का धारापद करना बुध्याभास है । ब्राह्मण परम्परा के शैलिक ग्रन्थों में दावों का, गामकर हनु दावों का ही बर्णन है । पक्ष दृष्टान्त भादि के दावों का स्पष्ट बीमा बबन नहीं है जैसा बौद्ध परम्परा के ग्रन्थों में विद्वानाग से लेकर बर्णन है । बुध्याभास के लक्ष 30 जाति रूप से भद तथा इनक प्रभवी का जितना विसृत व स्पष्ट बर्णन प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थों में

१ वेग निबन्धन वादशास्त्रिका ।

२ "अबनर निषेधान् लक्षकं न उपरिगता । देशाधेयताऽन्वाप्ति विधाय गुणभाषणम् ॥"—धर्मी पादशा श्नी० ८ ।

है उतना प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में नहीं है और पिछले बौद्ध ग्रन्थों में तो वह नामशेष मात्र हो गया है। जैन तर्कग्रन्थों में जो दूषण क भेद-प्रभेदों का बर्णन है वह मूलतः बौद्ध ग्रन्थानुसारी ही है और जो दूषणमास का बर्णन है वह भी बौद्ध परम्परा से साक्षात् सम्बन्ध रखता है। इसमें जो ब्राह्मण परम्परानुसारी बर्णन खण्डनीयरूप से आया है वह स्वामकर न्यायसूत्र और उसके टाका, उपटोका ग्रन्थों से आया है। यह अक्षरज की बात है कि ब्राह्मण परम्परा के वैद्यक ग्रन्थ ७ में आनेवाले दूषणमास का निर्देश जैन ग्रन्थों में खण्डनीयरूप से भा नहीं देखा नहीं जाता।

भा० हेमचन्द्र ने दो सूत्रों में क्रम से जो दूषण और दूषणमास का लक्षण रखा है उसका अर्थ ग्रन्थों की अपेक्षा न्यायप्रवेश (५ =) की शब्दरचना के साथ अधिक सादृश्य है। परन्तु उन्होंने सूत्र की व्याख्या में जो आत्युत्तर शब्द का अर्थप्रदर्शन किया है वह न्यायविर्णु (३ १४) की चर्माचरीय व्याख्या से शब्दश मिश्रता है। हेमचन्द्र ने दूषण 10 मासरूप से बीबीस जातिधों का तथा तीन छत्रों का जो बर्णन किया है वह अक्षरज अथवा की न्यायकक्षिका (५ १६ ११) का अक्षरजमात्र है।

भा० हेमचन्द्र ने छत्र को भी जाति की तरह असत्युत्तर होने के कारण आत्युत्तर ही माना है। जाति हो या छत्र सबका प्रतिसमाधान सच्चे उत्तर से ही करने का कदा है, परन्तु प्रत्येक जाति का अलग अलग उत्तर जैसा अक्षरज ने स्वयं दिया है, वैसा उन्होंने नहीं दिया। 15

छत्र ग्रन्थों के आधार पर जातिविषयक एक काष्ठक तोषे दिया जाता है—

न्यायसूत्र ।	धातुविधि प्रमाणमनुसृत्य, न्यायमुख, तर्कशास्त्र ।	उपायद्वय ।	
साधर्म्यसम		,	
वैधर्म्यसम		,	
उत्कर्षसम		,	20
अपकर्षसम			
वर्धसम			
अवर्धसम			
विचक्षणसम			
साध्यसम			25
प्राप्तिसम	"	"	
अप्राप्तिसम	"	"	
प्रवृत्तसम			
प्रतिवृत्तसम		"	
अनुसृतिसम			30

न्यायसूत्र ।	वाक्यविधि प्रमाणसमुच्चय न्यायसूत्र तर्कशास्त्र ।	उपायसूत्रम् ।
संशयनम्	"	"
प्रकरसूत्रम्	"	"
अद्वैतम्	"	कालनम्
6 अत्रापिचमम्	"	
अभिज्ञेयम्	"	
उत्पत्तिम्	"	
उपलम्भम्	"	
अनुपपत्तिम्	"	
10 नित्यम्		
अनिरूपम्	"	
कारणम्	कार्यमेव अनुक्ति स्वार्थविच्छेद	
16		मेदाभेद प्रन्यायसूत्रोत्तराहता प्रमा- दस्तासराहस्य देवतम्, न्यायि, अन्यायितम्, विच्छेद अपिच्छेद अर्थात् भुक्तिम् भुक्तिम् ।

- 20 पू० ५६ पं० १६ 'साधनस्य'—शुक्लानां—'पि पूर्वं न्यूनतादपोऽसिद्धविकल्पानेकान्विका
व्यस्तोपामुक्तावक पदार्थत्वं तद् व्युत्पन्नम्'—न्यायि टी १ ११६ ।
- पू० ५६ पं० १२ 'जातिशब्द'—शुक्लानां—'जातिशब्द'—माहुरयवचन । अत्रसद
शानि मास्युत्तरादीनि । अत्रस्वामप्रयुक्तवाहुत्तरसदृशानि मास्युत्तरादि ।—न्यायि टी १ १८ ।
- पू० ५६ पं० २४ 'तानि च'—शुक्लानां—'सम्पत्तेरी हेरबामासे वा प्रयुक्ते कृतिवि
चरोत्तरवाप्रतिभासे तु प्रतिबिम्बनप्राथं " इत्यादि—न्यायकलिका पृ १०-२१ ।
- 21 पू० ६२ पं० १६ 'तत्रेयमुद्गावन'—शुक्लानां—'तत्रेयमुद्गावनपिपबिकल्पमेवेन जातीना-
मान्त्येऽपि असङ्गीर्णोदाहरणविषयवा अतुर्भिधित्तिर्जातिमेवा प्रदर्शिता । प्रतिसमाधानम्
सर्वजातीनां " इत्यादि—न्यायकलिका पृ २१ ।
- पू० ६२ पं० २३ 'तत्र परस्य'—शुक्लानां—'तत्र परस्य अद्वैतोऽर्थविकल्पोपपादनेन क्वचन-
विषयात् इत्यम् । " इत्यादि न्यायकलिका पृ २१ ।
- 30 'कर्म' नाम परिरुद्धमर्थामानसपार्थक्यं वाचस्तुमात्रमेव । तद् द्विभिर्ध वाचस्तुलं सामा-
न्यव्युत्पन्नम् । वाचस्तुलं नाम यथा करिष्यद् भूयात्—नवतन्त्रोऽर्थं भिद्यन् इति । भिद्यन् भूयात्—

माहं नबतन्त्र, एकतन्त्रोऽहमिति । परो ज्ञ्यात्-माहं ज्ञधीमि नब तन्त्राधि तवेति अपि तु नबाभ्यस्तं हि ते तन्त्रमिति । मियग् ज्ञ्यात्-न मया नबाभ्यस्त तन्त्रम्, इतैकधा अभ्यस्तं मया तन्त्रमिति-एतद्वाक्यश्रुतम् । सामान्यश्रुतं नाम यथा व्याधिप्रशमनायापधमित्युक्तं परा ज्ञ्यात्-सत् सत् प्रशमनापधि मबानाह । सम् हि रोग सदीपणम् । यदि च सत् सत् प्रशमनाय भवति मन् हि कासः सम् सयः । मरसामान्यात् कासस्ते चप्रशमनाय भविष्यति 5 इति ।"-परकृतं पृ २६६ ।

“नब इति षतुर्विधम्-नब, नब न ब, न ब इति । यथा करिषदाह-यो मया परिहितः स नबकम्बल । अत्र दूपयं बदेत्-यज्ञबता परिहितं तदेकमेव बल कर्षं नबेति । अत्र प्रतिबदेत्-मया नब इत्युक्तं तथा च नब कम्बलं न तु नबेति । अत्र दूपयेत्-कर्षं नब ? । नबञ्चोमनिमित्तबाम्ब इत्युक्ते प्रतिवादी बदेत् - तस्वतोऽपरिमितानि क्षोमानि कर्षं नब 10 क्षोमानि इत्युच्यते ।

अत्राह-नब इति मया पूर्वमुक्तं न तु नब संख्या । अत्र दूपयम्-दुष्टं युष्माकमेवेति ज्ञातं कर्मादेव न कर्ष्यते । अत्रोत्तरम्-मया नब इत्युक्तं किन्तु न ब इति नोक्तम् । अत्र दूपयम्-नबत कार्यं कम्बलो वस्त इति प्रत्यक्षमेतत् । कर्षमुच्यते न ब कम्बल । अर्थं हृत्वा मास इत्युच्यते वाक्यश्रुतं च । 15

अपरम्ब वाक्यश्रुतम्-यथा गिरिच्छते इत्युक्ते दूपयम्-तस्वतस्तुल्यतरवा दृश्यन्ते कर्षं गिरिर्दृष्टत् इत्युक्तम् ? । एतद्वाक्यश्रुतमित्युच्यते ।

अपि च श्रुतं द्विविधम्-पूर्वबत् सामान्यश्चति । यथा संख्या पर्मा शुभ्या शान्ता आकाशवदित्युक्ते दूपयम्-यथेव समयोरपि शुभ्यत्वमभावरण, तदा नि स्वभावा पर्मा आकाश तुल्या इति सामान्यश्रुतम् । 20

का तावदुत्पत्तिरिति ? । अत्रोच्यते सत् उत्पत्तिरिति । यथा सूदो षट्स्वबत्त्वाद् षटात्पादकरम् । यदि सूदो षट्स्वबत्त्वं तदा सूबेव षट् स्यात् । तदा तदुत्पत्तये कृत कुम्भकार सूत्रचक्रसंयोगान् । यदि सूद सङ्काशेन षटात्पादकरम् तदोदकस्यापि सद्भावेन षटोत्पाद करं स्यात् । यद्युदकस्य सङ्काशेन षटात्पादकरत्वं कर्षं तर्हि सूदो षटात्पादकरम् इति सामी 25 म्यश्रुतम् ।"-उपायद्वयम् पृ २४ २६ ।

पृ० ६३ पं० ३. 'तदत्र श्रुतत्रये'-श्रुतना-"तदत्र श्रुतत्रयेऽपि वृद्धभ्यबहारप्रसिद्धशब्द सामर्थ्यपरीक्षाभेव प्रतिसमाधानं वेदितव्यमिति"-श्याकलिका पृ २६ ।

पृ० ६३ पं० ६ 'तस्वसंज्ञाणार्थम्'-प्रजात्तर रूप से धीर शण्डन-मण्डन रूप से चर्चा दो प्रकार की है । शण्डन-मण्डन रूप चर्चा प्रथम में सम्भावा, कथा, बाद, भादि शब्दों का प्रयोग देखा जाता है । सम्भावा शब्द चरक भादि वैद्यकीय ग्रन्थों में प्रसिद्ध है, 30 जब कि कथा शब्द म्बाय परम्परा में प्रसिद्ध है । वैद्यक परम्परा में सम्भावा के सम्भाषसम्भावा

- धीर विगृह्यसम्भाषा एतद् वा मेदं क्विप ई (चरकं ४ २६१) अथ किं न्याय परम्परा म कथा क बाद, कल्प, वितण्डा ये तीन मेदं क्विप ई—न्यायवा ५ १४१। वैद्यक परम्परा की सम्भावसम्भाषा ही न्याय परम्परा की बाद कथा है। क्योंकि वैद्यक परम्परा म सम्भावसम्भाषा के आ धीर जैसे अधिकारी बचाए गए हैं (चरक ४ २६१) वे धीर जैसे ही
- 5 अधिकारी बाद कथा क न्याय परम्परा (न्याय ४ २ ४८) में माने गए हैं। सम्भाव सम्भाषा धीर बाद कथा का प्रयोजन दो दोनों परम्परान्तों में एक ही—व्यवनिर्वाह—है। वैद्यक परम्परा जिस चर्चा को विगृह्यसम्भाषा कहती है उसी का न्याय परम्परा कल्प धीर वितण्डा कथा कहती है। चरक न विगृह्यसम्भाषा एता सामान्य माम रत्नकर फिर इसी के कल्प धीर वितण्डा ये दो मेदं बचाए हैं—४ २६१। न्याय परम्परा में इन दो मेदों
- 10 के बाते 'विगृह्यसम्भाषा' शब्द प्रसिद्ध नहीं है, पर हममें कुछ दोनों मेदं विजिगीषुकथा शब्द से व्यवहृत बात है—न्याय ५ १४१। अतएव वैद्यक परम्परा का 'विगृह्यसम्भाषा' धीर न्याय परम्परा का 'विजिगीषुकथा' ये दो शब्द विच्छिन्न समानार्थक हैं। न्याय परम्परा में यद्यपि विगृह्यसम्भाषा इस शब्द का क्वास व्यवहार नहीं है, तथापि हमका प्रविक्लिम्बप्राथ विगृह्यकथन' शब्द मूल न्यायसूत्र (४ २ ५१) में ही प्रयुक्त है। इस शाब्दिक धीर
- 15 धां क संक्षिप्त तुलना से हम बात में कोई संशय नहीं रहता कि मूल में न्याय धीर वैद्यक दोनों परम्परान्तों एक ही विचार के दो भिन्न प्रवाह मात्र हैं। बौद्ध परम्परा में क्वास धीर से कथा अर्थ में बाद शब्द के प्रयोग की प्रामाण्यता रही है। कथा क बाद, कल्प धादि अन्वय मेदों क वास्ते इस परम्परा में प्राय मन्वु-अर्थवाद, विवाद धादि शब्द प्रयुक्त क्विप गए हैं। जैन परम्परा में कथा अर्थ में कश्चिन्! कल्प शब्द का प्रयोग है पर सामान्य रूप से सर्वत्र इस
- 20 अर्थ में बाद शब्द का ही प्रयोग देखा जाता है। जैन परम्परा कथा के कल्प धीर वितण्डा दो प्रकारों का प्रयोगयोग्य नहीं मानती अतएव इसका मत से बाद शब्द का बड़ी अर्थ है जो वैद्यक परम्परा में सम्भावसम्भाषा शब्द का धीर न्याय परम्परा में बादकथा का है। बाद कार्त्तिकों म भी भाग आकर जल्प धीर वितण्डा कथा को त्याग्य बतलाकर कंठ्य बाद कथा का ही कथम रूप कहा है। अतएव इस पिछली बौद्ध माम्यवा धीर जैन परम्परा क
- 25 बीच बाद शब्द क अर्थ में कोई अन्तर नहीं रहता।

वैद्यकीय सम्भावसम्भाषा क अधिकारी को बतलाते हुए चरक न महर्ष का एक अनसूयक विशय्य दिया है जिसका अर्थ है कि वह अधिकारी अनुपादोषमुक्त है। अक्षपाद् म भी बादकथा क अधिकारियों के अर्थ में अनसूयि' विशेष्य दिया है। इससे सिद्ध है कि चरक धीर अक्षपाद् दामों क मत से बादकथा क अधिकारियों में कोई अन्तर

30 नहीं। इसी भाव का पिछले नैयायिकों न बाद का लक्षण करते हुए एक ही शब्द में व्यवहृत कर दिया है कि—व्यवहृतमुक्तकथा बाद है—कथन तकमाया ५ १२६। चरक के कथनानुसार

विष्णुसम्भाषा के अधिकारी जय-पराजयेच्छु धीर लल्लबल्लसम्पन्न सिद्ध होते हैं, न्यायपरम्परा के अनुसार जल्प-वितण्डा क जैसे ही अधिकारी माने जाते हैं । इसी भाव को नैयायिक 'विजिगीषुकथा-जल्प-वितण्डा' इस लक्षणवाक्य से व्यक्त करते हैं । बाद के अधिकारों वत्त बुभुक्षु किस किस गुण से युक्त होना चाहिये और वे किस तरह अपना बाद पहावें इम्कता बहुत ही मनोहर व समान वर्णन करके तथा न्यायमाध्यम आदि में है ।

न्याय परम्परा में जल्पवितण्डा कथा करनेवाले को विजिगीषु माना है जैसा कि चरक ने, पर वैसी कथा करते समय वह विजिगीषु प्रतिवादी और अपने बीच किन किन गुण-दोषों की छुटना करे, अपने से श्रेष्ठ, कनिष्ठ या बराबरीवाले प्रतिवादों से किस किस प्रकार की समा और कैसे सम्मों क बीच किस किस प्रकार का बर्ताव करे, प्रतिवादी से आटोप क साथ कैसे बोले कमी कौसा किङ्कने इत्यादि बातों का जैसा विलुप्त व भाँसोंदेका बर्णन चरक (पृ २६४) ने किया है वैसा न्याय परम्परा के ग्रन्थों में नहीं है । चरक के इस बर्णन से कुछ मिथ्या-सुलभता बर्णन जैनाचार्य सिद्धसंन ने अपनी एक भावोपनिषद्वाग्निशिक्षा में किया है, जिसे चरक के बर्णन के साथ पढ़ना चाहिये । बौद्ध परम्परा सब तक न्याय परम्परा की तरह जल्पकथा को भी मानती रही जब तक उसके अनुसार भी बाद के अधिकारी वत्तबुभुक्षु और जल्पादि के अधिकारी विजिगीषु ही कथित होते हैं, जैसा कि न्यायपरम्परा में । उस प्राचीन समय का बौद्ध विजिगीषु नैयायिक विजिगीषु से भिन्न प्रकार का सम्भव नहीं, पर जब स बौद्ध परम्परा में छद्म आदि के प्रयोग का नियम होने के कारण जल्पकथा नाम शेष हो गई और भावकथा ही अवशिष्ट रही तब से उसमें अधिकारिद्वैविध्य का प्रश्न ही नहीं रहा, जैसा कि जैन परम्परा में ।

जैन परम्परा के अनुसार चतुरङ्गवाद के अधिकारी विजिगीषु हैं । पर न्याय-बैद्यक परम्परासम्मत विजिगीषु और जैनपरम्परासम्मत विजिगीषु क अर्थ में बड़ा अन्तर है । क्योंकि न्याय-बैद्यक परम्परा के अनुसार विजिगीषु बही है जो न्याय स या अभ्याय से, छल आदि का प्रयोग करके भी प्रतिवादों को परास्त करना चाह, सब कि जैनपरम्परा विजिगीषु कमी को मानती है जो अपने पक्ष की सिद्धि करना चाह, पर न्याय स अभ्याय से छलादि का प्रयोग करके कभी नहीं । इस दृष्टि से जैनपरम्परासम्मत विजिगीषु असुयावाह हाकर भी न्यायमार्ग से ही अपना पक्ष सिद्ध करने का इच्छुक होने से क्रूर व क्रूर व न्याय-परम्परा सम्मत वत्तबुभुक्षु की कोटि का हो गया है । जैन परम्परा ने विजय का अर्थ-अपने पक्ष की न्याय्य सिद्धि-ही किया है, न्याय-बैद्यक परम्परा की तरह, किसी भी तरह से प्रतिवादी को मूक करना नहीं ।

जैन परम्परा के प्राथमिक ताकियों में, जो विजिगीषु नहीं हैं देखे वीतराग व्यक्तियों का भा भा मा मा है । पर वह बाद चतुरङ्ग नहीं है । क्योंकि उसके अधिकारी महं ही

१ 'पण्यधिगमस्तत्रानुज्ञावरागोपयत् । जिगीषुगात्रज्जति विषा शुद्धचित्तो विदु ॥ सप्यवाग्भिः विषातम् प्रथमस्वचरनेभिः । यथाजम्बिचरित्स्वप चतुरङ्गो न तममतः ॥'—लक्ष्मणार्थशा० पृ० २७७ ।

पक्ष प्रतिपक्ष लेकर प्रवृत्त हों पर व असूयामुक्त ज्ञान के कारण किसी ममापति या सम्प्रदाय के शासन की अपेक्षा नहीं रहते। व आपस में ही उत्पन्नोप का विनियम या स्वीकार कर लते हैं। जैन परम्परा के विजिगीषु में और उसके पूर्वाक्ष उत्पन्नोपिनायु में अन्तर इतना है कि विजिगीषु म्यायमाग से चलनवाले ज्ञान पर भी एम असूयामुक्त नहीं होते जिससे

- 5 व बिना किसी के शासन के किसी बात को स्वतः मान लें, जब कि उत्पन्नोपिनायु म्यायमाग से चलनवाले ज्ञान के अलावा उत्पन्नोपिनायु के स्वीकार में अन्य के शासन से निरपेक्ष होते हैं। इस प्रकार चतुरहुवादे के बादो प्रतिवादी दोनों विजिगीषु होने की पूर्व प्रथा रही, इसमें बान्नि दम्बन्दि न (प्रमाण ८. १२ १४) बोझा विचारभेद प्रकट किया कि, एकमात्र विजिगीषु बादो या प्रतिवादी के होने पर भी चतुरहु कथा का सम्भव है। उन्होंने यह विचारभेद
- 10 सम्भवतः अकालङ्क या विधानम् आदि पूर्ववर्ती तार्किकों के सामने रखा है। इस विषय में आचार्य इमचन्द्र का मतना अकालङ्क और विधानम् के अनुसार ही जान पड़ता है।

- आचार्य बौद्ध और जैन सभी परम्पराओं के अनुसार कथा का मुख्य प्रयागम उत्पन्नोप की प्राप्ति या प्राप्य उत्पन्नोप की रक्षा ही है। साध्य में किसी का मतभेद न होने पर भी उनकी मायनप्रतापी में अन्तर अचरय है, जो पहिले भी यथाथा जा चुका है। संक्षेप में
- 16 व अन्तर इतना है कि जैन और उत्पन्नोपिनायु तार्किक लक्ष्मण, आदि आदि के प्रयाग का कमी उपाय नहीं मानते।

बादा प्रतिवादा, सम्प्रदाय ममापति इन चारों अर्थों के बर्णन में तीनों परम्पराओं में कोई मतभेद नहीं है। आचार्य इमचन्द्र ने जो चारों अर्थों के स्वरूप का संक्षिप्त निरक्षण किया है वह पूर्ववर्ती मन्थों का सार मात्र है।

- 20 जैन परम्परा ने जब लक्ष्मण के प्रयोग का नियम ही किया तब उसके अनुमात्र अल्प या विष्णु नामक कथा बाद से भिन्न कोई न रही। इस तरह का जैन तार्किकों ने विष्णु चर्चा के द्वारा सिद्ध किया। इस विषय का सबसे पुराना मन्थ शायद कथात्रयम् है, जिसका निर्देश मिद्धिबिन्दिरचयटीका (पृ २२२ A) में है। उन्होंने अन्त में अपना मन्तव्य गिर कर कहा कि—अल्प धार विष्णु नामक कोई बात से भिन्न कथा ही नहीं, वह वा कथा
- ० भाम मात्र है। इसी मतवच के अनुमात्र आचार्य इमचन्द्र ने भी अपनी कथा में कथाया की बात से भिन्न कोई अल्प नामक कथा अन्त नहीं जो पाया है।

पृ० ६३ पं० १२ 'स्वमयपर'—'उत्पन्नोप-स्वमयपर'—स्वायत्र पृ १४ १४।

१ 'बाद का' (प्रमाण)।—म्यायदि० ८. २१२। समय बर्णन वार प्रमाण प्रमाणवर्त नादिमय विधानावदन् काथनपूरणपन वादः।—प्रमाणमं परि० ६। मिद्धि विधानो वादा चतुरहुवादा नति।—मन्थयापदना० पृ० २३३।

२ ६ १—मन्थयापदना० पृ० २३४। म्यायत्र० पृ० १४। मन्थयापदना पृ २८।

पृ० ६३ पं० २१ 'ननु तत्त्वरक्षणम्'—उलना—“नहि बादस्यत्वाप्यवसायसंरक्षणायां भवति स्वस्ववितण्णयोरव लयात्वात् । तदुक्तम्—वत्त्वाप्यवसाय ”इत्यादि—उत्वापरत्वा

पृ २०८ । प्रमेयक पृ १६४ B ।

पृ० ६३ पं० २६ 'वादह्लासणे'—उलना—“प्रतिषेधे कस्यचिदभ्यनुज्ञामार्थं सिद्धान्थाविरुद्ध इति बचनम् । 'सिद्धान्तसम्बन्धेऽपि उद्दिरोर्था विरुद्ध' इति दृष्टवाभामस्य निप्रहरणानस्याभ्यनुज्ञा वाद । पञ्चावपबोपपन्न इति 'ज्ञानमस्यतमनाप्यवचनेन न्यूनम्' इत्यादि—उत्वापरत्वाधिकमधिकम्' इति चैतवारभ्यनुज्ञानावभिति'—आप्याय १ २ १ ।

पृ० ६४ पं० १४ 'दुःशिक्षित'—आप्याय पृ २१ ।

पृ० ६४ पं० १६ 'अथ प्रबलप्रतिवादि'—उलना—“यदा ज्ञानत्रयि परपक्षकथिमानं स्व पक्षे इच्छिमानं च क्वचिदबमरे परप्रयुक्ते माधनै रूपं सपदि न पश्यति स्वपक्षसाधनं च भगिति न स्मरति तदा लज्जाविभिरप्युपक्रम्य परममिभवति आरमानं च रक्षति इति । तथापि पक्षान्तराजयाद्वर सन्देह इति युक्तमेव तत्रप्रयोगेण स्फुटाटोपकरणम् । मुमुक्षोरपि क्वचित्सङ्गे तदुपयोगात् । ” इत्यादि—आप्याय प ५६५ ।



अ० २ भा० १ सू० ११-३५ पृ० ६४ बाद से सम्बन्ध रत्नमवाले कुल कितन पदार्थों का निरूपण भाषार्थ हेमचन्द्र ने किया होगा अबका करना चाह। होगा सो अज्ञात है 15 तथापि उपलभ्य इस अधूरे प्रमाद्यमीमांसा ग्रन्थ से इतना तो अबश्य जान पड़ता है कि उन्होंने 'पत्रवाक्य' का निरूपण प्रारम्भ किया जो अधूरा ही लभ्य है । इसमें भी कोई सम्वेद नहीं कि बमका अभिमत पत्रनिरूपण दिग्म्बर तार्किक विद्याभन्द की पत्रपरीक्षा का ही अबलम्बो सुस्पष्टता होगा । उन्होंने पत्रम्बरूप क निरूपण में बौद्ध भादि प्रतिवादिपों का मत खण्डन विद्याभन्द भादि की तरह अबश्य किया होगा, पर सिद्धान्त उनका सम्भवत बड़ी होगा जो 20 विद्याभन्द भादि का है । इस विषय के साहित्य में से हमारे सामने इस समय लभ्य ग्रन्थ तो पत्रपरीक्षा, प्रमेयकसंलमार्त्तण्ड (पृ २ ०B) ही हैं । बाकी सबसूचित स्पष्टाद्वरभाकर का बादपरिच्छद जिनमें 'पत्र' क स्वरूप का विस्तृत निरूपण होना सम्भवित है, उपलभ्य न जान में जैनपरम्परानुसारी पत्रनिरूपण के जिज्ञासुओं का इस समय कबल उक्त दिग्म्बर तार्किकों क ही ग्रन्थों का दयना चाहिये । 25

अ० हेमचन्द्र का निप्रहरणविषयक निरूपण भाग्यवश अरुणित मिलता है सा पविदासिक तथा तारिबक दृष्टि स बड़े महत्त्व का है और जो जैन तार्किकों की तद्विषयक निरूपण परम्परा में सम्भवत अन्तिम ही है ।

भारतीय तर्क साहित्य में निप्रहरण की प्राचीन विचारधारा ब्राह्मण परम्परा की ही है, जो न्याय तथा वैशेषिक क ग्रन्थों में देरी जाती है । न्याय परम्परा में अक्षपाद ने जो संक्षेप 30 में विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति रूप स द्विविध निप्रहरण का बतलाया और विचार म इसक बाइए भद बतलाये बटा बटन आज तक क सैकड़ों वर्षों में धनरु प्रकाण्ड नैयायिकों क

- हाने पर भी निबिबाद रूप में स्वीकृत रखा है। चरक का निप्रहरणामयज्ञ अक्षय्य, वा अक्षयाद के बयन जैसा नहीं है फिर भी उन शानो के बर्णन की भिति एक ही है। बौद्ध परम्परा का निप्रहरणामयज्ञ दो प्रकार का है। एक ब्राह्मणपरम्परामुसारी और दूसरा स्वतन्त्र। पहिले बयन प्राचीन बौद्ध^१ तत्त्वग्रन्थों में है या अक्षय्य, संख्या उदात्तय्य आदि
- ५ अनेक बातों में बहुधा अक्षयाद के और कभी कभी चरक (पृ २६६) के बर्णन में मिलता है। ब्राह्मण परम्परा का विरोधी स्वतन्त्र निप्रहरणानिरूपण बौद्ध परम्परा में सबसे पहिले किसने शुरू किया यह अभी निश्चित नहीं। तथापि इतना तो निश्चित ही है कि इस समय उसे स्वतन्त्र निरूपणवाला पूर्ण और भिति महत्त्व का वा 'बादम्याय' ग्रन्थ द्वारा सामने आया है वह धर्मकीर्ति का हाने से इस स्वतन्त्र निरूपण का श्रेय धर्मकीर्ति का
- १० अक्षय्य है। सम्भव है इसका कुछ बीजारोपण धार्मिकप्रवर विज्ञानाग ने भी किया हो। जैन परम्परा में निप्रहरणान क निरूपण का प्रारम्भ करनेवाला शब्द पात्रकमरी स्वामी हों। पर उनका काश्च ग्रन्थ अभी लभ्य नहीं। अतएव मीमूदा साहित्य के आधार से तो महुारक अक्षय्य का ही इसका प्रारम्भक कहना होगा। पिछले सभी जैन धार्मिकों ने अपने अपने निप्रहरणानिरूपण में महुारक अक्षय्य के ही बयन को ग्रहण किया है, जो हमारी
- १६ सम्भावना का समर्थक है।

- पहिले तो बौद्ध परम्परा ने म्याय परम्परा के ही निप्रहरणानों को अपनाया इसलिए हमके सामने कोई ऐसी निप्रहरणानविषयक दूसरी विरोधी परम्परा नहीं जिनका बौद्ध धार्मिक लण्डन करते पर एक वा दूसरे काय्य से जब बौद्ध धार्मिकों ने निप्रहरणान का स्वतन्त्र निरूपण शुरू किया वह उनके सामने म्याय परम्परा वाले निप्रहरणानों के लण्डन का
- २० प्रश्न स्वयं ही आ लड़ा हुआ। उन्होंने इस प्रश्न को बड़े विस्तार में बड़ी सूक्ष्मता से सुलभ किया। धर्मकीर्ति ने बादम्याय नामक एक साठ ग्रन्थ इस विषय पर खिल डाला जिस पर शम्भरचित्त ने स्पष्ट व्याख्या भी लिखी। बादम्याय में धर्मकीर्ति ने निप्रहरणान का अक्षय्य एक धारिका में स्वतन्त्र भाव से बंधकर उस पर विस्तृत चर्चा की और अक्षयादसम्मत एवं वात्स्यायन तथा उपाधकर के द्वारा व्याख्यात निप्रहरणानों के अक्षय्यों का एक एक शब्द लेकर
- २३ विस्तार से लण्डन किया। इस धर्मकीर्ति की कृति से निप्रहरणान की निप्रहरणपरम्परा स्पष्टतया विरोधी वा प्रवाहों में बँट गई। कृषि कृषि धर्मकीर्ति के समय में वा कुछ ही आगे पीछे जैन धार्मिकों के सामने भी निप्रहरणान के निरूपण का प्रश्न आया। किसी भी

१ तर्कशास्त्र पृ० ३३। उपाधकर पृ० १८।

२ Pre Dinag Buddhist Logic P XXII

३ 'आला तावत्तमाभिरुपमं हि निप्रः। श्यानेन विगमोदयो स्वामिग्राहनिबचनम् ॥'-
म्यायपि २ २१३। 'अथ तदि वाचपरिणामाधि ? निप्रक्यावत्त्वात्तित्तिप्रक्यावत्त्वात् अन्तरमन्वत्त्वा
नाम्यथा। उक्तम्—स्वपरिनिबिषयस्य निप्रक्यावत्त्वात्तित्तिप्रक्यावत्त्वात् नारोपाधायन इत्ये ॥
तथा उपाध रतोऽपि (पृ० २८१)—स्वपरिनिबिषयत्वात्तावत्तित्तिप्रक्यावत्त्वात्। अक्षय्यस्य तावत्त्वात्तित्ति
नाथ विचारणा ॥'- अण्डस पृ ८३। धर्मग्रन्थ० पृ० २ ३ A

जैन तार्किक ने ब्राह्मण परम्परा के निग्रहस्थानों को अपनाया हो या स्वतन्त्र बौद्ध परम्परा के निग्रहस्थाननिरूपण का अपनाया हा ऐसा माझूम नहीं होता । अवएव जैन परम्परा के सामने निग्रहस्थान का स्वतन्त्र भाव से निरूपण करने का ही प्रश्न रहा जिसको महारक भकसङ्ग ने सुझाया^१ । उन्होंने निग्रहस्थान का लक्षण स्वतन्त्र भाव से ही रचा और उसकी व्याख्या बाँधी जिसका अक्षरानुसंख्य अक्षरवर्ती सभी दिगम्बर श्वेतान्तर तार्किकों ने 5 किया है । भकसङ्गकृत स्वतन्त्र लक्षण का मात्र स्वीकार कर लेने से जैन तार्किकों का कर्तव्य पूरा हो नहीं सकता था जब तक कि वे अपनी पूर्ववर्ती और अपने सामने उपस्थित ब्राह्मण और बौद्ध दोनों परम्पराओं के निग्रहस्थान के विचार का खण्डन न करें । इसी दृष्टि से भकसङ्ग को अनुगामी विद्यामन्द, प्रभाषण आदि ने विरोधी परम्पराओं के खण्डन का कार्य विशेष रूप से शुरू किया । हम उनके प्रश्नों में^२ पाते हैं कि पहिले तो उन्होंने न्याय पर 10 परा के निग्रहस्थानों का खण्डन किया और पोछे बौद्ध परम्परा के निग्रहस्थान लक्षण का । कहाँ तक देखने में आया है उससे माझूम होता है कि धर्मकीर्ति के लक्षण का संक्षेप में स्वतन्त्र खण्डन करनेवाले सर्वप्रथम भकसङ्ग हैं और बिलुप्त खण्डन करनेवाले विद्यामन्द और तुषुपजीवी प्रभाषण हैं ।

आचार्य हेमचन्द्र ने निग्रहस्थाननिरूपण के प्रसङ्ग में मुख्यतया तीन बातें पाँच सूत्रों में 15 निरूद्ध की हैं । पहिले दो सूत्र २. १. ३१, ३२ में अथ और पराजय की क्रमशः व्याख्या है और तीसरे २. १. ३३ में निग्रह की व्याख्या है जो भकसङ्गरचित है और जो अन्य सभी दिगम्बर-श्वेतान्तर तार्किक सम्मत भी है । चौथे ०. १. ३४ सूत्र में न्यायपरम्परा के निग्रहस्थान लक्षण का खण्डन किया है जिसकी व्याख्या प्रभाषण के प्रमेयकसप्तमातण्ड का अधिकांश 20 प्रतिबिम्ब मात्र है । इसके बाद अन्तिम २. १. ३५ सूत्र में हेमचन्द्र ने धर्मकीर्ति के स्वतन्त्र निग्रहस्थान लक्षण का खण्डन किया है जो अक्षरानुसंख्य प्रभाषण के प्रमेयकसप्तमातण्ड (पृ. २३ A) की ही मकृद है ।

इस तरह निग्रहस्थान की तीन परम्पराओं में से न्याय व बौद्धसम्मत दो परम्पराओं का खण्डन करके आचार्य हेमचन्द्र ने तीसरी जैन परम्परा का स्थापन किया है ।

अन्त में अथ-पराजय की व्याख्या सम्बन्धी तीनों परम्पराओं के मन्दब्य का रहस्य 25 संक्षेप में लिख देना जरूरी है । आ इस प्रकार है—ब्राह्मण परम्परा में लक्ष, आदि आदि का प्रयोग किसी हद तक सम्मत होने के कारण लक्ष आदि के द्वारा किसी को पराजित करने मात्र से भी लक्ष आदि का प्रबोधा अपने पक्ष की सिद्धि बिना किए ही अथप्राप्त माना जाता है । अर्थात् ब्राह्मण परम्परा के अनुसार यह नियम नहीं कि जयलक्ष का 30 वाले पक्षसिद्धि करना अनिवार्य ही हो ।

१ दिगम्बर परम्परा में कुमारान्दी आचार्य का भी एक भावस्थान प्रत्य रहा । कुमारान्दि महारकैरपि स्वभावस्थाने निगहितत्वाद्—पत्रपरीक्षा पृ० ३ ।

२ लक्ष्यार्थश्लो० पृ० २८३ । प्रमेयक० पृ० २०० B ।

- धर्मकीर्ति ने एक ब्राह्मण परम्परा के आधार पर ही कुठारापात करके सत्यमूखक नियम बाँध दिया कि कोई छद्म भावि के प्रयोग से किसी को चुप करा देने मात्र से जीव नहीं सकता। क्योंकि छद्म भावि का प्रयोग सत्यमूखक ने जाने स धर्म ही है। अतएव धर्मकीर्ति के कथनानुसार यह नियम नहीं कि किसी एक का पराजय ही दूसरे का अवरोधकारी बन
- 5 हो। ऐसा भी सम्भव है कि प्रतिवादी का पराजय माना जाय पर वादी का जय व माना जाय—बदाहरब्याय वादी ने दुष्ट साधन का प्रयोग किया है। इस पर प्रतिवादी ने सम्भवित दोषों का कथन न करके मिथ्यादोषों का कथन किया तदनन्तर वादी ने प्रतिवादी के मिथ्यादोषों का बहुभाषन किया—यही दृष्टा में प्रतिवादी का पराजय अवरोध माना जायगा। क्योंकि उसने अपन कर्तव्य रूप से पद्यार्थ दोषों का उद्घाटन न करके
- 10 मिथ्यादोषों का ही कथन किया जिसे वादी ने पकड़ लिया। इतना होने पर भी वादी का जय नहीं माना जाता क्योंकि वादी ने दुष्ट साधन का ही प्रयोग किया है। अब कि जब के बान्हे वादी का कर्तव्य है कि साधन के पद्यार्थ ज्ञान द्वारा निर्दोष साधन का ही प्रयोग करे। इस तरह धर्मकीर्ति ने जय पराजय की ब्राह्मणसम्मत व्यवस्था में संशोधन किया। पर उन्होंने जो असाधनाङ्कन तथा अदोषोद्घाटन द्वारा अब-पराजय
- 15 की व्यवस्था की इसमें इतनी कटिखता और दुरुहता आ गई कि अनक प्रसङ्गों में यह सरलता से निरर्थक करना ही असम्भव हो गया कि असाधनाङ्कन तथा अदोषोद्घाटन है या नहीं। इस कटिखता और दुरुहता से बचने एवं सरलता से निश्चय करके की दृष्टि से महारक भकछद्म ने धर्मकीर्तिछद्म अब-पराजय व्यवस्था का भी संशोधन किया। भकछद्म के संशोधन में धर्मकीर्ति सम्मत सत्य का एक ठो निहित है ही,
- 20 पर जान पड़ता है भकछद्म की दृष्टि में इसके असावा अहिंसा-समभाव का जैनप्रकृतिसुलभ भाव भी निहित है। अतएव भकछद्म ने कह दिया कि किसी एक पक्ष की सिद्धि ही उसका जय है और दूसरे पक्ष की असिद्धि ही उसका पराजय है। भकछद्म का यह सुनिश्चित मत है कि किसी एक पक्ष की सिद्धि दूसरे पक्ष की असिद्धि क बिना हो ही नहीं

१ तत्परद्वयार्थे तद्विरुद्धत्वमेव ज्ञानम् । विद्विष्योपुमिदं चेत् नस्तन्नेत्याहप्रयागपौष नारिभिरपि कथमम् । तस्माद्य ज्ञापानं तत्परद्वयोपायः ॥”-बाबुम्पाय पृ० ७१ ।

२ “उदोषवत्त्वेऽपि प्रतिवादिनोऽज्ञानाद् प्रसिद्धनाशामर्त्याह । न हि दुष्टसाधनानिवादेऽपि वादिना प्रतिवादिनोऽप्रतिवादिन दोषे पराजयव्यवस्थापना युक्ता । तथोदोष परस्परामर्त्यापिनाशोदोषा जयपराजयव्यवस्थापनात् । केवलं हेत्वाभावात्तन्मतिपरम्पराश्रयिण्यस्य ज्ञेयोऽपि नास्त्य ॥”-बाबुम्पाय पृ० ७० ।

३ “निराहुतावस्थासिद्धिपक्षस्वभावोदोष जयैतत्त्वव्यवस्था नान्पया । तदुक्तम्—स्वपक्षिद्विरेकस्य निष्ठाऽन्वय वादिन । नाशान्नाशवधन नाऽदोषोद्घाटन इत्ये ॥”-अष्टश अष्टश पृ० ८७ । “तथेह ताविके वादेऽकृते कथिता जय । स्वपक्षिद्विरेकस्य निष्ठाऽन्वय वादिना ॥”-तत्पद्यार्थ इत्थी० पृ० २८१ ।

सकती । अतएव अकलङ्क के मतानुसार यह फलित हुआ कि जहाँ एक की सिद्धि होगी वहाँ दूसरे की असिद्धि अनिवार्य है, और जिस पक्ष की सिद्धि हो उसी की जय । अतएव सिद्धि और असिद्धि अथवा दूसरे शब्दों में जय और पराजय सम्बन्धाधिक हैं । कोई पराजय जयशून्य नहीं और कोई जय पराजयशून्य नहीं । धर्मकीर्विहृत व्यवस्था में अकलङ्क की सूक्ष्म अहिंसा प्रकृति से एक भ्रुटि दल ली जान पड़ती है । यह यह कि पूर्वोक्त उदाहरण में कर्त्तव्य 5 पालन न करने मात्र से अगर प्रतिवादी को पराजित समझा जाय तो दुष्टसाधन के प्रयोग में सम्पन्न साधन के प्रयोग रूप कर्त्तव्य का पालन न होने से बादी भी पराजित क्यों न समझा जाय ? अगर धर्मकीर्ति बादी का पराजित नहीं मानत वा फिर उन्हें प्रतिवादी का भी पराजित नहीं मानना चाहिए । इस तरह अकलङ्क ने पूर्वोक्त उदाहरण में कबल प्रतिवादी का पराजित मान देने की व्यवस्था का एकदेशीय एवं अन्यायमूलक मानकर पूर्ण समभाव 10 मूलक सीधा मार्ग बाँध दिया कि अपन पक्ष की सिद्धि करना ही जय है । और ऐसी सिद्धि में दूसरे पक्ष का निराकरण अवश्य गर्भित है । अकलङ्कोपक्ष यह जय पराजय व्यवस्था का मार्ग अशुभ है, क्योंकि इसके ऊपर किसी बौद्धाचार्य ने या ब्राह्मण विद्वानों ने आपत्ति नहीं उठाई । जैन परम्परा में जय पराजय व्यवस्था का यह एक ही मार्ग प्रशिक्षित है जिसका स्वीकार सभी विगम्भर-रत्नगम्भर चार्किर्कों ने किया है और जिसके समर्थन में विद्यानन्द 15 (वत्सापरलो पृ २८१), प्रभाषण्ड (प्रमेयक पृ १६४) बादिराज (न्यायि टी पृ ५२०B) आदि ने बड़े विस्तार से पूर्णकारीय और समकालीन मतान्तरों का निरास भी किया है । आचार्य हेमचन्द्र भी इस विषय में अट्टरक अकलङ्क के ही अनुगामी हैं ।

सूत्र ४ की वृत्ति में आचार्य हेमचन्द्र ने न्यायप्रदर्शनानुसारी निप्रहरणानों का पूर्वपक्षरूप से जा बखान किया है वह अक्षरय जयन्त की न्यायकृत्तिका (पृ २१-२०) के अनुसार है 20 और इन्हीं निप्रहरणानों का जो लण्डन किया है वह अक्षरय प्रमेयकमलमात्तण्डानुसारी (पृ २ B २३A) है । इसी तरह धर्मकीर्तिमन्वत (बाह्यम) निप्रहरणानों का बर्धन और उमका लण्डन भी अक्षरय प्रमेयकमलमार्त्तण्ड के अनुसार है । यद्यपि न्याय सम्मत निप्रहरणानों का निर्देश तथा लण्डन वत्सापरलोकावृत्तिक (पृ २८३ म) में भी है तथा धर्मकीर्तिसम्मत निप्रहरणानों का बर्धन तथा लण्डन बाह्यमपत्तिमिश्र में वात्स्यैयटाका (७ १३ 25 में, जयन्त ने न्यायधर्मजरी (पृ ६४६) और विद्यानन्द ने अष्टमदृष्टा (पृ ८) में किया है पर हेमचन्द्रीय बर्धन और लण्डन प्रमेयकमलमार्त्तण्ड से ही शक्य मिलता है ।

पृ० ६५ पं० २ 'विरुद्धम्'—वदुष्टम्—विरुद्धं हेतुमुक्ताव्यवादिने जयतीत्यत् । आत्माना
 वरमुत्तराद्यपक्षसिद्धिमपेक्षत ।—वत्सापरलो पृ २८ । न्यायि टी ति पृ ५२८ A ।

“अकलङ्कोप्यव्याप्तम्—विरुद्धं हेतुमुक्ताव्य” —बाह्यम ८ २२ ।

धर्मकीर्ति ने उक्त ब्राह्मण परम्परा के आधार पर ही कुठाराघात करके सत्यमूख्य नियम बाँध दिया कि कोई द्युज्ज आदि के प्रयोग से किसी को जुप करा देने मात्र से जीव नहीं सकता। क्योंकि द्युज्ज आदि का प्रयोग सत्यमूखक न होने से वर्ज्य है। अतएव धर्मकीर्ति के कथनानुसार^१ यह नियम नहीं कि किसी एक का पराजय ही दूसरे का अवयव्यमावी जय है। ऐसा भी सम्भव है कि प्रतिवादी का पराजय माना जाय पर वादी का जय न माना जाय—उदाहरणार्थ वादी न दुष्ट साधन का प्रयोग किया हू, इस पर प्रतिवादी ने सम्भवित दोषों का कथन न करके मिथ्यादोषों का कथन किया, तदनन्तर वादी ने प्रतिवादी के मिथ्यादोषों का उद्भावन किया—एसी दशा में प्रतिवादी का पराजय अवयव माना जायगा। क्योंकि उसने अपने कर्तव्य रूप से धर्मार्थ दोषों का उद्भावन न करके मिथ्यादोषों का ही कथन किया जिसे वादी न पकड़ सिया। इतना होने पर भी वादी का जय नहीं माना जाता क्योंकि वादी ने दुष्ट साधन का ही प्रयोग किया है। अब कि जय क वान्ते वादी का कर्तव्य है कि साधन के धर्मार्थ ज्ञान द्वारा निर्दोष साधन का ही प्रयोग करे। इस तरह धर्मकीर्ति ने जय पराजय की ब्राह्मणसम्मत व्यवस्था में संशोधन किया। पर उन्होंने जो असामान्यवचन तथा अदोषाद्वाचन द्वारा जय पराजय की व्यवस्था की इसमें इतनी सटिलता थीर गुरुकृता धरा गई कि अनेक प्रसङ्गों में यह सरलता से निर्णय करता ही असम्भव हो गया कि असामान्यवचन तथा अदोषो-
 10 ज्ञान है या नहीं। इस सटिलता थीर गुरुकृता सं बचने एवं सरलता से निर्णय करने की दृष्टि से महारक भक्तसङ्घ ने धर्मकीर्तिहृत जय-पराजय व्यवस्था का भी संशोधन किया। भक्तसङ्घ के संशोधन में धर्मकीर्ति सम्मत सत्य का एक ही निहित है ही, पर ज्ञान पड़वा है भक्तसङ्घ की दृष्टि में इसका अलावा अहिंसा-समभाव का जैनप्रकृतिमुक्तम भाव भी निहित है। अतएव भक्तसङ्घ ने कट दिया कि किसी एक पक्ष की सिद्धि ही जयका जय है और दूसरे पक्ष की असिद्धि ही उसका पराजय है। भक्तसङ्घ का यह मुनि-
 20 विचलन मत है कि किसी एक पक्ष की सिद्धि दूसरे पक्ष की असिद्धि के बिना हो ही नहीं

१ तत्ररक्षयाय तद्विद्वत्संनमश्च इत्यदि। विजिगीषुमिदिति चत् नपचपेय्यप्रशयादीनां नारिभिरिति वक्तव्यम्। तस्मात् स्यात्तानर्षं तत्ररक्षयाय।"—वाङ्म्याय पृ० ७१।

२ अदोषादवचनं प्रतिगामिनोऽज्ञानात् प्रतिपन्ननात्मव्याह। न हि दुष्टसाधनमिच्छतेऽपी कश्चिन् प्रतिगामिनां प्रतिगामिनं रूपं पराजयपरत्वात्पुनः। तदारभ पररसनामर्षीनामापेक्षया जयताजयपरत्वात्पुनः। केन हेत्वायत्तारभूतप्रतिपक्षेत्वात्प्रतिगामिनारभरत्वात् न तास्यत्।"—वाङ्म्याय पृ० ७०।

३ "निग्राह्यतास्यनिगिरिद्वयव्यवहारकं अवेतव्यवस्था नाम्बन्धा। तदुक्तम्—नररक्षिद्विरेकत्वं निपदाऽप्यत्र वादिनः। नानाधनाद्भवन् नान्नेताज्ञानं इत्या ॥"—अष्टमः अष्टमः पृ० ८१। "अनेक ताविक वाद-कण्ठे कपितो वद। तस्यैतद्विरेकत्वं निपदेऽप्यत्र वादिनः।"—तत्त्वार्थ दर्शनी पृ० २८१।

सकती । अथएव अकलङ्क को मतानुसार यह फलित हुआ कि जहाँ एक की सिद्धि होगी वहाँ दूसरे की असिद्धि अनिवार्य है, और जिस पक्ष की सिद्धि हो उसी की साथ । अथएव सिद्धि और असिद्धि अथवा दूसरे शब्दों में जय और पराजय समव्याप्तिक हैं । काइ पराजय जयशून्य नहीं और काइ जय पराजयशून्य नहीं । धर्मकीर्षिकृत व्यवस्था में अकलङ्क की सूत्रम अहिंसा प्रकृति ने एक त्रुटि देल ली आम पढ़ती है । वह यह कि पूर्वोक्त उदाहरण में कत्त ब्य 5 पाखन न करन मात्र से अगर प्रतिवादी का पराजित समझा जाय तो दुष्टसाधन क प्रयोग में सम्पक् साधन के प्रयोग रूप कर्त्तव्य का पाखन न हाने स बादी भी पराजित क्यों न समझा जाय ? । अगर धर्मकीर्षि बादी को पराजित नहीं मानते तो फिर उन्हें प्रतिवादी को भी पराजित नहीं मानना चाहिए । इस तरह अकलङ्क में पूर्वोक्त उदाहरण में केवल प्रतिवादी को पराजित मान लेने की व्यवस्था का एकदेशीय एवं अन्वयमूलक मानकर पूर्व 10 मूलक सीपा माग बाँप दिया कि अपने पक्ष की सिद्धि करवा ही जय है । और ऐसी सिद्धि में दूसरे पक्ष का निराकरण अवश्य गर्भित है । अकलङ्कोपपन्न यह जय पराजय व्यवस्था का मार्ग अन्वित है, क्योंकि इसके ऊपर किसी बीझापाय नै या आद्य विद्वानों ने आपत्ति नहीं उठाई । जैन परम्परा में जय पराजय व्यवस्था का यह एक ही माग प्रचलित है जिसका स्वीकार सभी दिगम्बर-श्वेताम्बर तार्किकों ने किया है और जिसके समर्थन में विद्यानन्द 15 (तरणापरको पृ २८१), प्रमाचन्द्र (प्रमेयक पृ १६४), बाविराज (न्यायवि० टी पृ ५२०B) आदि ने बड़े विस्तार से पूर्वकाशीन और समकाखान मतान्दरों का निराम भी किया है । आचार्य हेमचन्द्र भी इन विषय में अकारक अकलङ्क को ही अनुगामी हैं ।

सूत्र ४ की वृत्ति में आचार्य हेमचन्द्र ने न्यायदर्शनानुसारी निप्रहरणानों का पूर्वपक्षरूप से जो बर्णन किया है वह अक्षरशः अयस्य की न्यायकृत्तिका (पृ २१-२०) के अनुसार है 20 और जहाँ निप्रहरणानों का जो खण्डन किया है वह अक्षरशः प्रमेयकमलमात्तण्डानुसारी (पृ १ B २ ३ ३) है । इसी तरह धर्मकीर्षिसम्मत (बाबन्ध ५) निप्रहरणानों का बर्णन और ठमका खण्डन भी अक्षरशः प्रमेयकमलमार्त्तण्ड के अनुसार है । यद्यपि न्याय सम्मत निप्रहरणानों का निर्देश तथा खण्डन तरवार्थज्ञोक्तवार्त्तिक (पृ १२१से) में भी है तथा धर्मकीर्षिसम्मत निप्रहरणाना का बर्णन तथा खंडन वाचस्पति मिश्र ने वात्स्ययणाका (७ १से 25 में, अयन्त ने न्यायमंजरी (पृ ६८६) और विद्यानन्द ने अष्टसङ्घता (पृ ८) में किया है पर हेमचन्द्रीय बर्णन और खण्डन प्रमेयकमलमार्त्तण्ड से ही शब्दशः मिलता है ।



पृ० ६५ पं० २ 'विरुद्धम्'—तदुक्तम्—विरुद्धं हेतुमुद्राक्षयं ज्ञादिने जयतीतत् । आभासा स्वरपुराण पक्षसिद्धिमपेक्षत ।—तरणापरको पृ १२ । न्यायवि० टी सि पृ ५२८ A ।
 "अकलङ्कोप्यव्याप्तम्—विरुद्धं हेतुमुद्राक्षयम्"—रवाकरा ८ २१ ।

पृ० ६५ पं० २५ 'अत्राननुभाषण'—उक्तना—“अत्राननुभाषणमज्ञानमप्रतिमा विज्ञेय-
पस्तुषोऽप्योपेक्षामित्यप्रतिपत्त्या संगृहीतानि शेषाणि विप्रतिपत्त्या”-न्यायन ५ ६११।
न्यायक्रिया ५ २२।

इस विषय में न्यायभाष्यकार का मतमेद इस प्रकार है—“अत्राननुभाषणमज्ञानम
6 प्रतिमा विक्षेपा मत्तानुशा पर्यनुषोऽप्योपेक्षामित्यप्रतिपत्तिनिमद्दखानम् । शपस्तु विप्रतिपत्ति-
रिति ।”-न्यायन १ २ २ ।

पृ० ६६ पं० ४ 'तद्वदसंगतम्'—उक्तना—“इति भाष्यकारमतमसंगतमेव, साक्षात्
दृष्टान्तद्वानित्यप्रत्यात् तस्या ” इत्यादि—मनवक ५ २ B ।

पृ० ६६ पं० १५ 'तद्वदपि व्याख्यानम्'—उक्तना—“तद्वदप्युद्योतकरस्य आद्यम-
10 विष्करोति, इत्यमेव प्रतिज्ञाहानिरवधारयितुमशक्यत्वात् ” इत्यादि—प्रमेयक ५ २ B ।

पृ० ६८ पं० ३३ 'दश दाडिमानि'—उक्तना—पाठ महा २ १ ५५ ।

पृ० ६८ पं० २७ 'शङ्ख कर्त्तव्याम्'—उक्तना—नववक ५ १ ६ B ।

पृ० ७२ पं० १८ 'यथास्य व्याख्यानम्'—उक्तना—“इहस्यार्थस्य सिद्धि साधनम्, तत्र
निर्बन्धक्रमेण च तस्यावचनम्—उत्पादकस्यानुष्कारस्ये वादिना निग्रहाधिकारस्य तन्म्युपगम्या-
16 प्रतिभया तूष्णीमावात् । साधनाङ्गस्यासमर्थतात्वा । त्रिभिधमेव हि सिद्धमप्रत्यक्षस्य सिद्धे-
रुम्—स्वभाव कार्यमनुपलम्भस्य । तस्य समर्थनम्—साध्येन व्याप्ति प्रसाध्य कर्मिणि भावसाध-
नम्—बन्धा । अत्र व्याप्तिसाधनं विपर्यये वाचकप्रमाद्योपदर्शनम् ।”-गारुडान ५ १-९ ।

पृ ७२ पं १४ 'यद्येवमसाधनाङ्गम्'—उक्तना—“अन्वयव्यतिरेकवचनयोर्वा साधन्येवति
वैयर्थ्यमिति च साधनप्रयोग एकत्वेवाभिधानेन सिद्धेर्भावात् द्वितीयत्वासामर्थ्यमिति तस्याप्य

20 साधनाङ्गस्याभिधान निग्रहस्यान कर्त्तव्यमिति भावादेव ।”-गारुडान ५ ९५ ।

पृ ७३ पं० २६ 'ननु न स्वपक्ष'—उक्तना—“रथात्मत्वम्—न स्वपक्षसिद्धयसिद्धिनिमित्तनी
अपराधतयी तयाङ्गानाङ्गाननिवन्धनरत्वात् इत्यादि—प्रश्न ५ ८१ । प्रमेयक ५ २ ५ A ।

पृ० ७४ पं० १८ 'यत्त्वदमत्रोपेक्षाधनम्' उक्तना— अयोपाङ्गावतम् प्रतिवादिना
निग्रहवानम् । वादिना साधने प्रयुक्तम्युपगतोत्तरपक्षो अत्र विवच प्रतिवादी यदा न वेत्-
25 मुक्त्वावति तथा पराङ्गितो वक्तव्य । अथवा यो न होय साधनस्य वक्रायेपि वादिना
उपसाध्यितुमिच्छत्यर्थस्य सिद्धिप्रियातामावात् । तत्रोक्त्वावतं प्रतिवादिना निग्रहाधिकारस्य
मिच्छोत्तरमिधानात्, ” इत्यादि—गारुडान ५ ३६ ७२ ।

पृ ७४ पं २७ 'अप्ये च प्रागुक्तः'—उक्तना—“अथवा प्रागुक्तवस्तुवस्तुवाच्यं वक्राव
अन्वयमन्यपेक्षते । अतएव उक्तव्यमत्र ” प्रमेयक ५ २ ७ B

30 पृ० ७४ पं २३ 'शुक्लमित्याह'—प्रभाष्यमीमांसा अमूरी होने के कारण 'पत्रपरीक्षा'
प्रारम्भ से ही कण्डित है । अस्यासी इसे पूर्ववया विधानम् की 'पत्रपरीक्षा' जो एक स्वल्प
प्रकरण है उससे तथा प्रमेयक्रममार्तपण्डगत (५ २ ७ B) 'पत्रपरीक्षा' से जान लेंगे ।

वृद्धिपत्रक ।

पृ० १ पं० १ 'दर्शन'-दर्शन शब्द के तीन अर्थ सभी परम्पराओं में प्रसिद्ध हैं जैसे- षट्दर्शन इत्यादि ब्यबहार में षाण्णुप ज्ञान अर्थ में, भास्मदर्शन इत्यादि ब्यबहार में माच्छात्कार अर्थ में और म्यायदर्शन, सांख्यदर्शन इत्यादि ब्यबहार में ज्ञान ज्ञास परम्परासम्मत निरिच्छ विचारस्तरणी अर्थ में दर्शन शब्द का प्रयोग सर्वसम्मत है पर उसके दो अर्थ जो जैनपरम्परा में प्रसिद्ध हैं वे अन्य परम्पराओं में प्रसिद्ध नहीं। उनमें से एक अर्थ तो है 5
 अज्ञान और दूसरा अर्थ है सामान्यबोध या आलोकन मात्र। जैनशास्त्रों में तरहभ्रष्टा को दर्शन पद से ब्यबहृत किया जाता है जैसे—'तत्त्वार्थप्रदानं सम्बन्धदर्शनम्'-नन्वर्थ १ २। इसी तरह वस्तु के निश्चयेपसत्तामात्र के बोध को भी दर्शन कहा जाता है जैसे—'विषय विषयिसभिपादात्मन्तरसमुद्भूतसत्तामात्रगोचरदर्शनात्'-प्रमाण २ ७। दर्शन शब्द के उक्त पाँच अर्थों में से अन्तिम सामान्यबोधरूप अर्थ लेकर ही यहाँ विचार प्रस्तुत है। इसके 10
 सम्बन्ध में यहाँ छ. सुद्धों पर कुछ विचार किया जाता है।

१ अस्तित्व-जिस बोध में वस्तु का निश्चयेपस्वरूपमात्र भासित हो ऐम बोध का अस्तित्व एक या दूसरे नाम से तीन परम्पराओं के सिवाय सभी परम्पराएँ स्वीकार करती हैं। जैनपरम्परा जिसे दर्शन कहती है उसी सामान्यमात्र बोध को म्याय-वैशेषिक सांख्य-योग तथा 15
 पूर्वोत्तरमीमांसक निर्विकल्पक और आलोकनमात्र कहते हैं। शैखपरम्परा में भी इसका निर्विकल्पक नाम प्रसिद्ध है। उक्त सभी दर्शन ऐमा मानते हैं कि ज्ञानव्यापार के उत्पत्ति क्रम में सर्वप्रथम ऐसे बोध का स्थान अनिर्धार्यरूप से आता है जो प्रायः विषय के सम्मात्र स्वरूप का ग्रहण करे पर जिसमें कोई भी विशेष्यविशेष्यरूप से भासित न हो। फिर भी? मध्य 20
 और बह्वचन की दो वेदान्त परम्पराएँ और तीसरी मध्य हरि और उसके पूर्ववर्ती शास्त्रिकों की परम्परा ज्ञानव्यापार के उत्पत्तिक्रम में किसी भी प्रकार के सामान्यमात्र बोध का अस्तित्व स्वीकार नहीं करती। उक्त तीन परम्पराओं का मन्तव्य है कि ऐसा बोध कोई हो ही नहीं सकता जिसमें कोई न कोई विशेष भासित न हो या जिसमें किसी भी प्रकार का विशेष्य

१ दर्शन शब्द का आलोकन अथ विद्यका वृत्त नाम अनाकार उपयोग भी है यहाँ कहा गया है सा हकेताम्बरदिगम्बर दोनो परम्परा की अति प्रसिद्ध मान्यता के लेकर। वस्तुतः दोनो परम्पराओं में अनाकार उपयोग के सिवाय अन्य अर्थ भी दर्शन शब्द के देखे जाते हैं। उदाहरणार्थ—'लिङ्ग के बिना ही वाच्य होनेवाला बोध अनाकार या दर्शन है और लिङ्ग तापेत्त बोध ताकार या ज्ञान है—यह एक मत। वृत्त मत ऐसा भी है कि वतमानमात्रमात्र बोध-दर्शन और प्रैकासिक प्राणी बोध-ज्ञान—तत्त्वार्थ मा० टी० पृ. ६। दिगम्बरीय ब्रह्मा टीका का ऐसा भी मत है कि जो अज्ञानमात्र का अवलोकन वह दर्शन और जो बाह्य अर्थ का प्रकाश वह ज्ञान। यह मत बृहद्दर्शनप्रवृत्तीका (गा ४४) तथा लघुवचनी की अमयपत्रकटीका (१ ५) में निरिद्ध है।

विशेषज्ञसम्बन्ध मानित न हो। उनका कहना है कि प्राबलिकदशापन्न ज्ञान भी किसी न किसी विशेष को, चाहे वह विशेष स्थूल ही क्यों न हो, प्रकाशित करता हो। अतएव ज्ञानमात्र सविकल्पक है। निर्विकल्पक का मतसुद्ध इतना ही समझना चाहिए कि उसमें इतर ज्ञानों की अपेक्षा विशेष कम भासित होते हैं। ज्ञानमात्र का सविकल्पक माननेवाली उक्त 6 तीम परम्पराओं में भी शाब्दिक परम्परा ही प्राधान्य है। सम्भव है भर्तृहरि की उक्त परम्परा का ही मध्य धीर वस्तुम नै अपनाया हो।

२. लौकिकाधोक्तिकता—निर्विकल्पक का अस्तित्व माननेवाली सभी दार्शनिक परम्परायें लौकिक निर्विकल्पक अर्थात् इन्द्रियसन्निकर्षजन्य निर्विकल्पक को वा मानती हैं ही पर बड़ा प्रश्न है अधोक्तिक निर्विकल्पक के अस्तित्व का। जैन धीर बौद्ध दोनों परम्परायें ऐसे भी 10 निर्विकल्पक को मानती हैं जो इन्द्रियसन्निकर्ष के सिवाय भी बोध या चिष्टिद्वारमगति से उत्पन्न होता है। बौद्धपरम्परा में ऐसा अधोक्तिक निर्विकल्पक चागिसंबेदन के नाम से प्रसिद्ध है जब कि जैनपरम्परा में भवविदर्शन धीर कबखदर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। म्याय-बैशेषिक, सांख्य-योग धीर पूर्वोत्तरमीमांसक विविध कक्षावाले योगियों का तथा उनके धागजन्म अधोक्तिक ज्ञान का अस्तित्व स्वीकार करते हैं अतएव उनके मतानुसार भी अधोक्तिक 15 निर्विकल्पक का अस्तित्व मान लेने में कुछ बाधक काम नहीं पड़ता। अगर यह धारणा ठीक है तो कहना होगा कि सभी निर्विकल्पकतास्तित्ववादी सविकल्पक ज्ञान की तरह निर्विकल्पक ज्ञान का भी लौकिक अधोक्तिकरूप से दो प्रकार का मानते हैं।

३. विषयस्वरूप—सभी निर्विकल्पकवादी सत्तामात्र को निर्विकल्पक का विषय मानते हैं पर सत्ता क स्वरूप के बारे में सभी एकमत नहीं। अतएव निर्विकल्पक क प्राज्ञ विषय 20 का स्वरूप भी भिन्न-भिन्न दशन के अनुसार सुला-सुदा ही फलित होता है। बौद्धपरम्परा के अनुसार अर्धकृपाकारिण ही सत्त्व है धीर बद्ध भी चञ्चिक इच्छिमात्र में ही पयवसित है जब कि शंकर बदान्त क अनुसार अज्ञान धीर अर्धकृपायक बद्ध ही सत्त्वस्वरूप है जा म वेद बद्ध है म कामबद्ध। स्वाय बैशेषिक धीर पूर्व मीमांसक के अनुसार अस्तित्व मात्र सत्ता है पा न तिरूप सत्ता है जो बौद्ध धीर वेदान्तमन्मत सत्ता से भिन्न है। सांख्य-धाग धीर जैनपर 3 परा में सत्ता म तो चञ्चिक इच्छि मात्र निरूप है म ब्रह्मस्वरूप है धीर म जातिरूप है। उक्त तीनों परम्परायें परिहामिनिस्वरुवादी होने क कारण इनक मतानुसार उत्पाद-उत्पन्न प्रौढय-रूप ही सत्ता फलित होती है। जा कुछ ही पर इतना ही निर्विकल्पक है कि सभी निर्विकल्पकवादी निर्विकल्पक क प्राज्ञ विषय रूप से सम्प्राप्त का ही प्रतिपादन करत हैं।

४. मात्र प्रत्यक्षरूप—काई ज्ञान पराचरूप भी होता है धीर प्रत्यक्षरूप भी जैसे सवि 3 कल्पक ज्ञान पर निर्विकल्पक ज्ञान ता सभी निर्विकल्पकवादीओं के द्वारा कबच प्रत्यक्ष रूप माना गया है। काइ इसकी पराचता मदी मानता, क्योंकि निर्विकल्पक, चाहे आर्तिक हा या अज्ञातिक पर हमकी उत्पत्ति किसी ज्ञान न स्वबहित म ज्ञान क कारण वह मात्तानुरूप ज्ञान से प्ररूप ही है। परन्तु जैनपरम्परा क अनुसार दशन की गटना

परोक्ष में भी की जाती चाहिए, क्योंकि तार्किक परिभाषा के अनुसार परोक्ष मतिज्ञान का सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा जाता है अतएव तदनुसार मति उपयोग के क्रम में सर्व प्रथम अक्षय होनेवाले दर्शन नामक बोध को भी सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा जा सकता है पर आगमिक प्राचीन विभाग, जिनमें पारमार्थिक सांख्यव्यवहारिकरूप से प्रत्यक्ष के भेदों का स्थान नहीं है, तदनुसार तो मतिज्ञान परोक्ष मात्र ही माना जाता है जैसा कि तत्त्वार्थ सूत्र (१ ११) में देखा जाता है। तदनुसार जैनपरम्परा में इन्द्रियजन्य दर्शन परोक्षरूप ही है प्रत्यक्षरूप नहीं। सारांश यह कि जैन परम्परा में तार्किक परिभाषा के अनुसार दर्शन प्रत्यक्ष भी है और परोक्ष भी। अर्थात् और कबल रूप दर्शन तो मात्र प्रत्यक्षरूप ही है जब कि इन्द्रियजन्य दर्शन परोक्षरूप होने पर भी सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना जाता है। परन्तु आगमिक परिपाटा के अनुसार इन्द्रियजन्य दर्शन कबल परोक्ष ही है और इन्द्रियनिरपेक्ष 10 अक्षय्यादि दर्शन कबल प्रत्यक्ष ही है।

५ उत्पादक सामग्री—औकिक निर्विकल्पक या जैन तार्किक परम्परा के अनुसार सांख्यव्यवहारिक दर्शन है उसकी उत्पादक सामग्री में विषयेन्द्रियसन्निपात और यथासम्भव आङ्गोकादि सम्मिश्रित हैं। पर अलौकिक निर्विकल्पक जो जैनपरम्परा के अनुसार पारमा र्थिक दर्शन है उसकी उत्पत्ति इन्द्रियसन्निपक के सिवाय ही कबल विशिष्ट आत्मशक्ति से 15 मानी गई है। उत्पादक सामग्री के विषय में जैन और जैनेतर परम्परायें कोई मतभेद नहीं रखती। फिर भी इस विषय में शाङ्कर वेदान्त का मन्तव्य शुद्ध है जो ध्यान देने योग्य है। यह मानना है कि 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यजन्य अक्षण्ड ब्रह्मबोध भी निर्विकल्पक है। इसके अनुसार निर्विकल्पक का उत्पादक शब्द भावि भी शुद्धा जो अन्वय परम्परा-सम्मत नहीं। 20

६ प्रामाण्य—निर्विकल्प के प्रामाण्य के सम्बन्ध में जैनेतर परम्परायें भी एकमत नहीं। बौद्ध और वेदान्त दर्शन तो निर्विकल्पक को ही प्रमाय मानते हैं इतना ही नहीं बल्कि जबके मतानुसार निर्विकल्पक ही मुख्य व पारमार्थिक प्रमाय है। म्याय-वैरोपिक दर्शन में निर्विकल्पक के प्रमात्व सम्बन्ध में एकविध कल्पना नहीं है। प्राचीन परम्परा के अनुसार निर्विकल्पक प्रमारूप माना जाता है जैसा कि श्रीधर ने स्पष्ट किया है (कन्दली ५ 25 १६८) और विश्वनाथ ने भी अममिन्नस्वरूप प्रमात्व मानकर निर्विकल्पक को प्रमा कहा है (कारिकावली का ११४) परन्तु गण्ड श की मन्व परम्परा के अनुसार निर्विकल्पक न प्रमा है और न अप्रमा। तदनुसार प्रमात्व कि वा अप्रमात्व प्रकारवादिपटित होने से, निर्विकल्पक जो प्रकारवादिशून्य है वह प्रमा-अप्रमा तन्मय विलक्षण है—कारिकावली का ११५। पूर्वमीमांसक और सांख्य-योगदर्शन सामान्यतः ऐसे विषयों में म्याय-वैरोपिकानुसारी होने से उनके 30 मतानुसार भी निर्विकल्पक के प्रमात्व की वे ही कल्पनायें मानी जाती चाहिए जो म्याय वैरोपिक परम्परा में रिबर हुई हैं। इस सम्बन्ध में जैन परम्परा का मन्तव्य यहाँ विशय रूप से दर्शन करने योग्य है।

जैनपरम्परा में प्रमाद कि वा प्रामाण्य का प्रश्न उसमें तर्कयुग आने के बाद था है पहिले का नहीं। पहिले वा उसमें मात्र भागमिक दृष्टि थी। भागमिक दृष्टि के अनुसार दशनापयोग को प्रमाद कि वा अप्रमाद कहने का प्रश्न ही न था। उस दृष्टि के अनुसार दर्शन वा ज्ञान वा तो वह सम्पन्न हो सकता है वा मिथ्या। उसका सम्बन्ध और मिथ्यात्व भी प्राथमिक मातानुसारी ही माना जाता था। अगर कोई आत्मा कम से कम चतुर्ब 5 गुणस्थान का अधिकारी हो अर्थात् वह सम्पन्नत्व प्राप्त हो तो उसका सामान्य वा विशेष कोई भी उपयोग मोक्षमार्गरूप तथा सम्पन्न माना जाता है। तदनुसार भागमिक दृष्टि से सम्पन्नयुक्त आत्मा का दर्शनोपयोग सम्बन्धीय है और मिथ्यादृष्टियुक्त आत्मा का दर्शनोपयोग मिथ्यादर्शन है। व्यवहार में मिथ्या भ्रम वा अविधायी समझा जानेवाला भी 10 दर्शन अगर सम्पन्नधारि आत्मगत है तो वह सम्पन्नदर्शन ही है जब कि सत्य, भ्रम और भ्रमापि त समझा जानेवाला भी दर्शनोपयोग अगर मिथ्यादृष्टियुक्त है तो वह मिथ्यादर्शन ही है।

दर्शन के सम्पन्न तथा मिथ्यात्व का भागमिक दृष्टि से जो प्राथमिक बर्णन ऊपर किया गया है वह सम्पत्तिटोकाकार अर्थवत्त्व ने दर्शन को भी प्रमाद कहा है इस आधार पर समझना चाहिए। तथा उपाध्याय ब्रह्मविजयजी ने शेष्य भाषि ज्ञानों को भी सम्पन्न दृष्टि 15 युक्त होने पर सम्पन्न कहा है इस आधार पर समझना चाहिए। भागमिक प्राचीन और श्वेताम्बर-दिगम्बर समय साधारण परम्परा तो ऐसा नहीं मानती, क्योंकि दोनों परम्परामों के अनुसार बहुत अथवा और अवधि तीनों दर्शन दर्शन ही माने गये हैं। उनमें से न कोई सम्पन्न था न कोई मिथ्या और न कोई सम्पन्नमिथ्या अथवाविषय माना गया है जैसा कि मति-ज्ञान अथवा ज्ञान सम्पन्न और मिथ्या रूप से विभाजित हैं। इससे यही कथित होगा 20 है कि दर्शन उपयोग मात्र मिराकार होने से उसमें सम्पन्नदृष्टि कि वा मिथ्यादृष्टिप्रयुक्त अन्तर की कल्पना की नहीं जा सकती। दर्शन चाहे बहुत वा अथवा हो वा अथवा-वह दर्शन मात्र है उस न सम्पन्नदर्शन कहना चाहिए और न मिथ्यादर्शन। यही कारण है कि पहिले गुण 3 स्थान में जो वे दर्शन ही माने गए हैं जैसा कि चौथे गुणस्थान में। यह वस्तु गन्धहृति सिद्धसे न सूचित भी की है—अत्र च यथा साकाराद्यान्व सम्पन्नमिथ्यादृष्ट्याविशेष, 25 नैवमस्ति दर्शने अनाकारत्वं ह्योरपि तुल्यत्वादिबर्णनं—तन्मात्रमा टी १ ६।

वह हुए भागमिक दृष्टि की बात जिसके अनुसार उमादादि ने उपयोग में सम्पन्न अथवा अथवा का निदर्शन किया है। पर जैनपरम्परा में तर्कयुग दालित होते ही प्रमाद अप्रमाद वा प्रामाण्य अप्रामाण्य का प्रश्न आया। और इसका विचार भी प्राथमिक 3 रिक्त मातानुसारी न होकर विषयानुसारी कि वा जाने लगा जैसा कि जैनपर दर्शन में तार्किक विज्ञान कर रहा है। इस तार्किकदृष्टि के अनुसार जैनपरम्परा दर्शन को प्रमाद मानती है, अप्रमाद मानती है अथवा रूप मानती है वा अथवा मानती है ? यह प्रश्न यहाँ प्रस्तुत है।

वार्तिकदृष्टि के अनुसार भी जैनपरम्परा में दर्शन के प्रमात्व या अप्रमात्व के बारे में कोई एकवाक्यता नहीं । सामान्यरूप से श्वेताम्बर या विगम्बर सभी वार्तिक दर्शन को प्रमाय कोटि से बाहर ही रखते हैं । क्योंकि वे सभी बौद्धसम्मत निर्बिकल्पक के प्रमात्व का लण्डन करते हैं और अपने अपने प्रमाय लक्षण में विशेषापयोगबोधक ज्ञान, निर्णय आदि पद वाञ्छित करके सामान्य उपयोग दर्शन को प्रमाय लक्षण का अलक्षण ही मानते हैं १ । इस तरह दर्शन को प्रमाय न मानने की वार्तिक परम्परा श्वेताम्बर-विगम्बर सभी प्रम्भों में सामारब्ध है । माखिम्बनन्वी और बादी देवसूरी ने वे दर्शन को न केवल प्रमायबाह्य ही रक्खा है बल्कि उसे प्रमायभास (परी ६२ । प्रमाण ६ २४, २६) भी कहा है ।

सम्प्रतिटीकाकार अमरदेव ने (सम्प्रतिटी ५ ४४०) दर्शन को प्रमाय कहा है पर वह कथन वार्तिकदृष्टि से न समझना चाहिये । क्योंकि उन्होंने आगमानुसारी सम्प्रति की व्याख्या करते समय आगमदृष्टि ही लक्षण में रखकर दर्शन को सम्प्रदर्शन अर्थ में प्रमाय कहा है, न कि वार्तिकदृष्टि से विषयानुसारी प्रमाय । यह बिनाक उनक उस सन्दर्भ से हो गाया है ।

अलक्षणा उपाध्याय यशोविजयजी के दर्शन सम्बन्धी प्रामाण्य अप्रामाण्य विचार में कुछ विरोध सा मान पड़ा है । एक ओर वे दर्शन को अप्रमायभावमह-अनन्तरभाषी नैरेषयिक अवग्रहरूप बतलाते हैं २ जो मतिव्यापार होने के कारण प्रमाय कोटि में आ सकता है । और दूसरी ओर वे वादिदेव के प्रमाय लक्षणवाले सूत्र की व्याख्या में ज्ञानपद का प्रयोग बतलाते हुए दर्शन का प्रमायकोटि से बहिर्भूत बतलाते हैं—तर्कमापा ५ १ । इस तरह उनके कथन में अहाँ एक ओर दर्शन बिलकुल प्रमायबहिर्भूत है वहाँ दूसरी ओर अवग्रह रूप होने से प्रमायकोटि में आने योग्य भी है । परन्तु मान पड़ा है उनका तात्पर्य कुछ और है । और सम्भवतः वह तात्पर्य यह है कि मत्सर्य होने पर भी नैरेषयिक अवग्रह प्रवृत्ति-निवृत्तिव्यवहारकम न होने के कारण प्रमायरूप गिना ही न जाना चाहिये । इसी अभिप्राय से उन्होंने दर्शन को प्रमायकोटिबहिर्भूत बतलाया है ऐसा मान होने से फिर कोई विरोध नहीं रहता ।

आचार्य हमचन्द्र ने वृत्ति में दर्शन से सम्बन्ध रखनवाले विचार हीम जगह प्रसङ्गचय प्रगट किए हैं । अवग्रह का स्वरूप बतलाते हुए उन्होंने कहा है कि दर्शन जो अविकल्पक है वह अवग्रह नहीं, अवग्रह का परियायी काष्ठ अवग्रह है और वह इन्द्रियार्थसम्बन्ध के बाद पर अवग्रह के पूर्व उत्पन्न होता है—१ १ २६ । बौद्धसम्मत निर्बिकल्पक ज्ञान को अप्रमाय बतलाते हुए उन्होंने कहा है कि वह अनव्यवसाय रूप होने से प्रमाय नहीं, अव्यवसाय या निर्णय ही प्रमाय गिना जाना चाहिये—१ १ ६ । उन्होंने निर्णय का अर्थ बतलाते हुए कहा है कि अनव्यवसाय से भिन्न तथा अविकल्पक एवं संशय से भिन्न ज्ञान ही निर्णय है—

१ छधी परी० १ ३ । प्रमेयक० पृ० ८ । प्रमाण० १ २
२ तर्कमापा पृ० १ । ज्ञानपिण्डु पृ० १३८ ।

पृ ३ पं १ । आचार्य के उक्त सभी कथनों से प्रकृतियत यही होता है कि वे जैनपरम्परा प्रसिद्ध दर्शन और बौद्धपरम्परा प्रसिद्ध निधि कल्पक का एक ही मानते हैं और दृग्म का अनिर्बन्ध रूप होने से प्रमाण नहीं मानते तथा उनका यह अभिप्राय कथन भा तार्किक दृष्टि से है, प्रागम दृष्टि में नहीं जैसा कि अभ्यन्तरे भिन्न सभी जैन तार्किक मानते प्राय हैं ।

भा० इमवन्प्राक्त अभ्यन्तरे का परिणामिकारणरूप दर्शन ही अथाभ्यायत्री का नैरवधिक अभ्यन्तरे समझना चाहिये ।

पृ० ३ पं० १४ 'स्वनिर्णय'—दाशनिक चर में ज्ञान स्वप्रकाश है, परप्रकाश है या स्व-परप्रकाश है, इन प्रश्नों का बहुत जल्दी और विविधकल्पनापूर्ण जवाब है । इस विषय में किसका क्या पक्ष है इसका बर्तन करने के पक्षिण कुछ सामान्य बातें जान लेनी बहरी हैं जिससे स्वप्रकाशत्व-परप्रकाशत्व का भाव ठीक ठीक समझा जा सके ।

१—ज्ञान का स्वभाव प्रत्यक्ष योग्य है । ऐसा सिद्धांत कुछ लोग मानते हैं जब कि दूसरे कोई इससे विद्वक्तुन विपरीत मानते हैं । वे कहते हैं कि ज्ञान का स्वभाव पराक्ष ही है प्रत्यक्ष नहीं । इस प्रकार प्रत्यक्ष पराक्षरूप से ज्ञान क स्वभावभेद की कल्पना ही स्वप्रकाशत्व-परप्रकाशत्व की चर्चा का मूलाधार है ।

२—स्वप्रकाश शब्द का अर्थ है स्वप्रत्यक्ष अर्थात् अपने प्राय ही ज्ञान का प्रत्यक्षरूप से भासित होना । परन्तु परप्रकाश शब्द क हो अर्थ है जिनमें से पहिजा तो परप्रत्यक्ष अर्थात् एक ज्ञान का अन्य ज्ञानव्यक्ति में प्रत्यक्षरूप से भासित होना, दूसरा अर्थ है परानुमेय अर्थात् एक ज्ञान का अन्य ज्ञान में अनुमेयरूपतया भासित होना ।

३—स्वप्रत्यक्ष का यह अर्थ नहीं कि कोई ज्ञान स्वप्रत्यक्ष है अतः यह उसका अनुभाव प्रायि द्वारा बोध होता ही नहीं पर उसका अर्थ इतना ही है कि जब कोई ज्ञान व्यक्ति पैदा हुई तब वह स्वाभाव प्रमाता का प्रत्यक्ष हाती ही है अन्य प्रमाताओं के लिये उसकी पराक्षता ही है तथा स्वाभाव प्रमाता क लिये भी वह ज्ञान व्यक्ति यदि वर्तमान नहीं तो पराक्ष ही है । परप्रकाश क परप्रत्यक्ष अर्थ क पक्ष में भी यही बात लागू है—अर्थात् वर्तमान ज्ञान व्यक्ति ही स्वाभाव प्रमाता क लिये प्रत्यक्ष है अन्यथा नहीं ।

विज्ञानवादी मीमांसा (स्वाविकि १ १) मीमांसक प्रमाकर^१ ब्रह्मन्त^२ और जैन के स्वप्रकाशवादी हैं । वे सब ज्ञान क स्वरूप क विषय में एक मत नहीं । क्याकि विज्ञानवादी

१ 'अननुभूते स्वप्रकाशत्वमुक्तं श्रियपञ्चाशत्तन्वेद्यायां ज्ञानुत्पत्तिसंक्षेपे म ह तर्षेतां तर्षेतां तर्षेति निबन्धा स्थि परानुभवस्य ज्ञानायादानादिति ह्यकाशुमानजानविषयकत्वात् स्वातुमवस्थाप्यतीतस्वाविकि-पानिस्थि ज्ञानविषयत्वदर्शनाय ।"—भीमाष्य पृ० २४ ।

२ 'तर्षेतिज्ञानहेतुत्वा मिठी मातरं च प्रमा । साक्षात्तुत्वधामान्वात् प्रत्यक्षत्वन समता ॥"—प्रकररूप पृ० २६ ।

३ भासती पृ० १६ । "तेन स्वप्रकाशाशुभक्तिः"—भीमाष्य पृ० १८ । चित्तुखी पृ १ ।

के अनुसार ज्ञानमिन्न अर्थ का अस्तित्व ही नहीं? और ज्ञान भी साकार । प्रभाकर के मतानुसार बाह्यार्थ का अस्तित्व है (वृत्तौ पृ ७४) जिसका संवन्न होता है । वेण्ण्ण के अनुसार ज्ञान मुख्यतया ब्रह्मरूप होने से निम्न ही है । जैन मत प्रभाकर मत की तरह बाह्यार्थ का अस्तित्व और ज्ञान का अन्य स्वीकार करता है । फिर भी वे सभी इस बारे में एकमत हैं कि ज्ञानमात्र स्वप्रत्यक्ष हैं अर्थात् ज्ञान प्रत्यक्ष हो या अनुमिति, शब्द स्मृति 5 भादि रूप हो फिर भी वह स्वस्वरूप के विषय में साक्षात्काररूप ही है अर्थात् अनुमितित्व शब्दस्वर, स्मृतित्व भादि अन्य प्राज्ञ की अपेक्षा से समझना चाहिए अर्थात् मित्र मित्र सामग्री से प्रत्यक्ष, अनुमेय, स्मर्तव्य भादि विभिन्न विषयों में उत्पन्न होनेवाले प्रत्यक्ष अनुमिति स्मृति भादि ज्ञान भी स्वस्वरूप के विषय में प्रत्यक्ष ही हैं ।

ज्ञान को परप्रत्यक्ष अर्थ में परप्रकाश माननेवाले सांख्य योगी और न्याय-वैशेषिक 10 हैं । वे कहते हैं कि ज्ञान का स्वभाव प्रत्यक्ष होने का है पर वह अपने भाष प्रत्यक्ष हो नहीं सकता । उसकी प्रत्यक्षता भ्रम्यामिन्न है । अतएव ज्ञान चाहे प्रत्यक्ष हो, अनुमिति हो, या शब्द, स्मृति भादि अन्य कोई, फिर भी वे सब स्वविषयक अनुभववसाय के द्वारा प्रत्यक्षरूप से गृहीत होते ही हैं । परप्रत्यक्षत्व के विषय में इनका ऐकमत्य होने पर भी पर शब्द के अर्थ के विषय में ऐकमत्य नहीं क्योंकि न्याय-वैशेषिक के अनुसार तो पर का अर्थ 15 है अनुभववसाय जिसके द्वारा पूर्ववर्ती कोई भी ज्ञानम्बलि प्रत्यक्षतया गृहीत होती है परन्तु सांख्य-योग के अनुसार पर शब्द का अर्थ है चैतन्य या पुरुष का सत्त्व स्वरूप है और जिसके द्वारा ज्ञानात्मक सभी बुद्धिवृत्तियाँ प्रत्यक्षतया भासित होती हैं ।

पराणुमेय अर्थ में परप्रकाशवादी केवल कुमारिख हैं जो ज्ञान को स्वभाव से ही परोक्ष मानकर उसका तन्मयज्ञातत्वरूप शिबू के द्वारा अनुमान मानते हैं जो अनुमान कायदेष्टुक 20 कारकविषयक है—शाब्दो पृ १२७ । कुमारिख क सिवाय और कोई ज्ञान को अस्वयं परोक्ष नहीं मानता । प्रभाकर क मतानुसार जो अक्षरसंविधि से ज्ञान का अनुमान माना जाता है वह कुमारिख-समत प्राकट्यरूप फल से होनेवाले ज्ञानानुमान से बिल्कुल जुदा है । कुमारिख तो प्राकट्य से ज्ञान, जो अस्वयंसमवेत गुण है अर्थात् अनुमान मानते हैं जब कि प्रभाकरमतानुसार संविधिरूप फल से अनुमित होनेवाला ज्ञान वस्तुतः ज्ञान गुण नहीं किन्तु 25 ज्ञानगुणजनक सन्निकष भादि जड़ सामग्री ही है । इस सामग्री रूप अर्थ में ज्ञान शब्द के प्रयोग का समर्पण करबाध्यक अर्थ प्रत्यय मान कर किया जाता है ।

१ "उद्येनलम्भनियमावर्धेनेनीततन्वियो" बृहती पृ० ६३ । "प्रकाशमानस्तावत्स्वरूपस्य प्रकाशक । यथा प्रकाशोऽभिमतः तथा अज्ञानमवर्धनी । — प्रमाद्यज्ञा० ३ ३२३ ।
 २ अविज्ञानहेतुत्वा ... बावती वाचिद्वमहेश्वरश्रुत्या" — प्रकरणाप० पृ० ३६ ।
 ३ तथा ज्ञात द्विचक्षुषमस्तधमेतः पुरुषस्यापरिचामित्वात् । न तद्व्यापार इत्येवात् — योगसू० ४ १८, १३ ।
 ४ "ममोप्राज्ञ इति बुद्धिमिच्छा हेतो मति इति" — कारिकापत्री ३७ ।
 ५ अविद्वत्सिद्धकारणमात्मनः अविद्वत्प्राप्तं तदित्यवयव्य पठित्पठामाभुम्भता" — प्रकरणाप० पृ० ३३ ।

आचार्य हेमचन्द्र ने जैन परम्परासम्मत ज्ञानमात्र को प्रत्यक्षत्व स्वभाव का सिद्धांत मानकर ही उसका स्थानियत्व स्थापित किया है और उपर्युक्त द्विविध परप्रकाशत्व का प्रतिपाद किया है। इनके स्वपक्षस्थापन और परपक्ष-निरास का दखीले तथा प्रत्यक्ष-अनुमान प्रमाय का उपन्यास यह सब वैसा ही है जैसा शास्त्रिकताव की प्रकरखण्डिका तथा 6 मीमांष्य भाषि में है। स्वपक्ष को ऊपर औरों क द्वारा उद्भावित दोनों का परिहार भी आचार्य का वैसा ही है जैसा उक्त ग्रन्थों में है।

४० - ६ पं० २६ 'विशुद्ध'—प्रत्यक्ष को सम्बन्ध में अन्य मुद्दों पर लिखने के पहले यह कटा देना जरूरी है कि प्राचीन समय में सहायकार श्रुति प्रत्यक्ष सहाय का कल्प कितना समस्त वे भर्त्सित् व अन्य प्रत्यक्ष मात्र को सहाय मानकर सहाय रखते थे या नन्व-नित्य- 10 माधारण प्रत्यक्ष को सहाय मानकर सहाय रखते थे जैसा कि उत्तरकाळीन नैयायिका ने भागो काकर अन्य कित्य साधारण प्रत्यक्ष का सहाय रखा है ?। जहाँ तक देखा गया वतसे यही जान पड़ता है कि प्राचीन समय क सहायकारों में से किसी ने चाहे वह ईश्वरविराधी नैयायिक वैशेषिक ही क्यों न हो अन्य-नित्य माधारण प्रत्यक्ष का सहाय नमाया नहीं है। ईश्वर- 15 विराधी हो या ईश्वरविराधी सभी दर्शनकारों के प्राचाम मूल ग्रन्थों में एक मात्र अन्यप्रत्यक्ष का ही महत्व है। नित्यप्रत्यक्ष का किसी में सम्भव भी है और सम्भव है तो वह ईश्वर में ही होता है इस बात का किसी प्राचीन ग्रन्थ में सूचन तक नहीं है। अतीवपयत्व के द्वारा 20 के प्रामाण्य का समयन करनेवाले मीमांसकों के विरुद्ध न्याय-वैशेषिक दर्शन न यह स्थापन तो शुरू कर दिया कि वेद अन्तःसक और अनिर्दिष्ट होने स वसका प्रामाण्य अतीव पयत्व-मूलक नहीं किन्तु पीठवेपयत्व-मूलक ही है। फिर भी वस दर्शन क प्राचीन विद्वानों ने वेद प्रयत्नारूप से कहीं ईश्वर का स्पष्ट स्थापन नहीं किया है। उन्होंने वेद को अस्त- 25 श्रुतिप्रदीप्त कट कर ही वसका प्रामाण्य मीमांसक-सम्मत प्रक्रिया से भिन्न प्रक्रिया द्वारा स्थापित किया और साथ ही वेदप्रामाण्यवादी जैन बौद्ध भाषि का जबाब भी दे दिया कि वद प्रमाय है क्योंकि वसक प्रमेता हमारे मान्य श्रुति मात्र ही रहे ?। पिछले व्याख्याकार नैयायिका न जैन ईश्वर का जगत्कटा भी माना और वद प्रमेता भी इसी तरह उन्होंने वसमें 3 नित्यज्ञान की कल्पना भी की जैसे किसी भी प्राचीन वैदिक दर्शनग्रन्थों में न ता ईश्वर का जगत्कटा रूप स न वक्तृत्वा रूप स स्पष्ट स्थापन है और न कहीं भी वसमें नित्यज्ञान क अस्तित्व का उल्लेख भी है। अतएव यह सुनिश्चित है कि प्राचीन सभी प्रत्यक्ष लक्ष्यों का सहाय कल्प अन्य प्रत्यक्ष ही है। इसी अन्य प्रत्यक्ष का लेकर कुछ मुद्दों पर यहाँ विचार प्रस्तुत है।

१ पेश० ३ ३. १८। इन्द्रियायत्तन्मिहोत्पन्नमन्त्रवेदमन्त्रविचारि अत्रतापामकं प्रत्यक्षम् -
 न्यायगू० १ १ ४। 'मन्त्रिण्ययत्तन्मिहोत्पन्नमन्त्रवेदमन्त्रविचारि अत्रतापामकं प्रत्यक्षम्' -
 १ ३। "तन्मन्त्राणां पुत्रमन्त्रिण्ययत्तन्मिहोत्पन्नमन्त्रवेदमन्त्रविचारि अत्रतापामकं प्रत्यक्षम्"
 प्रवर्तते। स्पष्टा वस्तव वा बुद्धिः प्रत्यक्षे वा निरूप्यते ॥—चरकस० ११ २०।
 २ न्यायगू० १ १. ७। २. १ ११। पेशी ३ ३. ११।

१ शैक्षिकाशैक्षिकता—प्राचीन समय में खर्यकोटि में जन्यमात्र ही निविष्ट था फिर भी वाबाक क सिवाय सभी दर्शनकारों ने अन्य प्रत्यक्ष क शैक्षिक अशैक्षिक ऐम दो प्रकार माने हैं । सभी ने इन्द्रियजन्य और मनामात्रजन्य वर्तमान संबन्ध-विषयक ज्ञान को शैक्षिक प्रत्यक्ष कहा है । अशैक्षिक प्रत्यक्ष का ब्यत भिन्न भिन्न दर्शनों में भिन्न भिन्न नाम स है । सांख्य-योग,^१ न्याय-वैशेषिक,^२ बौद्ध^३ सभी अशैक्षिक प्रत्यक्ष का योगि-^४ प्रत्यक्ष या योगि ज्ञान नाम से निरूपण करते हैं जो योगजन्य सामर्थ्य द्वारा अनिव माना जाता है ।

मीमांसक जो सर्वदृश्य का खासकर पर्मापर्मसाक्षात्कार का एकान्त विरोधी है वह भी मोक्षाङ्गमूत्र एक प्रकार के आत्मज्ञान का अस्तित्व मानता है जो वस्तुतः योगजन्य या अशैक्षिक ही है^५ ।

वेदान्त में जो ईश्वरसाक्षोपैतन्य है वही अशैक्षिक प्रत्यक्ष रबानीय है ।

जैन दर्शन की भागमिक परम्परा ऐसे प्रत्यक्ष को ही प्रत्यक्ष कहती है^६ क्योंकि उस परम्परा क अनुसार प्रत्यक्ष कवच वही माना जाता है जो इन्द्रिय जन्य न हा । उस परम्परा के अनुसार वा दर्शनान्तरसंमत शैक्षिकप्रत्यक्ष प्रत्यक्ष नहीं पर परोक्ष है^७ फिर भी जैन दर्शन की तार्किक परम्परा प्रत्यक्ष के दो प्रकार मानकर एक को जिसे दर्शनान्तरों में अशैक्षिक प्रत्यक्ष कहा है सांख्यबहारिक प्रत्यक्ष कहती है^८ और दूसरे को जो दर्शनान्तरों में अशैक्षिक प्रत्यक्ष कहा जाता है पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहती है । तथा पारमार्थिक प्रत्यक्ष के कारणरूप से अर्थ्य या विशिष्ट आरमशक्ति का बर्णन करती है, जो एक प्रकार से जैन परिभाषा में योगज भर्म ही है ।

२ अशैक्षिक में निर्बिकल्पक का स्थान—अप्य प्रश्न यह है कि अशैक्षिक प्रत्यक्ष^{२०} निर्बिकल्पक ही होता है या सविकल्पक ही होता है, या तमयरूप ? । इसके उत्तर में एक वाक्यता नहीं । तार्किक बौद्ध और श्याङ्कर ब्रह्मण्ड- परम्परा के अनुसार वा अशैक्षिक प्रत्यक्ष निर्बिकल्प ही संभवित है सविकल्पक कभी नहीं । रामानुज का मत^{२१} इससे विद्वक्तुल अन्त है तदनुसार शैक्षिक हो या अशैक्षिक कोई भी प्रत्यक्ष सर्वथा निर्बिकल्पक संभव ही नहीं पर न्याय वैशेषिक आदि अन्य वैदिक दर्शन के अनुसार अशैक्षिक प्रत्यक्ष सविकल्पक^{२५}

१ योगसू० ३ ५४ । सांख्यका० ३४ ।

२ वैशे० ६ १ १३-१५ ।

३ न्यायवि० १ ११ ।

४ 'सर्वत्रैव हि विज्ञानं संस्कारत्वेन गम्यते । पराह आत्मविज्ञानारम्यप्रेतव्यकारणात् ॥'—

तन्त्रशा० पृ० २४० ।

५ तत्त्वार्थ० १ १५ ।

६ तत्त्वार्थ० १ ११ ।

७ दिव्यण पृ० ५२ ।

८ Indian Psychology Perception. P 353

९ 'अथ । प्रत्यक्षस्य कदाचिदपि न निविशेयविषयत्वम्'—श्री भाष्य पृ० २१ ।

निर्बिकल्पक-उभय संभवित नाम पड़ता है। यहाँ संभवित शब्द का प्रयोग इसलिये किया है कि भासवैश्व (न्यायसार ५ ४) जैसे प्रबल नैयायिक ने उक्तरूप से द्विविध बोधि-प्रत्यक्ष का स्पष्ट ही कथन किया है फिर भी कथादसूत्र और प्रयात्पदादमात्म भादि प्राचीन ग्रन्थों में ऐसा कोई स्पष्ट निर्देश नहीं। जैन परम्परा के अनुसार अद्वैतिक या परमात्मिक प्रत्यक्ष उभयरूप है। क्योंकि जैन दर्शन में जो अवधिदर्शन तथा कबलदर्शन नामक सामान्यबोध माना जाता है वह अद्वैतिक निर्बिकल्पक ही है। और जो अवधिज्ञान, मन-पर्यायज्ञान तथा केवलज्ञानरूप विशेषबोध है वही सविकल्पक है।

३ प्रत्यक्षत्व का निषामक—प्रश्न है कि प्रत्यक्षत्व को निषामक तत्त्व क्या है, जिसके कारण कोई भी बोध या ज्ञान प्रत्यक्ष कहा जाता है ? इसका जवाब भी दर्शनों में एकविध नहीं। नव्य शास्त्र वेदान्त के अनुसार प्रत्यक्षत्व का निषामक है प्रमाद्यवैतन्य और विषयवैतन्य का असेद जैसा कि वेदान्तपरिभाषा (५ २३) में सविस्तर बर्णित है। न्याय-वैशेषिक, सांख्य योग, बौद्ध, मीमांसक दर्शन के अनुसार प्रत्यक्षत्व का निषामक है सन्निकर्षकत्व, जो सन्निकर्ष से, चाहे वह सन्निकर्ष लौकिक हो वा अद्वैतिक उभय है, वह सब प्रत्यक्ष। जैन दर्शन में प्रत्यक्ष को निषामक तो उभय हैं। आगमिक परम्परा के अनुसार तो एक मात्र आत्ममात्र सापेक्षत्व ही प्रत्यक्षत्व का निषामक (वर्वाच १ १२) है। अब कि लौकिक परम्परा के अनुसार इसके अलावा इन्द्रियमतात्म्यत्व भी प्रत्यक्षत्व का निषामक फलित होगा है—प्रमाद्यनी १ २। बस्तुतः जैनलौकिक परम्परा न्याय-वैशेषिक भादि वैदिक दर्शमानुसारिणी ही है।

४ प्रत्यक्षत्व का क्षेत्र—प्रत्यक्षत्व केवल निर्बिकल्पक में ही मर्यादित है वा वह सविकल्पक में भी है ? इसके जवाब में बौद्ध का कथन है कि वह मात्र निर्बिकल्पक में मर्यादित है। अब कि बौद्ध मित्र सभी दर्शनों का मन्वन्व्य विविकल्पक-सविकल्पक दोनों में प्रत्यक्षत्व के स्वीकार का है।

५ अन्व-नित्यसाधारण प्रत्यक्ष—अभी तक मन्वमात्र का उचित मानकर उक्त की चर्चा हुई पर अन्वयुग में अब कि ईश्वर का अणुरूप रूप से या वेदप्रवेष्ट तप से न्याय-वैशेषिक दर्शनों में स्पष्ट तबान निर्वात हुआ तभी से ईश्वरीय प्रत्यक्ष नित्य मान जाने के कारण अन्व नित्य उभय साधारण प्रत्यक्ष लक्षण बनाने का प्रश्न ईश्वरवादिनों के सामने आया। ज्ञान पड़ना है ऐसे साधारण लक्षण का प्रयत्न भासवैश्व ने सर्वप्रथम किया। इसने 'सम्ब-गपरोक्षानुभव' (न्यायसार ५ २) को प्रत्यक्ष प्रमा कहकर अन्व-नित्य उभय प्रत्यक्ष का एक ही लक्षण बनाया। शास्त्रिकलाप को प्रमाकर का अनुगामी है इसने भी 'साक्षात्प्रतीति' (अकरण ५ ५१) को प्रत्यक्ष कटकर दूमरे शब्दों में बाह्यविषयक इन्द्रियजन्य तथा आत्मा और ज्ञानमाही इन्द्रियात्म्य ऐसे द्विविध प्रत्यक्ष (अकरण ५ ५१) से साधारण लक्षण का प्रयत्न किया। पर आगे गारुड मध्य नैयायिकों ने भासवैश्व के अग्ररोक्ष ५० तथा शास्त्रिकलाप के साक्षात्प्रतीति पद का 'ज्ञानाकरयज्ञान को अन्व-नित्य साधारण प्रत्यक्ष कहकर

अस्य परिभाषा में स्पष्टीकरण किया (मुफा० ५२)। इधर जैनदर्शन के तार्किकों में भी साधारणसूत्रप्रथम का प्रथम उपस्थित हुआ ज्ञान पड़ता है। जैन दर्शन नित्यप्रत्यक्ष तो मानता ही नहीं अथवा उसके सामने अस्य नित्यसाधारण सूत्र का प्रथम न बा। पर सांख्यव्यवहारिक, पारमार्थिक उभयविध प्रत्यक्ष के साधारण सूत्र का प्रथम था। ज्ञान पड़ता है इसका जबाब सर्व प्रथम सिद्धसेन दिखाने न ही दिया। उन्होंने अपरोक्षरूप 5 ज्ञान को प्रत्यक्ष कहकर सांख्यव्यवहारिक-पारमार्थिक उभयसाधारण अपरोक्षरूप को सूत्र बनाया। न्याय ५) यह नहीं कहा जा सकता कि सिद्धसेन के 'अपरोक्ष'पद के प्रयोग का प्रभाव सांख्यिक के सूत्र में है या नहीं?। पर इतना तो निश्चय ही है कि जैन परम्परा में अपरोक्षरूप से साधारण सूत्र का प्रथम सिद्धसेन ने ही किया।

६ दोष का निवारण—सिद्धसेन ने अपरोक्षरूप को प्रत्यक्ष मात्र का साधारण सूत्र 10 बनाया। पर इसमें एक त्रुटि है जो किसी भी सूत्रप्रथम तार्किक से छिपी रह नहीं सकती। वह यह है कि अगर प्रत्यक्ष का सूत्र अपरोक्ष है तो परोक्ष का सूत्र क्या होगा?। अगर यह कहा जाय कि परोक्ष का सूत्र प्रत्यक्षमिथरव या अप्रत्यक्षरव है तो इसमें स्पष्ट ही अस्म्यस्यास्य है। ज्ञान पड़ता है इस दोष को दूर करने का तथा अपरोक्षरूप को स्वरूप 15 को स्फुट करने का प्रथम सर्व प्रथम महारक अकलङ्क ने किया। उन्होंने बहुत ही प्राक्कल शब्दों में कह दिया कि जो ज्ञान विशद है वही प्रत्यक्ष है—श्लो ११। उन्होंने इस वाक्य में साधारण सूत्र तो गर्भित किया ही पर साथ ही उक्त अस्म्यस्यास्य दोष को भी टाक दिया। क्योंकि अब अपरोक्षपद ही निकल गया, जो परोक्षरूप के निर्वचन की अपेक्षा रखता था। अकलङ्क की दार्शनिकता ने कबल इतना ही नहीं किया पर साथ ही वैशद्य का स्फोट भी कर दिया। वह स्फोट भी ऐसा कि जिससे सांख्यव्यवहारिक पारमार्थिक दोनों 20 प्रत्यक्ष का संग्रह हो। उन्होंने कहा कि अनुमानादि की अपेक्षा विशेष प्रतिभास करना ही वैशद्य है—श्लो १५। अकलङ्क का यह साधारण सूत्र का प्रथम और स्फोट हो अक्षरबर्ती धर्म शब्दास्वर-दिगम्बर तार्किकों के प्रत्यक्ष सूत्र में प्रतिबिम्बित हुआ। किसी ने विशद पद के स्थान में 'स्पष्ट' पद (प्रमाण २२) रखा तो किसी ने उसी पद को ही रखा—श्लो २१।

भा० हेमचन्द्र जैसे अनेक स्थलों में अकलङ्कामुगामी है जैसे ही प्रत्यक्ष क सूत्र का 25 बारे में भी अकलङ्क को ही अनुगामी है। यहाँ तक कि उन्होंने तो विशद पद और वैशद्य का विशद अकलङ्क को समान ही रखा। अकलङ्क की परिभाषा इतनी दृढ़मुख है कि अन्तिम तार्किक उपनिषास पद्योविजयजी ने भी प्रत्यक्ष के सूत्र में उसीका आशय किया—
तकम्प्रा ५ १।

पृ० २१ पं० २२ 'प्रतिस्त्पानेन'—प्रतिस्त्पान शब्द शैल परम्परा में जिस अर्थ में 30 प्रसिद्ध है उसी अर्थ में प्रसंक्ष्यान शब्द न्याय, पाग आदि दर्शनों में प्रसिद्ध है—न्याय ५ २२। वेगल ५ २६।

- अ० १ आ १ सू० ३५ ३६ पृ० २६—पीछे हमने लिखा है कि 'आचार्य द्वेषवत्त्वं ये भवना वैषाकरवत्त्वं अर्थात् वाकिठ शैली में व्यक्त किया है' (टिप्पण्य पृ १६) इसका लुभासा यों समझना चाहिये। वैषाकरवत्त्वं की परिभाषा के अनुसार क्रियावापी शब्द चातु^१ कहलाता है और चातुप्रतिपाद्य भव क्रिया^२ कही जाती है। अठमक धातु के बाध्य फल और व्यापार दोनों समासाधिकरण अर्थात् कर्तृनिष्ठ होते हैं। अब कि सकर्मक धातु के बाध्य फल और व्यापार दोनों और जो धातु बाध्य होने के कारण क्रियारूप है वे अविभक्त अर्थात् अनुक्रम से कमनिष्ठ और कर्तृनिष्ठ होते हैं^३। प्रकृत प्रमाण्य फल की चर्चा में ज्ञाधातु का व्यापाररूप भव आ कर्तृनिष्ठ है उसका प्रमाण्य कहा है और उसका फलरूप भव^३ जो कमनिष्ठ है उसे फल कहा है। ज्ञाधातु सकर्मक होने से उसके ज्ञानारम्भक व्यापार और लक्ष्यक प्रकाशरूप फल दोनों अनुक्रम से कर्तृनिष्ठवया और कर्मनिष्ठवया प्रतिपाद्य हैं और दोनों क्रियारूप हैं।

- पृ० ३१ पं० २१ 'स्वपरामासी'—आचार्य ने सूत्र में आत्मा को स्वामासी और परामासी कहा है। यद्यपि इन दो विशेषणों को उचित करके हमने संक्षेप में टिप्पण्य लिखा है (टिप्पण्य पृ ०) फिर भी इन विषय में अल्प दृष्टि से छिलना आवश्यक समझ कर यहाँ थोड़ा सा विचार लिखा जाता है।
- 15 'स्वामासी' पद के 'स्व' का आत्मासमग्रीह और 'र' के द्वारा आत्मासमग्रीह ऐसे दो अर्थ फलित होते हैं पर वस्तुतः इन दोनों अर्थों में काश्च वारिषक भेद नहीं। दोनों अर्थों का मतस्य स्वप्रकाश से है और स्वप्रकाश का तात्पर्य भी स्वप्रत्यक्ष ही है। परन्तु 'परामासी' पद से फलित होनवाली दो अर्थों की मर्णाया एक नहीं। पर का आत्मासमग्रीह यह वह अर्थ जिससे इति में आचार्य ने स्वय ही बतलाया है और पर के द्वारा आत्मासमग्रीह यह दूसरा अर्थ। इन दोनों अर्थों के मध्य में अंतर है। पहिले अर्थ से आत्मा का पश्यकायन स्वभाव सुचित किया जाता है जब कि दूसरे अर्थ से स्वय आत्मा का अल्प के द्वारा प्रकाशित होना का स्वभाव सुचित होता है। यह दो समझ ही लेना चाहिये कि उक्त दो अर्थों में से दूसरा अर्थात् पर के द्वारा आत्मासित होना इस अर्थ का तात्पर्य पर के द्वारा प्रत्यक्ष होना इस अर्थ में है। पहिले अर्थ का तात्पर्य वा पर का प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी रूप से भासित करमा यह है। जो वर्तन आत्ममित्र तरव का भी भानव है वे सभी आत्मा का पर का अवभासक मानते ही हैं। और जैसे प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से पर का अवभासक आत्मा अवबन्ध होता है वैसे ही वह किसी न किसी रूप से स्व का भी अवभासक होता ही है अथ

१ 'क्रियाओं चातु.—हैमश ३ ३ ३। "इति क्रिया प्रवृत्तिर्भाषार इति वाक्ये। पूर्वा-पीठ्या तात्पर्यमानक्या ता अर्थेऽभिनेत्र परस्य त शब्दो चातुलको भवति।"—हैमश पृ ३ ३ ३।

२ 'अवभासक तात्पर्य। क्रियावामास्य तात्पर्यः त चातुनेनेष्यतः।' हैमश पृ० ३ ३ १८।

३ "अल्पप्रकारेणोक्तनिष्ठवयात्मकमत्तः। चातुस्तदोक्तमिदरे लक्ष्यकं उच्यते॥" है० मूयण० का० १३।

एक यहाँ जो दार्शनिकों का मतभेद दिखाया जाता है वह स्वप्रत्यक्ष और परप्रत्यक्ष भय को लेकर ही समझना चाहिए। स्वप्रत्यक्षवाद वे ही दा सकते हैं जो ज्ञान का स्वप्रत्यक्ष मानते हैं और छात्र ही ज्ञान आत्मा का भ्रमे या कर्मविद्यमे मानते हैं। शङ्कर, रामानुज आदि वेदान्त, सांख्य, योग, विज्ञानवादी शैख और जैन इनके मत स आत्मा स्वप्रत्यक्ष है—
 चाहे वह आत्मा किसी के मत से शुद्ध व नित्य चैतन्यरूप हो किसी के मत स जन्म ज्ञानरूप 5
 ही हा या किसी के मत से चैतन्य ज्ञानोद्भवरूप हो—क्योंकि व सभी आत्मा और ज्ञान का भ्रमेद मानते हैं तथा ज्ञानमात्र का स्वप्रत्यक्ष ही मानते हैं। कुमारिल ही एक ऐसे हैं जो ज्ञान को परोक्ष मानकर भी आत्मा को वेदान्त की तरह स्वप्रकाश ही कहते हैं। इसका तात्पर्य यही जान पड़ता है कि कुमारिल ने आत्मा का स्वरूप भ्रुविसिद्ध ही माना है और भ्रुविभों में स्वप्रकाशत्व स्पष्ट है भ्रुवएव ज्ञान का परोक्षत्व मानकर भी आत्मा का स्वप्रत्यक्ष 10
 बिना मान उनकी दूमरी गति ही नहीं ? ।

परप्रत्यक्षवादी वे हा हो सकते हैं जो ज्ञान को आत्मा से भिन्न, पर उसका गुण मानते हैं—चाहे वह ज्ञान किसी के मत से स्वप्रकाश हो जैसा प्रभाकर के मत स चाहे किसी के मत से परप्रकाश हो जैसा नैयायिकादि के मत से ।

प्रभाकर के मतानुसार प्रत्यक्ष अनुमिति, प्रादि कोई भी सीद्ध हो पर उसमें आत्मा 15
 प्रत्यक्षरूप स भ्रुवदय भासित होता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में मतभेद है। उसके अनुगामी प्राचीन हो या भ्रुवौचीन सभी एक मत स योगी की अपेक्षा आत्मा को परप्रत्यक्ष ही मानते हैं क्योंकि सब के मतानुसार योगज प्रत्यक्ष के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार होता है? पर भ्रुवददादि भ्रुवौगदर्शी की अपेक्षा उनमें मतभेद है। प्राचीन नैयायिक और वैशेषिक विद्वान् भ्रुवौगदर्शी के आत्मा को प्रत्यक्ष व मानकर अनुमेय मानते हैं, जब कि 20
 पीछे के न्याय वैशेषिक विद्वान् भ्रुवौगदर्शी आत्मा का भी उसके भ्रुवसप्रत्यक्ष का विषय मान कर परप्रत्यक्ष बतलाते हैं ।

ज्ञान को आत्मा से भिन्न माननेवाले सभी के मत से यह बात फलित होती है कि मुख्यतया में योगस्य या और किसी प्रकार का ज्ञान स रहने के कारण आत्मा न तो साक्षात्कर्ता है और न साक्षात्कार का विषय। इस विषय में दार्शनिक कल्पनाओं का राज्य 25
 भ्रुवैक्या विस्तृत है पर वह यहाँ प्रस्तुत नहीं ।

१ आत्मनैव प्रकारयोऽवमात्मा ब्रुवोतिरिदीरितम्—स्वीकया० आत्मभाषाद् न्या० १४२ ।

२ मुञ्जानस्य योगसमाधिप्रमात्ममनसोऽव्योगविशेषात्मा प्रत्यक्ष इति—न्यायभा०

१ १ ३ । आत्मन्यात्ममनसोऽव्योगविशेषाद् आत्मप्रत्यक्षम्—वैशेषी० १ १ ११ ।

३ आत्मा तावत्प्रत्यक्षतो न पश्यते—न्यायभा० १ १ १० । तत्रात्मा मनश्चाप्रत्यक्षे—
 वैशेषी० २ १ २ ।

४ 'तत्रैवमहप्रत्यक्षविषयत्वात्मा तावत् प्रत्यक्ष'—न्यायभा० पृ० ३४२ । 'अहङ्कारत्वात्प्रयोऽयममोमात्रस्य गोचरः'—कारिकाबली ५० ।

५० ३८ पं० २२ 'साधनात्'—अनुमान शब्द क अनुमिति धीर अनुमितिकरक ऐसे दो अर्थ हैं। जब अनुमान शब्द सावधानी दो तब अनुमिति धीर जब करबबार्थी हा तब अनुमितिकरक अर्थ निकलता है।

अनुमान शब्द में अनु धीर मान ऐसे दो अर्थ हैं। अनु का अर्थ है परचात् धीर ० मान का अर्थ है ज्ञान अर्थात् जो ज्ञान किसी अन्य ज्ञान क बाद ही हाता है वह अनुमान। परन्तु वह अन्य ज्ञान यास ज्ञान ही विवक्षित है, जो अनुमिति का कारण होता है। हम कास ज्ञान रूप से व्याप्तिज्ञान—जिस जित्परायण भी कहत हैं—इत है। प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञान में मुख्य एक अन्तर यह भी है कि प्रत्यक्ष ज्ञान नियम से ज्ञानकारक मठी हाता, जब कि अनुमान नियम से ज्ञानकारक ही होता है। यही भाव अनुमान शब्द में मीरूद 10 'अनु' अंग को द्वारा सूचित किया गया है। यद्यपि प्रत्यक्षमि न दूसरे भी एक ज्ञान है वा अनुमान कोटि में न गिने जाने पर भी नियम स ज्ञानजन्य हो हैं, जैसे व्यवमान, शास्त्र, अर्था पति आदि तब्यपि दर अमल में जैसा कि वैशेषिक दर्शन तथा बौद्ध दर्शन में माना गया है— प्रमाद्य क प्रत्यक्ष धीर अनुमान ऐसे दा ही प्रकार हैं। बार्थी क सब प्रमाद्य किसी न किसी तरह अनुमान प्रमाद्य में समाये जा सकते हैं जैसा कि इक्व द्विप्रमाद्यबादिदर्शनों 15 में समाया भी है।

अनुमान किसी भी विषय का हो, वह किसी भी प्रकार के हेतु में अन्य कर्षों न हो पर इतना तो निरिषय है कि अनुमान के मूख में कहीं न कहीं प्रत्यक्ष ज्ञान का अस्तित्व अवश्य होता है। मूख में कहीं भी प्रत्यक्ष न हो ऐसा अनुमान हो ही नहीं सकता। जब कि प्रत्यक्ष अपनी उत्पत्ति में अनुमान की अपेक्षा कदापि नहीं रहता तब अनुमान अपनी उत्पत्ति 20 में प्रत्यक्ष की अपेक्षा अवश्य रहता है। यही भाव न्यायसूत्रगत अनुमान के लक्षण में 'तत्पूर्वकम्' (१ १ ५) शब्द से सूचित में व्यक्त किया है, जिसका अनुसरण सांख्यकारिका (का ५) आदि क अनुमान लक्षण में भी देला जाता है।

अनुमान के स्वरूप धीर प्रकार नित्यम् आदि का जो दार्शनिक विकास हमारे सामने है उसे तीन युगों में विभाजित करके हम ठीक ठीक समझ सकते हैं १ वैदिक युग २ बौद्ध 25 युग धीर ३ न्ययन्याय युग।

१—विचार करत से आम पड़ता है कि अनुमान प्रमाद्य के लक्षण धीर प्रकार आदि का शास्त्रीय निरूपण वैदिक परंपरा में ही शुरु हुआ और वही की विविध शाखाओं में विकसित होने लगा। इसका प्रारंभ कब हुआ कहीं हुआ किसने किया इसका प्राथमिक विकास है कितना समय लिया वह किम किम प्रदेशों में सिद्ध हुआ इत्यादि प्रश्न शायद सदा ही

२ जैसे 'तत्पूर्वक' शब्द प्रत्यक्ष और अनुमान का पौर्वापर्य प्रदर्शित करता है वैसे ही जैन परम्परा में मति और भुवत्तक दो ज्ञानों का पौर्वापर्य कतलानेवाला 'ममरपुत्रं वैयं तुभं' (मन्वी सू० २४) वह शब्द है। विश्वेया गा ८९ १ ४ १०६।

निष्ठतर रहेंगे। फिर भी इतना वा निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इसके प्राथमिक विकास का ग्रन्थन भी वैदिक परंपरा के प्राचीन ग्रन्थ ग्रन्थों में देखा जाता है।

यह विकास वैदिकयुगीन इस लिये भी है कि इसके प्रारम्भ करने में जैन धार बौद्ध परंपरा का हिस्सा वे ही ही नहीं बल्कि इन दोनों परंपरामें न वैदिक परंपरा से ही एक शाखाय निरूपण को शुरु में अक्षर्य भवताया है। यह वैदिकयुगीन अनुमान निरूपण हमें 5 वे वैदिक परंपराओं में छोड़े बहुत हीर कीर के साथ देखन को मिलता है।

(अ) वैशेषिक और मीमांसक परंपरा—इस परंपरा को स्पष्टतया व्यक्त करनेवाला इस समय हमारे सामने प्रशस्त और शाबर वा माध्य हैं। दोनों में अनुमान को दो प्रकारों का ही अक्षर्य है जो मूल में किसी एक विचार परंपरा का सूचक है। मेरा निश्चय भी मानना है कि मूल में वैशेषिक और मीमांसक दोनों परंपराएँ कभी अभिन्न थीं, जो 10 भागे जाकर क्रमशः खुने हुए और भिन्न भिन्न मार्ग से विकास करती गई।

(ब) दूसरी वैदिक परंपरा में न्याय सांख्य और चरक इन तीन शाखों का समावेश है। इनमें अनुमान के तीन प्रकारों का अक्षर्य ब वर्णन है। वैशेषिक तथा मीमांसक इतन में बधित दो प्रकार के बोधक शब्द करीब करीब समान हैं, जब कि न्याय आदि शाखों की दूसरी परंपरा में पाये गामैवाले तीन प्रकारों के बोधक शब्द एक ही हैं। अक्षर्यता सब 15 शाखों में उदाहरण एक से नहीं है।

जैन परंपरा में सब से पहिले अनुमान के तीन प्रकार अनुयोगद्वारसूत्र में—जो ई० स० पहली शताब्दी का है—ही पाये गये हैं ५ जिनके बोधक शब्द अक्षर्य न्यायदर्शन के अनुसार ही हैं। फिर भी अनुयागद्वार बधित तीन प्रकारों के उदाहरणों में इतनी विशेष 20 तथा अवश्य है कि इनमें भेद प्रतिभेद रूप से वैशेषिक-मीमांसक दर्शनवासी द्विविध अनुमान की परंपरा का भी समावेश हो ही गया है।

बौद्ध परंपरा में अनुमान के न्यायसूत्रबाधे तीन प्रकार का ही वर्णन है जो एक मात्र उपायद्वय (पृ ११) में अभी तक देखा जाता है। येसा समझा जाता है उपाय 25 इत्य अक्षर मागाजुनकृत नहीं हो वा भी वह विक्रमाग का पूर्ववर्ती अक्षर्य हाना वाद्विह। इस तरह हम देखते हैं कि इसा की चौथी पाँचवीं शताब्दी तक के जैन-बौद्ध साहित्य में वैदिक युगीन एक दो परंपराओं के अनुमान वर्णन का ही संग्रह किया गया है। तब तक न एक

१ "तसु द्विविधम्—प्रत्यक्षतो दृष्टमन्ये सामान्यता दृष्टमन्ये च"—शापरमा० १ १ ५।

तसु द्विविधम्—इह सामान्यता दृष्ट च—प्रशस्त पृ० २०५।

२ मोमावा इतन अक्षर्यता पमद्विजाता में पम से ही शुरु होता है तब ही अक्षर्य इतन भी अक्षर्यता पम अक्षर्यताद्वयः दृष्ट में पमनिरूपण से शुरु होता है। वेदनालक्षणाद्वयो पमः ओर अक्षर्यताद्वयपत्य प्रानादपन् दोनों का भाव समान है।

३ पूर्ववन्त्येपक्षसामान्यता दृष्ट च न्यायसू० १ १ ५। माट० का० ५। चरक० मूयस्थान मंत्र० २८, २६।

४ द्विविध परवत्ते संज्ञा—पुरय मन्त्र, द्विस्तादम्भ । —अनुया० पृ० २१२A।

देवीं परम्परायै मुख्यतया प्रमाद्य क विषय में खासकर अनुमान प्रमाद्यी के विषय में वैदिक परम्परा का ही अनुसरण करती हुई देवी जाती हैं ।

- २-ई स की पाँचवीं शताब्दी स इस विषय में बौद्धयुग गुरु हावा है । बौद्धयुग इसविषये कि अब तक में सा अनुमान प्रमाद्यी वैदिक परम्परा को अनुसार ही मान्य हाती आई थी उसका पूर्ण बख स प्रतिवाद करके दिङ्नाग ने अनुमान का लक्ष्य स्वतन्त्र भाव से रखा और इसका प्रकार भी अपनी बौद्ध दृष्टि में बतलाए । दिङ्नाग क इस नये अनुमान प्रत्याव का सभी उद्योगवीं बौद्ध विद्वानों ने अपनाया? और उन्होंने दिङ्नाग की तरह ही न्याय आदि शास्त्र संमत वैदिक परम्परा को अनुमान लक्ष्य, प्रकार आदि का लण्डन किया? हो कि कभी प्रसिद्ध पूर्ववर्ती बौद्ध धार्मिकों न हुए ही स्वीकृत किया था । अब स वैदिक और
- 10 वाद धार्मिकों क बीच लण्डन-मण्डन की साम आमम माममें धारणिया बन गई । वास्तव्यनभाष्य क टीकाटुटीकाकार व्याचकर, वाचस्पति मिश्र आदि स बसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि वाद धार्मिकों क अनुमानलक्ष्यप्रणयन आदि का मोर मोर से लण्डन किया? जिसका उत्तर क्रमिक बौद्ध धार्मिक दत गये हैं ।

- बौद्धयुग का प्रभाव जैम परम्परा पर भी पड़ा । बौद्धधार्मिकों क द्वारा वैदिक पर
- 15 परामर्शत अनुमान लक्ष्य भद आदि का लण्डन हाते और स्वतन्त्रभाव से लक्ष्यप्रणयन हात दत्तकर सिद्धसेन^१ जैत जैन धार्मिकों स भी स्वतन्त्रभाव स अपनी दृष्टि को अनुमान अनुमान का लक्ष्यप्रणयन किया । मट्टारक अकलहू न बस सिद्धसेनीय लक्ष्य प्रणयन मात्र में ही संशय स मामा । पर साब ही बौद्धधार्मिकों की तरह वैदिक परम्परा समत अनुमान क भद प्रमेदी क लण्डन का सूत्रपात भी स्पष्ट किया? जिसे विद्यालय आदि उत्तर
- 20 वर्ती दिगम्बरीय धार्मिकों स विद्युत व परलुचित किया? ।

- नये बौद्ध युग क दो परिचाम स्पष्ट बख जाते हैं । पहिला ता यह कि बौद्ध और जैन परम्परा में स्वतन्त्र भाव से अनुमान लक्ष्य आदि का प्रणयन और अपने ही पूजापाथों के द्वारा कभी स्वीकृत वैदिक परम्परा संमत अनुमानलक्ष्य विभाग आदि का लण्डन । दूसरा परिचाम यह है कि सभी वैदिक विद्वानों क द्वारा बौद्ध संमत अनुमानप्रमाद्यी का लण्डन व
- २५ अपन पूजापाथ समत अनुमान प्रमाद्यी का रचाव । पर इस दूसर परिचाम में चाहे गौड रूप स ही सही एक बात यह भी बखलबाग्य बाजिल है कि मासर्वज्ञ जैसे वैदिक परम्परा

१ प्रमाद्यसमु० २. १ Buddhist Logic. Vol. I p. 236

२ अनुमान सिद्धसेनदत्तनम् न्यायपर पृ० ७। न्यायपरि० २. ३। तत्त्वसं० का १३१२।

३ प्रमाद्यसमु परि० २। तत्त्वसं० का० १४४२ तात्पर्य० पृ० १८०।

४ न्यायपा पृ ४१। तात्पर्य पृ १००।

५ -शास्त्रादिनासुर्गा तिहातागपनिबन्धनं स्वतन्त्र। अनुमानम् -न्याया० ५।

६ न्यायपरि २. १०१ १०२।

७ तत्त्वार्थसंग्रह० पृ० २. ४। प्रमेयक० पृ० १०४।

क किसी किसी तार्किक क लक्षण प्रथयन में बौद्ध लक्षण का भी अस्मर आगया? जो जैन तार्किकों क लक्षण प्रथयन में तो बौद्धयुग के प्रारम्भ से ही आज तक एकसा चला आया है? ।

३—तीसरा नभ्यन्याययुग उपाध्याय गङ्गेश से शुरू होता है । उन्होंने अपने वैदिक पूर्वाचार्यों के अनुमान लक्षण को कायम रख कर भी उनमें सूत्रम परिष्कार^१ किया जिसका बादर उत्तरवर्ती सभी मध्य नैयायिकों न ही नहीं बरिक्त सभी वैदिक दर्शन क परिष्कारकों^६ ने किया । इस सर्वान परिष्कार क समय से भारतवर्ष में बौद्ध तार्किक करीब करीब नामरोप हो गये । इस लिये बौद्ध ग्रन्थों में इसक स्वीकार या खण्डन को पाये जाने का तो संभव ही नहीं पर जैन परम्परा के बाद में ऐसा नहीं है । जैन परम्परा तो पूर्व की तरह नभ्यन्याययुग से आज तक भारतवर्ष में खली आरही है और यह भी नहीं कि नभ्यन्याययुग क मर्मज्ञ कोई जैन तार्किक हुए भी नहीं । उपाध्याय पद्याविभयजी जैसे उत्तरविश्वामिधि आर आज़ाक आदि^{१०} नभ्यन्याय क अध्यायी सूत्रमप्रख तार्किक जैन परम्परा में हुए हैं फिर भी उनके एकमात्रा जैसे ग्रन्थ में नभ्यन्याययुगीन परिष्कृत अनुमान लक्षण का स्वीकार वा खण्डन देखा नहीं आता । उपाध्यायजी ने भी अपने एकमात्रा जैसे प्रमाख विषयक मुख्य ग्रन्थ में अनुमान का लक्षण बही रखा है जो सभी पूर्ववर्ती श्वेताम्बर दिगम्बर तार्किकों के द्वारा साम्य किया गया है ।^{१५}

आचार्य हेमचन्द्र न अनुमान का जो लक्षण किया है वह सिद्धसम और अकलङ्क आदि प्राकृत जैन तार्किकों के द्वारा स्थापित और समहित हो रहा । इसमें उन्होंने कोई सुधार वा न्यूनाधिकता नहीं की । फिर भी हमचन्द्रोय अनुमान निरूपण में एक न्यान देन योग्य शिरोपटा है । वह यह कि पूर्ववर्ती सभी जैन तार्किकों ने—जिनमें अभयदेव बादी दशसूरि आदि श्वेताम्बर तार्किकों का भी समावेश होता है—वैदिक परम्परा संमत त्रिविध अनुमान प्रणाली^{२०} का साटोप खण्डन^४ किया था उसे आ० हेमचन्द्र ने छोड़ दिया । यह हम नहीं कह सकते कि हेमचन्द्र ने संक्षेपरुषि की दृष्टि से इन खण्डन का जो पहिले सं बराबर जैन ग्रन्थों में चला आ रहा था छोड़ा कि पूर्वापर असंगति की दृष्टि से । आ कुल ही, पर आचार्य हेमचन्द्र के द्वारा वैदिक परम्परा संमत अनुमान त्रैविध्य क खण्डन का परिरयाग ज्ञान स जो जैन ग्रन्थों में प्राप्त कर श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में एक प्रकार की असंगति आगई थी वह दूर हा गई । इसका^{२०} श्रेय आचार्य हेमचन्द्र को ही है ।

असंगति यह थी कि आर्यरचित जैसे पूर्वपर समझ जान वाले भागमभर जैन आचार्य ने न्याय संमत अनुमानत्रैविध्य का बड़ बिस्तार स स्थाकार और समर्थन किया था जिसका उन्होंने जो उत्तराधिकारी अभयदेवादि श्वेताम्बर तार्किकों ने सावेश खण्डन किया था ।

१ सम्प्रतिनामानेन परीक्षातुमकषाधनमनुमानम्—न्यायसार पृ० ५ ।

२ न्याया० ५ । न्यायधि० २, १ । प्रमाथप० पृ० ७० । पटी० ३ १४ ।

३ 'अतीतानामस्तभूमिदिशानेऽन्वयमितिबर्णनात् सिद्ध तद्वद् न्यायपूर्ववर्तितपोरभावात्, किन्तु न्यायिज्ञानं करण परामर्शो न्यायः - तत्परिधि० परामर्श पृ० ५३१ ५० ।

४ सम्प्रतिदरी० पृ० ५५६ । स्याद्वापर० पृ० ५२७ ।

विगम्बर परम्परा में तो यह असंगति इसलिये नहीं मानी जा सकती कि वह भार्यरक्षित के अनुयोगद्वारा को मानती ही नहीं। अतएव अगर विगम्बरीय तार्किक अकथञ्चु आदि प
 5 व्याख्यान संभव अनुमानत्रैविध्य का खण्डन किया तो यह अपने पूर्वाचार्यों के मार्ग से किसी भी प्रकार विरुद्ध नहीं कहा जा सकता। पर श्वेताम्बरीय परम्परा की बात हमारी है।
 6 अथवादेव आदि श्वेताम्बरीय तार्किक जिन्होंने व्याख्यान संभव अनुमानत्रैविध्य का खण्डन किया वे तो अनुमानत्रैविध्य का खण्डनाती भार्यरक्षित के अनुगामी थे। अतएव उनका यह खण्डन अपने पूर्वाचार्यों के बस समर्थन से स्पष्टतया मेढ़ नहीं जाता।

भाचार्य हमचन्द्र ने शायद सोचा कि श्वेताम्बरीय तार्किक अकथञ्चु आदि विगम्बर तार्किकों का अनुसरण करते हुए एक स्वपरम्परा की असंगति में पड़ गए हैं। इसी विचार
 10 से उन्होंने शायद अपनी व्याख्या में विविध अनुमान के खण्डन का परित्याग किया। संभव है इसी हेमचन्द्रोपलब्ध असंगति परिहार का भाव्य उपाध्याय यशोविजयजी ने भी किया और अपने उक्तभाषा ग्रन्थ में वैदिक परम्परा संभव अनुमानत्रैविध्य का निरास नहीं किया बल्कि हेतु के व्याख्यान पाठ्यरूप का निरास अवरुध किया।

४ ३६ पं १७ 'मिज्ञान' नीचे दिया जानेवाला हेतु और हेतुवामासे की संख्या का
 15 कोष्ठक विज्ञानाग के हेतुचक्र और व्याख्यान (कारिका ९) के अनुसार है।

विज्ञानाग के प्रस्तुत मन्थन्य को 'अत्र विज्ञानागेन' देसा कह करके वाचस्पति ने (तात्पर्य ४ २२) व्युत्पन्न किया है यह इस प्रकार—

“सपक्षे सप्तसन् द्वेषा पक्षधर्मं पुनस्त्रिधा ।

पत्येकमसपक्षे च सदसद्विधिपत्यतः ॥

20 तत्र यं सन् समाधीये द्वेषा चासंस्तद्वत्यये ।

स हेतुर्धिपरीतोऽस्माद्विरुद्धोऽन्यत्वनिश्चितः ॥”

ये कारिकाए विद्यामूक्य ने प्रमादसमुच्चय के तृतीय परिच्छेद की बलवार्त्ता हैं—देखो—
 Indian Logic, P 213

हेतु का सपक्ष और विपक्ष में, गदित के विद्यामूक्य के अनुसार जितन भी प्रकार से
 25 रहना सम्भव है उन सभी प्रकारों का समावेश इस चक्र में किया गया है। कथन यही सिद्ध होना है कि हेतु मित्र भिन्न नभ ही प्रकार से सपक्ष और विपक्ष में रह सकता है हमसे उक्तवद और कम प्रकार से नहीं। उक्त नभ प्रकारों में से सिर्फ दो ही सत् हेतु हैं और बाकी के साथ हेतुवामास। उन साथ हेतुवामासे में दो दो सत् हेतु से अत्यन्त उल्टे होने के कारण विरुद्ध कहे जाते हैं। बाकी के पाँच अनैकान्तिक—सम्बन्ध कहे जाते हैं क्योंकि जबका
 30 सपक्ष विपक्ष में रहना अनिश्चित प्रकार से होना है। या तो वे सपक्ष में रहकर विपक्ष के दो में—जहाँ हेतु का रहना उचित नहीं—भी रहते हैं या सभी सपक्षों में रहकर सभी विपक्षों में भी रहते हैं। अथवा सिर्फ एक में ही रहकर किसी सपक्ष या विपक्ष में रहते ही रहते हैं। अन्तिम भिन्न में या हेतु असाधारण या अभ्यापक अनैकान्तिक हेतुवामास हो

जाता है इसी लिए वससे कोई सिद्धि नहीं हो पाती । अगर हेतु सभी सपत्तों और सभी विपत्तों में रहता है तब वह साधारण्य हेत्वाभास हो जाता है अथ उससे भी कोई सिद्धि नहीं हो पाती । उपरोक्त दो साधारण्य और असाधारण्य हेत्वाभासों का प्रयोग व्यवहार में बिरल है फिर भी उनका सैद्धान्तिक महत्त्व कम नहीं है क्योंकि वे हेत्वाभास की दो अन्तिम सीमा को निर्दर्शक हैं और उन दोनों अवस्थाओं के बीच ही कहीं कहीं सत् हेतु मिल सकता है । बाकी के तीन अनैकान्तिक बन्ध हैं और असल में ये तीन ही अनैकान्तिक नाम के योग्य हैं क्योंकि ये तीन ही ऐसे हैं जो सपत्त में रहकर भी या दो सभी विपत्तों में रहते हैं या कुछ विपत्तों में ।

इस तरह हेतु की सपत्त और विपत्त में भिन्न भिन्न नव अवस्थितियों के आधारे पर दो सत् हेतु होंगे, दो बिरल हेत्वाभास होंगे, दो अन्तिम दो सीमा को दिखानेवाले भाषा 10
 रण्य और असाधारण्य हेत्वाभास होंगे और बाकी के तीन विपत्त में भी रहने के कारण अनैकान्तिक होंगे । देखा—Buddhist Logic. Vol I P 321 323

(कोष्ठक के लिये दृष्टो पृ० १४४)

— — —

दर्शनकारिताय

दर्शनकारिताय

ननु हेतु

<p>① ननुतदवृत्ति और ननुविपक्षवृत्ति</p> <p>साधारण</p>	<p>② एवतदवृत्ति और विपक्षवृत्ति</p> <p>सात् हेतु</p>	<p>③ ननुतदवृत्ति और विपक्षवृत्ति</p> <p>एवमित्यादि</p>
<p>④ ननुदावृत्ति और ननुविपक्षवृत्ति</p> <p>विपक्ष</p>	<p>⑤ ननुदावृत्ति और विपक्षवृत्ति</p> <p>असाधारण</p>	<p>⑥ ननुदावृत्ति और विपक्षवृत्ति</p> <p>विपक्ष</p>
<p>⑦ ननुवैकरोदावृत्ति और ननुविपक्षवृत्ति</p> <p>व्यभिचारी</p>	<p>⑧ ननुवैकरोदावृत्ति और विपक्षवृत्ति</p> <p>सात् हेतु</p>	<p>⑨ ननुवैकरोदावृत्ति और विपक्षवृत्ति</p> <p>व्यभिचारी</p>

विपक्ष

विपक्ष

दर्शनकारिताय

दर्शनकारिताय

ननु हेतु

॥ प्रमाणमीमांसाया परिशिष्टानि ॥

१ प्रमाणमीमांसाया सूत्रपाठः ।

अथ प्रमाणमीमांसा ॥ १ ॥
 सम्मर्गनिर्णय प्रमाणम् ॥ २ ॥
 स्वनिर्णयः सत्यप्यस्यम्, अयमागोऽपि
 भावात् ॥ ३ ॥
 प्रहीप्यमात्राप्रदिण इव गृहीतप्रादिभ्योऽपि
 नाप्रमाप्यम् ॥ ४ ॥
 अनुमयप्रोम्यकोटिस्पर्शी प्रत्यय सद्यम् ॥ ५ ॥
 विशेषस्तुल्येभ्यनभ्यवसायः ॥ ६ ॥
 अतस्मिस्तदेवेति विपर्यय ॥ ७ ॥
 प्रामाण्यनिश्चयः स्वतः परतो वा ॥ ८ ॥
 प्रमाण द्विधा ॥ ९ ॥
 प्रत्यक्ष परोक्ष च ॥ १ ॥
 व्यक्तबान्धवीनिबानां सिद्धे प्रत्यक्षेऽप्रमाण
 सिद्धि ॥ ११ ॥
 भावामात्रात्मकत्वाद्ब्रह्मो निर्दिश्योऽभावः ॥ १२ ॥
 विशदः प्रत्यक्षम् ॥ १३ ॥
 प्रमाणान्तरानपेक्षेन्तया प्रतिमासो वा वैश्व
 षम् ॥ १४ ॥
 तत् सर्वबावरणविक्रमे येतनस्य स्वरूपाविर्भावो
 दुस्य केवळम् ॥ १५ ॥
 प्रकृतिप्रयविशान्त्यादिसिद्धेस्तसिद्धि ॥ १६ ॥
 वाक्यमात्रावाच ॥ १७ ॥
 उच्यतेऽभिमत पर्यायी च ॥ १८ ॥
 विशुद्धिश्चेत्स्वामिविषयमेवात् तद्वेद ॥ १९ ॥
 इन्द्रियमनोनिमित्तोऽप्रवेष्टेहावायवारणाला सां
 भवहारिकम् ॥ २० ॥

इत्याचार्यश्रीवेमन्त्रविरचितायां प्रमाणमीमांसायां

स्पर्शरसगन्धरूपस्रग्मृद्वहणस्यक्षणानि स्पर्शनरस-
 नभाप्यचक्षुःश्रोत्रापीन्द्रियाणि द्रव्यमात्र-
 मेदानि ॥ २१ ॥
 द्रव्येन्द्रिय नियताकारा पुत्रका ॥ २२ ॥
 भावेन्द्रिय स्रग्पुत्रबोगौ ॥ २३ ॥
 सर्वार्थग्रहण मन ॥ २४ ॥
 नार्थास्मेकौ ज्ञानम्य निमित्तमन्वतिरेकात् ॥ २५ ॥
 अर्थार्थयोगे दर्शनानन्तरमर्थग्रहणमवग्रह ॥ २६ ॥
 अत्रगृहीतविशेषाकस्यमयीहा ॥ २७ ॥
 ईहितविशेषनिर्णयोऽभावः ॥ २८ ॥
 स्मृतिहेतुर्भार्या ॥ २९ ॥
 प्रमाणस्य विषयो द्रव्यपर्यायत्वक वस्तु ॥ ३० ॥
 अर्थकिमासामर्थ्यात् ॥ ३१ ॥
 तत्स्यजलत्वाद्ब्रह्मनः ॥ ३२ ॥
 पूर्वोच्यतेऽकारपरिहारस्वीकारस्त्वितिःस्यपरिणामे
 नास्वार्थकियोपपत्ति ॥ ३३ ॥
 फलमर्थमकाश ॥ ३४ ॥
 कर्मस्था क्रिया ॥ ३५ ॥
 कर्तृस्था प्रमाणम् ॥ ३६ ॥
 तस्यां सत्यमर्थमकाशसिद्धे ॥ ३७ ॥
 अज्ञाननिवृत्तिर्भा ॥ ३८ ॥
 अत्रग्रहणीनां वा क्रमोपबन्धनपर्यायां पूर्व पूर्वं
 प्रमाणमुपपत्तुं फलम् ॥ ३९ ॥
 हानादिनुद्धयो वा ॥ ४० ॥
 प्रमाणाज्ञानमिहम् ॥ ४१ ॥
 स्वपरायसी परिणाम्यात्मा प्रमाणा ॥ ४२ ॥

प्रथमस्याभ्यासस्य मध्यमनादिकम्—अ-ए ॥

अविशद परोक्षम् ॥ १ ॥
 स्मृतिप्रत्यभिज्ञानोऽनुमानागमाम्बुद्विषय ॥ २ ॥
 वासगोवृषोभेदेऽका सदित्वाकारां स्थितिः ॥ ३ ॥
 दर्शनस्मरणसम्भवा तदेवेत् तस्यैव सद्भिःस्यण
 सत्यतियोगीत्यादिसद्ब्रह्मं प्रत्यभिज्ञानम् ॥ ४ ॥

उपसम्मानुपसम्भनिति च व्याप्तिज्ञानम् उच्यते ॥ ५ ॥
 व्याप्तिर्मात्रकस्य व्याप्ये सति भाव एव व्या
 प्यस्य वा तत्रैव भावः ॥ ६ ॥
 साधनत्वात्प्राप्यविज्ञानम् अनुमानम् ॥ ७ ॥
 तत् द्विधा स्वार्थं परार्थं च ॥ ८ ॥

स्वाभे स्वनिश्चितसाध्याविनाभावैककृष्णत्वात्
 साधनात् साध्यज्ञानम् ॥९॥
 सहकर्मभावितो सहकर्मभावनियमोऽविना
 भाव ॥१०॥
 कृष्णत् तन्निश्चय ॥११॥
 स्वभाव कारण कर्ममेकार्थसमवायि विरोधि
 चेति पक्ष्या साधनम् ॥१२॥
 सिवापविपितमसिद्धमवाच्य साध्य पक्ष ॥१३॥
 फलज्ञानुमानागमलोकस्ववचनप्रतीतयो वाचा १४
 साध्य साध्यधर्मविक्षिप्तो धर्मो, क्वचित्तु
 धर्म ॥१५॥

धर्मो प्रमाणसिद्ध ॥१६॥
 बुद्धिसिद्धोऽपि ॥१७॥
 न ह्यन्तोऽनुमानाङ्गम् ॥१८॥
 साधनमात्रात् सत्सिद्धे ॥१९॥
 स व्याप्तिवर्धनमूमि ॥२०॥
 स साध्यधर्मवैधर्म्याभ्यां द्वेषा ॥२१॥
 साधनधर्मप्रयुक्तसाध्यधर्मयोगी साध्यर्थ
 ह्यन्त ॥२२॥
 साध्यधर्मनिवृत्तिप्रयुक्तसाधनधर्मनिवृत्तियोगी
 वैधर्म्यह्यन्त ॥२३॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां प्रमाणमीमांसायां प्रथमस्थाप्यापरस्य द्वितीयमाहिकम् । ता सू ४

यथोक्तसाधनाभिधानत्वं परार्थम् ॥१॥
 यत्नमुपपत्तारत् ॥२॥
 तद् द्वेषा ॥३॥
 यथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभेदात् ॥४॥
 नानयोस्तात्पर्ये भेद ॥५॥
 अथ एव नोभयो प्रयोग ॥६॥
 विपयोपदर्शनार्थं तु प्रतिज्ञा ॥७॥
 गम्यमानत्वेऽपि साध्यधर्मोपहारसन्देहापनोपेक्षाय
 धर्मिणि पक्षधर्मोपसहारत्वं तदुपपत्ति ॥८॥
 एवावान् प्रेक्षमयोगः ॥९॥
 योष्यानुरोधात् प्रतिज्ञाहेतुत्वाद्द्वारणोपनयनिगम
 नानि पक्ष्यापि ॥१०॥
 साध्यनिर्वेक्ष प्रतिज्ञा ॥११॥
 साधनत्वामिष्यजकविभक्त्यन्त साधनवचन
 हेतुः ॥१२॥
 ह्यन्तवचनमुदाहरणम् ॥१३॥
 धर्मिणि साधनस्योपसहार उपनय ॥१४॥
 साध्यस्य निगमनम् ॥१५॥
 असिद्धविरुद्धानैकान्तिकास्त्वयो हेत्वाभासा ॥१६॥
 नासन्ननिश्चितसत्त्वो वाऽन्यथानुपपत्त इति
 सत्त्वस्यासिद्धौ सन्देहे वाऽसिद्ध ॥१७॥
 यदिप्रतिवाद्युभयभेदात्तद्वेद ॥ १८ ॥
 विदोऽप्यासिद्धादीनामप्येवान्तभाव ॥ १९ ॥

विपरीतनियमोन्यथैवोपपद्यमानो विरुद्धः ॥२०॥
 नियमस्यासिद्धौ सन्देहे वाऽन्यथाप्युपपद्यमानो
 ज्ञैकान्तिकः ॥ २१ ॥
 साध्यधर्मवैधर्म्याभ्यामप्यत्राद्यौ ह्यन्तवामासा ॥२२॥
 अमृतत्वेन नित्ये क्षुब्धे साध्ये कर्मपरमाणुषटा
 साध्यसाधनोभयविकल्प ॥ २३ ॥
 यैधर्म्येण परमाणुधर्मोपेक्षा साध्याधन्यति
 रेक्षिण ॥ २४ ॥
 वचनाश्रयो रागान्तरधर्मकिञ्चिद्भ्रतयो
 सन्दिग्धसाध्याधन्यव्यतिरेका रथ्यापुरु-
 पादय ॥ २५ ॥
 विपरीतान्वयव्यतिरेकी ॥ २६ ॥
 व्यप्रदर्शिसान्वयव्यतिरेकी ॥ २७ ॥
 साधनदोषोद्भावन दूपणम् ॥ २८ ॥
 अमृतदोषोद्भावनानि दूपणामासा न्यातुप्राप्ति २९
 तत्त्वसंरक्षणार्थं प्राक्षिकादिसमक्ष साधनदूपण
 यत्न वात् ॥ ३० ॥
 स्वपक्षस्य सिद्धिर्भव ॥ ३१ ॥
 असिद्धि पराजय ॥ ३२ ॥
 स निग्रहो वादिप्रतिवादिनो ॥ ३३ ॥
 न विप्रतिपत्तयप्रतिपत्तिमात्रम् ॥ ३४ ॥
 नाऽन्यसाधनाद्भवचनमदोषोद्भावेन ॥ ३५ ॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां प्रमाणमीमांसायां द्वितीयस्थाप्यापरस्य द्वितीयमाहिकम्—ता सू ४

२. प्रमाणमीमांसाया सूत्राणा तुलना ।

<p>११२ परी० ११। प्रमाणन० १२। ११५ स्र्भी० स्ववि० १४। प्रमा- षन० ११२। ११६ प्रमाणन० ११४। ११७ प्रमाणन० ११०। ११८ परी० ११३। प्रमाणन० १२१। ११९ १० परी० २१२। प्रमाणन० २१। ११११ परी० ६५६। १११३ न्यासा० ४। स्र्भी० १३। परी० २३। प्रमाणन० २२। १११४ स्र्भी० १४। परी० २४। प्रमाणन० २३। १११५ न्यासा० २७। परी० २११। १११६ योगमा० १२५। १११७ स्र्भी० स्ववि १४। १११८ प्रमाणन २२०-२२। १११९ तत्त्वार्थ० १२६। ११२० तत्त्वार्थ० ११४ १५। स्र्भी० १५,६। परी० २५। प्रमा- षन० २५,६। ११२१ न्याससू० १११२,१४। तत्त्वार्थ० २२०,२१। ११२२ तत्त्वार्थ० २१७। ११२३ तत्त्वार्थ २१८। ११२४ न्यासमा० ११०। ११२५ स्र्भी ६३-७। स्र्भी० स्ववि ६५,७। परी० २६। ११२६ २९ स्र्भी १५ ६। प्रमाणन २७-१०। ११२७ स्र्भी स्ववि १५। ११२८ स्र्भी स्ववि० १५। ११२९ स्र्भी० स्ववि० १६।</p>	<p>११३० न्यासा० २०। स्र्भी० २१। परी० ४१। प्रमाणन० ५१। ११३१ ३२ न्यासवि० ११५। ११३३ परी० ४२। प्रमाणन० ५,२। ११३४ न्यासवि० ११९। तत्त्वसं- का० १३४४। ११३७ न्यासवि० १२१। ११३८ न्यासा० २८। आसमी० १०२। परी० ५,१। प्रमाणन० ६३। ११३९ स्र्भी० १६। ११४० न्यासा० २८। आसमी० १०२। परी० ५,१। प्रमाणन० ६४,५। ११४१ अष्टसं० का० १०२। परी० ५,२। प्रमाणन० ६६। ११४२ न्यासा० ३१। प्रमाणन ७,५४,५५। १२१ न्यासा० ४। स्र्भी० १३। परी० ३१। प्रमाणन० ३१। १२२ स्र्भी० ३१। परी० ३२। प्रमाणन० ३२। १२३ परी० ३३। प्रमाणन० ३३। १२४ परी ३५ १०। प्रमाणन० ३५,६। १२५ परी० ३११। प्रमाणन० ३७। १२६ ह्यवि० टि लि० ४० १८। १२७ न्यासा० ५। स्र्भी० ३३। न्यासवि २१। परी ३१४। १२८ न्यासवि० २१,२। न्यासा १। परी० ३ ५२,५३। प्रमाणन० ३९। १२९ न्यासवि० २३। न्यासा० ५। स्र्भी० ३३। परी ३१४,५४। प्रमाणन ३१०। १२१० परी० ३१६ १८।</p>
--	--

१२११ न्यायवि० २ १५९ । परी० ३ १९ ।	२ १ १४ परी० ३ ५० । प्रमाणन० ३ ४७ ।
१२१२ वै० सू० ९-२१ ।	२ १ १५ परी० ३ ५१ । प्रमाणन० ३ ४८ ।
१२१३ न्यायवि० ३ ४० । न्याया० १४ ।	२ १ १६ न्यायप्र० पृ० ३ । परी० ६ २१ ।
न्यायवि० २३ । परी० ३ २० ।	प्रमाणन० ६ ४७ ।
प्रमाणन० ३ १४ ।	२ १ १७ न्याया० २३ । परी० ६ २२ २८ ।
१२१४ न्यायवि० ३ ५० । न्याया० १४ ।	प्रमाणन० ६ ४८ ।
परी० ६ १५ । प्रमाणन० ६ ४० ।	२ १ १८ न्यायवि० ३ ५८ । प्रमाणन०
१२१५ न्यायवि० २८ । परी० ३ २५,	६ ४९ ।
२६ ३२ । प्रमाणन० ३ १८ २० ।	२ १ १९ प्रमेयक० पृ० १९१ A प० १०
१२१६-१७ परी० ३ २७-३१ । प्रमा	२ १ २० न्याया० २३ । परी० ६ २० ।
णन० ३ २१, २२	प्रमाणन० ६ ५२ ।
१२१८ १९ न्यायवि० ३ १२२, १२३ ।	२ १ २१ न्यायवि० ६ ९५ । न्याया० २३
परी० ३ ३७-४३ । प्रमाणन०	परी० ६ ३० ३४ । प्रमाणन०
३ २८, ३४ ३८ ।	६ ५४ ५७ ।
१२२० प्रमाणन० ३ ४३ ।	२ १ २३ न्यायवि० ३ १२५ । परी० ६
१२२१ परी० ३ ४७ । प्रमाणन० ३ ४४ ।	४०, ४१ । प्रमाणन० ६ ६० ६२ ।
१२२२ न्याया० १८ । परी० ३ ४८ ।	२ १ २४ न्यायवि० ३ १३० । परी० ६
प्रमाणन० ३ ४५ ।	४४ । प्रमाणन० ६ ७१-७३ ।
१२२३ न्याया० १९ । परी० ३ ४९ ।	२ १ २५ न्यायवि० ३ १२६, १२१ १३३ ।
प्रमाणन० ४६ ।	प्रमाणन० ६ ६३ ६५, ७४ ७६ ।
२ १ १ २ न्याया० १०, १३ । न्यायवि०	२ १ २६ न्यायवि० ३ १२८, १३६ । परी०
३ १, २ । परी० ३ ५५, ५६	६ ४२, ४५ । प्रमाणन० ३ ६८, ७९
प्रमाणन० ३ २३ ।	२ १ २७ न्यायवि० ३ १२७, १३५ । प्रमा
२ १ ३ ६ न्याया० १७ । न्यायवि०	णन० ६ ६७, ७८ ।
३ ३-७ । परी० ३ ९४ ९७	२ १ २८ न्यायप्र० पृ० ८ । न्यायवि०
प्रमाणन० ३ २९ ३३	३ १३८, १३९ ।
२ १ ५ न्यायवि० ३ ६ ।	२ १ २९ न्यायप्र० पृ० ८ । न्यायवि०
२ १ ६ प्रमाणन० ३ ३३	३ १४०, १४१ न्यायवि० २ २०२ ।
२ १ ७-८ न्याया० १४ । परी० ३ ३४	२ १ ३० प्रमाणन० परी० ६ । न्यायवि०
३६, ९८ । प्रमाणन० ३ २४ २५	२ २१२ । प्रमाणन० ८ १ ।
२ १ ९ परी० ३ ३७ । प्रमाणन० ३ २८ ।	२ १ ३१ ३३ वृत्ताय- स्त्रो० पृ० २८१ प० २ ।
२ १ १० परी० ३ ४६ । प्रमाणन० ३ ४२	२ १ ३४ वृत्ताय- स्त्रो० पृ० २८३ स्त्रो०
२ १ ११ न्यायसू० ११ ३३ ।	९० से ।
२ १ १२ न्यायसार पृ० ५ ।	२ १ ३५ न्यायवि० २ २०८ । वृत्ताय- स्त्रो० पृ० २८१ स्त्रो० ६२ से ।
२ १ १३ न्यायसार पृ० १२ ।	

३ प्रमाणमीमासागताना विशेषनाम्ना सूची ।

[अ]

अक्षरद्वय १ ११
 अक्षरपाद १ १, ४२, १४, ४९, ११ ७२ ९
 अक्षरमर्क १८ ११
 अक्षरवादि ४० १०
 अक्षर १ १, १२, १९

[ई]

ईश्वरकृष्ण २४ १

[ए]

एकमन्त्रपरामासिवादि २१ २५
 एकमन्त्रमिथ्यामिथ्याकृष्णवादि ३१
 एकमन्त्रवशामासिवादि ३१ २५

[ओ]

ओषधिव २७ २१

[क]

क्याद १ १
 कथिक ४४, २१, २३
 कथाद २७ १४, २४, १
 कथ्यानुशासन १ १
 कुमारिक १२, ३

[ख]

खण्डिक ७ १, ७ १८

[ग]

गन्धीनुशासन १ १

[घ]

घन १ ४, ५
 घिमिनि १४ १०
 घिमिनीव २३ ११

[ङ]

ङ्कार्यनुशासि १ १
 ङ्कोचव ०० २४

[च]

चर्मकीर्ति १, ११, ८, ११, ७२ १२

[छ]

छैवादि ६ ११, ७, ११, २२, २१, २२, ४१ १,
 ४३ १९, ४० १
 छानवादि ४२, २४, ४३ १, ४४ १२
 छानवादि ०१ २३

[ष]

षामिनि १ १
 षारमर्क २४ ४
 षिद्वक १ १
 षमन्त्रपरीक्षा २ १०
 षमन्त्रमीमासा १ १०
 षामाक्षर ७ १९

[ष]

षोड ४४, १
 षड १२, ३१

[म]

मह ३६ ९, ४४ १२
 मन्त्राद्य ४२, ९
 माह ७ १२
 मान्यकार २२, ९
 मान्यकारिण ६६ १
 मिह ३९ १०

[म]

मन्त्रेश्वर १२, ३१
 मीमांसक ४२, ५

[न]

नीय २४, १, २८, १३, ३७, १

[ञ]

ञोष्यपथिक ७ २५

[त]

तान्त्रिक १९, १५
 तान्त्रिकमुक्ता १ ९, २, १४, १९, १२, २४, ३
 तान्त्रिकसि २२ २४
 तान्त्रिकम्बर ६६ ११
 तन्त्रिण १२, ३१
 तन्त्रसंज्ञ २४ १३
 तन्त्रिक ७ १, ३७ १५, ४४, २२

[थ]

थन्त्रानुशासन १ १

[द]

दांतव ७ ११, १७ १९, ४२, ५, १, ४४, ०
 दांतसेन २४, ०
 दौलत ६ २१, ७ १४, ८, २१ ०२ २, २३
 ६, २८, १९, २३ १३, ४० २३, ४६ १३,
 ४२, ११, ७२, ९, २३
 दादाद ३० ९
 दादादि २८ ९

४ प्रमाणमीमासागताना पारिभाषिकशब्दाना सूची ।

[अ]

अङ्गुलीमात्रम् ३२, ३
 अक्ष (इन्द्रिय) ७ १८
 अक्ष (शीत) ७ १०
 अक्षत ७१ ५.
 अक्षयविहृष्टि ३० १२
 अक्षयविनिवर्तन ३० १५
 अक्षयसङ्ग्राहण ६० २७
 अक्षय्यमि ३ १२
 अक्षय्यमार्गदर्शिय १२. १५
 अक्षय १ १०
 अक्षयोद्गाहन ७२. १
 अक्षिक (निग्रहरत्न) ६९ २९
 अक्षयसप्त २४ १०
 अक्षय १ १५
 अक्षयसप्त ४. १३
 अक्षयुमात्रम् ७० २६
 अक्षय ४९. ७
 अक्षयसप्त १० १
 अक्षयसप्त ४. ७
 अक्षयसा ३ १९ २८ ६
 अक्षयसप्त ६२. ६
 अक्षयि १९. १
 अक्षयसप्त ६१ १
 अक्षयसप्त ६१ १७
 अक्षयसप्त ३६ २
 अक्षयसप्त ३ २७
 अक्षयसप्त ३ २७
 अक्षयसप्त ३ २७
 अक्षयसप्त ६ ४, ७ १, ८ २५, ११ १९, १४
 २१ ३० २ ३३ ७, ३६ २७, ३८ २२
 अक्षयसप्त ४७ २७
 अक्षयसप्तमेवमद्यार ४६ २
 अक्षयसप्त ४६ ५
 अक्षयसप्त ७० १
 अक्षयसप्त २३ १८
 अक्षयसप्त ११ १२
 अक्षयसप्त १८ ७
 अक्षयसप्त १९. ६

अक्षयसप्त ३९. १९, ४४ ३, ४६ १०
 अक्षयसप्त २. २५, ४८ १५
 अक्षयसप्त ४९ २३
 अक्षयसप्त ४४. ११
 अक्षयसप्त ४० २५
 अक्षयसप्त ३ १९
 अक्षयसप्त १९. २९, ४८. १९, ४० १, ४८. २१
 अक्षयसप्त ९. २
 अक्षयसप्त ६० ६
 अक्षयसप्त ७२. १
 अक्षयसप्त ६८. २२
 अक्षयसप्त ४ १९
 अक्षयसप्त ४ १८
 अक्षयसप्त ११ २३, १४ १
 अक्षयसप्त २८ ९, ६४. १३
 अक्षयसप्त ७१ १
 अक्षयसप्त ४८. २५
 अक्षयसप्त ४८ २५
 अक्षयसप्त ४ ८
 अक्षयसप्त ६९. १२
 अक्षयसप्त ६० २१
 अक्षयसप्त २३ ७
 अक्षयसप्त ४१ ९
 अक्षयसप्त ४४. २
 अक्षयसप्त ७ १२ ८ ३
 अक्षयसप्त (शोष) २८ २२
 अक्षयसप्त ९. १०
 अक्षयसप्त ४० ९
 अक्षयसप्त ४९ २
 अक्षयसप्त ३, ५, ६, १, १९. २५
 अक्षयसप्त ११ १७, २४. २७
 अक्षयसप्त ४. २५, ६ ११
 अक्षयसप्त २४ १२
 अक्षयसप्त २९. ६
 अक्षयसप्त ३ १७
 अक्षयसप्त ७० १२
 अक्षयसप्त २९. १७, ३० ६
 अक्षयसप्त ४. २

अर्थात्तर ६७ २१
 अर्थापत्ति ३ १, ७ ११
 अर्थापत्तिप्रमा ६१ १२
 अथप्रह ४ २७ २१ २ २२, १७, ३० १८
 अथवि (आम) १५ ७
 अथपथ ७४ २३
 अथर्वसमा ६० १३
 अथान २१ २६, ३० २
 अथिच्छन्पक ४ १५ ६ २७, २१ ११, २३ १४
 ३ १

२२, ९
 अथ (आम) १ ११
 ६८ १३

अथिच्छान्पक ४१ १२
 अथिच्छान्पकग्रहण ४८ १
 अथिच्छान्पकविषय ४० ११
 अथिच्छ ३३ ३
 अथिच्छोपसमा ६१ १५
 अथिच्छवादिन् ३३ २३
 अथिच्छवादिन् ६

३३
 २५, २८
 ७२, १

अथाचारण ३९, २१
 अथाचारणम् ४२, ७
 अथिद्ध (हेत्वामात्) ३९, ११, ५४ ३, १०
 अथिद्ध ४५, २
 अथिद्धि ६३ ३
 अथेष्ट ५४ ७
 अथेष्टसमा ६१ ८

[अ]

आधेय ६७ २५
 आधम ७ १, ८ २५, ११ २, १७ १, ३३ ७
 आधमन्वादा ४६ ३
 आधमन् १० २१, २१ २१
 आधमन्सिद्धि ८ १७
 आधमार्थ ४५, २७
 आधमन् १ १
 आधुनायिक १५ १२

आधेय १९, २५
 आधमन् १० १७
 आधमन्विषय १५ ५
 आधिमार्थ ५४ ८
 आधमन्वादिद्ध ५५, १८
 आधमन्वादिद्धादिद्ध ५५ १९
 आधिमन् १ १५

[अ]

इतिरेतरामय ३ २१
 इन्द्र (आमन्) १६ २१
 इन्द्रिय १६ १६, ३६ १
 इन्द्रियम् ८ २७

[अ]

ईसा ४ २७, २१ १५, ३० २
 [अ]

इन्द्रपंसमा ६० ८
 इन्द्राहारण ४८, १३, ५२, १६, ५३ ९
 इन्द्राहारणदोष ५७ १

इन्द्रेय २, ७
 इन्द्रेय ६५, १६
 इन्द्रेय २६ ७

इन्द्रेयार्थोपधारणमाथ २६ १२
 इन्द्रेयार्थ ४९ ९, १५,
 इन्द्रेयार्थम् ६३ १

इन्द्रेयम् ४२ १६ ५३ १३
 इन्द्रपत्तिप्रमा ६१ १७
 इन्द्रमाथ ७ ११, ३५, ५

इन्द्रयोग (आधेयिन्) १८ १९
 इन्द्रम् १७ १८

इन्द्रविषयप्रमा ६१, २
 इन्द्रम् ३६ २
 इन्द्रसंहार ५३ १३

इन्द्रादावमाथ २७ ९
 इन्द्राधमन् ६३ २७
 इन्द्राधमन्विषय ५७ १५

इन्द्राधमन्विषय ५७ १९
 इन्द्राधमन्विषयिन् ५७ २३
 इन्द्राधमन्वादिद्ध ५७ २७

इन्द्राधमन्वादिद्ध ५५, १
 [अ]

इन्द्रार्थोपधारणमाथ २५, १
 इन्द्र ८ २५, २१ २१, ३० २, ३३ १
 ३६ २, ४१ २७
 इन्द्रापोह ३७, १५

[५]

एकत्रयितर्क (ध्यात) १० ११
 एकार्थसमवाय ४४ ३
 एकार्थसमवायित्वा ४४ २२
 एकार्थसमवायिन् ४२ १
 [जी]
 औत्पत्तिक (अनुमान) ४९ १०
 [क]
 कथञ्चिद्वाभेदवाद् २८ १
 कथा ६३ १४
 कथं ६ १८
 कथना २३ ९
 कथनमाहता ३२. १०
 कथन ३४ ४, ४० १, २२
 कथन्यनुपलम्बि ४५. १३
 कर्त्त ३२ १, ४३ १८
 कर्त्तकारणमात्र ४४ २५
 कर्त्तसमा ६० ११
 कर्त्तानुपलम्बि ४५ १०
 कर्त्तकर्म २६ २२
 कर्त्तव्येति ५४ ०
 कर्त्तव्यवापदिष्ट ५४ ९
 कृतत्वविल्लपता ११ ११
 कृतवाच ३० ३
 केवळ १० १४, २, १३ ०
 केवलज्ञान १२. ९
 कर्मभावविषय ४१ १२
 कर्ममायिन् ४१ १२
 किंवा २९. २६
 कर्ममद्वयवाद् २७ २
 कर्मिक २७ ४
 कर्त्तव्यमिच्छत्वा १४ १५
 कर्त्तव्यत्वात् १५. २४
 [ग]
 गति १५. २३
 गुणव्यत्यय १५.
 गुणव्यत्यय १५ २५
 गुणव्यत्ययिन् ४ १९
 महीप्यमात्रमाहिव ४ १९
 माह्यमाहकमार २० १
 [घ]
 घातिस्मृत १ १, १३ ०
 घात १६ १०

[५]

चक्षुष् १६ १०
 चक्षुष् ७४ २०
 चक्षुष् ६३ १४
 [छ]
 छ ६२. २२
 [ज]
 ज्ञान्यज्ञानकामात्र २० ९
 ज्ञाप ६४ २९
 ज्ञाप ६३ २१, ३
 ज्ञाति ६० १
 ज्ञातिवादिन् ६० २०
 ज्ञान्युत्तर ५९. २
 ज्ञान १ १
 ज्ञान्यप्रकल्प ४ ६
 ज्ञानाचरण १० १०, १९. २०
 [ङ]
 ङिम्बिकराग ५१ १९
 ङिम्बिकराग ८ १२
 [च]
 चक्षुस्तरङ्गण ६३ ६
 चक्षुस्तरङ्गण ४९. २३
 चक्षुस्तरङ्गण २० १०
 चक्षुस्तरङ्गण २० १०
 चक्षुस्तरङ्गण २, ४१ २५
 चक्षुस्तरङ्गण ५० ६
 चक्षुस्तरङ्गण २० २२
 चक्षुस्तरङ्गण १ २
 चक्षुस्तरङ्गण ५५. ८
 चक्षुस्तरङ्गण ४० ९
 चक्षुस्तरङ्गण ३९. १०
 [ञ]
 ञानं १ १ २१ २
 ञानं ५९. १५ ६३ ६
 ञानं ६८ १२
 ञानं ७३ २०
 ञानं ५९. १८
 ञानं ५९. २
 ञानं २४ १०
 ञानं ४० २४, ४८ ३, ६
 ञानं ५० १
 ञानं ५३ ६

दशान्वयमास ४७ ९
 दशान्वयमिषान् ४८. ११
 दिककर्म २६ २१
 दोष ४९. १९
 इतिहासप्रकरणम् ३३ १
 इत्थ ४ २, ४ ३, २० १५
 इत्थ (इत्थिन्) १६ १८
 इत्थपर्यायान् २४ २९
 इत्थपर्यायान् २८. १
 इत्थमसत् १९. १०
 इत्थावाच १८. १६
 इत्थावादिता १० २२
 इत्थेति १८. ११
 इत्थैकत्वं २४. २०
 इत्थैकत्वं २६ १९

[घ]

घर्म ४६ १९
 घर्मतीर्थ १ ९
 घर्मपरिभाषा ४६ २१
 घर्मिन् ४६ १९, १८
 घात २२. १, ३ २
 घातपरिभाषा ४ १९, २१

[ङ]

ङामकर्म १६ २१
 ङागम ४२. १९, ४३ १०, ७० १०
 ङागह ६४. ८
 ङागहस्तान् ६६ २१
 ङागस्तमा ६२. १
 ङागुचोच्चागुचो ७१ २
 ङागर्षक ६८. ५
 ङागर्ष ३ १, ७ ४
 ङागर्षिण्य २३ १३
 ङागिषे ४२. ३
 ङागिषेस्तान् ४४ ९
 ङागिषिन् १९. १
 ङागिष्या १९. ८
 ङाग्या ४४ २
 ङाग्य ६० २४, ७४ २५

[च]

चक्र ४४ २, ६६ १२
 चक्रवर्त्तमान् ४६ २२
 चक्रवर्त्तमान् ४० ९

चक्रवर्त्तमान् ४४ ८
 चक्रवर्त्तमान् ४० १९
 चक्रवर्त्तमान् ३९. १९, ४४ २१,
 चक्रवर्त्तमान् ४१ २२, ७० २४
 चक्रवर्त्तमान् ४६ ७, १
 चक्रवर्त्तमान् ४० १
 चक्रवर्त्तमान् ४६ ९, १३
 चक्रवर्त्तमान् ४० ४
 चक्रवर्त्तमान् ४६ ७, ११
 चक्रवर्त्तमान् ४० २
 चक्रवर्त्तमान् ४० १
 चक्रवर्त्तमान् ४० ५
 चक्रवर्त्तमान् ४६ ८, ११
 चक्रवर्त्तमान् ४० ३
 चक्रवर्त्तमान् ३९. १९
 चक्रवर्त्तमान् ४१ १
 चक्र ७४ २०
 चक्र १ १०
 चक्रवर्त्तमान् ६४ ३
 चक्रवर्त्तमान् २४. ३
 चक्रवर्त्तमान् ६४ ३
 चक्रवर्त्तमान् ७२. ९
 चक्रवर्त्तमान् ३९. ७, ४४ २०, ४९. ९
 चक्रवर्त्तमान् ३१. ११
 चक्रवर्त्तमान् ११ ११
 चक्रवर्त्तमान् २. ११
 चक्रवर्त्तमान् ७ १९, २, ८ २५, ९. ४, ३३ ३
 चक्रवर्त्तमान् ७१ २१
 चक्रवर्त्तमान् ४ १, ११ १२, २४. ९, २० १९
 चक्रवर्त्तमान् १० २२
 चक्रवर्त्तमान् २० १३
 चक्रवर्त्तमान् २६ २
 चक्रवर्त्तमान् २६ १०
 चक्रवर्त्तमान् ७४ १९
 चक्रवर्त्तमान् १० १८
 चक्रवर्त्तमान् १० १८
 चक्रवर्त्तमान् १८. ११
 चक्रवर्त्तमान् ४१ १८, ७० १
 चक्रवर्त्तमान् १ १०
 चक्रवर्त्तमान् ४४ ७, १
 चक्रवर्त्तमान् ६१ ९
 चक्रवर्त्तमान् ४० ९

प्रकाशकप्रकाशकभाव २० १६
 प्रका ११ २९
 प्रतिष्ठापविवाहित् २६ २
 प्रतिज्ञा ५० २७, ५२ १६, २४
 प्रतिज्ञान्तर ६६ २१
 प्रतिज्ञाविरोध ६७ ९
 प्रतिज्ञासम्बाध ६७ १६
 प्रतिज्ञाहावि ६५. २०
 प्रतिज्ञान्त ६५. २०
 प्रतिज्ञान्तसमा ६० २३
 प्रतिपक्ष ६६ १३
 प्रतिपोगित् ९. १४
 प्रतिपादित् ५५. ७, ६३ ६; ६५. ६
 प्रतिपादित् ५५ २७
 प्रतिपत्न्याव २१ १३
 प्रतिपत्न्याव ६० १०
 प्रतीतिवाचा ४६ ९
 प्रत्यक्ष ६ ९; ७ १, ११, १९, २२, ८. १५, ९.
 १, २६, ११ १८, १४ १, २० २३,
 २३ ८, १०, २४ ५; १३, ३५, १६, २५,
 ३६ २७
 प्रत्यक्षवाचा ४६ ३
 प्रत्यक्षमास ५३ २४
 प्रत्यक्षोत्तरप्रमाण ७ २६
 प्रत्यक्षिज्ञान ८ २५, ३० १, ३३ ७, ३४ १३
 प्रत्यक्षत्वान ५९ २५
 प्रत्यासक्ति १७ २०
 प्रमाण ५५. १८
 प्रमात्त (पुत्रत्वान) १५. २४
 प्रमात्त २. ५, २, ३ १०, १५, ४ १०, ६, १६;
 २३, २३, ७ ७, ३० १, १८
 प्रमाणककम्यत् ३० ९
 प्रमाणसम्बन्ध ७० १
 प्रमाणसिद्ध ४६ १८
 प्रमाणमास ५३ २५
 प्रमाता ३१ २१
 प्रयोग ५० १५
 प्रयोगकाष्ठ ४६ १४
 प्रसङ्गसमा ६० २५
 प्रसङ्गप्रतिपक्ष ७८ १८
 प्रसिद्धमा ६ २३
 प्रत्यक्षप्रति २३ ५

प्रमाणप्रतिपक्ष ६ १
 प्राम्नि ६३ ९, १३
 प्रमाप्रयोग ५० ८
 [क]
 प्रक २९. १०, ३० १९
 [ब]
 वद्विष्णोसि ४८ १४
 वाचकप्रमाण ४२. ५
 वाचा ४१ ८, ४६ २
 वद्विष्णोसि ४७ २
 वद्विष्णोसि ४६ २
 वद्विष्णोसि १ ३
 वद्विष्णोसि ५२. १६
 वद्विष्णोसि १३, १४ १
 [म]
 मगत्त १४ ४
 मगत्तत्व (अवधिज्ञान) १५. ९
 मापासिद्ध ५५ १०
 मान (इन्द्रिय) १६ १८
 माचमवत् १९. १८
 माचमवत् ९. १३
 माचमवत् १८. २३
 माचमवत् ४ ९, ३, १८. १९
 [न]
 मङ्क २. २, ४
 मति १९. १४
 मताजुषा ७१ १६
 मताजुषा १५. ४
 मताजुषा १५. ११, १९. ८
 मताजुषा १९. २९
 मताजुषा ८ २७, ९. १५
 मीमांसा २. ६
 मीमांसा (सप्त) २. १३, १८
 मृत्त्व १५ ३
 मृत्त्व (मत्त्व) १० १४
 [य]
 वाचितकम्यत्तत्वान ६ २९
 योगिज्ञान ८. १५, ३४ ५
 योगित् २० ३
 योगित्त्वत्त १२. १५

[१]

रसम १६ १०
रूप १९-२२

[४]

सद्यस २, ८
सद्यसार्थ २, २२
सत्य १८, १९
सिन् ३८, १९, ३९, १३
सिद्धिन् ३८, १९
सीङ्गपापा ४६ ०

[५]

सम्पत्तमा ६० १३
सम्मानपरिणाम १५ २५
सप्त ८, ३, १४, २९, ३, १९
सा १० १८
साङ्ग ६२, २५
साङ्गम् ५० ९
साह ६३ ७, २५
सादिन ५५, ७, ६३, ८, ६५, ८
सापसिद्ध ५५ ९
सापसदरघदसमपरीक्षा २३ १३
सासना ३३ १०
सासनीशोप ३३ १९
साम्प ६ २९, ७ १ २१ १९ ३० ०
साम्पत्तुहि ४६ २९ ४० ३
साम्पत्तमा ६ १९
साम्पत् ७१ १९
साम्पत् ६३ २१ ६४ १
साम्पत् ११, ९ ८२, ३
साम्पत्साम्पत्ता ४५ ९
साम्पत्साम्पत्ति १ ३
साम्पत्साम्पत्ति ४० ७
साम्पत्साम्पत्ति ५५ २०
साम्पत्साम्पत्तिरेक ५८ १९
साम्पत्साम्पत्ति ५८ १९
साम्पत्साम्पत् ५ १०
साम्पत्साम्पत्ति ३४ ९ ६५, १३
साम्पत् २, ९
साम्पत् ३९ १९ ४५ १९, ५४ ३, ५५, ९
साम्पत्साम्पत् ४५ १९

साम्पत्साम्पत्ता ७ १०
साम्पत् ३ २९ ०८, ३
साम्पत्साम्पत् ४० १
साम्पत् ५ ९
साम्पत् ९, २९
साम्पत्साम्पत्ता २९ १३
साम्पत्साम्पत्ति ५५, १९
साम्पत्साम्पत्ता ० ८ ९
साम्पत्साम्पत्ति ५५ १७
साम्पत् ४ २९ ३४, ५
साम्पत्साम्पत्ता ०८ ९
साम्पत्साम्पत्ता ५० २४
साम्पत् १ १
साम्पत्साम्पत्ता १० १
साम्पत् २४ १३
साम्पत् १० १
साम्पत्साम्पत् ६४ ३
साम्पत्साम्पत् ४८ १८, ५० ९
साम्पत्साम्पत्ता ४८ २०
साम्पत्साम्पत्ता ५० २५
साम्पत्साम्पत्ता ६० ७
साम्पत्साम्पत्ता ५३ १
साम्पत्साम्पत्ता ०८ ७
साम्पत् १ ९
साम्पत्साम्पत् ०८ ८
साम्पत्साम्पत् ० १, ५८ १९ ५ १, ५८ ११
साम्पत्साम्पत् ९, ३
साम्पत्साम्पत् ३ ११
साम्पत्साम्पत्ता ५५ २
साम्पत्साम्पत्ता ५५ १९
साम्पत्साम्पत्ता ३० ८
साम्पत् ३८ ३
साम्पत्साम्पत्ता ३८ ५
साम्पत्साम्पत्ता ४५ १५
साम्पत् ३८, ३
साम्पत्साम्पत्ता ४६ १५
साम्पत्साम्पत्ता ६६ ९
साम्पत्साम्पत्ता ४८ ९
साम्पत्साम्पत्ता ४८ १
साम्पत्साम्पत्ता ५ १६
साम्पत् ३८ ३
साम्पत्साम्पत्ता ३८ ११

[अ]

सम् (प्रमाण) ८ २३
 सन्तुष्टनदक ७० ११
 सप्तार्चं ५० ८
 शाब्द ६ १३
 शास्त्र १२, १५
 श्रमस्य १२, २३
 सिद्धिर्वा २३ १५
 शुद्धम्याल १३ ७
 सुखि ५२, १ ५३ २१
 सुत १९, १२
 शोध १६ १८

[अ]

सपत्न १५ २३
 सपत्नसपत्न १५ २३
 सपुत्रस्ययोग (सञ्चिकर्ष) २३ ३
 सयोग २६ ७
 सबाहुक ६ १
 संचित् ४ ३, ६ ७
 सन्मन्वहार १६ ८
 सद्य ५ ७ २८ ९
 सद्यसमा ६१ ३
 ससयाद्यामास ५३ २३
 सस्मर २२, १ ५
 सङ्कष्टार्थसिन् १४ १८
 सङ्कर २८ ७
 सङ्कलन ३४ १२
 सङ् २५ ४
 सत्तापीय २७ १९
 सत्त २७ १७
 सन्धान २६ २५, २७ १
 सभापति ६३ १४
 समिन्वन्विपसम्प्राप्तिसिद्ध १४ ३ ४० ८
 समिन्वन्विदीपन्मासिद्ध ५५ २२
 समिन्वन्विदीपन्मासिद्ध ५५ २१
 समिन्वन्साधनधर्मात्म्य ५८ ७
 समिन्वन्साधनधर्मात्म्य ५८ ११
 समिन्वन्साधनधर्मात्म्य ५९ ५
 समिन्वन्साधनधर्मात्म्य ५८ ६
 समिन्वन्साधनधर्मात्म्य ५८ १
 समिन्वन्साधनधर्मात्म्य ५९ ४

समिन्वन्साधनधर्मात्म्य ५८ २
 समिन्वन्साधनधर्मात्म्य ५८ २
 समिन्वन्साधनधर्मात्म्य ५० २
 समिन्वन्साधनधर्मात्म्य ५९ २२ ५४ २३
 समिन्वन्साधनधर्मात्म्य ५८ ८
 समिन्वन्साधनधर्मात्म्य ५८ १२
 समिन्वन्साधनधर्मात्म्य ५९ ५
 सञ्चिकर्ष २२ ३१
 सपत्न १० २
 सपत्नसाधनधर्मात्म्य ५९ २५
 सम्प ६३ ७१
 समनस्य १३ ८
 समनस्य २६ ८
 समनस्य ५४ २२
 समाधान ६७, २५
 सम्य ३ ११
 सम्यक्त्व १२ २१
 सम्यग् ३ ९
 सम्यगुत्तर ६० २
 सञ्च १२ २२ १४ २३
 सर्वशता १२ १९
 सविस्मयक २३ १४
 सहस्रमन्वहारविषय ४१ १२
 सहकारि २५ २७
 सहकारिमात्र २७ ९
 सहकारि ४१ १२
 सौम्यवहारिक ६ २७, १६ २
 साधन ३८ २२, ४२, १, ४७ २७
 साधन (परार्थात्मान) ५९, १५ ६३ ६, २४
 साधनत्व ५० २९
 साधनधर्म ५४ ४
 साधनधर्मोपयोग ५९, १५
 साधनधर्म ५३ १४
 साधनधर्म ५२, २९
 साधनधर्म ७३ २७
 साधनधर्म ५७ १५
 साधनधर्म ६८ १२
 साधनधर्म ६५ ५
 साधनधर्म ५९, २
 साधनधर्मनिरेद्धि ५७ २१
 साधनधर्म ५७ २३
 साधनधर्म ५८ १८, ५७ ९

साधर्म्यद्वयम् ४८. ११
 साधर्म्यद्वयमास ४९. ११
 साधर्म्यबोध ६०. १
 साधर्म्यसमा ६०. १
 साधर्म्यवाहरण ४३. ८
 साधारण ४. ४
 साधारणवैयर्थ्यम् ३९. १४
 साध्य ४४. १; ४६. ११
 साध्यवर्तिन् ४३. १४
 साध्यनिर्देश ४२. १४
 साध्यप्रतिशति ४८. १
 साध्यलिकक ४७. १५
 साध्यनिश्चय ३८. ११ ४९. ५
 साध्यसमा ६०. १८
 साध्यसाधकत्वम् ४४. १
 साध्याव्यभिचारीन्द्रि ४७. १
 साध्याविनामास ३९. ८
 साध्याव्यभिचारीन्द्रि ४७. ११
 साध्याव्यभिचारीन्द्रि ४९. ४
 सामान्यचक्र ६२. १
 सामान्यकस्य २. ८
 सिद्धि ६४. ११
 सिध्यवधिपित ४४. १
 सूत्र १. १४ ३४. १४

स्वसंभ १६. १०
 स्वस्य १०. ५
 स्वस्य ३४. ११
 स्वस्य ४. १; ८. १५; ४२. १; ३०. १;
 ३३. ४; ११
 स्वस्य १२. ११
 स्वसिद्ध ३. १४; ४. १; १
 स्वस्य ६४. १; ११
 स्वस्यमासिन् ३१. ११
 स्वस्य ४२. १; ४
 स्वस्यानुपपत्ति ४४. ११
 स्वस्यसिद्ध ४४. ११
 स्वस्यवशात् ४६. ८
 स्वस्येव ३. १०; ४. १; १६. ११
 स्वस्य ३९. ४; ८

[४]

दानादिपुत्रि ३१. ४
 द्वेष ४२. ११; ११; ११
 द्वेषदोषम् ४४. १
 द्वेषकत्वम् १९. ११
 द्वेषक ६०. ११
 द्वेषमास ४४. १; ४२. १
 द्वेषमासता ४३. १०



५ प्रमाणमीमासागतानामधतरणाना सूची ।

[अ]

- अभिस्वभावः शक्य [प्रमाणवा १ १०] ४४ १
 अथ प्रमाणपरीक्षा [प्रमाणव० ५० १] २ ११
 अथापि नित्यं परमार्थसन्तम् [स्वायम् ५०
 ४१४] २७ १
 अथापि यद्देहत्वात् तत्त्वस का १२ ८]
 १२. ११
 अनिमग्नत्वात् [स्वायस् ५. २ ११] ७१ २७
 अनुपलम्भात् कारणव्यापकात् अनुपलम्भात् []
 १७ ११
 अन्यवास्तुपक्षत्वम् [] ४० २५
 अपाजिपादो ह्यममो प्रहीया [देवताव १. १९]
 ११ २७
 अपिष्ठापसर्गायोग्य- [स्वायसि १ ५, १] २३ ९
 अयमेवेति यो ह्येव [इकोकवा अमाव इष्ये
 १५] ९. ९
 अयक्रिया न युज्येत [कवी २ १] ११ १७
 अर्थक्रियाऽऽसमर्थस्य [प्रमाणवा १ २१५] २४ २२
 अर्थस्वात्मबोऽभावात् [धर्मकीर्ति] ८ ९
 अथादापन्नस्य स्वप्नवदन [स्वायस् ५ २ १५]
 ४१ १८
 अर्थेन घटयत्येनाम् [प्रमाण्या १ १ ५] २० २७
 अर्थोपलक्षियहस्तु प्रमाणम् [] ६ ११
 अल्पाक्षरमसन्दिग्धम् [] ३४. १३
 अविष्णुर्दे धारणा होइ [त्रिसेवा गा १८]
 २२. ९
 असाधनाह्वयपनम् [वाह्मवाका का १] ७२. १३

[आ]

 आपन्तापेक्षिणी सत्ता [] ४४ ०
 आपवैषम्यनाशाति- [स्वायम् ५ २] ४३ २

[इ]

 इत्समर्थं महद्दूरम् [कवी ३ १२] ३५ ९
 इन्द्रियाथसमिक्थोपपन्नम् [स्वायम् १ १ ४]
 २० २२

[उ]

 उपाख्ययप्रोध्यपुणं सग् [तत्त्वार्थ ५. १९]
 ४. ३

- उपनेह वा विगमेह वा [] २४ ४
 उपमानं प्रसिद्धाथ- [कवी० १ १०] ३४. ०

[ए]

 एष सत्यनुषादित्वम् [इकोकवा सू ४ इष्ये०
 ३९] २३ १९
 एकसामान्यधीनस्य [प्रमाणवा १ १] ४३ ८
 एकार्थसमभायसु [] ४४ २

[क]

 कृत्यं पञ्चावयव [इशा०नि ५] ४२. २१
 कार्यं धूमो हुतमुज [प्रमाणवा १ १५] ४३. २५
 कार्यन्यासह्याम् [स्वायस् ५. २ १९] ७१ १२
 काल्यसस्य सत्यं च [त्रिसेवा गा ३३३] ३३ १८
 कृन्त्वस्य विनिवतन्ते [तत्त्वस का २१५] ३२. १

[ग]

 गतानुगतिको षोडश [स्वायम् ५ ११] ६४ १६
 गम्भीरगजितारम्भ [स्वायम् ५ १२९] ४३ १७
 गृहीत्वा यन्मुसङ्गायम् [इकोकवा अमाव इष्ये
 २७] ९ १७

[ज]

 जाणइ ज्योयुमाणेण [त्रिसेवा गा ८१७] १७ १७
 ज्ञानमप्रतिषि यम् [] १० २७
 ज्ञानात्किरिणो भावनाम्य [] २. ९

[ङ]

 ङिणिकराग परित्यम् [इह परि १] ४१ १९

[च]

 तत्त्वाप्यवसायमरक्षणायम् [स्वायस ४ १
 ५] ६३ २१
 तत्रापुषार्थविज्ञानम् [] ४ १८
 तस्यप्रयोग पुण्यस्य [पावरभा १ १५] ४५ ५
 तथैव नित्यसत्तस्य- [तत्त्वस का २२७] ३२. ८
 त्रिंशत्सिपर्य तत्त्वम् [त्रिंशत्सि लि ५ ४१७
 A] १२. १२

[छ]

 दुर्गतिमितवृत्तवा- [स्वायम् ५ ११] ६४ १७
 छष्टमावन्त [स्वायका ५ १ २] ६६ ११
 दौहि वि मर्दि [सगमि ३ ७९] ४. ८

[घ]

धीत्यन्तपरोक्षेऽर्धे [सिद्धिणि ङि ५ ४१३ A]

१२. ५

न च कटुत्वमोक्षुत्वे [तत्त्वस्य का २१०]

३२. १४

न चाक्षिप्रियेणीया [क्षीकृषा जमाव स्ते

१८] ९. १९

मर्तं तद्भागमास्तिष्येत् [क्षीकृषा सू २ स्ते

१४२] ११ २१

न सूत्रेऽप्रमाणत्वम् [न्यायस्य ५ २२] ३३ ३

नाननुकृतान्बन्धव्यतिरिक्तम् [] ३४ ४

नानुपलब्धे न निर्णयति [न्यायस्य १ १ १]

४५. २०

नामतो ह्यनुया नापि [] ४९. १३

नामिदं भाष्यमोऽस्ति [प्रमाणस्य १ १९२

३] ४७ ९

नोदना हि भूतं भवन्तम् [तत्त्वस्य १ १

२] १२. ८

[घ]

पञ्चवर्णं भवेद्भस्मम् [] ३४ २३

पयोमृशेऽपि ह्यस्य स्यात् [] ३४ २

पित्रोश्च ब्राह्मणत्वेन [] ४४ २३

पुङ्गुं सुगोत्रं सद्यः [भाष्ये नि ५] ७१ ६

पुङ्गुव्यो पिपत्तमन्तमकृत्वाया [दशरथे ४ १] १० ६

पूर्वप्रमितमात्रे हि [तत्त्वस्य का ४५३] ३४ २

प्रतिज्ञाहेतुहाह्वरम् [न्यायस्य १ १ ३२]

३२. १८ ७४ २३;

प्रतिज्ञाहेतुचिरोच [न्यायस्य ५. २. ४] ६७ ९

प्रतिदृष्टमन्तमभानुज्ञा [न्यायस्य ५. २. २]

६४ २

प्रतिषिद्धिप्राप्त्यवसायो दृष्टम् [सांख्यस्य ५]

७४ १०

प्रत्यक्षं कल्पनाऽपोढम् [न्यायस्य १ ४] २३ ८

प्रत्यक्षमनुमानं च [प्रमाणस्य १ २ न्यायस्य

१ १] ७ १४

प्रत्यक्षमागमसाधित- [] ४४ ८

प्रत्येकं चो भवेद्दोषः [] २९. ३

प्रमात्य स्वपराभासि [न्यायस्य १] ३ १४

प्रमाप्यतर्कसाधनोपाकल्पम् [न्यायस्य १ २

१] ६३ २४

प्रमाणनविशेषिगम [तत्त्वस्य १ ९] २. १३

प्रमाणमभिसन्नापि ज्ञानम् [प्रमाणस्य २ १]

६ २३

प्रमाणस्य पञ्च साक्षात् [न्यायस्य २८] ३० १५

प्रमाप्येतरमामान्य- [चर्मश्लिष्टि] ८. १८

[घ]

बाबाऽविनामाबयोर्बिरोधात् [हेतु परि ४

४१ ८

[म]

भिन्नकाण्डं कथं प्राज्ञम् [प्रमाणस्य ३. २४०]

२० ११

[म]

मतिभूतयोर्निष्पन्न- [तत्त्वस्य १ २०] १९. १४

मदेन मानेन मनोमदेन [जयोग २५] १३ १४

[य]

यत्र तत्र ममये यथा तथा [जयोग ३१]

१४ ३

यथाहे कुण्डलावस्था [तत्त्वस्य का २१३]

३२. ६

यद्योप्येवमप्यच्छब्दाति- [न्यायस्य १ २ २] ९

६३ ३

यदीयस्यैवत्वव्यवहारात् प्रतीम- [जयोग २१]

१० ११

यद्भाष्यतिसयो दृष्टः [क्षीकृषा सू २ स्ते

११४] ३६ १

यस्तन्म्यतोऽपि भवन्नुपलम्भ- []

४४ ३

यो यत्रैव स तत्रैव [] २६ २३

[र]

रूपं यद्यन्वयो हेतो- [] ४४ १८

रूपान्मेकमनस्कार- [] १९. २९

रूपिण्यवयव- [तत्त्वस्य १ २८] १४ ७

रोमसो बन्धुः ध्याम- [न्यायस्य ५ १४३]

३४ १८

रोमस्यव्यवहारात्- [पद ९ ; न्यायस्य ५

१२९] ४९ १६

[छ]

छिन्नस्यानन्वया वृत्ती [] ३९. १९

छिन्ने छिन्नी भवत्येव [] ३८. १९

[य]

वपातपाम्या किं व्योम्नः [] ११ ९
 बह्वृषहृषयोवाह—[न्यायम ५ १३] ४३ २२
 विदुषा पाच्यो हेतुरेव हि केयल [प्रमाणसा
 १ २८] ४२ ११
 विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च [न्यायसू १ २ १९]
 ६५ १

विदुषं हेतुमुत्राप्य [] ६५ २
 न्यायिप्रहृषकाळे [] ७१ २२

[ष]

सङ्गं कर्तव्या कर्तव्यी च [] ६८ २०
 मृतमनिन्द्रियस्य [तत्त्वार्थ २ २२] १९ १२
 मोत्रादिबुधिरविकल्पिका प्रत्यक्षम् []
 २४ १३

[स]

सकलप्रमाणस्येष्ट प्रत्यक्षम् [] ७ २२
 सत्सप्रयोग पुन्यस्य [कैमि १ १ ७] २३ १
 स प्रतिपक्षस्वापनाहीन [न्यायसू १ २ ३] ६४ १
 सन्मद्व बर्तमान च [स्रीकृष्ण सू० ७ श्री ८७]
 १४ १९; ३४ २०
 सन्मगनुभवसाधन प्रमाणम् [न्यायसाः ५ १]
 ६ २३

सम्यगर्थं च समञ्ज [स्रीकृष्ण सू ७ श्री
 ३८ ३९] २३ २६

सव एवानुमानानुमेयव्ययहार [] ४६ २
 सवमस्ति स्वरूपेण [] १ १०

सादरपि न सान्त्वयम् [] ४२ २
 साध्यधमप्रत्यनीकेन [न्यायसा ५ २ ३] ६६ १

साध्यानुवादाविकल्पस्य [] ४८ २३
 सापेक्षमसमर्थम् [पात महा ३ १ ८] ७५ २८

सिद्धान्तमन्युपत्य [न्यायसू ५ २ २३] ७२ १
 स्यादात्मत्यन्तनाशे हि [तत्त्वस्र क्र० २२३] ३२ १२

स्यसमयपरसमयज्ञा [] ६३ १२
 स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकम् [परी १ १] ४ १०

स्वार्थव्यवसायात्मकम् [तत्त्वार्थस्री १ १]
 ७७] ३ १५

[ह]

हसति हसति स्वामिन्युत्पत्तेः [वादन्यायः ५
 १११] ७० १९

हीनमन्यवमेनापि न्यूनम् [न्यायसू ५ २ १२]
 ७४ २५

हृत्वोस्तथोपपत्त्या या [न्याया १०] ५० १९
 हत्वपदेष्वात् प्रतिज्ञाया [न्यायसू १ १ ३९]
 ७० १७

हेत्याभासाद् यथोक्ता [न्यायसू ५ २ २४]
 ७२ ९



६ भाषाटिप्पणगत शब्दाँ और विषया की सूची ।

[अ]

- अक्षर १ ११
- अभिनिर्धार १७. १
- अक्षर २३ १४; २४ १
- अक्षरार्थ १ ७
- अक्षरयोग्यवृत्तधार ४० १५
- अक्षरवृत्तार्थ १२८. १०
- अक्षरार्थ ८१ १४
- अक्षरनिर्धार १८. ७
- अक्षरवृत्तार्थ २७ २१
- अक्षर २. ११
- शब्द के अर्थ के विषय में मंगभाष्य अक्षर
व्याप्य अक्षर वानरवृत्ति और हेमचन्द्र के
सम्बन्ध २ ११
- अक्षर प्रमाणातीर्षा १ २१
- इसकी रचना के आधार का ऐतिहासिक अक्षर
व्यकरण १ २१
- अक्षरार्थ (भाष्य) १८. १२
- अक्षरवृत्तार्थ १२२ १६
- अक्षरवृत्तार्थ ११ २४
- अक्षरवृत्तार्थ १४ ५; १५
- अक्षरवृत्तार्थ
- प्रत्ययवृत्त की धृत् १५ ८
- हेमचन्द्र १५ १८
- अक्षरवृत्तार्थ १२६ २५
- अक्षरवृत्तार्थ (हेमचन्द्र) १६ १८ १०१ १०
- अक्षरवृत्त (हेमचन्द्र) १०७ २. १ ८ १४
- अक्षरवृत्तवृत्तार्थ १७ २१
- अक्षरवृत्तार्थ १५ १५
- अक्षरवृत्तार्थ ११६ २०
- अक्षरवृत्तार्थ ११६ २८
- अक्षरवृत्तार्थ (जाति) ११५ ११
- अक्षरवृत्तार्थ (जाति) ११५ ११
- अक्षरवृत्तार्थ (जाति) ११६ १
- अक्षरवृत्तार्थ ८३ १

- अक्षरवृत्तार्थ (जाति) ११५ ७
- अक्षरवृत्तार्थ ८३ १
- अक्षरवृत्तार्थ २१ १
- अक्षरवृत्तार्थ
- गर्भार्थमा स्थाप्ये वगैरेण इति १८ १८
- अक्षरवृत्तार्थ और अक्षरवृत्तार्थ १६ १४ अर्थ
१३८. १
- अक्षरवृत्तार्थ और अक्षरवृत्तार्थ का प्रत्यय अर्थ १३८. ५
- अक्षरवृत्तार्थ निर्धार के विषय में हीन रूप—
वृत्त वृत्त अक्षरवृत्तार्थ १३८ २१
- वृत्त वृत्तार्थ में ही वृत्त अक्षरवृत्तार्थ का
निर्धार १३८. १८
- अक्षरवृत्तार्थ और अक्षरवृत्तार्थ का अक्षरवृत्तार्थ
१३८. ७
- अक्षरवृत्तार्थ और अक्षरवृत्तार्थ का अक्षरवृत्तार्थ
१३८ १२
- अक्षरवृत्तार्थ वृत्तार्थ का अक्षरवृत्तार्थ
१३८ १
- अक्षरवृत्तार्थ का अक्षरवृत्तार्थ १३८ २१
- अक्षरवृत्तार्थ वृत्तार्थ १३८ १
- अक्षर वृत्तार्थ वृत्तार्थ का अक्षरवृत्तार्थ १३८ १५
- अक्षरवृत्तार्थ वृत्तार्थ का अक्षरवृत्तार्थ १३८ २२
- अक्षरवृत्तार्थ वृत्तार्थ का अक्षरवृत्तार्थ १३८ २७
- अक्षरवृत्तार्थ वृत्तार्थ और अक्षरवृत्तार्थ
पर अक्षरवृत्तार्थ १३८ १
- अक्षरवृत्तार्थ वृत्तार्थ अक्षरवृत्तार्थ का अक्षरवृत्तार्थ १३८ १
- अक्षरवृत्तार्थ वृत्तार्थ १३८ १८
- अक्षरवृत्तार्थ वृत्तार्थ अक्षरवृत्तार्थ वृत्तार्थ वृत्तार्थ
अक्षरवृत्तार्थ १३८ २०
- अक्षरवृत्तार्थ वृत्तार्थ अक्षरवृत्तार्थ १३८ २२
- अक्षरवृत्तार्थ १३८ १ १३८ १
- अक्षरवृत्तार्थ १३८ १
- अक्षरवृत्तार्थ १३८ १
- अक्षरवृत्तार्थ १३८ ११
- अक्षरवृत्तार्थ
- वृत्तार्थ १३८ ५
- वृत्तार्थ वृत्तार्थ में अक्षरवृत्तार्थ १३८ १

अनर्थात् ही क्यों अनेकान्तवादी ? ६१ १२
 जैन-बीज का अनेकान्तवाद ६२ ५
 जैन मीमांसक और सल्लिह का अनेकान्तवाद
 ६२ १३
 पक्षिंके अणुनक्षर बीज ६३ ८
 ब्रह्मपुत्रगत अनेकान्तवादका नाम किसका है ?
 ६३ १२
 अनेकान्तक ऊपर विरोधाधि आठ दोष
 ६४ १ ६५. ८
 दोषोद्धार करनेवाले अरूच्य और हरिमह ६४ २१
 सप्तमही त्पद्याय नमसाद और निक्षेप ६४. १९

बैद्यो विरोधसप्तपादिव्योप

अनेकान्तवादी ६१ १४

बौद्धात्मिक

नैवायिकों क सम्भन्धितार और वैशेषिकों क
 सम्भन्धितार की तुलना १०० १४
 न्यायप्रवेश और प्रसक्तपादार्थमत सद्ययजनकत्व
 रूपनिर्माणमतत्व १०१ ३
 असाधारण और विद्वान्म्यामिवादी क सहायजन
 कत्वका प्रसक्तपादकत्व लक्षण १०१ ९
 प्रसक्तपाद को धर्म-मूर्ति का अर्थत्व १०२ १
 अत्यन्तकृत प्रसक्तपादकत्व समर्थन १०३ १
 म्यानधार १०३ ६
 अत्यन्तकृत १०३ ९

वैशेषिकात्मिक १४२. २९ ३३; १४३. ९

अत्यन्तकृत ४० २३ देखो मत

अत्यन्तकृतपक्षि ८७. ८

अत्यन्तकृतपक्षि ८२. १० देखो हेतु

अत्यन्तकृत (हेत्वाभाव) ८७ १२

अत्यन्त ८९. ९

अत्यन्तकृत (जाति) ११३ २१

अत्यन्तकृत ११५ ५

अत्यन्तकृत १० देखो अर्थत्व

अत्यन्तकृत ११. ६; १३ १२; १४. १

अत्यन्तकृतत्व १८. १९; १३२. १२

अत्यन्तकृतत्ववादी २८. ४

अत्यन्तकृत (दोष) ६५ १५

अत्यन्तकृत (निग्रहपात्र) ११६ ३१

अत्यन्तकृतकर्म ११ ३

अत्यन्तकृतत्ववादी (दृष्टान्तभाग) १०७ ४

अत्यन्तकृतत्व () १०७ ६

अत्यन्तकृत (हेत्वाभाव) ८७. १२

अत्यन्तकृतत्वसङ्घा ७७ ८

अत्यन्तकृत (जाति) ११३ २०

अत्यन्तकृतविषयत्व ८१ १७

अत्यन्तकृत (दोष) ६५. ११

अत्यन्तकृतत्ववादी

की प्राचीनता २३ १

कुमारिक और प्रमाकर का मतमेद २६ ५

अत्यन्तकृतत्व २३ ४

अत्यन्तकृत (सिद्ध) ८४ ७

अत्यन्तकृतत्व १७ २

अर्थ

न्याय-वैशेषिकसम्मत त्रिभिन् ६ १

धर्मोत्तर प्रमाणत्व का त्रिभिन् ६ ७

देवद्वारि अमरदेव का त्रिभिन् ६ ९

हेतुयन्त्र १० १

अत्यन्तकृत २१ १

अत्यन्तकृतत्व ११४ ५

अत्यन्तकृतत्ववादी

बीज और नैवायिक सम्मत ४४ १२

अत्यन्तकृतत्वमेद (प्रमाण) १६ ४

अत्यन्तकृतत्वनिर्विकल्पक १२६ ९

अत्यन्तकृतत्ववादी १३३. ४

अत्यन्तकृतत्ववादी ७५ २०

अत्यन्तकृत ४६ ४

अत्यन्तकृत (ज्ञान) १२८ १२

अत्यन्तकृत (दृष्टान) १२६ १२; १२८ १०

अत्यन्तकृत ३० १५ ६४ १५ देखो न्यायवादी

अत्यन्तकृतत्व (जाति) ११३ २३

अत्यन्तकृत

अत्यन्तकृतत्व की प्राचीनता ४६. १५

अत्यन्तकृत और अत्यन्तकृत के अत्यन्तकृतत्व अर्थमेद
 ४६ ९

अत्यन्तकृत १६ २१

अत्यन्तकृतत्व १२६ २६

अत्यन्तकृतत्व ४७ ११ देखो धारणा

अत्यन्तकृतत्व ६९ ११

अत्यन्तकृतत्व ७८. २५ देखो अत्यन्तकृतत्व

अत्यन्तकृतत्ववादी ८२. ४

अत्यन्तकृत (जाति) ११४ १०

अत्यन्तकृतत्व (जाति) ११४ ६

अत्यन्तकृतत्व (दृष्टान्तभाग) १०७ ३

अन्वयक १४३ ३१
 अन्वयसिद्ध (जाति) ११४ १०
 अन्वय (जाति) ११४ १०
 अन्वयनिपत्रगत ८१ १४
 अन्वयुत्तर १०६ २८
 अन्वयव्यवहारी १०६ २८
 अन्वयव्यवहार २६ २३ तथा सर्वज्ञव्यवहार
 अन्वयव्यवहार १२९ १६
 अन्वयव्यवहार १ १ ०; १४२ ३३ तथा अन्वयव्यवहार
 अन्वयव्यवहार ४ १५
 अन्वयव्यवहार
 अन्वयव्यवहार ६८ १२
 अन्वयव्यवहार और मातर में चार
 अन्वयव्यवहार ६८ २४
 पूर्व पत्रगत में अन्वयव्यवहार का संघातन ६८ २६
 अन्वयव्यवहार और अन्वयव्यवहार ६६ १
 अन्वयव्यवहार का हाट अन्वयव्यवहार का अन्वयव्यवहार और
 अन्वयव्यवहार का अन्वयव्यवहार ६६ २
 अन्वयव्यवहार (जाति) ११४ ४

[आ]

आगम
 आगमव्यवहार का प्रामाण्य १८ १
 आगमव्यवहार और अन्वयव्यवहार-व्यवहार १८ १८
 आगमव्यवहार में अन्वयव्यवहार का अन्वयव्यवहार का
 अन्वयव्यवहार १८ २१
 अन्वयव्यवहार अन्वयव्यवहार का अन्वयव्यवहार क्या
 क्या है १ १८ २५
 अन्वयव्यवहार की अन्वयव्यवहार १८ २९
 आगमव्यवहारव्यवहार
 अन्वयव्यवहार का अन्वयव्यवहार अन्वयव्यवहार एक
 अन्वयव्यवहार ३४ १५
 अन्वयव्यवहार अन्वयव्यवहार का अन्वयव्यवहार का
 अन्वयव्यवहार ३४ २
 अन्वयव्यवहार का अन्वयव्यवहार ३४ ३२
 आगमव्यवहार १३३ ९
 आगमव्यवहारव्यवहार १३४ १५
 आगम ७० ९ तथा अन्वयव्यवहार
 अन्वयव्यवहार (जाति) ६६ १
 आगमव्यवहार १३३ १५
 आगमव्यवहार (जाति) १ ४ १५
 आगमव्यवहार ७० ८

[इ]

इतरव्यवहार ८ ९
 इतर (जाति) ४० ३
 इतरव्यवहार
 पाणिनिपत्र निरूपित ३८ २५
 अन्वयव्यवहारव्यवहार निरूपित ३६ ३
 अन्वयव्यवहार निरूपित ३६ १०
 अन्वयव्यवहार की विशेषता ४० १
 अन्वयव्यवहार के अन्वयव्यवहार अन्वयव्यवहार ४० ९
 अन्वयव्यवहार-अन्वयव्यवहार ४० १५
 अन्वयव्यवहार ४० २९
 अन्वयव्यवहार पांच अन्वयव्यवहार ४० २४
 अन्वयव्यवहार अन्वयव्यवहार इतरव्यवहार ४१ १
 अन्वयव्यवहार ४१ ८
 अन्वयव्यवहार-अन्वयव्यवहार ४१ १९
 अन्वयव्यवहार ४१ २३
 अन्वयव्यवहार-अन्वयव्यवहार ४१ २३
 इतरव्यवहारव्यवहार १३४ १९
 इतरव्यवहारव्यवहार ६६ २९

[ई]

ईतर १३२ १५
 ईतरव्यवहार २६ २
 ईतरव्यवहार १६ २८
 ईतरव्यवहारव्यवहार १३३ ११
 ईतरव्यवहार २३ २८
 ईतरव्यवहारव्यवहार २६ ९
 ईतर ३६ २ ; ७७ १०

[उ]

उतरव्यवहार (जाति) ११३ ९
 उतर १०६ २२
 उतरव्यवहारमात्र १०४ २५
 उतरव्यवहार (जाति) ११४ ०
 उतरव्यवहार २१ १ ; ७६ १ ; १०
 अन्वयव्यवहार
 उतरव्यवहार १२८ २९
 उतरव्यवहार ८४ ४
 उतरव्यवहार (जाति) ११४ ८
 उतरव्यवहार १०६ २२ तथा अन्वयव्यवहारमात्र
 उतरव्यवहार (अर्थ) १० ३
 उतरव्यवहार १२ १६
 उतरव्यवहारव्यवहार ३२ ११
 उतरव्यवहार १ ९

[क]

रुद्र उषि २१ दोसो तक

[घ]

एकदशविक्रम ३३ २१

[ङ]

कम्पाद १ ०

कवा

शास्त्रण-धर्म परम्पराएं और उनका

साहित्य १०८, १५ दोसो बाहुकवा

क्या ११५ २९

कवामास ११८ २४

कनकपुष्पी ४० १५

कर्मेन्द्रिय ४० २४

कम्पना

सम्प के कार्य ५१ ८

कारणिकिक (अनुमान)

कर्मोक्ति नहीं मानते ८५ २६

काय (लिङ्ग) ८३ १८

कार्यिकिक (अनुमान)

प्राप्त होने की बीजोप्राप्त अद्यभक्त्या ८३ १

कार्यसम (वाति) ११४ १२

कार्यसम (वाति) ११४ ४

कार्यतीत ८८ १३

कार्यपरापरिधि ८८ १३

केशकूर्पण १२३ १२

किरा १३६ ४

कर्मधारय ३२ १५

सविकल्पज्ञान ३२ १०

[ख]

खण्डन १ ६ २२

[ग]

गुण ५३ ९ दोसो गुण

[ङ]

गण्ड ३३ २

गण्डवर्णन १२८ १०

गण्डवार् ११० २ दोसो बाहुकवा

विधि ३३ १४; ३४ ८

विष्ठा ३३ ४

एक ११० ९ ११४ २९

[च]

चम्पप्रत्यय १३२ १४

चपपरात्रपप्यवरया

शास्त्र परम्परा क अनुसार जय क लिए

स्वपक्षसिद्धि आवश्यक नहीं । एक का

पराजय दूसरे का जय १२१ १५

धर्मोक्तिहृत व्यवस्था-जय के लिए निर्दोष

साधन का प्रयोग आवश्यक ; एक का पर-

जय ही दूसरे का जय नहीं १२२ १

दिवाचार्य व्यक्तज्ञ के मतानुसार-एक पक्ष

की सिद्धि से जय । एक पक्ष की सिद्धि दूसरे

की असिद्धि के बिना नहीं १२२ १०

हंयचन्द्र १२३ १९

चक्र ११३ २ दोसो रूप-रूपणमास

वाति १०६ १८ ११० ९; ११३ १९

दोसो रूप-रूपणमास

चानुत्तर ११३ १३; ११४ २९

चीरत्वसिद्धि ४२ ९

चैतन्यात्मिका

आत्मिक और तार्किक प्रक्रिया में क्या भेद है ?

१६ २९

जवायम में तार्किक क्या मरवाहु के बाद की

२० ३

आत्म में सर्वप्रथम आबरहित में तार्किक

प्रमाण पशुइय के आधार पर पशुइय की

बर्चा की २० १३

काम्पासिद्ध पशुइय का प्रमाणहम में

समावेश २० १९

संस्कृत का समय में स्थापना और समकाली में

प्रमाणहय और प्रमाणहय का प्रवेश

२० १९

आर्यरक्षण के द्वारा मति और अत का प्रत्यक्ष

और आधम प्रमाण में समावेश २१ ९

अमरताति के द्वारा मतिधुन में अनुमानाति का

समावेश २१ १३

पुत्रवार् २१ १५

मन्वीश्वर क द्वारा पयत्रात्र प्रत्यक्ष

और परोक्ष में समावेश २१ १०

मन्वीश्वर क द्वारा जमानाति और आर्यरक्षण

क मण्डपना लीकित हरिसे समकाल २१ १९

व्यापकता में तार्किक ज्ञान वर्ना में अनुस्यूत
 निरूपण सुन्द २१ २२
 त्रिभुजोच्च माध्यवहदिकप्रसङ्ग २२. १
 अक्षरद्वय के द्वारा पर्युपमाय क अनुमानादि
 पाप मेंदों का स्थान २३ १०
 राजशासिक में उमान्वाप्यगारी ज्ञान निरूपण
 २२. २१
 हेमचन्द्र २३ १

आतया १३१ २
 आन १३१ १५
 आनवर्षा १३ २१ देवी औनशावप्रक्रिया
 आनीपधिप्रक्रिया
 अिनदत्त ४५. १३
 बीहपरम्परा ४३. २२
 पैदिदत्तन ४५ २५
 हेमचन्द्र और अक्षरद्व ४५. ३१

अेषावर्ण ३२. १५
 अोतिर्धान ३५ २८

[८]

तापविनिबीधु ११८. ३
 तापद्वयसुमु ११७ २
 तापद्वयसुमुकथा ११३ ३१
 तापुस्तकितहाकारता
 गीताप्रतिफलगत ४४ २१

तर्क

अरु और तर्कचन्द्र प्रभाव की प्राचीनता
 ७३ २५
 अशिति ७७ १
 तत्त्व विवादिषों का मन्तव्य ७७ १
 प्राचीन विवादिषों क मन्तव्यप्रकार प्रयावकीटि से
 ज्ञान ७७ १
 बीह-मन्तव्य ७७ १७
 त्रिभाषित्तन नामाध्य ७७ १७

ताविद १ ३
 तिमिरादिदोष १३. १
 त्रिभुजिका ४० १५

[९]

द्वारं ४६ ३
 द्वारं
 निरिद अर्थ १२५ १
 निर्विद्वान और द्यन की पद्धता १२५. १७

मन्व बहम और मनुहरि का निवेप १२५ १८
 खीरिण और अखीरिण १२३. ७
 विपद के बारे में शारीरिणों का मन्तव्य
 १२३. १८
 अन्तर्वय्य प्रसङ्ग और पर्युप दत्तन १२३ २५
 उत्पत्तिक सामग्री का मन्तव्य १२७ १२
 प्रमाणक विपय में बीह विद्वान्त स्वान्त-वैदेषिक
 नीर्यासक और छांन्व-नोम १२७ २१
 त्रिभागम इष्टि से सम्पन् और निम्नान्तन
 १२८. १
 प्राचीन जैन परम्परा क अनुष्ठान सम्प्रदायिष्वा-
 रूप द्यन का विभाग कही १२८. १५
 जन्-तार्किकों की इष्टि से प्रमाणवैदेषिक-
 प्रमाणान्तन १२८ १
 अमयवैदेषिकप्रमाण १२८ २
 अयोनिजव १२८ १७
 हेमचन्द्र १२८ २५

वृत्त ११७ २

वृत्त-वृत्तान्त

निरूपण सर्वप्रथम साहज्य परंपरा में द्विद क्रमका
 बीह-जैन में १ ८
 अक्षर बीह कैलशक्ति में प्रयुक्त समानार्थक
 अर्थ १०८ २२
 निरूपण का प्रयोग ११० १
 प्राहज्य-परम्परा में छन जालि के प्रयोग का
 मन्तव्य ११० १
 अम्पति प्रयोग क बारे में बीहों में अक्षर
 कही ११० १२
 जन्-परम्परा में अक्षरि प्रयोग का निवेप
 ११ १५
 अम्पति प्रयोग के समर्थन और निवेप के बीह
 बना द्यम्य ८ ११० २५
 अम्पति प्रयोग के बारे में बीहों के द्वारा साहज्यों
 का अनुष्ठान १११ १
 अन्व बहमर बीहों क द्वारा अम्पति का निवेप
 ११२. १
 त्रिभ-परम्परा में प्रथम से ही निवेप ११२ ७
 अक्षरान्त जैन परम्परा में ज्ञान बहमर समर्थन
 ११२. ११
 अक्षरान्तपरम्परा क प्राचीन शब्दों में द्विद
 देवुपेय का विभाग ११२. २७

विश्राग से रूपों का विकसित वर्णन

११२. २८

रूपनामास का विस्तृत वर्णन प्राचीन ब्राह्मण

ग्रन्थों में ११२. २९

बीह ग्रन्थों में बलय-मात्र ११३ १

बर्तन में जिनों द्वारा बीह-ब्राह्मण का

अनुसरण ११३ २

हेमचन्द्र ११३ ३

साधिविषयक परम्पराओं का श्लोका ११३ १०

रूपनामास १०६ २४ देखो रूपनामास
पद्याल

अनुमानाश्रय के विषय में धर्मश्रुति का मन्तव्य
६० १०

जैनाचार्यों का मन्तव्य ६० २१

संक्षम और प्रच्छर ६१ ५

जैनाचार्यों की दृष्टि से उपबोध ६१ १३

दृष्टान्त ६९ ३

दृष्टान्तनामास

न्याय-वैशेषिक सूत्र में निरूपण नहीं १०३ २९

न्यायप्रवेश प्रकृत और माठर के मेरों की
सूचना १०४ ३

अप्य का निरूपण बौद्ध-वैशेषिक के आचार
पर १०४ २१

न्यायसारगत संक्षिप्तवादाहरणनामास १०४ १

धर्मश्रुति १०४ ७

धर्मश्रुति और शिबसेनादि जैनाचार्य १०४ ११

हेमचन्द्र की विशेषता १०६ १

देवसर्वाङ्गवाद १०६ २९

शोषानामास ११० १

द्वय

वैवाकरणों की व्युत्पत्ति ५४ १०

जिनों का द्वारा द्वयसंज्ञ का प्रयोग विद्व-विद्व
अर्थ में १५५ १

न्याय-वैशेषिककृत म्यप्रत्या ५४. १

न्यायवा में महानाम्य, योगनाम्य, कुमारिक
कीर जनाचार्यों की एकतावन्ता ५४. १३

पदान ५६ १

शुभ और पर्वाङ्ग के मेराभेद का बारे में

जैनाचार्यों का मतभेद ५६ ९

द्वय और शुभ के मेराभेद के बारे में

दार्शनिकों का मतभेद ५६. ३१

द्रव्याधिक ५३ १८

द्रव्यास्तिक ३१ २७

द्रव्येन्द्रिय ४० १९

[घ]

धर्मश्रुति १ १७

धर्मज्ञ ३० १

धर्मज्ञवाद २८. ८ देखो सर्वज्ञवाद

धर्मज्ञेयक ३० १०

धर्मविशेषविषयक ६६. २९

धर्मशास्त्रा ३० १

धर्मविशेषविषयक १०० २

धातु १३९. ३

धारणा

आत्मन-नियुक्तिधर्मीन ४७. ५

पूज्यपाद ४७ ८

जिनमप्रकृत तीन भेद ४७ १

अकृतद्वारि विषयवराचार्यों का मतभेद ४७ १३

हेमचन्द्र का मतभेद ४८. ५

धारणा ३६ २

धारणाधिक्याज

प्रामाण्य-अप्रामाण्य की पक्षा का धर्मश्रुति के
द्वारा प्रमाणशास्त्र में प्रवेश ११ १०

न्याय-वैशेषिकसम्मत प्रामाण्य ११ २३

मीमांसक के द्वारा प्रामाण्य समर्थन १२ १

बौद्ध धर्मोत्तर सम्मत अप्रामाण्य १२. ९

अक्षतसम्मत प्रामाण्य-अप्रामाण्य १२. ११

जैनाचार्यों का मन्तव्य १३ १

हेमचन्द्र की विशेषता १४ १

[ङ]

अथ ३२ १

अथवाद ३२. ३, ३६. २० देखो अवेस्तामत्वाद

विशेष ३२. १

विशेषपद्धति ३५. ५ देखो अनेकमतवाद

निग्रहस्थाप

न्यायव्ययन बरक और प्राचीन बौद्ध का

एकमत ११६ २९

धर्मश्रुति के वादन्वाय में स्वतन्त्रनिरूपण

१२० ९

जैनाचार्य वाचस्पामी और लक्ष्मण १२० १

धर्मश्रुतिकृत ब्राह्मण-परम्परा का मन्तव्य और

वर्ष परम्पराका स्थापन १२० १९

वैशाखान अन्नसङ्ग्रहण आश्रय-बीड
परम्परा का उद्भव १२० २१
हमकन्न १२१ १५

वेद्यो अवपराजवपवस्या

वित्तज्ञान १३२, २५

वित्तप्रत्यक्ष १३२, १५

वित्तबाध ५३ ८

वित्तवित्तव्यवस्था ५३ ९

वित्तवित्तव्यवस्था ५३ ९

वित्तसम (जाति) १३४ १

विद्यार्थव्यवस्था १०४ १४ वेद्यो वृत्तान्तव्यवस्था

वित्तसहायक ७३ २५ वेद्यो व्याप्ति

वित्त ३, १२६ ३

वित्तिकल्प १३३ २३

वित्तिकल्पक १२५, १५ वेद्यो वृत्तान्त

वित्तिकल्पकप्रत्यक्ष ७४ २४

वित्तिकल्पक ३२, १५

वित्तिकल्पकप्रत्यक्ष १२६ १५

व्यावहारिक

वित्तिकल्पकप्रत्यक्ष १५ १५

वित्तिकल्पकप्रत्यक्ष १५ और वार अवयव ६४ १९

वित्तिकल्पकप्रत्यक्ष १५ २५

वित्तिकल्पकप्रत्यक्ष एक और दो अवयव ६४ ३

वेद्यो का अनन्तता ६४ ३२

वित्तिकल्पकप्रत्यक्ष और वित्तिकल्पक ६५ १५

[५]

पत्र

प्रत्यक्षपत्रके द्वारा स्वयन्निर्णय ४८ १

वैशाखानों के द्वारा वित्तों का अनुकरण ४८ ३

प्रत्यक्षपत्रवित्तिकल्पके द्वारा व्याप्ति ४८

वाफिरपत्र के विषय में प्रत्यक्ष व्यावहारिक

व्यावहारिक माहुर और वैशाखानों के मन्तव्य

की तुलना ४८, १३

आधर के विषय में वारव्यावहारिक वित्त और

वैशाखानों के मन्तव्य की तुलना ८६ १३

वित्तिकल्पक और प्रमाणिकल्पकिक के विषय में

वैद्य और परमेश्वरी का विचार ८६ २४

पत्र ६० १ वेद्यो वृत्तान्तव्यवस्था

वृत्तान्तव्यवस्था ६३ १०

वेद्यिकल्पके द्वारा वित्तिकल्पक ६३ १८

परमेश्वरी का विचार ६३ ९

वैशाखानों का सम्बन्ध ६३, २१

हमकन्न और वाफिरपत्र ६३ २५ वेद्यो वृत्तान्त

वृत्तान्तव्यवस्था ६३ १

वृत्तान्तव्यवस्था १२१ ३

वृत्तान्तव्यवस्था १२५, ३

वृत्तान्तव्यवस्था १३६ १०

वृत्तान्तव्यवस्था ३६ ०

वृत्तान्तव्यवस्था १३० ० वेद्यो स्वयन्निर्णय

वृत्तान्तव्यवस्था १० २५

वृत्तान्तव्यवस्था १३१ १५

वृत्तान्तव्यवस्था १३० २३

वृत्तान्तव्यवस्था १३० १२

वृत्तान्तव्यवस्था (वैद्यव्यवस्था) ३ ९

वृत्तान्तव्यवस्था ३३ २

वृत्तान्तव्यवस्था १३१ १५ वेद्यो अवपराजवपवस्या

वृत्तान्तव्यवस्था १३१ १५

वृत्तान्तव्यवस्था १३३ १०

वृत्तान्तव्यवस्था

वृत्तान्तव्यवस्था और व्यावहारिक में प्राचीनकल्पक ६२, १

वृत्तान्तव्यवस्था व्यावहारिक और वित्तिकल्पक ६३,

हमकन्न ६२, १२

वृत्तान्तव्यवस्था प्रमाणिकल्पक ६३ २

वैद्यव्यवस्था की विशेषता ६३, ३

हमकन्न ६३ ८ वेद्यो वृत्तान्तव्यवस्था व्यावहारिक

वृत्तान्तव्यवस्था १२१ २९

वृत्तान्तव्यवस्था ५३ ९

वृत्तान्तव्यवस्था ३, १३७ १, १३७, ८

वृत्तान्तव्यवस्था ५३ ९ वेद्यो वृत्तान्त

वृत्तान्तव्यवस्था ५३ १८

वृत्तान्तव्यवस्था ३३ २४

वृत्तान्तव्यवस्था ३ ३

वृत्तान्तव्यवस्था ३३, ७; १२७ ७

वृत्तान्तव्यवस्था १३३, १

वृत्तान्तव्यवस्था ३ ०

वृत्तान्तव्यवस्था ३७ १

वृत्तान्तव्यवस्था (वृत्त) १३५, १८

वृत्तान्तव्यवस्था १३३, १५

वृत्तान्तव्यवस्था (जाति) १३६, ३

वृत्तान्तव्यवस्था ३५ २३

वृत्तान्तव्यवस्था ३ ९ वेद्यो वृत्तान्तव्यवस्था

वृत्तान्तव्यवस्था (जाति) १३३, २९

प्रतिवादी ११८ १०

प्रतिषेध १०६ २१

प्रतिस्वभाव ४३ १ १३५ ३

प्रवृत्त २३ २४ १३८ ७; १३७ १५

प्रत्यक्ष

सिद्धसंश्लेष स्वार्थ-परस्परकम ईषिय ८० १८

प्राचीनशास्त्रिक साहित्य में सिद्ध जन्मप्रवृत्त का संश्लेष १३८ ७

प्राचीन साहित्य में ईश्वर और उनके नियम

ज्ञान की जन्म मही १३८ १५

बीजिक और अनीकिक १३३ १

बीज और साइड भेदांतसम्मत अनीकिक की

निर्विकल्पकता १३३ २२

उपानुभवसम्मत अनीकिक की समिकप्रकृता

१३३ २३

स्वावबैधैकिकवेनसम्मत अनीकिक की

समनकृता १३३ २५

प्रसङ्गत्वका नियामकत्व १३४ ८

बीजसंमत निर्विकल्पक की ही प्रत्यक्षता

१३४ १९

कल्पनिकसाधारण अक्षय-मासबद्ध २४ २३

शास्त्रिकता १३४ २९

सिद्धयेन का अक्षय १३५ ९

अक्षयसङ्गत सद्योपन १३५ १

हेमचन्द्र १३५ २५

प्रत्यक्षप्रमाण

वैमिनीयप्रसङ्गत्व की स्वाख्या में टीकाकारों

का मतमेव ५१ २०

वैमिनीय प्रत्यक्षके अक्षयकार ५२ १

साध्य की हीन परम्परार्य ५२ १९

साध्यसङ्घर्षों के सङ्गतकार ५२ २३

प्रत्यक्षकथन

सिद्ध्याय और समकीर्ति का मतमेव ५० १

शान्तरहित का समन्वय ५० १

बीजसङ्घर्षों का अक्षय ५० २५

सिद्धयेन के संश्लेष की तुलना ५० ३२

प्रवृत्तस्वरूप

बीजसम्मत निर्विकल्पकता २३ १२

स्वावबैधैकिकसम्मत निर्विकल्पक उपनिशक्त

साक्ष्य-योग-जन्तसम्मत प्रमाणरूप ४

सर्विकल्पक २६ १४

प्रत्यक्षज्ञान

प्रामाण्य क विषय में बीज बीजितरों क

मतमेव का खल ७३ ३

स्वरूप के विषय में बीजों का मतम्ब ७५ १४

बाधत्वति और अयन्त ७५ २२

जनाशय अक्षयका मत ७६ १

धनों के द्वारा उपमानका समावेश ७६ ९

प्रवृत्त (कथारः) ७५ २

प्रमा १२७ २९

प्रमाण पृष्. ७; १३६ ८

प्रमाणसैतन्य १३४ १०

प्रमाणसैतन्येक्षण

न्याय-साध्यसम्मत प्रसङ्ग का ज्येष्ठत्व २४ १४

पूर्वोत्तरमीमांसासम्मत आधम का ज्येष्ठत्व

२४ १५

बीजसम्मत प्रत्यक्षानुमान का समनकृता २४ १९

अक्षय नियान्तरसम्मत प्रवृत्त का ज्येष्ठत्व

२४ १८

स्वेनाबराभावसम्मत प्रत्यक्ष-परोक्षका समनकृता

२५ १

प्रमाणहित

हेमचन्द्रवादिक और सिद्धयेन के अनुसार वसे

विकल्पसम्मत २३ १३

प्रमाणहित

प्रसङ्गतपादसम्मत २३ ८

प्रमाणनिरूपक

बास्त्यायन बाधत्वति हेमचन्द्र तथा प्रयत्नरत्न

मात्म ३ ११

प्रमात्वमीमांसा ४ २१

प्रमाणक

आध्यात्मिक दृष्टि प्राचीन तथा ६६ ७

तत्त्वगुणीन न्यायदार्ष्टिक दृष्टि तथा ६६ १४

मेदानेवकारे में वैदिक और और जैन

६६ २१

फल के स्वरूप के विषय में मेवाविक वैदिक पद

मानोसक और साध्य का प्रथमत्व ६७ ३

फल के स्वरूप क विषय में २१ बीज परम्परार्ये

६७ १३

सिद्धयेन और समन्तत्र ६८ ३

अकच्छ और वाद क विनाशों के द्वारा
 विकास ६८ १३
 हेमचन्द्र की विशेषता ६८ ३

प्रमाणसङ्ग्रह

कथासङ्ग्रह कारपद्धिद्विगुणक सर्वप्रथम लक्षण ५ १
 नैयामिहों का विकास ५ ३
 कुमारिल और प्रभाकर के कथनों की परस्पर
 और वर्धनान्तर के साध तुलना ५ १८
 सिद्धांत वर्मशीति सान्तरस्थित ६ १
 निम्नवत् ६ १०
 विनाशों क कथनों की सम्बन्धना के आधार
 का ऐतिहासिक अवलोकन ६ २२
 हेमचन्द्र का संशोधन ७ ११

प्रमाणान्तरसिद्धि

धर्मशीति ३५ ३
 हेमचन्द्र सिद्धि और वाक्यसिद्धि की सुद्धिओं
 की तुलना २५ ७

प्रमाणमास १२३ ८

प्रमाणा

औरविषय छंदस बीह वैत मीमांसक के मत-
 तुलना भात्मनिरवामिस्ता का विचार ७० ८
 स्वामभाषित-परावभाषित के विषय में मीमां
 स्य वैत और योगाचार का मतम्ब ७० २३
 नैनामिस्तवेहम्भाषित ७१ ३
 आत्मा और इन्द्रका अमेद मानवेवालोंके मतमें
 आत्मा स्वप्रकृष्ट १३७ १
 कुमारिल १३७ ७
 परप्रकाशवाणी प्रभाकर १३७ १५
 भाष्यप्रकृष्ट के विषय में नैनामिस्त वैशिष्टियों का
 मतम्ब १३७ १७

प्रमाणा ५३ ७

प्रमिति ५३ ५

प्रमय ठ ५; ५३ ७

प्रमेषसिद्धि ३५ २१

प्रमेषरूप

का विगत तन्त्रुय से बहिके का ५३ १
 नईपुण ५३ १२
 हेमचन्द्र ५३ २० बंगा इन्द्र

प्रमेषरूपरूपरत्ना

दात्मिक क्षेत्र में सुद्वयनिर्गारित अतिशयता का
 वैश्याम ५८ १

प्राचीन समय में बन्वमोक्षम्बवत्त्वा कर्मक-
 सम्बन्ध आदि कर्तवियों से बन्वम्बवत्त्वा ५८ १
 श्रीश्रीप्रवित तन्त्रुगौव अर्पिकाप्रवितकी
 कर्तव्यी ५३ १

अवन्त वाक्यसिद्धि और योग्येव के द्वारा उक्त
 कर्तव्यी का भाष्य केन्द्र शीतों के एकान्त
 अनित्यत्ववाद का खंडन ५३ १५
 उक्त कर्तव्यी से विनाशार्थ अकच्छ के द्वारा
 शीतों का खंडन और स्वयंस्वयं ५३ ३२

प्रमत्तवाङ्मणोरत्नपटा (वाति) ११४ १५

प्रमत्तवाङ्मणोरत्नपटा (वाति) ११४ १५

प्रमत्तवाङ्मणोरत्नपटा (वाति) ११४ १५

प्रमत्तवाङ्मणोरत्नपटा (वाति) ११४ १५

प्रमत्तवाङ्मणोरत्नपटा (वाति) ११४ १५

प्रमत्तवाङ्मणोरत्नपटा (वाति) ११४ १५

प्रमत्तवाङ्मणोरत्नपटा (वाति) ११४ १५

प्रमत्तवाङ्मणोरत्नपटा (वाति) ११४ १५

प्रमत्तवाङ्मणोरत्नपटा (वाति) ११४ १५

प्रमत्तवाङ्मणोरत्नपटा (वाति) ११४ १५

प्रमत्तवाङ्मणोरत्नपटा (वाति) ११४ १५

प्रमत्तवाङ्मणोरत्नपटा (वाति) ११४ १५

प्रमत्तवाङ्मणोरत्नपटा (वाति) ११४ १५

प्रमत्तवाङ्मणोरत्नपटा (वाति) ११४ १५

प्रमत्तवाङ्मणोरत्नपटा (वाति) ११४ १५

प्रमत्तवाङ्मणोरत्नपटा (वाति) ११४ १५

प्रमत्तवाङ्मणोरत्नपटा (वाति) ११४ १५

प्रमत्तवाङ्मणोरत्नपटा (वाति) ११४ १५

प्रमत्तवाङ्मणोरत्नपटा (वाति) ११४ १५

प्रमत्तवाङ्मणोरत्नपटा (वाति) ११४ १५

प्रमत्तवाङ्मणोरत्नपटा (वाति) ११४ १५

प्रमत्तवाङ्मणोरत्नपटा (वाति) ११४ १५

प्रमत्तवाङ्मणोरत्नपटा (वाति) ११४ १५

प्रमत्तवाङ्मणोरत्नपटा (वाति) ११४ १५

प्रमत्तवाङ्मणोरत्नपटा (वाति) ११४ १५

प्रमत्तवाङ्मणोरत्नपटा (वाति) ११४ १५

प्रमत्तवाङ्मणोरत्नपटा (वाति) ११४ १५

प्रमत्तवाङ्मणोरत्नपटा (वाति) ११४ १५

प्रमत्तवाङ्मणोरत्नपटा (वाति) ११४ १५

प्रमत्तवाङ्मणोरत्नपटा (वाति) ११४ १५

प्रमत्तवाङ्मणोरत्नपटा (वाति) ११४ १५

प्रमत्तवाङ्मणोरत्नपटा (वाति) ११४ १५

प्रमत्तवाङ्मणोरत्नपटा (वाति) ११४ १५

प्रमत्तवाङ्मणोरत्नपटा (वाति) ११४ १५

मम ४० २१; ४३ २७;

मम

स्वरूप और कारण ४२ १७

कार्य और मर्म ४३ ३

स्वान ४३ १७

मन्त्रार्थप्रमाण ३७ ७

आवृत्तकर्मिर्गुणित तथा उत्पत्तिसाम्यका मन्त्रम् ३७ १७

विशेषान्तरकाम्य ३७ १८

विष्णुपरम्परा ३७ २३

हेमचन्द्र ३७ २९

मन्त्रकार ४३ २८

मनुष्यसंज्ञात्मवारी २३ २७

मनुष्यसंज्ञावाय २३ २३

मातृसम्पत्ता ३३७ २१

माता ३० १

निष्ठावृत्त ३२८ २

मित्रोत्तर ३०३ ३२

मीमांसा

वाचस्पतिवृत्त व्याख्या ४. २१

हेमचन्द्र ४ २७

मोक्ष ३८. २

(घ)

महा ३२. १

योगित्वात्प्राप्तिसिद्धि २२. १२

योगिप्रत्यक्ष ३३३ ५

योगिज्ञान ३३३ ६

योगिसंवेदन ३२३ ११

योग्यता (ज्ञानगत) ३७ २१

(ङ)

कर्म ८. १७

कर्ममयोद्ध

म्यायवेद्येपि और बोद्धनेन ४ ६

कर्मजकर्म

हेमचन्द्र ४ १५

कर्ममा ३२ १५

कर्मार्थ ८. १७

कर्म ८. १२

किञ्च ८० २६ ८३ २९

किञ्च (ज्ञायमान) ८३. २ दगो वेत्तु

किञ्चरामार्थ ३३८. ७

कौटिलिकनिर्विकल्प ३२३. ८

कौटिलिकप्रत्यक्ष ३३३ ७

(च)

कर्मतुल्य ३७ १

कर्णसम (जाति) ३३३ २२

काव्य ३३५. ३

काव्य ३३५ २९ देतो वाचकता

काव्यका

न्यायवर्षेण और चरक की तुलना ३३५ ३

वीर्य-वेन ३३५ १७

न्याय और चरकका उत्पत्तिसुम्पु ३३५ २२

चरक और विश्वेदेववर्षित मित्रिगीपु ३३७ १

वीर्यसंत अतिकारी ३३७ १२

वेन और नैयायिकके मित्रिगीपु की तुलना

३३७ २

कन्यावर्षेणत वीर्यसंतका ३३७ ३

वाग्दिवेका संघोषन ३३८ ८

प्रयोग ३३८. १२

चतुर्ण ३३८. १७

कल्प विद्ययाके कथान्तरका विषय ३३८. २

वारी ३३८. १७

वाङ्मया ४७ १२

विकल्प ३३ १५) ७८. १

विकल्पसम (जाति) ३३३ २७

विकल्पसिद्ध ८३ २७ देवा पक्ष

विष्णुसंज्ञन ३३३ १७

विष्णुसंज्ञाया ३३३ १

मित्रिगीपु ३३७ ६

मित्रिगीपुका ३३३ १ ; ३३७ ३

मित्रिगीपुका ३३७. २

मित्रिगीपु ३३३ २

मित्रिगीपु ३३२ २७

मित्रिगीपुका ३३३ १

मित्रिगीपु

हेमचन्द्रवृत्त कर्मण की कथाद योगसूत्रारि क

छाप तुलना ३३. २३

मित्रिगीपु ३३३ ३१

मित्रिगीपु ३३ ७ देतो जनेकात्तवाद्

मित्रिगीपु ३३ १७

मित्रिगीपु (जाति) ३३५ १७

विरह (हेलासाय)
 स्वायप्रबोध और वैद्येयिक का मठमेव ४६ १५
 स्वायप्रबोध और भाठारसमत का मेव ४६ १
 स्वायसिन्धु में दो मेव ४६ १३
 इन्द्रियासत्त्व और धर्मसिद्धेवविरह का ऐक्य ४६ १२
 न्यायसार और जनानाय १०० ३

विन्द १४२, १९
 विन्द्यायनभित्तारी १०१ ०
 विन्दोपछन्नि के बहाहरक ८७ १२
 विरोध (रोप) ३५, १०, १५ १

विरोपसकवादिपीर
 अनकामतवाह पर सिद्धे गए दोषों की संख्या
 विपनक मित्र १ अठारम्भरीय विगम्भरीय
 व्याचारी की परंपरा का अवबोधन ३५, ८
 दोषो अन्वैक्यतवाह

विरोधी (विद्वा) ८३, २९
 विचार ११३, १८
 विद्य २३, १० १३२, ० दंडो मत्पक्ष
 विद्वेष ४ १
 विद्यवैतन्व १३४ ११
 विद्यवता ४४, २५
 विद्यवसाह्वय ३० १९
 विद्यवाविगति ३७, १९
 विद्यवाविषय ३७ १३
 वेद-न्यायमात्मवादी १३ २३
 वेदमात्मात्मवादी १३ २०
 वैदर्भ (इन्द्रमात्माय) १ ४ ०
 वैदर्भसम (वाति) ११३, १९
 वैयधिकरण ३५ १३
 वैवाकरकत्व

आनाय इमपत्र का ३६, ७, १३३ १
 वैसय
 का मूल धर्म-धीर्नि के मन्त्रों में ३६, १०
 टीय अवार का निर्भव २७ ३
 वैसय १३५ १९
 वाजनाथप्रह १२६, १५
 वातिकर ३५ १५
 वातिकर ३५ ९
 वातिकर (इन्द्र) ८ ९
 वातिवार १ १ १ २ १०

व्यभिचारपत्रा ७३, ९
 व्यभिचारव्यवहारपत्रमात्र ३६ २९
 व्याप्ति (वाति) ११४ १९
 व्याप्ति ७८, ११, ८० १
 व्याप्ति
 अर्धरामक द्विविध व्याप्तिना स्पष्टीकरण ७८, २५
 यज्ञेय और अर्धर ७६ १९

व्याप्तिप्रह ७८, १ १३८, ०
 व्याप्तिज्ञान ७७ २४
 व्यापीह ३० २५
 (स)

व्याप्यवृत्ति
 वात्सानन का प्रेषिण २ १०
 धीवर का अर्धेय अक्षयवृत्त द्वेषिण ३ १८
 हेमवन्त्र ४ ९
 विभाग का अद्योतकर और अवन्त के द्वारा अर्ध
 में समावेश ४, ११

व्यासव-व्यासवत् ३१ २५
 व्युत् १२४, १९
 व्युत्सिद्धि (वाति) ११४, १०
 व्युत्सम (वाति) ११४ १०
 (स) -

संकर ३५ १९, ३५, ११
 सत्य १ ९
 संकीर्णी (मित्र) ८३ २९
 संविन् १३७ १५
 सकय
 कवार मक्षपाद, बीह और जिनों क अक्षरों
 की तुलना १४ २२, १५, १

सकय ३५ १० ३५ १
 संकयसम (वाति) ११४ ९
 संस्कार ३७, १५ दोषो वात्स्य
 संस्कारोन्वेषोचकविमित ७३ १९
 सन्धा २३ ७
 सया
 विविधकल्पवादी १२६, १९
 सद्दर्शनवाद ११३ १८
 सन्धा ३ ९
 स्वरूप ३० २
 उपलक्षणों के और वैशिष्ट्य ३० २८

६ भाषाटिप्पणसह शब्दों और विषयों की सूची ।

सन्निवृत्त १०० १०
 सन्निवृत्तबोद्धाहरणमास १०५ ३
 सन्धापसमाप्ता ११५ ३१
 सन्निकर्ष अन्वय १३५ ११
 सपत्न १४२ २४
 सपत्नस्य ८१ १
 सप्तम्यो ६४ २६ देवो अनेकान्तवाद्
 सप्तमति ११८ १०
 सप्त ११८ १०
 सप्तमासी (सिद्ध) ८३ २९
 सप्तमाषा ११५ २९ देवो काहक्या
 सप्तम्य १० १०
 सप्तम्यपूर्वात् १२८ ८
 सर्वज्ञवाद

की प्राचीनता का निर्देश २७ १२
 के त्रियोबी-वाषाक अज्ञानवादी और मीमांसक
 २७ २२
 के समर्पक-न्याय वैशेषिक सांख्ययोग वेदान्त
 बोद्ध और जैन २७ २३
 त्रियोभियों का मन्वन्व २७ २५
 बीह-जैनों का दृष्टिनिष्ठ २८ ८
 न्यायवैशेषिकवादि वैदिकदर्शनो का दृष्टिनिष्ठ
 २८ ११
 सांख्य-योग-वेदान्त का दृष्टिनिष्ठ २८ ३
 अगर्भज्ञवाद देवसर्वज्ञवाद और मनुष्यसर्वज्ञवाद
 का वैदिक प्रामाण्य-अप्रामाण्यवाद संसर्प २३ १
 परमज्ञवाद का मूल बीह परंपरा में ३० ०
 सर्वज्ञवाद का मूल जैन-परंपरा में ३० १४
 कुमारिलमत सर्वज्ञवाद और अगर्भज्ञवाद का
 दृष्टान्त ३० २
 शास्त्ररहितद्वय परमज्ञवाद और सर्वज्ञवाद का
 समर्थन और बुद्ध ही में अगर्भज्ञ और सर्वज्ञत्व
 की सिद्धि ३२ १
 सांख्य जैन आदि का भी अर्थन ही आश्रय में
 सर्वज्ञ-सिद्धि का प्रयत्न ३३ ३

सर्वपरार्थ १०८ ३
 सर्विकल्पक २६ १३ १२६ ३ १३३ २५
 सर्वमिच्छा १०० १६
 सर्वमिच्छाविज्ञोच ३६ १०
 सर्वस्वरदारिक १८ १६ ३२ ४ ३८ १६ १२७ ३
 सर्वस्वरदारिकमत्स्य १३३ १६

साधुसंघम (जाति) ११३ १८
 साधारण १४३ २
 साध्यसम (जाति) ११३ २५
 साध्यसम (हेतुभाष्य) ९८ १०
 साध्याभिधानमासी ८२ १
 सामग्री १८ १
 सामान्य ६ १
 सामर ३२ १
 सामान्यपञ्च ११५ ३
 सूत्रमकारकका ११ २०
 सख १३५ २४
 सुत्र २९ १०; १३५ १५
 स्मरण ७२ २ देवो स्मृति
 स्मृति ११ १० २३ ४
 स्मृति

कवाद पठकक प्रकल्पवाद और जनाचारों
 मशरों की तुलना ७२ २
 न्यायसूत्रगत संस्कारोद्घोषकनिमित्त ७२ १६
 प्रामाण्य के विषय में जैन-जनेतवों का मत
 ७२ २१
 स्मृतिशास्त्रका प्रामाण्य और अप्रामाण्य तुलना
 एही मीमांसकों की व्यपस्था ७३ १
 स्मृतिरूप ज्ञान में भी बही व्यपस्था ७३ ०
 मीमांसकों का वैदिक दर्शनों पर अथर ७३ ११
 अप्रामाण्यमें दार्शनिकों की बुद्धिमा ७३ १६
 बीह जनों अग्रगण्य मानता है १०४ ०
 जैनों का अर्थ ७४ १३
 अमिच्छावादि सर्वसम्मान ७४ १८

स्मृति (धारणा) ४७ १२
 स्वप्नाद् ३१ ० ३४ २६ देवो अनेकान्तवाद्
 स्वतात्पर्य (प्रामाण्य) १६ १८
 देवो प्रामाण्य अप्रामाण्य
 स्वनिर्णय ११ ८; १३० ० देवो एतद्व्याप्त
 स्वपरमक्या १३० ० देवो स्वक्या
 स्वपरमक्यसिद्धि ३८ २९

स्वप्रकाश
 ज्ञानकी प्रकृत्य-परोपमा १३० ११
 स्वप्रकाश और पञ्चकार्यका अर्थ १३० १५
 स्वप्रकाश का अर्थ १३० १९
 सिद्धवादी बीह प्रमाद वैदान्त और जनों का